योगवासिष्ठ

[प्रथम खंड]

(सरल हिन्दी भावार्थ सहित जनोपयोगी संस्करण)



सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट् दर्शन,
२० स्मृतियाँ और १८ पुराणों
के भाष्यकार



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर), बरेली
[उत्तर-प्रदेश]

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब (वेदनगर)
बरेली (उ० प्र०)

*

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

प्रथम संस्करण
१९७२

*

मुद्रक :

विनोदकुमार मिश्र
गजेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस,
आर्य समाज रोड, मथुरा।

*

मूल्य :
नौ रुपये

भूमिका



"योग-वासिष्ठ" भारतीय दर्शन शास्त्र और अध्यात्म विद्या का एक ऐसा ग्रन्थ है जो बहुत उच्च कोटि की प्रभावशाली रचना होने पर भी बहुत कम प्रचलित है। इसके कई कारण हो सकते हैं। सबसे पहला तो हमको यह जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत विशाल है। पुरानी छपी हुई एक प्रति का बोझा सात–आठ सेर के लगभग होगा। ऐसे महाग्रन्थ को पढ़ना—अध्ययन और मनन कर सकना कुछ इने–गिने व्यक्तियों के लिये ही सम्भव हो सकता है। इसको मुख्यतया अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादक माना जाता है। उस विषय के और भी बहुत से छोटे ग्रन्थ पाये जाते हैं, लोग उन्हीं से इस सिद्धान्त का मर्म समझ लेते हैं, और 'योगवासिष्ठ' के अध्ययन जैसे समय-साध्य और श्रम-साध्य कार्यों से बचते ही रहते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि जन साधारण में यह ख्याल फैला है कि "योग वासिष्ठ" वैराग्य की प्रकाण्ड प्रेरणा देने वाला ग्रन्थ है, जिसके पढ़ने से बहुत से व्यक्ति घर बार को त्याग देने की बात सोचने लगते हैं। और वास्तव में कुछ साधु वेषधारी ढोंगी व्यक्ति गाँवों और कस्बों में "योग वासिष्ठ" के नाम पर लोगों को ऐसी ऊटपटांग बातें सुनाते भी रहते हैं जिससे लोगों की उक्त धारणा और भी पक्की हो जाती है। ऐसे दो चार उदाहरणों को सुनकर लोगों के चित्त में एक झूठा भ्रम उत्पन्न हो जाता है और वे उसे गृहस्थ आश्रम के लिये हानिकारक समझने लगते हैं जब कि वास्तव में उसमें कोई ऐसी बात नहीं है। निस्सन्देह उसमें संसार को निस्सार और मायामय कहा है, पर इसमें कोई ऐसी बात नहीं जिसे गृहस्थ आश्रम अथवा सांसारिक व्यवहार के

लिये बुरा कहा जा सके। यों तो लोग सत्य, अहिंसा, न्याय, क्षमा आदि को भी सांसारिक लाभ की दृष्टि से हानिकार कहते हैं। पर ऐसी मनो-वृत्ति उन्हीं लोगों की होती है जिनकी दृष्टि सदैव स्वार्थ पर ही रहती है और जिनका संसार दस-बीस गज लम्बे-चौड़े अपने घर तक ही सीमित रहता है। अन्यथा संसार में वही मनुष्य जीवित और जाग्रत समझे जा सकते हैं, जो अपने साथ दूसरों के हित का भी पूरा ध्यान रखते हैं। इस मनोवृत्ति के व्यक्ति ही सबके साथ सहयोग और प्रेम का सम्बन्ध रखते हुये सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते हैं। निपट स्वार्थीजन तो कभी उस सुखको पा ही नहीं सकते। इसलिये "योग वासिष्ठकार" ने प्रत्येक अवसर पर यही उपदेश दिया है कि सांसारिक कर्मों को त्यागने की आवश्यकता नहीं, उनमें आसक्त न होना ही ज्ञानी का लक्षण है। इसकी विवेचना करते हुये "निर्वाण प्रकरण" में कहा गया है—

"वे ज्ञानी नहीं मूर्ख हैं, जो देह के कायम रहने तक समचित्त होकर देह की अवस्थाओं के अनुसार कर्मेन्द्रियों का व्यवहार नहीं करते। जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने अज्ञान के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते रहते हैं। जब तक तिल हैं, तब तक तेल है, वैसे ही जब तक यह शरीर है, तब तक इसकी स्वाभाविक दशायें भी रहेंगी। जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता, वह तलवार से आकाश को काटता है। देह-दशा के अनुसार होने वाले दुःख सुखों का त्याग करना ठीक नहीं। चित्त की शान्ति और समत्व-भावना तो योग से ही प्राप्त होती है, न कि कर्मेन्द्रियों को स्थगित कर देने मात्र से। जब तक शरीर है तब तक ज्ञान पूर्वक, सदाचार के अनु-सार कर्मेन्द्रियों द्वारा देह की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिये—मन द्वारा नहीं। जब तक सृष्टि है तब तक स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता—"प्रकृतं कुर्वतः कार्ये दोषः क्व जायते।" समस्त कर्म प्रकृति ही करती है, उसमें दोष की क्या बात है?

इस तरह लेखक ने केवल स्वाभाविक कर्मों को दोष रहित ही नहीं बताया वरन् पुरुषार्थ अथवा कर्मवीरता को ही सब प्रकार की उन्नति और सफलता का मूल भी कहा है—

"इस संसार में सब दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। इस संसार रूपी धनागार में ऐसा कोई बहुमूल्य पदार्थ नहीं है जो शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न हो सके। हे महा- बुद्धिमान राम ! तीनों लोकों में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं वे सब निश्चिन्त भाव से किये गये पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। जो जिस पदार्थ के पाने की सच्चे मन से आकांक्षा करता है और उसको पाने के लिये लगातार प्रयत्न भी करता रहता है, वह उसे अवश्य पा जाता है। इस दुनियाँ में चुपचाप बैठे रहने से कुछ नहीं मिलता, जो जैसा प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है—"यो यो यथा प्रयतते सस तत्तत्फलैकभाक्।"

आगे चलकर "कर्म" की अनिवार्यता के विषय में कहा है—

"जैसे फूल और उसके आशय में कोई भेद नहीं है वैसे ही कर्म और मन में कोई भेद नहीं है। जैसे अग्नि और उसकी उष्णता अलग नहीं रह सकते वैसे ही मन, कर्म और आत्मा अलग नहीं हैं। कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। ये दोनों इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे- बरफ और उसकी शीतलता—"एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिन शीतते।" इसलिए यह समझ लेना चाहिये कि दैव, कर्म, पुरुष आदि सब एक ही तथ्य के पर्यायवाची शब्द हैं।"

इस प्रकार 'योगवासिष्ठकार' ने सैकड़ों युक्तियाँ देकर यह घोषित कर दिया है कि अद्वैत सिद्धान्त का यह अर्थ कदापि नहीं कि मनुष्य संसार तथा उसके कार्यों को माया कह कर निकम्मा बन जाय और स्वयं पुरुषार्थ त्याग कर समाज पर भार बन कर रहे। ईश्वर

मनुष्यों को कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ समुचित कर्म करने के लिये ही दी हैं। उनको निष्क्रिय रखना अथवा उनके द्वारा कोई उपयोगी कार्य न करके दूसरों के परिश्रम के फल का उपभोग करना प्राकृतिक दृष्टि से एक अस्वाभाविक कृत्य ही नहीं वरन् समाज की दृष्टि से एक अपराध भी है। कोई समझदार व्यक्ति सर्वसाधारण को ऐसा विपरीत उपदेश नहीं दे सकता हम जानते हैं कि वर्तमान काल में भीख का पेशा करने वाले "साधु" नामधारी लोगों ने ऐसी भी उक्तियाँ बना रखी हैं--

अजगर करै न चाकरी, पंछी करहिं न काम।
दास मलूका यों कहें सबके दाता राम॥

हम नहीं जानते कि यह तुकबन्दी वास्तव में मलूकदास की है या किसी भिक्षाजीवी ने गढ़ कर प्रचलित करदी है, पर इसमें जो कुछ "शिक्षा" दी गई है वह बिलकुल नासमझी की और ऊलजलूल है। यह मान लिया जाय कि अजगर और पंछी काम नहीं करते, तो भी इसके आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनकी देखा देखी मनुष्य भी काम न करे। अगर काम करने का आशय केवल नौकरी, व्यापार, मजदूरी करने से ही है, तब भी उपर्युक्त कथन में कोई सार नहीं। कुछ हजार वर्ष पहले संसार में आजकल जैसी नौकरी, व्यापार, मजदूरी का नाम भी न था। सब लोग वनों, पर्वतों अथवा छोटी-छोटी बस्तियों में स्वतन्त्र रूप से रहते थे और परिश्रम द्वारा जो कुछ जंगली फल-फूल, कन्द-मूल या शिकार प्राप्त कर सकते थे उसी से निर्वाह करते थे। जंगलों में रहने वाले अन्य पशु-पक्षी भी अपने आहार को खोजने और प्राप्त करने में ऐसा ही परिश्रम करते हैं। इसलिये यह कहना कि "साधु-सन्त" बनने के लिये अथवा "आध्यात्मिक जीवन" व्यतीत करने के लिए अकर्मण्य बने रहना उचित है, एक बिलकुल गलत और मूढ़ता की बात है। ऐसी बात सिर्फ वे ही कह सकते हैं जिन्होंने "हरामखोरी" को अपना लिया है, और ठगविद्या अथवा बेशरमी से अपना पेट भरना चाहते है।

कर्मों में आसक्त होना ही बंधनग्रस्त करना है—

कर्म करते रहना तो मनुष्य के लिये स्वाभाविक और आवश्यक है, पर जब वह उनमें आसक्त हो जाता है, प्रत्येक कर्म से तरह-तरह की वासनाओं की पूर्ति की इच्छा करता है, तब वे दुःख और पतन के कारण बन सकते हैं। मनुष्य की वासनाओं और कामनाओं का तो कहीं अन्त नहीं है, एक के पश्चात् दूसरी का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उन सबकी पूर्ति हो सकनी कभी संभव नहीं, चाहे हम कितना भी परिश्रम और उद्योग क्यों न करें। परिस्थितियों के कारण दस कामनायें पूर्ण होंगी तो दस अपूर्ण भी रह जायगी। जो कामनाऐं अपूर्ण रहेंगी वह चित्त में असंतोष उत्पन्न करेंगी और उसके फल से एक के बाद एक अनेक दुष्परिणाम सामने आयेंगे। इस तथ्य को "भगवतु गीता" में बहुत स्पष्ट रूप से समझा दिया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूष जायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।

"तरह-तरह के विषयों की वासना रखने से उनमें आसक्ति का का भाव उत्पन्न होता है और तब उनकी पूर्ति की भावना भड़कती है। जब वह कामना पूरी नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह, मोह से स्मरण शक्ति का ह्रास और उससे बुद्धि का नाश होता है। मानव-जीवन निर्वाह का मुख्य साधन बुद्धि ही है, इसलिये जब बुद्धि नष्ट हो जाती है तो मनुष्य का अस्तित्व भी मिट जाता है"

"योगवासिष्ठ" में भी इसी मत का समर्थन किया गया है कि कर्म करने में स्वयं कोई दोष नहीं पर उसमें आसक्त होना तो हानिकारक है। "निर्वाण प्रकरण" में कहा गया है—

"अज्ञानी को अपने सब कर्मों का फल इसलिये भोगना पड़ता है, क्यों कि वह वासना के आधार पर कर्म करता है। पर ज्ञानी की वासना क्षीण हो जाती है तो उसे किसी कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता है। वासना के अभाव से सब क्रियाएं फल रहित हो जाती हैं, जैसे कि सींचे बिना लता सूख जाती है। जैसे बेंत का स्वभाव यह है कि उस पर फल नहीं आता वैसे ही वासना रहित क्रिया भी फल नहीं लाती। अनासक्त भाव रखने वाला ज्ञानी शुभ और अशुभ क्रियाओं को नित्य करता हुआ भी संसार-बंधन में नहीं पड़ता, पर जिस मूर्ख ने मन से कामनाओं का त्याग नहीं किया है, वह बिना क्रिया किये भी सदैव संसार सागर में डूबता रहता है। किसी विशेष फल-प्राप्ति की इच्छा से जब मनुष्य किसी कार्य को करता है तो उसका जैसा प्रयत्न होता है उसके अनुसार वह फल पाता है। कार्य का कर्त्ता होने के कारण ही जीव उसका फल भोगने वाला होता है।"

'योगवासिष्ठ" का सिद्धान्त है कि मनुष्य अपनी मानसिक भावनाओं के कारण ही सुख-दुःख, स्वर्ग-नर्क आदि के बन्धन में पड़ता है, चाहे वह प्रत्यक्ष क्रिया करे या न करे। इसलिये अज्ञानी बिना क्रिया किये भी "कर्त्ता" बन जाते हैं और ज्ञानी सब कुछ करते हुए भी "अकर्त्ता" रहते हैं और कर्म-बन्धन से बच जाते हैं। मन से जो कार्य किया जाता है वही 'कर्म' है और मन से जो नहीं किया जाता वह 'कर्म' नहीं होता। इसका उदाहरण हम खानपान में प्रायः देखा करते हैं। अगर मनुष्य को खाते समय यह शङ्का हो जाती है कि हमने कोई अखाद्य पदार्थ खा लिया है, तो वास्तव में वैसा न होने पर भी उसका मन ग्लानियुक्त हो जाता है और अनेक अवसरों पर वमन-उल्टी आदि भी हो जाती है। पर जब अनजान में कोई अभक्ष्य पदार्थ खा भी लिया जाता है तो उसका कोई दुष्परिणाम नहीं दिखाई देता। इसलिये मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का, सब लोकों का, सब गतियों का बीज है। उसके त्याग देने पर सब कर्मों का त्याग होजाता

है, सब दुःख क्षीण होजाते हैं। इसलिये मनुष्य को विवेक द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब ज्ञानपूर्वक हृदय में यह दृढ़ भावना होजाय कि कर्म कुछ है ही नहीं। इसीलिये कहा गया है—

"गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननं।
अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी॥"

अर्थात् जिसका मन शान्ति अवस्था को प्राप्त हो चुका है उसके लिये घर में रहते हुए भी निर्जन वन के समान अनुभव होता है और अशान्त मन वाला जनशून्य अरण्य में भी मनुष्यों से भरी नगरी की सी व्यस्तता अनुभव करता रहता है।"

'गीता' और योगवासिष्ठ का अनासक्तवाद—

"गीता" और "योगवासिष्ठ" दोनों ने ही मनुष्य को अनासक्त भाव से कार्य करने की सम्मति दी है जिससे कर्म-बन्धन में पड़ना न पड़े। पर दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ 'गीता' ने सब कर्मों का मूल स्रोत ईश्वर को मानकर कर्म करते रहने को श्रेष्ठ बतलाया है, वहाँ 'योगवासिष्ठ' में ज्ञानी के लिये कर्म और अकर्म एक समान बतला कर अन्तिम निर्णय मनुष्य की इच्छा पर छोड़ दिया है—

ज्ञस्य नार्थः कर्म त्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥

अर्थात्—"ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई लाभ उठाना नहीं होता। अतएव वह जब जैसा संयोग आ जाय वैसा ही किया करता है।"

पर "गीता" में ज्ञानी के लिये कर्म और अकर्म को एक समान मानने पर भी अन्त में कर्म करने को ही श्रेष्ठ और अनिवार्य बताया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(अ० ३—१७, १८, १९)

अर्थात्—"परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है, फिर उसके लिये कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता। तब इस संसार में कोई काम करने या न करने से भी उसका कोई लाभ नहीं होता और सब प्राणियों से भी उसका कोई मतलब अटका नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष की इस स्थिति को समझ कर तुमको सदैव आसक्ति रहित होकर कार्य करते रहना चाहिये, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाले मनुष्य को परम गति प्राप्त होती है।"

यह है "कर्मयोग" का दृष्टिकोण। इसके मुकाबले में अन्य लोग "संन्यास-मार्ग" को ऊँचा बतला कर पहले दो श्लोक का हवाला देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं कि ज्ञानी के लिये कर्म का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। "योगवासिष्ठ" में अनेक स्थानों पर संसार को मायारूपी बताकर संन्यास का समर्थन किया है, तो भी उसका मूल आशय "कर्मयोग" से मिलता हुआ ही है। श्रीराम की कर्म त्याग की भावना का निराकरण करते हुए वसिष्ठजी ने उन्हें समझाया था—

सर्वैषणा विमुक्तेन स्वात्मनात्मनि तिष्ठता।
कुरु कर्माणि कार्याणि नूनं देहस्य संस्थितिः॥
अन्यन्त विरतः स्वस्थः सर्वकाम विवर्जितः।
व्योमवत्तिष्ठ नीरागो राम कार्यपरोऽपि सन्॥

यथैव कर्मकरणे कामना नास्ति धीमताम् ।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥
अतः सुषुप्तोपमया धिया निष्कामया तया ।
सुषुप्तबुद्धसमया कुरु कार्यं यथागतम् ॥

अर्थात्—"जब तक शरीर कायम है तब तक करने योग्य कर्मों को, सब इच्छाओं, कामनाओं का त्याग करते हुए, आत्मभाव में स्थित होकर करते रहना चाहिये । हे राम ! कामों को करते हुए भी रागरहित अत्यन्त विरत, आत्मा में स्थित और वासनाओं से रहित होकर अपने मन को आकाश के समान शून्य रखो । बुद्धिमान लोगों में जैसे कर्म करने की कामना नहीं होती, वैसे ही कर्म त्यागने की भी कामना नहीं रहती । इसलिये निष्काम बुद्धि से सोते हुए पुरुष की तरह यथा प्राप्त कामों को अवश्य करते रहो ।"

इस तरह के स्पष्ट कथनों के होते हुए भी लेखक अथवा आचार्य "गीता" और "योगवासिष्ठ" के अर्थ को निष्कर्म संन्यास की तरफ खींचते हैं, तो यह उनकी हठधर्मी या साम्प्रदायिक पक्षपात ही कहा जायगा । यह मनोवृत्ति विशेष रूप से शङ्कराचार्य के अनुयायी दशनामी संन्यासियों में पाई जाती है । शङ्कराचार्य के "गीता-भाष्य" में भी श्लोकों का अर्थ करने में ऐसी ही खींचातानी की गई है । जब कि "गीता" में बहुत असंदिग्ध रूप से कह दिया गया है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात् कर्म योगो विशिष्यते ॥

अर्थात्—"संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस्कर (मोक्षदायक) हैं, परन्तु दोनों में भी कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है ।" पर इस पर भी "शङ्करभाष्य" में अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए निम्न युक्ति पेश की गई है—

"यद्यनात्मविदः कर्मसंन्यासस्तत्प्रतिकूलश्च कर्मानुष्ठान लक्षणः । कर्मयोगः संभवेतां, तदा तयोर्निःश्रेयसकर त्वोक्तिः ।"

(जो लोग आत्मविद् अथवा विद्या के ज्ञाता नहीं हैं, उनके लिये कर्म संन्यास का पालन सम्भव नहीं हो सकता। उन्हीं की दृष्टि से यहाँ पर कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा गया है।)

पर जब हम समाज और लोक-कल्याण की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हैं तो 'कर्मयोग' का प्रतिपादन ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जनता का एक बहुत बड़ा भाग न तो 'कर्म-संन्यास' के सिद्धान्त पर आचरण कर सकता है और न यह सम्भव है। यदि तर्क के लिये हम यह मान लें कि सब लोग या अधिक लोग कर्म संन्यास को श्रेष्ठ मानकर उस पर चलने लगें, तो तुरन्त ही यह प्रश्न उठेगा कि उनका निर्वाह कैसे होगा? यदि समाज का एक बड़ा भाग खेती-बाड़ी, कारीगरी, मजदूरी आदि को त्याग दे तो इतने 'कर्म संन्यास' वालों के लिये भोजन-वस्त्र की व्यवस्था कैसे हो सकेगी? वास्तव में भारतवर्ष के "ज्ञानी"—समुदाय के लिये यह बात बड़ी आक्षेप जनक है कि वे कर्म में संलग्न जन साधारण को "अज्ञानी" और "मिथ्यात्व में ग्रसित" कहते हैं और स्वयं उन पर आश्रित होते हुए श्रेष्ठता का दावा करते हैं। शायद यही कारण हो कि पिछले कितने ही वर्षों से हिन्दू जन-साधारण की श्रद्धा संन्यासी-वर्ग पर से घटती जाती है और अब लाखों व्यक्ति उनकी खुल्लम खुल्ला भर्त्सना करने लग गये हैं।

जब तक जीवित है उसे संसार में लिप्त न होते हुए भी अपना कर्तव्य कर्म पालन करते रहना चाहिए। यही 'गीता'' का भी मुख्य सन्देश है।

"ज्ञानबन्धु" के लक्षण—

"योगवासिष्ठ" में निष्कर्म संन्यास के मुकाबले जीवन के अंतिम क्षण तक सांसारिक कर्तव्यों को अनासक्त भाव से पूर्ण करने का ही प्रतिपादन नहीं किया है, वरन् उन ज्ञानी कहलाने वालों की भी भर्त्सना की है जो केवल पुस्तकीय ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं, पर उसके अनुसार आचरण नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को लेखक ने ज्ञानी न कहकर ''ज्ञानबन्धु'' के नाम से पुकारा है। ऐसे लोगों का परिचय देते हुए "योगवासिष्ठ" में कहा गया है—

व्याचष्टेय: पठतिच शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यत्त तेनत्वनुष्ठाने ज्ञानवंधु स उच्यते॥
कर्म स्पंदेषु नो वोधः फलितोयस्य दृश्यते।
वोध शिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानवंधु स उच्यते॥
वसनाशन मात्रेण तुष्टाः शास्त्रा फलानिये।
जानंति ज्ञानबंधूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थ शिल्पिनः।
प्रवृत्ति लक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते।
अदूरर्वात ज्ञानत्वाज्ज्ञावबंधु स उच्यते॥
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्या नियानितु।
तानि ज्ञानविभासानि सारस्या नैव वोधनात्॥
आत्म ज्ञानमनासाद्य ज्ञानांतरलवेन मे।
संतुष्टाः कष्ट चेष्टंते ते स्मृता ज्ञान वांधवः॥

अर्थात्—जैसे शिल्पकार जीविका के लिये शिल्पकला को सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य केवल भोगोपार्जन के लिये शास्त्र को पढ़ता है और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं शास्त्र के कथनानुसार उसे

व्यवहार में नहीं लाता, वह 'ज्ञानबन्धु' है । शास्त्रों के अभ्यास से जिसे शाब्दिक 'बोध' तो प्राप्त होगया है, परन्तु सांसारिक व्यवहार में उस बोध का कोई फल दिखाई नहीं देता, तो उसका 'बोध' शिल्प है अर्थात् शास्त्रीय चर्चा से दूसरों को ठगने की कलामात्र है। उस कला से केवल जीवन निर्वाह मात्र करने वाला होने के कारण वह व्यक्ति 'ज्ञानबन्धु' कहलाता है। जो केवल भोजन–वस्त्र मात्र से संतुष्ट होकर इसी को शास्त्राध्ययन का फल समझते हैं, वे शास्त्रों के अर्थ को शिल्पकला के रूप में धारण करने वाले हैं, ऐसे पुरुषों को ज्ञानबन्धु कहा जाता है। जो प्रवृत्तिमार्ग अथवा भौतिक सफलता को ही शास्त्राध्ययन का फल समझते हैं और सत्य ज्ञान से दूर बने रहते हैं। वे 'ज्ञानबन्धु' ही समझे जाने चाहिये। तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्मा–ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। उसके अतिरिक्त जो अन्य–अन्य ज्ञान हैं वे 'ज्ञानाभास' मात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा सार तत्त्व परमात्मा का बोध नहीं होता। जो परमात्म-ज्ञान को न पाकर अन्य प्रकार ज्ञानलेश की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो लौकिक सुख के लिए कष्टसाध्य प्रयत्न किया करते हैं वे 'ज्ञानबन्धु' माने जाते हैं।''

हमें खेद से कहना पड़ता है कि आजकल के पण्डित और विद्वान् नामधारियों में यह त्रुटि विशेष रूप से पाई जाती है। बहुत से यह कहने में भी सङ्कोच नहीं करते कि सार्वजनिक जीवन की बातें निजी जीवन पर लागू नहीं हुआ करतीं, हमारी भी यही सम्मति है कि धर्म, नीति, चरित्र सम्बन्धी उपदेश करने का अधिकार उसी को है जो स्वयम् भी उनका पालन करता है। यदि वह स्वयं विपरीत कर्म करता हुआ दूसरों को सचाई, न्याय, नीति दया आदि का उपदेश देता है, तो उसका किसी पर प्रभाव नहीं पड़ता।

ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह साधन—

सच्चा ज्ञान न तो बहुत से ग्रन्थों के पठन-पाठन से प्राप्त होता है और न उपदेश तथा प्रवचन आदि सुनने से हो सकता है। "योग-

वासिष्ठ" के मतानुसार संसार से पार उतरने का एक मात्र उपाय योग है और उसके दो रूप हैं—एक आत्मज्ञान और दूसरा प्राण-निरोध। सामान्य रीति से पहले मार्ग को 'ज्ञान-मार्ग' और दूसरे को 'योग-मार्ग' कहते हैं। ये दोनों ही अभ्यास द्वारा सिद्ध हो सकते हैं—

नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवं विश्रान्तिरात्मनि।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि॥

"बिना अभ्यास के सच्चा हितकारी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। निरन्तर अभ्यास करने वाले को अन्त में अवश्य शान्ति प्राप्त होती है। "इस प्रकार के अभ्यास के लिये तीन मुख्य उपाय बताये गये हैं—१. तत्व का गहरा अभ्यास, २. प्राणों का निरोध, ३. मन का निग्रह।

तत्व-अभ्यास के लिये पहला कदम "ब्रह्म-भाव" का है। जब साधक को यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त विश्व ब्रह्म से ही उद्भूत हुआ है और मैं भी उसी का एक अंश हूँ तो वह सांसारिक भेद-भाव और माया-मोह से स्वयं ही ऊँचा उठ जाता है। इससे आगे चलकर उसे यह भी प्रतीत होने लगता है कि हमको संसार का जो स्वरूप दिखलाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं है, इसलिये किसी वस्तु के आकर्षण से मोहग्रस्त हो जाना एक प्रकार की मूर्खता ही है। हमको आकाश नीला दिखाई पड़ता है और तारागण उसमें जड़े हुए जान पड़ते हैं। पर वास्तव में नीला आकाश हमारी आँखों की विशेषता के कारण दिखाई पड़ता है, वैसे न उसका कोई रङ्ग है न सीमा है। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का सुन्दर या असुन्दर रङ्ग भी सूर्य की किरणों के प्रभाव से दिखाई पड़ता है, वास्तव में कोई रङ्ग है या नहीं इस विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते। तीसरा दर्जा "केवली-भाव" कहा जाता है। जब साधक संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर "मैं" और "तुम" की भावना को सर्वथा त्याग देता है और उसे सर्वत्र "एक आत्मा" ही दिखाई देता है तो उसकी राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ स्वयमेव शान्त हो जाती हैं।

प्राण-निरोध का अभ्यास—

उपर्युक्त 'तत्वज्ञान' वाला अभ्यास केवल भावना क्षेत्र से सम्बन्धित होता है। लगातार एक प्रकार के विचारों पर जोर देते रहने से मनुष्य को तादात्म्यता की स्थिति प्राप्त होती जाती है और कुछ समय में वह उसका अभ्यस्त बन जाता है प्राण-निरोध का दूसरा उपाय इसकी अपेक्षा कुछ अंशों में क्रियात्मक भी है। इसमें साँस के लगातार नियमित रूप से चलने पर ध्यान देना पड़ता है। इस सम्बन्ध में 'योगवासिष्ठ' का मन्तव्य इस प्रकार है—

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
प्राणानिल परिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥
तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ।
मनः स्पन्दो शान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥

और शरीर भर में नाड़ियों द्वारा फैलती है। हृदय में प्रविष्ट वायु शरीर में फैलकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ करती हुई और विशेष स्थानों में रहती हुई प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामों से प्रसिद्ध होती है। प्राण-वायु शरीर के भीतर हृदय में स्थित तीनों यंत्रों में इस प्रकार फैलती है जैसे चन्द्रमा से किरणें फैलती हैं।

"हृदय-कमल में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है। इसकी एक शक्ति तो आँखों में जाकर उनका संचालन करती है, एक त्वचा में जाती है, एक नाक में, एक भोजन को पचाती है, एक वाणी का संचालन करती है। शरीरस्थ वायु के दूसरे भाग का नाम "अपान" है। कमल की नाल के एक तन्तु के हजारवें हिस्से से भी सूक्ष्म गति प्राण और अपान की है। देह के ऊपरी भाग में बाहर और भीतर सदैव गति और स्पन्द वाला "प्राण" रहता है और इसी प्रकार "अपान" का स्थान देह के नीचे वाले भाग में है। जो योगी प्राण और अपान की गति को भली प्रकार वश में कर लेता है वह सदैव स्वस्थ और सुखी रहता है। हृदय में स्थित कमल पत्र (फेंफड़े) से "प्राण" उदय होता है और बारह अंगुल तक बाहर आकर उसका अन्त हो जाता है। "अपान" बारह अंगुल दूरी पर उदय होकर भीतर हृदय में स्थित कमल के मध्य में अन्त हो जाता है। जहाँ नासिका से १२ अंगुल दूरी पर 'प्राण' का अस्त होता है, वहीं से तत्काल "अपान" का उदय होता है। 'प्राण' की गति अग्नि-शिखा की तरह हृदय से ऊपर की ओर बाहर को होती है, और अपान की गति जल की तरह हृदय-आकाश की ओर बाहर से भीतर नीचे की ओर कही गई है।"

"अपान रूपी चन्द्रमा की कला जब और जहाँ प्राण रूपी सूर्य द्वारा ग्रस्त हो जाती है (अर्थात् जहाँ अपान और प्राण एक हो जाते हैं), उस स्थान को प्राप्त करके फिर शोक नहीं होता (अर्थात् उस समय ही निस्पन्द अवस्था का अनुभव होता है जो कि आत्मा की अवस्था है)। इसी प्रकार जब प्राण की कला को अपान ग्रस्त कर लेता है, उस स्थान

को प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। भीतर और बाहर रहने वाली वायु ही, प्राण और अपान का, जो कि शरीर को पुष्ट करते हैं रूप धारण करती है। जब बाहर (१२ अंगुल पर) प्राण तो शान्त हो जाय और अपान का उदय न हो, तब ध्यान लगाने पर शोक नहीं होता। इसी प्रकार जब हृदय के भीतर अपान शान्त हो जाय और प्राण का उदय न हुआ हो, उस समय ध्यान लगाने से पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वही आत्मा का आधार है। यह ऐसा स्थान है जिसमें प्राण और अपान उदय और अस्त सूर्य और चन्द्रमा दोनों का समागम होता है। हृदय में अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है और बाहर प्राण का अस्त होने पर अपान का उदय होता है। इन दोनों उदय और अस्त के बीच की अवस्था, जिसमें प्राण और अपान दोनों ही की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है। उसमें स्थित होना ही योगी का ध्येय है। उसमें तब नित्य स्थित होती है जब प्राण की गति का पूर्णतः निरोध हो जाय।"

में १५ होती है। पर हम कभी तो अतिरिक्त परिश्रम से थककर इसकी अपेक्षा जल्दी - जल्दी श्वांस लेने लगते हैं, अर्थात् एक मिनट में बीस पच्चीस बार ले लेते हैं और कभी अत्यन्त आलस में पड़े कम बार भी श्वांस लेते हैं। राज योगियों का मत है कि हमको इस प्रकार का अभ्यास डालना चाहिये और सदैव ऐसा ही रहन - सहन रखना चाहिये जिससे श्वांस की गति में अन्तर न पड़े और वह सदैव प्रत्येक मिनिट में १५ तथा घण्टे में ९०० के हिसाब से चलती रहे। अगर हम श्वांस के चलने को इस प्रकार नियमित बनाने में सफल हो सकें तो अपने शरीर और मन पर हमारा पूरा अधिकार रह सकता है और हम उनके द्वारा ऐसे कार्य कर सकते हैं जो सामान्य मनुष्यों के लिये सम्भव नहीं हो सकते हैं। इस तथ्य की विवेचना करते हुए योगाश्रम, ऋषिकेश के प्रसिद्ध योगी स्वामी सत्यानन्द ने अपने बंगला ग्रन्थ 'अनुभूत योग साधन' में लिखा था—

"प्राणमय शरीर से बाहर की ओर निकलने वाले प्राण-प्रवाह को विरोध करने से सबसे पहले तो शरीर में प्राणों की पूर्णता हो जाती है। अन्तर्मुखी प्राण-प्रवाह को रोकने से शरीर की चञ्चलता निवृत्त हो जाती है। इस अवसर पर साधक की ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होतीं, इस कारण उसे शीतोष्ण आदि द्वन्दों का अनुभव भी नहीं होता। प्राणमय-क्षेत्र की प्रधान वृत्ति निद्रा ही इस समय दिखाई पड़ती है। वैसे आसन सिद्ध होने से भी निद्रा आ जाती है, पर उस समय साधक का मन अन्नमय क्षेत्र में ही रहता है, इससे उस समय की निद्रा में कोई विशेषता देखने में नहीं आती। पर प्राणायाम द्वारा जो निद्रा प्राप्त होती है वह अन्य प्रकार की होती है। निद्रा तीन प्रकार की कही गई है। जिस निद्रा में हम सब बातों की स्मृति को भुलाकर अकर्मावस्था में पड़े रहते हैं, उसे "सुषुप्ति निद्रा" कहते हैं। जिस निद्रा में हम केवल अपने अन्नमय शरीर को भुलाकर विकर्मावस्था (व्यर्थ के कर्म) में पहुँच जाते हैं वह 'स्वप्न-निद्रा' होती है। और जिस निद्रा में

जैसे—जब यह जान लिया जाता है कि हमने जो कुछ देखा था वह स्वप्न था, तो उसका असत्य होना स्वयं प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार जब वासनायें जाती रहती हैं तो यह संसार भी असत् जान पड़ने लगता है। सब वासनाओं और इच्छाओं को त्याग देने पर जीवन मुक्ति और निर्मल स्थिति स्वयम् उपस्थित हो जाती है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार-सागर से उतरने के लिये बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख, सत् और असत् सब प्रकार की भावनाओं को त्याग कर स्थिर चित्त हो जाय, फिर उसे किसी बात का भय नहीं हो सकता।

अहङ्कार का त्याग—

अहङ्कार भी मनुष्य को माया के बन्धन में डालने वाला सबसे बड़ा कारण है। यह मनुष्य के चित्त को किस प्रकार भ्रमित करता है, इस सम्बन्ध में लेखक का कथन है—

> चिज्ज्योत्स्ना यावदेववान्तरहंकार घनावृता।
> विकासयति नो तावत् परमार्थ कुमुद्वतीम्॥
> अहवीजश्चित्त द्रुमः सशाखा फल पल्लवः।
> उन्मूलय समूलं तमाकाश हृदयो भव॥

"चिति रूपी चाँदनी जब तक अहङ्कार रूपी बादल से छिपी रहती है, तब तक परमार्थ रूपी कुमुद नहीं खिलने पाता। चित रूपी शाखा, पत्ते और फल वाले वृक्ष के अहंभाव रूपी बीज को जड़ से उखाड़ कर शून्य हृदय हो जाओ।"

अहंभाव का मिटना बड़ा दुष्कर है। बड़े-बड़े तपस्वी और साधक भी सब कुछ त्याग देने पर अहंभाव के कारण पतन को प्राप्त हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में पुराणों में विश्वामित्र और वसिष्ठ का उपाख्यान प्रसिद्ध है। तरह-तरह के भ्रम और विकारयुक्त भाव अहङ्कार से ही उत्पन्न होते हैं। यह अहंभाव सृष्टि के आदि से ही जीव के साथ लगा है और इसी से जगत् का विकास होता है। इसलिए इसके वास्तविक

का अश्विनीकुमारों में लय करदे। समष्टि प्राण का वायु में, वाणी का अग्निमें और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। पादेन्द्रिय का विष्णु में और बुद्धि का ब्रह्मा में लय करदे।' इस प्रकार इन्द्रियों को तत्वों में लय कर देने की बात काल्पनिक नहीं है वरन् श्रुति के आधार पर ही ऐसा उपदेश किया जाता है। इस प्रकार अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके "मैं विराट हूं" ऐसा चिन्तन करे।"

लेखक ने "लय योग" की जो प्रणाली बतलाई है वह निस्सन्देह बड़ी प्रभावशाली और फलदायक है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हमारा शरीर पंचतत्वों का बना है और हमको कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विविध कार्य करने की जो क्षमता प्राप्त हुई है वह भी प्राकृतिक शक्तियों की ही देन है। जब हम इस तथ्य को अच्छी तरह हृदयंगम करके इस पर मनन करते हैं तो हमको स्वभावतः यह प्रतीत होता है कि इस समय चाहे हम एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित हैं, पर इसे एक चिरन्तन सत्य समझना ठीक नहीं है। हमारी यह देह और इन्द्रियां निरन्तर परिवर्तनशील हैं, प्रतिदिन इनके कुछ अंशों का क्षय हो जाता है और उसकी पूर्ति आहार और श्वांसोच्छ्वास द्वारा प्राकृतिक तत्वों से होती है। यहां तक कि कुछ वर्षों के भीतर हमारा वर्तमान सम्पूर्ण भौतिक शरीर परिवर्तित होकर नवीन तत्वों से गठित हो जाता है। फिर मृत्यु के उपरान्त तो यह सबके देखते-देखते पञ्चतत्वों में विलीन हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में यदि हम ध्यानावस्था में यह भावना करें कि हमारे नेत्र स्वयमेव कुछ भी शक्ति या विशेषता नहीं रखते, वे केवल सूर्य के प्रकाश से कार्यक्षम बने हैं। हम जो कुछ सुनते हैं वह सब आकाश तत्व की महिमा है, अन्यथा हमारे कान तो चमड़े की एक झिल्ली मात्र हैं। इस प्रकार यदि हम अपनी देह तथा इन्द्रियों को विश्वव्यापी प्रकृति का एक अस्थायी अंश समझ कर विराट् रूप की भावना करने लगें तो निस्सन्देह हमारी मानसिक शक्ति

"हेय (नीच दर्जे की) वस्तु से खेद न करो और उपादेय (उच्च कोटि की) वस्तु की कामना न करो। हेय और उपादेय दोनों दृष्टियों का त्याग करके निर्मल भावना में स्थित रहो। जैसे जब तक बादल नहीं हटता तब तक आकाश में चाँदनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे ही जब तक हृदय से हेय और उपादेय का भाव नहीं जाता तब तक समत्व का उदय नहीं होता। वैराग्य को दर्शाने वाली स्वच्छ समता का उदय उसके चित्त में कैसे हो सकता है जिसके चित्त में युक्त को प्राप्त और अयुक्त को त्याग करने की वासना बनी रहती है।" ऐसा समत्व भाव जिसे प्राप्त होजाता है उसे ही संसार में सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है। कहा है कि "समता की भावना से प्राप्त होने वाले आनन्द की तुलना न तो राज्य प्राप्ति से और न भोग-विलास के विशेष साधनों से की जा सकती है। ऐसा समत्व सम्पूर्ण द्वन्दों की शान्ति की चरम सीमा और सम्पूर्ण दुःख रूपी आतप (धूप) के ताप से बचाने के लिये मेघ के समान होता है। जो समता रूपी अमृत से ओत-प्रोत हैं उनके सारे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। वह यथार्थदर्शी होता है। ऐसा मनुष्य तीनों लोकों में दुर्लभ है। समता का अभ्यास करने वाले जीव के क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष भी शान्ति, उदारता आदि में परिणित होकर गुण बन जाते हैं, दुःख भी नित्य सुख बन जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि सम-दृष्टि वह जादू है जो शत्रुओं को ही नहीं जङ्गली पशुओं को भी अपना बना देती है। जिन महात्माओं के लिये कहा जाता है कि वन में रहने वाले शेर, चीते, हाथी भी उनके सामने से चुपचाप निकल जाते हैं, वे ऐसी ही समता की दृष्टि रखने वाले होते हैं। जब तक किसी को पराया ही न समझेंगे तो अन्य के हृदय में भी हमारे प्रति शत्रुता का, हानि पहुँचाने का भाव कैसे आ सकता है। इसीलिये सभी शास्त्रों में उच्च स्वर से कहा गया है—"आत्मवत सर्वभूतेषु।" सब प्राणी एक ही स्रोत से उत्पन्न हुये हैं अतएव आपस

में सुहृत—भाई-भाई हैं। ऐसा भाव रखने वाला सबका मित्र ही होगा।

सर्वत्याग और उसकी महिमा—

"योगवासिष्ठ" का कहना है कि 'जब तक सब वस्तुओं का त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। जो संसार के सभी विषयों से उपराम होकर आत्मा को प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है वही उसे पाता है। जो अन्य किसी वस्तु को नहीं पाता वही परम अमृत स्वरूप आत्मा को पा लेता है। सच्चा सर्वत्याग ऐसा चिन्तामणि है जिससे सब प्रकार के दु:खों का अन्त हो जाता है। सर्वत्याग से ही सब कुछ प्राप्त होता है।'

यह 'सर्वत्याग' की बात आजकल के मनुष्यों को, जो अधिक से अधिक पाने के लिये किसी कर्म-अकर्म में संकोच नहीं करते, बिल्कुल निरर्थक जान पड़ेगी। वे कहेंगे कि आजकल तो बिना पैसे के पानी भी नहीं मिलता, मिट्टी भी नहीं मिलती, तब सब कुछ त्याग देने पर हमारा अस्तित्व ही कैसे रहेगा ? पर उनको समझ लेना चाहिये कि यहाँ पर त्याग का आशय घरबार, काम-धन्धा त्यागकर, लँगोटी लगा कर निर्जन स्थानमें बैठ जाने से नहीं है इस सम्बन्ध में 'योगवासिष्ठ' का स्पष्ट मत इस प्रकार है—

"सर्व त्याग न शरीर त्यागने से सिद्ध होता है, न राज्य आदि के त्यागने से और न झोंपड़ी में रहकर तप करने से। वृक्ष के बीज की भाँति सब वस्तुओं का बीज मन है। सबके बीज को त्याग हो जाता है। चित्त का त्याग ही सर्वत्याग है। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, उस सबके एक कारण (परमात्मा) में सबको त्याग (अर्पण) करने से सर्वत्याग होता है।"

वास्तव में त्याग और ग्रहण का निर्णय किसी के धन या गरीबी से नहीं किया जा सकता। राजा जनक जैसे धन-वैभव सम्पन्न पुरुष को

सर्वत्यागी और जीवन्मुक्त ना जाता है, और ऐसे भिखारी, जिनके पास केवल एक फटी लङ्गोटी ही है और जो पेड़ के नीचे पड़े रहते हैं तृष्णा और वासनाओं से मुक्त देखे जाते हैं। जो आज करोड़पति हो और कल ही किसी घटनावश भिखारी हो जाय और तब भी जिसकी चित्तवृत्ति पूर्ण रूप से शान्त और निर्विकार रहे, उसे ही सच्चा त्यागी समझना चाहिये। जब धन प्राप्त होता है वह उसे प्रकृति का खेल अथवा परमात्मा की माया समझ कर हर्ष नहीं मनाता, वरन् मानव-जीवन का एक कर्तव्य समझ कर श्रेष्ठ कार्यों में उसका उपभोग करता है। और जब वह चला जाता है तब यह समझ कर कि मैं धन की रक्षा और जिम्मेदारी से मुक्त हो गया किसी प्रकार की उदासीनता का भाव मन में नहीं लाता, ऐसे ही लक्षण वाले को "योगवासिष्ठ" में सर्वत्यागी माना है। उसका आशय यह नहीं कि ऐसा व्यक्ति भूखा-नङ्गा और दीन-दुःखी होगा। वरन् यह कहा गया है कि "जो कुछ भी नहीं लेता, उसी को सब कुछ दिया जाता है। जो सब वस्तुओं का त्याग कर देता है उसी की सेवा में सब वस्तुएँ उपस्थित होती हैं।"

सामान्य जनता में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि—

"बिन मांगे मोती मिलहिं, मांगी मिले न भीख।"

जिसने अपने मन को अनासक्त बना लिया है, उसे किसी बात की कमी नहीं रहती और जो तृष्णा, कामनाओं में डूबा रहता है वह खाने के लिये एक टुकड़े को तरसता रहता है। वर्तमान काल में स्वामी राम-तीर्थ ऐसे ही आदर्श त्यागी थे। उन्होंने इस तथ्य को बड़े जोरों के साथ कहा है—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम।
अब निगाहें फेरलीं वह बेकरार आने को है॥

जो लोग दुनियाँ की बढ़िया चीजों का लालच करके उनकी तरफ दौड़ते है उनको प्रायः निराश ही होना पड़ता है। पर जो उनकी

योग का सिद्धान्त किसी भी हीन मनोवृत्ति के व्यक्ति के लिये व्यवहारिक नहीं जान पड़ेगा और वह उसे सदा असम्भव और केवल आदर्श रूप ही बतलायेगा, पर इसमें उस सिद्धान्त का कोई दोष नहीं। अगर एक शाक वेचने वाला असली हीरा और माणिक का मूल्य दस-बीस पैसा ही बतलावें तो इससे इन बहुमूल्य रत्नों का महत्व घट नहीं सकता। महान् पुरुष सदा से सिद्धान्त को समझते आये हैं और अधिकांश में इसका पालन भी करते रहे हैं। इसीलिये लेखकों ने उनका एक बहुत बड़ा गुण यह बतलाया है कि वे सम्पत्ति और विपत्ति में समान भाव रखने वाले होते हैं। गो० तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी की प्रशंसा करते हुए यही कहा है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु मंजुलमङ्गल प्रदा ।

अर्थात्—"जिन श्री रामचन्द्रजी की मुख कान्ति न तो राज्याभिषेक की बात सुनने पर खिल उठी और न वनवास का आदेश पाने पर म्लान हुई, वे ही मेरा सदा कल्याण करते रहें।"

इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये बहुत अधिक लिखने या प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि महानता का सच्चा रहस्य इसी सिद्धान्त के समझ लेने और व्यवहार में लाने में है। यदि कोई व्यक्ति राजा का पार्ट अदा करने के लिये सोने के सिंहासन पर बैठता है और रत्न-जड़ित मुकुट धारण करता है, तो भी चाहे तो हृदय से पूर्ण त्यागी और विरागी रह सकता है ऐसे व्यक्ति "योग वासिष्ठ" के मतानुसार इस संसार के समस्त प्रपंच को निरर्थक समझते हैं, पर यह समझ कर कि जिस उद्देश्य से भगवान ने हमको मानव-जन्म दिया है, उसकी पूर्ति के लिये हमको मानवोचित कर्म जीवन-पर्यन्त करते ही रहना चाहिये वे कभी अकर्मण्यता को स्वीकार नहीं करते। अकर्मण्य मनुष्य तो पशु से भी बदतर है। हम इस बात को इस ग्रन्थ की बहुत बड़ी विशेषता मानते हैं कि इसने जो उपदेश दिया है वह मानवता की वृद्धि करने वाला है, न कि मनुष्य

अर्थात्—"कौन सी ऐसी दृष्टि है जिसमें दोष न हो ? कौन सी ऐसी दिशा है जिसमें दुःख का दाह न हो ? कौन सी ऐसी उत्पन्न वस्तु है जो नाशवान् न हो ? और कौन सी क्रिया अथवा कार्य ऐसा है जो माया और कपट युक्त न हो ? आगे चल कर इसकी विवेचना करते हुये कहते हैं—

अनित्यं यौवनं वाल्यं शरीरं द्रव्य संचयाः ।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्ग वदनारतम् ॥
आयुरत्यन्त चपलं मृत्यु रेकान्त निष्ठुरा ।
तारुण्यं चाति तरलं बाल्यं जडतया हृतम् ॥

अर्थात् "बाल्यावस्था, यौवन, मानव देह, समस्त सम्पत्ति और वैभव, अनित्य हैं । संसार के सभी पदार्थ जल की तरंगों के समान एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होते रहते हैं । आयु अत्यन्त चपल है, मृत्यु बहुत ही कठोर है, युवावस्था अत्यन्त चंचल है ।

किं श्रिया किं च राज्येन किं देहेन किमीहितैः ।
दिनैः कतिपयैव रेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥

"लक्ष्मी से क्या ? राज्य से क्या ? शरीर से क्या ? मनोरथों से क्या ? थोड़े ही दिनों में काल इनको काट डालता है ।"

किं नामेदं वत सुखं मेयं संसार सन्तति ।
जायते मतये लोको म्रियते जननाय च ॥
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुखाय केवलम् ।
जीवितं मरणा येव वत माय विजृम्भितम् ॥

"इस संसार रूप प्रवाह में सुख की क्या बात है ? यहाँ पर प्राणी मरने के लिये पैदा होता है और उत्पन्न होने के लिये मरता है । यहाँ की समस्त सम्पतियाँ आपत्ति रूप हैं, सुख केवल दुःख देने के लिये है, जीवन मरने के लिये है—इस प्रकार यह सब माया का विस्तार है ।" मानव-जीवन की असारता और क्षण भंगुरता के विषय और भी कहा है—

सौ बरसन की आयु रात में बीतत आधे।
ताके आधों आध बाल वृद्धापन साधे॥
रहे यहै दिन शेष आधि-व्याधि गृहकाज सम्हौयौ।
नाना विध बकवाद करत सबहिन कूं खोयौ॥
जल की तरंग बुद्-बुद् सदृश्य देह खेह ह्वै जात है।
सुख यहाँ कौन इन नरन को जासो फूलत गात है॥

भगी भोग की चाह गयौ गौरव गुमान सब।
मित्र गये सुरलोक अकेले आप रहे अब॥
उठत लकरिया टेक तिमिर आँखिन में छायो।
शब्द सुनत नहिं कान वचन बोलत बहकायो॥
यह दशा भई तन की तऊ चकित होत मारिवो सुनत।
देखो विचित्र गति जगत की दुःख हूँ सुख सों लुनत॥

जीवन तथा आयु की अस्थिरता सम्बन्धी ये उक्तियाँ पढ़कर यह उचित नहीं कि हम उदासीन होकर सांसारिक व्यवहारों को त्यागने लग जायें। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मानव-जीवन महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बड़ा ही अनिश्चित है। विशेष रूप से वर्तमान समय में कुछ तो सामयिक परिस्थितियों के कारण और कुछ अपने दूषित आचरणों के फलस्वरूप अकाल मृत्यु की संख्या बहुत बढ़ गई है। हर आयु के हजारों व्यक्ति जो प्रकट में सब प्रकार से स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं एक-दो मिनिट के भीतर ही काल के ग्रास बन जाते हैं। आजकल प्रायः खाते-पीते, गप-शप करते, चलते-फिरते हुए लोगों के मरने के समाचार आया करते हैं। इससे जीवन की अस्थिरता के तथ्य को समझ कर मनुष्यों को चाहिये कि अपना कारबार और व्यवहार सदैव इस स्थिति में रखें जिससे कोई ऐसी घटना हो जाने पर उनको असावधानी और लापरवाही का दोषी न बतलाया जा सके। किसी विद्वान् ने सच ही कहा है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य-कर्म सदैव इस प्रकार मुस्तैदी के साथ पूरा करते

रहना चाहिये, मानों कल ही हमको इस संसार से चला जाना पड़ेगा। कबीर साहब का यह दोहा तो अत्यन्त प्रसिद्ध है—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलै होयगी बहुरि करैगो कब॥

इसलिये चतुर और कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य वही कहा जा सकता है जो लोभ, लालच, मोह से मुक्त रहते हुए भी उचित कार्यों की पूर्ति में कभी शिथिलता न करे और अपना सारा व्यवहार इस प्रकार स्पष्ट और सुनिश्चित रखे कि भगवान् का बुलावा आने पर एक क्षण के लिये भी देर न लगाये, न अपनी असावधानी के कारण पछताये और सोच विचार करे। यही 'योगवासिष्ठ' के वैराग्य-सिद्धान्त का सार है।

तृष्णा सबसे निकृष्ट मनोवृत्ति है—

तृष्णा के दोषों को दर्शाते हुये श्रीरामचन्द्र जी ने कहा था कि 'यह तृष्णा मनुष्य को इस प्रकार जलाती है कि उसकी जलन अमृत से भी शान्त नहीं हो सकती। कुटिल, कोमल स्पर्श वाली, विषय रूपी दुःखदायक विष वाली यह काली सर्पिणी छूने मात्र से काट लेती है। यह चंचल बन्दरी अलभ्य स्थान पर भी पैर रखती है। संसार के सब दोषों में तृष्णा ही सबसे अधिक दुःख देने वाली है। जरा, मरण, और दुःख इन सबको पिटारी और शारीरिक और मानसिक दुःखों को नित्य ही देने वाली यह तृष्णा है। जिस समय चित्तरूपी आकाश में, हृदय में अँधेरा करने वाली दुरन्त तृष्णा रूपी रात्रि छा जाती है तभी दोष रूपी उल्लुओं की पंक्तियां दिखाई पड़ती हैं। तृष्णा का मारा मनुष्य देखने में दीन, नष्ट-हृदय, ओज-रहित हो जाता है। नीचता को प्राप्त होता है, मोहग्रस्त होता है, रोता है और गिर जाता है। बूढ़ा होने पर प्राणी के नेत्र तथा दांत आदि सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग जीर्ण हो जाते हैं, केवल एक तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती।"

तृष्णा की इस प्रकार निन्दा सभी विद्वानों और कवियों ने की है। मनुष्य का पतन जिन कारणों से होता है उनमें तृष्णा प्रमुख है।

प्रकट में यह कोई बड़े दोष के समान नहीं जान पड़ती, पर जब यह बढ़ जाती है तो इससे अन्य अनेकों दोष उत्पन्न होते हैं। धन की तृष्णा के फलस्वरूप मनुष्य का वेईमान होजाना और व्यवहार तथा लेन-देन में असत्य का आश्रय लेना स्वाभाविक ही है। वर्तमान समय में धन का प्रभाव बढ़ जाने और उसी के द्वारा संसार की समस्त सुख-सामग्रियों प्राप्त होने के कारण अधिकांश लोगों में यह दोष उत्पन्न होगया है और वे व्यापार-व्यवसाय में, सरकारी नौकरी तथा अन्य पेशों में धन के लिये सचाई और ईमानदारी से बराबर दूर हटते चले जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के आचरण के द्वारा मनुष्य आरम्भ में कुछ अधिक धन कमा लेता है, पर उसका अन्तिम परिणाम कभी अच्छा नहीं निकलता। इसीलिए कहा गया है कि 'तृष्णा दीपक की शिखा के समान होती है। जैसे दीपशिखा बीच में उज्ज्वल और अन्त में काली होती है उसी प्रकर तृष्णा भी बीच में भोग वैभव से उज्ज्वल और अन्त में दुःख एवं मृत्यु देने वाली होने के कारण काली होती है।' इतना ही नहीं हमारा विचार तो यह है कि तृष्णा वाले को सच्चा सुख कभी नहीं मिलता, क्योंकि थोड़ा-बहुत धन वैभव प्राप्त हो जाने पर भी उसका हृदय सदा अशान्त रहता है। प्रथम तो धन के लालच से वह जो अनुचित कृत्य करता है उनकी प्रतिक्रिया उसके अन्तःकरण में होती रहती है और दूसरे उसे इस प्रकार प्राप्त धन की रक्षा की समस्या भी सदैव चिन्तित बनाये रखती है, इससे उसका मन कभी सुखी नहीं हो पाता।

कामासक्तता का निराकरण और नारी निन्दा—

अन्य अनेक वैराग्य-ग्रन्थों की तरह कामासक्तता के निवारण के लिए 'योगवाशिष्ठ' में भी नारी के मोहक और विषयविकार को भड़काने वाले रूप का आक्षेपपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। इस तरह के लेखकों ने स्त्री को प्रायः 'काली नागिनी' की उपमा दी है जो पुरुष

को डसने के लिए तैयार रहती है। संभव है इस प्रकार की उक्ति वेश्या श्रेणी की कुछ स्त्रियों के लिए कुछ अंशों में ठीक मानी जा सके पर नारी जाति के लिए सामान्य रूप से उसका प्रयोग कभी यथार्थ नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ निम्नलिखित उद्धरण पर विचार कीजिये—

"जैसे विष की लता सुन्दर फूलों से मनोहर लगती, नये-नये पल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों की क्रीड़ास्थली बनती, पुष्प-गुच्छ धारण करती, फूलों के केसर से पीले रङ्ग की प्रतीत होती, अपना सेवन करने वाले मनुष्यों को मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलों का शृङ्गार धारण करने के कारण मनोहारिणी लगती, करपल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों के समान चंचल नेत्रों के कटाक्ष-विलास का प्रदर्शन करती पुष्प-गुच्छों के समान स्तनों को वक्ष पर धारण करती, फूलों की केसर की भाँति सुनहरी गौर-कान्ति से प्रकाशित होती, मनुष्य के विनाश के लिए तत्पर रहती है और काम-भाव से अपना सेवन करने वालों को उन्माद एवं मृत्यु के आधीन कर देती है। यह तो कामरूपी किरात (बहेलिये) ने मूढ़-चित्त मानव रूपी पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्री रूपी जाल को फैला रखा है। अथवा धन रूपी पङ्क में विचरने वाले पुरुष रूपी मत्स्यों के फँसाने के लिए नारी वंशी के काँटे में लगी आटे की गोली के समान है और दुर्वासना ही उस वंशी को डोर है।'

जैसा हम आरम्भ में कह चुके हैं इस प्रकार नारी का चित्रण करके लोगों को कामासक्तता से बचने का उपदेश देना भारतीय निवृत्ति मार्ग के लेखकों की एक शैली ही है। अधिकांश व्यक्ति किसी सुन्दर आकर्षक स्त्री को देखते ही उसकी तरफ आकर्षित हो जाते हैं। उसके सम्बन्ध में गन्दी-भाषा में चर्चा करने लगते है और कितने ही कामासक्त होकर सचमुच विकारग्रस्त हो उठते हैं। लोगों की इसी दूषित मनोवृत्ति का निराकरण करने के उद्देश्य से ज्ञान और भक्तिमार्गीय लेखकों ने

इस प्रकार का नारी-चित्रण किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए 'रामचरितमानस' में कहा है—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह विपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय भारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी।
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हर्ष प्रद बरषाएका॥
दुर्वासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहं सरद सदा सुखदाई।
धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा। होइ हिम तिन्हइ दहइ सुख मन्दा॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निविड़ रजनी अँधियारी।
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रवीना॥

अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥

'नारी-निन्दा' के इस प्रसङ्ग में जो कुछ कहा गया है यह यदि किसी दृष्टि से सत्य भी हो, तो भी उसके लिये स्वयं पुरुष ही दोषी हैं न कि स्त्री। एक तरफ तो पुरुष कवियों ने 'नायिका-भेद' और 'नवरस-वर्णन' के ग्रन्थ रचकर 'नारी' को विधाता की सृष्टि में 'अनुपमेय' और 'दर्शनीय' बताकर आकाश पर चढ़ा दिया है और दूसरी तरफ वे उसे 'नरक का द्वार' कहने लगते हैं। नारी ने स्वयं तो इस विषय में कुछ भी कहा सुना नहीं। इस सम्बन्ध में आगरा निवासी भैया भगवतीदास का यह कथन सर्वथा उचित ही है—

मांस की गरंथि कुच कंचन कलश कहहि,।
कहैं मुख-चन्द्र जो सलेषमा को घरु है।

....

ऐसी झूंठी जुगति बनावैं औ कहावैं कवि।
ताहू पै कहहि हमें सारदा को वरु है॥

....

मूरत हाड़-मांसमय मूरत नागर गीकन घरी-घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव 'रसिक प्रिया' तुम कहा करी॥

यह जानते हुए भी कि संसार के करोड़ों व्यक्ति स्त्री को देखते ही विकारग्रस्त हो जाते हैं और आज तक करोड़ों ही इसी कामान्धता के कारण अपनी लाखों की सम्पत्ति और राज-पाट तक से वंचित हो चुके हैं, दर-दर के भिखारी और पागल बनकर अपना जीवन नष्ट कर चुके हैं, हम नारी को इसके लिये कैसे दोषी कह सकते हैं? यदि मनुष्य क्रोधावेश अथवा भय के कारण कुएँ में गिर कर आत्म हत्या करले तो क्या इसके लिये कुएँ को दोषी बतलाया जायगा? कुआँ तो जल देकर लोगों की जीवन-रक्षा के लिये बनाया गया है, अगर कोई अपनी त्रुटियों या विशेष प्रकार के स्वभाव के कारण उसमें कूदकर जान देता है तो यह एकमात्र उसी का उत्तरदायित्व माना जायगा।

"योगवाशिष्ठ" की नारी निन्दा को हम इसी भाव से ग्रहण कर सकते हैं। इसमें जिन नारियों की निन्दा की गई है, उनका तात्पर्य धर्म-पत्नी, माता, बहिन के रूप में घर-गृहस्थी में रहने वाली महिलाओं से नहीं है, वरन् दूषित आचरण वाली बाजारू स्त्रियों से ही है, पर उनको वैसी स्थिति तक पहुँचाने के मूल कारण भी प्रायः कामुक, बदमाश और गुण्डा प्रकृति के पुरुष ही होते हैं। अगर आप पेशेवर खानदानी वेश्याओं को छोड़ कर व्यभिचार के पेशे को अपनाने वाली दो-चार सौ स्त्रियों की जाँच करें तो यही विदित होगा कि किसी न किसी पुरुष ने ही उनको बहका कर या जबर्दस्ती भ्रष्ट करके कुमार्गगामिनी बनाया है।

अध्यात्मिक जीवन के लक्षण और लाभ—

'योगवाशिष्ठ' का मुख्य उद्देश्य सांसारिक लोगों को व्यावहारिक अध्यात्म का मार्ग दिखलाकर जीवन जीने की वास्तविक कला सिखलाना है। जो लोग संसार को दुःखपूर्ण मानकर इसका त्याग करते—संन्यास

का प्रतिपादन करते हैं, वे इस ग्रन्थ के तात्पर्य को या तो समझते नहीं। या हठवश उसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं। अध्यात्म की महिमा वर्णन करते हुए इसमें कहा है—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमग्बु वा।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधि गच्छति॥
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतमिच्छता।
सर्वं दु.खौघशिरश्च्छेद आत्मालोकेन जायते।

"चाहे तीनों लोकों का राज्य मिल जाय, चाहे कोई अगाध जल में निवास करने में भी सफल हो जाय, पर आत्मा की शान्ति प्राप्त हो सकनी तब तक सम्भव नहीं जब तक आत्म ज्ञान न मिल जाय। अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को सदैव आत्म ज्ञान के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि आत्मा को जाने बिना समस्त दुःखों का नाश नहीं हो सकता।"

संसार में सदा से दो विचार धारायें बह रही हैं—आध्यात्मिक और भौतिकवादी अथवा दैवी और आसुरी। आध्यात्मिक विचार धारा वाला अपना जीवन परोपकार और परमार्थ के लिये समझता है और इसलिये जहाँ तक सम्भव होता है, दूसरों के कल्याण की चेष्टा करता रहता है। वह अपना हित साधन भी करता है, पर उसमें भी उसका लक्ष्य यह रहता है कि समाज तथा अन्य व्यक्तियों की सेवा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो सके। इसके विपरीत भौतिकवादी दृष्टिकोण वाले व्यक्ति का लक्ष्य स्वार्थ-साधन होता है। यदि वह दूसरे व्यक्तियों अथवा समाज की कुछ सेवा करता भी है तो उसकी आकांक्षा यही रहती है कि वह जितना श्रम करता या धन देता है, उसे बदले में उससे अधिक प्राप्त हो जाय। जिस कार्य में उसे अपने किसी लाभ की आशा दिखाई नहीं देती, उससे वह बचने की ही चेष्टा करता है।

'योगवासिष्ठ' में जिस आत्म-ज्ञान को मनुष्य के लिये परमावश्यक और सर्वोपरि बतलाया है उसका आशय संन्यासियों की तरह संसार से

विरक्त होकर कर्म-रहित जीवन व्यतीत करना नहीं है, वरन् सर्व साधारण की तरह सांसारिक व्यवहार करते हुए परमार्थ पर दृष्टि रखने से है। उसमें बार-बार यही कहा गया है कि जो पुरुष इस संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है वह फिर किसी भी स्थिति में रहे उसे हर्ष अथवा शोक नहीं हो सकता और जब कोई मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो फिर वह संसार में किसी प्रकार लिप्त नहीं हो सकता। लेखक का कथन है कि—'जिस महात्मा की अविद्या निवृत्त हो गई है, जिसको परमात्म-विषय का अच्छी तरह ज्ञान है तथा जो सदाचार से युक्त है, वह महात्मा सुचारु रूप से सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी अपने अन्तरात्मा में प्रसन्न रहता है। उसके शरीर का छेदन होते हुए भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता, देह का विनाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता, क्योंकि वह देह से रहित हुआ सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के स्वरूप में नित्य स्थित है। ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष चाहे दरिद्र अवस्था में रहे, सङ्कटावस्था में रहे, अथवा उत्तम नगर के महल में रहे या विस्तृत पहाड़ अथवा वन में रहे, वह सदा-सर्वदा सुख-दुःख के उपद्रव के रहित ही होता है।'

आगे चलकर 'योगवाशिष्ठकार' ने ऐसे अनेक महापुरुषों का उदाहरण देकर बतलाया है कि जो व्यक्ति सच्चा ज्ञानी और अध्यात्मविद्या का ज्ञाता होगा वह प्रकट में सांसारिक प्रपञ्च, वैभव और संघर्ष में रहता हुआ भी उससे सर्वथा अप्रभावित रहता है। उसने कहा है—'अपने राज्य व्यवहार में तत्पर होते हुए भी राजा जनक सम्पूर्ण चिन्ता रूपी ज्वर से तथा अन्तःकरण की व्याकुलता से रहित होकर ही सदा-सर्वदा स्थित रहते थे। रघुकुल के महाराज दिलीप ने अनेक तरह के उचित सांसारिक कर्मों को सुचारु रूप से करते हुए भी आसक्ति रहित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का पालन किया। राग आदि दोषों से रहित होकर ही आत्मज्ञान को प्राप्त तथा जीवन्मुक्त स्वरूप महाराज

मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का संरक्षण करते हुये राज्य का पालन किया। विचित्र सैन्य तथा बाहुबल के प्रयोग से युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारों को निष्काम भाव से दीर्घकाल तक करते हुए महाराजा मान्धाता परमपद को प्राप्त हुए। पाताल के राज-सिंहासन पर आसीन, सदात्यागी, सदा अनासक्त दैत्यों के राजा बलि यथार्थ रूप से व्यवहार को करते हुये भी जीवन्मुक्त रूप से स्थित हैं। पाताल तल का परिपालन करते समय दानवोचित कर्मों का अनासक्त भाव से अनुष्ठान करते हुये भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्द स्वरूप परमपद को प्राप्त हुये।'

इतना ही नहीं प्राकृतिक तत्वों की अधिष्ठातृ देव शक्तियों को भी अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवन्मुक्त बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—'समस्त देवताओं के मुखस्वरूप अग्निदेव क्रिया—समूह में तत्पर होते हुये यज्ञीय शोभा का चिरकाल तक उपभोग करते हैं, तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवन में निवास करते हैं। जगत के प्राणिसमूहों के अङ्गों का चिरकाल से संचरण करते हुये भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र गमनशील है, मुक्त ही स्थित है। ज्ञान रूप रत्नों के एकमात्र समुद्र, तीक्ष्ण बुद्धि वीरवर स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुये भी तारकादि असुरों से युद्ध किया। महामुनि नारद मुक्त-स्वभाव होते हुये भी इस जगत् में कार्यशील और शान्त बुद्धि से विचरण किया करते हैं। जीवन्मुक्त होकर ही सूर्य अनासक्त भाव से दिवस-परम्पराओं का निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म विचार पूर्वक लोगों का नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावों के अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवन में मुक्त स्वरूप हुए ही अनासक्त भाव से विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारों में स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्ति से युक्त हैं। जब कि कुछ तामसी, मूढ़ पुरुष मोह में मग्न हुये पत्थर के सदृश्य बने रहते हैं। कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय

है। 'योगवासिष्ठ' में एक 'अर्जुनोपाख्यान' भी है जिसमें सात अध्यायों में महाभारत के युद्ध का आरम्भ और गीता की कथा वर्णन की गई है। उसके बहुत से श्लोक ज्यों के त्यों 'गीता' से लिए गए हैं और बहुत से गीता के श्लोकों के भावार्थ पर स्वयं रचे गये हैं। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक, जो बिल्कुल मिलते हैं नीचे दिये जाते हैं। प्रत्येक के नीचे यह बता दिया गया है कि वे 'गीता' के किस अध्याय में कहां पर हैं और 'योगवासिष्ठ' के किस प्रकरण के किस सर्ग में किस संख्या पर हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा नः भूयः।
अजो नित्यो शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २–२० योग० ६।५२।२६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्य न हन्यते॥
(गीता २।१९ योग० ६।५२।२७)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २–१६ योग० ६।५५-१२)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व मिदम् ततम्।
विनाश मव्यय यस्यास्य न कश्चित् कर्तु महर्हति॥
(गीता० २।१७ योग० ६।५५।११)

अंतवन्त इमे देहो नित्य स्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनो प्रमेयस्य तस्माद् युद्धयस्य भारत॥
(गीता० २-१८ योग ६।५५।१४)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्तेमनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते॥
(गीता० ३–६ योग० ६।५४।२६)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमतेर्जुन।
कर्मेन्द्रिय कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता० ३–७ योग० ६।५४।२७)

आपूर्यमाणमचलं प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामाय प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न काम कामी ॥

(गीता० २–७ यो० ६।५४।१८)

हमारा आशय यह नहीं कि इस प्रकार के श्लोकों के मिलने से 'योगवासिष्ठ' की किसी प्रकार न्यूनता सिद्ध होती है। आज कल तो सभी लेखक अपने मत के समर्थन में बीसियों अन्य लेखकों के उद्धरण देते हैं, और इससे उनकी रचना का महत्त्व घटने के बजाय बढ़ता ही है। इसलिए यदि योगवासिष्ठकार ने भी अपने विचारों से मिलते हुये एक महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध ग्रन्थ के दस-पाँच उद्धरण दे दिये तो यह ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाने वाली बात ही है।

× × × ×

'योगवासिष्ठ' के प्रतिपादित विषयों का यह विश्लेषण और उसका वर्णन-शैली का संक्षिप्त परिचय यह बतलाता है कि वह ज्ञान और कर्म का समन्वय करने वाली एक महान् रचना है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ज्ञान और कर्म एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। मानव-जीवन के उत्कर्ष के लिए जिस प्रकार ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार सुख और सन्तोष युक्त जीवन व्यतीत करने के लिए समयोचित कर्म भी अनिवार्य हैं। यह कार्य मनुष्यों को किस प्रकार सम्पन्न करना चाहिए, यह बात इस ग्रन्थ में बहुत अच्छी तरह समझाई गई है। यद्यपि इसमें जगत् के सब पदार्थों के मिथ्या होने पर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिससे सामान्य पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं, तो भी इसमें यह बराबर कहा गया है कि इसके मिथ्या होने पर भी जब तक हम संसार में जीवित हैं, सांसारिक कर्तव्यों का पालन अनासक्तभाव से अवश्य करते रहना चाहिए। यह अध्यात्मवाद का सार है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

॥ विषय-सूची ॥

भूमिका — ३—४५

॥ वैराग्य प्रकरण ॥

१—देवदूत द्वारा मोक्षोपाय वर्णन	४९
२—वाल्मीकि-भारद्वाज सम्वाद वर्णन	६२
३—श्रीराम की तीर्थयात्रा वर्णन	६९
४—दिवस व्यवहार निरूपण वर्णन	७७
५—कार्श्य निवेदन वर्णन	८०
६—महर्षि विश्वामित्र का दशरथ के यहाँ आगमन	८३
७—विश्वामित्र का राक्षसों के वधार्थ श्रीराम को माँगना	९४
८—महाराज दशरथ का उत्तर	९९
९—महर्षि वसिष्ठ द्वारा इस समस्या के समाधान का आश्वासन	१०६
१०—श्रीरामचन्द्र जी की विषादावस्था वर्णन	११०
११—राघव समाश्वासन वर्णन	११८
१२—संसार की दशा अवलोकन करके राम का परिताप वर्णन	१२४
१३—लक्ष्मी निराकरण वर्णन	१३०
१४—जीवन की अस्थिरता वर्णन	१३१
१५—अहङ्कार जुगुप्सा वर्णन	१३५
१६—चित्त दौरात्म्यं वर्णन	१३७
१७—तृष्णा भंग वर्णन	१४०
१८—देह जुगुप्सा वर्णन	१४२
१९—बाल्यावस्था के दोष वर्णन	१४५
२०—यौवन काल के दोष वर्णन	१४७

२१—स्त्री जुगुप्सा वर्णन १५१
२२—जरा जुगुप्सा वर्णन १५४
२३—कालापवाद वर्णन १५७
२४—काल विलास वर्णन १६०
२५—कृतान्त द्वारा प्राणियों का नाश १६१
२६—दैवि दुर्विलास वर्णन १६६
२७—निश्रेयस-विरोधि भाव तथा नित्यता प्रतिपादन १७८
२८—सर्वभावा अविरत विपर्यास वर्णन १८४
२९—समस्त पदार्थों के नाशवान् होने का वर्णन १८९
३०—प्रयोजन कथन १९२
३१—श्रीराम के प्रश्नों का श्रोताओं पर अद्भुत प्रभाव वर्णन १९५
३२—समस्त ऋषि, मुनि, सिद्धों का साधुवाद देना १९९

॥ मुमुक्ष-व्यवहार प्रकरण ॥

१—शुकदेव जी का राजा जनक के यहाँ आत्मज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से जाना २०५
२—विश्वामित्र जी की प्रेरणा से महर्षि वसिष्ठ का उपदेश करने को उद्यत होना २१४
३—मोक्षाभिलाषी रुप का व्यवहार कैसा होना उचित है २२०

॥ उत्पत्ति प्रकरण ॥

१—दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, ज्ञान की प्रशंसा, जगत् की ब्रह्म से अभिन्नता आदि का निरूपण २४१
२—मण्डपोख्यान राजा पद्म और रानी लीला की कथा २७३
३—कर्कटी राक्षसी द्वारा ब्रह्मा जी से सूचीमुख होने का वरदान प्राप्त करना ३३५
४—इन्दु ब्राह्मण और उसके दश पुत्रों की कथा ३६९
५—राजा इन्द्रद्युम्न और रानी अहिल्या की कथा ३७८

६—चित्तोपाख्यान के रूप में मन की अनेक दूषित भावनाओं और कल्पनाओं का वर्णन ३८४

७—बालकाख्यायिका के रूप में समस्त सांसारिक व्यवहारों के कल्पित होने का वर्णन ३९६

८—शाम्बरिक (जादूगर) उपाख्यान के रूप में स्त्री-पुत्र आदि के मोह का वर्णन ४०२

९—लवणोपाख्यान द्वारा मन द्वारा ही सब सङ्कल्पों के शाप किये जाने का वर्णन ४१८

॥ स्थिति प्रकरण ॥

१—भार्गव-आख्यान में जगत के ब्रह्ममय होने का वर्णन ४५८

२—दामादि-उपाख्यान द्वारा अहङ्कार रहित पुरुषार्थ की विशिष्टता का वर्णन ४७७

३—भीम, भास और दृढ़ का उपाख्यान ४९४

४—दाशूरोपाख्यान में सङ्कल्प द्वारा संसार की उत्पत्ति का वर्णन ५०४

॥ उपशम प्रकरण ॥

१—राजा जनक को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ५५८

२—पुण्य और पावन का उपाख्यान ५६७

३—राजा बलि को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ५८८

४—वासना-क्षय तत्त्व-विज्ञान एवं मन के उच्छेद का मार्ग ६०१



योगवासिष्ठ

[प्रथम खंड]

वैराग्य प्रकरण



प्रथम सर्ग

यतः सर्वाणिभूतानि प्रतिभांति स्थितानिच ।
सत्रैवोपशमंयांतितस्मै सत्यात्मनेनमः ॥१
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शन दृश्यभूः ।
कर्त्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मैज्ञप्त्यात्मनेनमः ॥२
स्फुरंपति सीकराय स्मादानंदस्यांवरे वनौ ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानंदात्मनेनमः ॥३
सुतीक्ष्णो ब्राह्मणः कश्चित्संशयाक्रुष्ट मानसः ।
अगस्तेराश्रमं गत्वा मुनिपप्रच्छ सादरम् ॥४
भगवन् धर्म तत्वज्ञ सर्व शास्त्र विनिश्चित ।
संशयोस्ति महानेकस्तत्र मेतं कृपया वद ॥५
मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्ष साधनम् ।
उभयं वा विनिश्चित्यं एक कथय कारणम् ॥६

जिससे आकाशादि सम्पूर्ण महाभूत प्रकट होते हैं अर्थात् प्रतीत होकर सबको दिखलाई दिया करते हैं और स्थिति के समय में जिसकी सत्ता से स्थित रहा करते हैं तथा प्रलय काल में जिस सत्ता मात्र में स

प्रतीत होजाया करते हैं उस सत्य स्वरूप परब्रह्म के लिये प्रणाम है ॥१॥ ज्ञाता (ज्ञान वाला), ज्ञान—ज्ञेय (जानने का विषय), द्रष्टा—(देखने वाला), दर्शन—दृश्य (देखने का विषय)—समस्त प्राणेन्द्रियादि का ग्रहण कर कर्त्ता अर्थात् करने वाला—हेतु और क्रिया—इन सभी का जिस परब्रह्म में आविर्भाव होता है उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है ॥ २ ॥ जिससे स्वर्ग और भूमितल आदि समस्त लोकों में जल कण की भाँति ही अमन्दानन्द के कण स्फुरित हुआ करते हैं और सम्पूर्ण प्राणि मात्र के जीवन के आधार स्वरूप हैं उन परिपूर्ण चित्स्वरूप आनन्द के महासागर परब्रह्म परमेश्वर को नमस्कार है ॥ ३ ॥ पुरातन समय में सुतीक्ष्ण नामधारी ब्राह्मण के हृदय में संशय समुत्पन्न हो गया था और वह अगस्त्य मुनि के आश्रम में गया और वहाँ जाकर उसने बहुत ही आदर के साथ मुनि से पूछा था ॥ ४ ॥ सुतीक्ष्ण ने कहा—हे भगवन् ! आप तो धर्म के यथार्थ तत्वों के पूर्ण ज्ञाता हैं और आप समस्त शास्त्रों के सुनिश्चित ज्ञान से सुसम्पन्न हैं। मुझे एक बड़ा भारी संशय हो गया है। आप मुझ पर अनुग्रह करके उसका सुन्दर समाधान कर दीजिए ॥ ५ ॥ परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन कर्म होता है अथवा ज्ञान है या कर्म और ज्ञान ही इसके कारण हुआ करते हैं ? ये तीन पक्ष मेरे विचार के विषय बने हुए हैं। इनमें से किसी भी एक का निश्चय करके जो भी वस्तुतः मोक्ष का साधन होता है मुझे भलीभाँति बता दीजिए ॥ ६ ॥

> उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खेपक्षिणां गतिः ।
> तथैवज्ञान कर्मभ्यां जायते परमं पदम् ।७
> केवलात्कर्मणोज्ञानान्नहि मोक्षोभिजायते ।
> किंतू भाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनंतूभयविदुः ।।८
> अस्मिन्नर्थेपुरावृत्त मितिहासं वदामिते ।
> कारुण्याख्यः पुराकश्चिद्ब्राह्मणो धीत वेदकः ॥९

अग्निवेशस्य पुत्रोभूद्वेद वेदांग पारगः।
गुरोर धीत विद्यः सन्ना जगाम गृहंप्रति ॥१०
तस्थाव कर्म कृत्तूष्णीं सशयानो गृहेतदा।
अग्निवेश्यो विलोक्याथ पुत्रं कर्म विवर्जितम् ॥११
प्राहएतद्वचोनिद्यंगुरुः पुत्रं हितायच।
किमेतत्पुत्र कुरुषेपालनं न स्व कर्मणः ॥१२
अकर्मनिरतः सिद्धि कथं प्राप्यस्यसितद्वद।
कर्मणो स्मान्निवृत्तेः किं कारणं तन्निवेद्यताम् ॥१३

अगस्त्य मुनि ने सुतीक्ष्ण के इस महा जटिल प्रश्न को सुनकर कहा—हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार से आकाश में उड़ने के लिये पक्षीगण अपने दोनों ही पङ्खों से काम लिया करता है और तभी उसका उड़ना सम्भव होता है, एक पङ्ख से यह सम्भव नहीं होता है, ठीक उसी भाँति ज्ञान और निष्काम कर्म्म दोनों ही से इस परम पद मोक्ष की प्राप्ति भी हुआ करती है। न तो केवल कर्म से और न केवल ज्ञान से मोक्ष हुआ करता है किन्तु इस मोक्ष की प्राप्ति के ज्ञान तथा कर्म्म दोनों ही साधन हुआ करते हैं ॥ ७, ८ ॥ इस विषय में एक परम प्राचीन इतिहास है उसे अब मैं आपको बतलाता हूँ। पुरातन समय में कारुण्य नाम वाला ब्राह्मण था जो अग्निवेश्य का पुत्र था। वह ब्राह्मण परम विद्वान् वेदों एवं वेदाङ्गों का पारगामी था। अपने गुरु से विद्याध्ययन समाप्त करके वह अपने घर वापिस लौटकर समागत हो गया था। घर में आने के पश्चात् वह ब्राह्मणोचित एक भी सन्ध्योपासनादि कर्म न करते हुए एकदम शान्त होकर बैठने लगा था। उसके मन में बड़ा संशय होता रहा करता था। उस दशा में चुपचाप बैठे हुए अपने पुत्र को देखकर जो कि सभी कर्मों से रहित रहा करता था अग्निवेश्य ने उन शास्त्रोक्त कर्मों का त्याग कर निन्दा के योग्य पुत्र से उसके हित के ही लिये यह वचन कहा था। अग्निवेश्य ने कहा—हे पुत्र! तुम अपने विहित समुचित कर्मों का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? ॥ ९ ॥

यतिगण केवल इन सबको त्याग करके ही इस अमृत स्वरूप मोक्ष का आनन्द प्राप्त किया करते हैं। इन दोनों श्रुतियों में मुझे किस श्रुति के आदेश का पालन करना चाहिए—यही मेरे मन में महान् संशय बैठ गया है और मैं सभी कर्मानुष्ठानों से उदासीन सा हो गया हूँ॥ १४, १५, १६॥ महर्षि अगस्त्य जी ने कहा—हे तात ! यह कहकर वह कारुण्य चुप हो गया था। इस प्रकार की विचारधारा वाले अपने पुत्र को देख कर फिर उस अग्निवेश्य ने अपने पुत्र से कहा था॥ १७॥ अग्निवेश्य ने कहा—हे बेटा ! इसके लिये अब तुम मुझसे एक कथा का श्रवण करलो। इसके पश्चात् अपने हृदय में जो भी कुछ निश्चय करके चाहो सो करना॥ १८॥ एक सुरुचि नाम वाली कोई स्त्री थी जो अप्सराओं में सबसे श्रेष्ठ थी। यह एक मयूरों से संवृत हिमालय के शिखर पर बैठी हुई थी, जहाँ पर महान् अघों के समुदाय के विनाश करने वाले गङ्गा के प्रवाह से संस्पर्श करने वाले उस हिमवान् के शिखर पर किन्नर गण काम से संतप्त होकर किन्नरियों के साथ रमण किया करते हैं॥ १९, २०॥ उस अप्सरा ने आकाश मार्ग में गमन करते हुए इन्द्र के दूत को देखा था। उस अप्सराओं में परम श्रेष्ठ महाभागा सुरुचि ने उससे कहा था॥ २१॥

देवदूतमहाभागकुत आगम्यतेत्त्र या।
अधुनाकुत्रगंतासितत्सर्वं कृपयावद ॥२२
साधु पृष्टं त्वया सुभ्रु यथावत्कथयामिते।
अरिष्टनेमी राजर्षिर्दत्वा राज्य सुतायवै ॥२३
वीतरागः सधर्मात्मानिर्ययोतप सेवनम्।
तपश्चरत्यसौराजापर्वतेगंधमादने ॥२४
कार्यं कृत्वामयातत्र तत आगम्यतेधुना।
गंतास्मि पार्श्वेशक्रस्यतं वृत्तांतनिवेदितुम् ॥२५
वृत्तांतः को भवत्तत्रकथयस्व ममप्रभो।

नानावृक्षसमाकीर्णंगत्वातस्मिनगिरौ शुभे ॥३०
अरिष्टनेमि राजानंदूतारोप्यविमानके ।
आनय स्वर्गभोगायनगरीममरावतीम् ॥३१
इत्याज्ञांप्राप्यशक्रस्य गृहीत्वातद्विमानकम् ।
सर्वोपस्कर संयुक्तं तस्मिन्नद्रावहंययौ ॥३२
आगत्यपर्वतेतस्मिन् राज्ञो गत्वाश्रमंमया ।
निवेदिता महेन्द्रस्य सर्वाज्ञा रिष्टनेमये ॥३३
इतिमद्वचनं श्रुत्वा संशया नो वदच्छु मे ।
प्रष्टुमिच्छामि दूतत्वां तन्मेत्वं वक्तुमर्हसि ॥३४
गुणादोषाश्चकेतत्रस्वर्गेवदममाग्रतः ।
ज्ञात्वास्थितितु तत्रत्यांकरिष्येहं यथा रुचि ॥३५

यह अनेक अप्सराओं से युक्त है—अनेक प्रकार के वादित्रों से शोभा वाला है—जिस पर गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष-किन्नर आदि सभी संस्थित हैं। तुम उस परम शुभ गन्धमादन पर्वत पर जाओ, जहाँ ताल-वेणु और मृदङ्ग आदि की शोभा-सम्पन्नता है तथा नाना भाँति के वृक्षों से जो शुभ गिरि शोभित है। वहाँ अरिष्टनेमि राजा तपस्या कर रहा है उसको इस विमान में बिठाकर यहाँ इस अमरावती नगरी में सुखोपभोग करने के लिये शीघ्र ही ले आओ। दूत ने कहा—मैं देवराज की इस आज्ञा को प्राप्त कर उस अनेकोत्तम उपस्करों से संयुत उस विमान को लेकर उस गिरि पर गया था ॥ २६, ३०, ३१, ३२ ॥ उस पर्वत पर मैंने महा महेन्द्र की जो आज्ञा मुझे प्राप्त हुई थी वह राजा अरिष्टनेमि को कह सुनाई थी ॥ ३३ ॥ इस मेरे वचन का श्रवण करके हे शुभे ! संशय वाला होते हुए उसने मुझसे कहा था। राजा ने कहा—हे दूत ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ उसे तुम मुझे बतला दो ॥ ३४ ॥ मेरे सामने तुम पहिले यह बतलाओ कि उस स्वर्ग में जहाँ पर तुम मुझे ले जाने को समागत हुए हो वहाँ पर क्या तो गुण हैं और कौन-कौन से

कम सुखी देखकर मन में सन्तोष हुआ करता है। इस तरह असहिष्णुता स्पर्धा और सन्तोष रखने वाले पुरुष वहाँ पर तभी तक निवास किया करते हैं जब तक उनका पुण्य भोग क्षय नहीं होता है ।। ३८ ।। जब पुण्य का क्षय हो जाया करता है तो वे मनुष्य इसी मर्त्यलोक में पुनः आकर प्रवेश प्राप्त किया करते हैं। हे राजन्! इसी प्रकार के गुण दोष स्वर्ग में भी रहा करते हैं ।। ३९ ।। हे भद्रे! मेरे इस कथन को सुनकर उस राजा ने मुझसे कहा था। राजा अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया था—हे दूत! मैं इस प्रकार के गुण दोषों से युक्त स्वर्ग में निवास नहीं करना चाहता हूँ जिसका कि इस प्रकार का परिणाम हुआ करता है ।। ४० ।। अब यहाँ से आगे भविष्य में मैं अत्यन्त उग्र तप करूँगा और इस कलेवर का त्याग कर दूँगा जो कि परम अशुद्ध है जिस प्रकार से सर्प अपनी जीर्ण त्वचा अर्थात् केंचुली का त्याग कर दिया करता है। हे देवदूत! आप जिस मार्ग से यहाँ पर समागत हुए उसी भाँति वापिस चले जाइये और इस विमान को भी लौटा ले जाओ तथा महेन्द्र को ले जाकर दे दो। तुमको मेरा नमस्कार है ।।४१, ४२ ।।

इत्युक्तोहंगतोभद्रे शक्रस्याग्रेनिवेदितुं ।
यथावृत्त निवेद्याथमहदाश्चर्यतांगतः ॥४३
पुनः प्राहमहेन्द्रोमां श्लक्ष्णं मधुर यागिरा ।
दूतगच्छ पनस्तत्र तं राजानंनयाश्रमम् ।।४४
वाल्मीके र्ज्ञात तत्वस्यस्वबोधार्थं विरागिणम् ।
संदेशंममवाल्मीकेर्महर्षेस्त्वंनिवेदय ।।४५
महर्षेत्वं विनीतायराज्ञेस्मै वीतरागिणे ।
न स्वर्ग मिच्छ ते तत्वंप्रबोधय महामुने ।।४६
तेन संसार दुःखार्तो मोक्षमेण्यतिचक्रमात् ।
इत्युक्त्वादेवराजेन प्रेषितोहतदंतिके ।।४७

कम सुखी देखकर मन में सन्तोष हुआ करता है। इस तरह असहिष्णुता स्पर्धा और सन्तोष रखने वाले पुरुष वहाँ पर तभी तक निवास किया करते हैं जब तक उनका पुण्य भोग क्षय नहीं होता है ।। ३८ ।। जब पुण्य का क्षय हो जाया करता है तो वे मनुष्य इसी मर्त्यलोक में पुनः आकर प्रवेश प्राप्त किया करते हैं। हे राजन् ! इसी प्रकार के गुण दोष स्वर्ग में भी रहा करते हैं ।। ३९ ।। हे भद्रे ! मेरे इस कथन को सुनकर उस राजा ने मुझसे कहा था। राजा अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया था—हे दूत ! मैं इस प्रकार के गुण दोषों से युक्त स्वर्ग में निवास नहीं करना चाहता हूँ जिसका कि इस प्रकार का परिणाम हुआ करता है ।। ४० ।। अब यहाँ से आगे भविष्य में मैं अत्यन्त उग्र तप करूँगा और इस कलेवर का त्याग कर दूँगा जो कि परम अशुद्ध है जिस प्रकार से सर्प अपनी जीर्ण त्वचा अर्थात् केंचुली का त्याग कर दिया करता है। हे देवदूत ! आप जिस मार्ग से यहाँ पर समागत हुए उसी भाँति वापिस चले जाइये और इस विमान को भी लौटा ले जाओ तथा महेन्द्र को ले जाकर दे दो। तुमको मेरा नमस्कार है ।। ४१, ४२ ।।

इत्युक्तोहंगतोभद्रे शक्रस्याग्रेनिवेदितुं ।
यथावृत्त निवेद्याथमहदाश्चर्यतांगतः ॥४३
पुनः प्राहमहेन्द्रोमां श्लक्ष्णं मधुर यागिरा ।
दूतगच्छ पनस्तत्र तं राजानंनयाश्रमम् ॥४४
वाल्मीके ज्ञात तत्वस्यस्वबोधार्थं विरागिणम् ।
संदेशंममवाल्मीकेर्महर्षेस्त्वंनिवेदय। ।४५
महर्षेत्वं विनीतायराज्ञेस्मै वीतरागिणे ।
न स्वर्ग मिच्छ ते तत्वंप्रबोधय महामुने ।।४६
तेन संसार दुखार्तो मोक्षमेष्यतिचक्रमात् ।
इत्युक्त्वादेवराजेन प्रेषितोहतदंतिके ।।४७

श्रुत्वाव धार्यं यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥५२
वसिष्ठ राम संवादं मोक्षोपाय कथां शुभाम् ।
ज्ञातस्व भावोराजेन्द्रवदामि श्रूयतांबुध ॥५३
को रामः कीदृशः कस्य बद्धोवा मुक्त एव वा ।
एतन्मे निश्चितं ब्रूहि ज्ञानं तत्त्व विदांवर ॥५४
शाप व्याज वशा देव राजवेष धरोहरिः ।
आहृता ज्ञान संपन्नः किंचिऽज्ञो सोभवत्प्रभुः ॥५५
चिदानंद स्वरूपेहिरामे चैतन्यविग्रहे ।
शापस्य कारणंब्रूहि कः शप्ता चेतिमेवद् ॥५६
सनत्कुमारो निष्काम अवसद्ब्रह्मसद्मनि ।
वैकुंठादागतो विष्णु स्त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः ॥५७

इसके उपरान्त महर्षि वाल्मीकि ने परम प्रसन्नता के साथ सर्व-प्रथम क्षेम-कुशल की बात को आरम्भ करते हुए राजा से उनका आरोग्य का समाचार पूछा था ॥४६॥ राजा ने कहा—हे भगवन् ! आप तो धर्म्म के तत्व को भली भाँति जानते हैं और जानने के योग्य जो भी कुछ है वह सभी आपको पूर्ण रूप से ज्ञात है। हे महा मनीषियों में परम श्रेष्ठ महर्षि प्रवर ! मैं तो आपके दर्शन प्राप्त करके ही कृतार्थ होगया हूं। यही मेरा परम कुशल है ॥५०॥ हे भगवन् ! मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूं। आप कृपया बिना किसी विघ्न बाधा के मेरे प्रश्न का समाधान कर दीजिए। इस सांसारिक बन्धन के दुःख से मुझे बड़ी पीड़ा होती है। इससे मेरा छुटकारा किस तरह से होगा—यह आप मुझे बतला दीजिए। श्री वाल्मीकि जी ने कहा—हे राजन् ! आप को मैं सम्पूर्ण रामायण की कथा कहूंगा। आप उसका श्रवण कर यत्नपूर्वक उसको अपने हृदय में अवधारण कर लेने पर आप जीवन्मुक्त हो जायगे ॥५१॥५२॥ हे राजेन्द्र ! आप तो एक परम विद्वान् नरेश हैं। यह रामायण महर्षि वसिष्ठ और श्रीराम के सम्वाद के स्वरूप में है और वह मोक्ष की प्राप्ति

था किन्तु केवल सनत्कुमार ही एक वहाँ पर ऐसे थे जिन्होंने विष्णु भगवान के पूजन में भाग न लेकर चुपचाप बैठे रहे थे। उनकी ओर देखकर सर्वेश्वर भगवान ने उनसे कहा था ॥५८॥ हे सनत्कुमार ! आप अपने आपको निष्काम समझते हुए बहुत अहङ्कारी हो गये हो और इसी लिये एक जड़ पदार्थ की भाँति स्तब्ध होकर चुपचाप बैठे ही रह गये हो। गर्व से समन्वित इस चेष्टा के कारण तुम दण्ड के पाने के योग्य हो अतएव मैं शाप देता हूं कि तुम परम कामार्त्त होते हुए शरजन्मा नाम से विख्यात दूसरा शरीर धारण करो। इस पर सनत्कुमार ने भी भगवान् विष्णु को शाप दे दिया था कि आप में जो सर्वज्ञता है उसको कुछ समय के लिये त्याग करके आप अज्ञानी हो जायेंगे और साधारण जीवात्मा के ही तुल्य बन जायेंगे ॥ ५६, ६० ॥

भृगुर्भार्यां हितां दृष्ट्वात्युवाच क्रोधमूर्छितः।
विष्णो तवापिभार्यायावियोगो हि भविष्यति ॥६१
वृन्दया शापितो विष्णुश्छलनं यत्त्वया कृतम्।
अतस्त्वं स्त्री वियोगं तु वचकनान्ममयास्यसि ।६२
भार्या हि देवदत्तस्य पयोष्णी तीर संस्थिता।
नृसिंह वेषधृग्विष्णुं दृष्ट्वा पंचत्वमागता ॥६३
तेन शप्तो हि नृहरिर्दुःखार्त्तः स्त्री वियोगतः।
तवापिभार्यया सार्धं वियोगोहि भविष्यति ॥६४
भृगुर्णवंकुमारेण शापितो देव शर्मणा।
वृन्दया शापितोविष्णुस्तेन मानुष्यतांगतः। ६५
एतत्ते कथितं सर्वशापव्याजस्यकारणम्।
इदानीं वच्मि तत्सर्वं सावधानमति श्रृणु ॥६६

एक समय की बात है कि महर्षि भृगु की पत्नी श्री हरि के चक्र से निहत होगई थी—यह देख भृगु को बड़ा भारी क्रोध उत्पन्न हो गया था। उन्होने श्रीहरि को क्रोधावेश में शाप देते हुए कहा था—हे विष्णो !

शिष्यायास्मिविनीताय भरद्वाजायधीमते।
एकाग्रोदत्त वांस्तस्मै मणिमब्धिरिवार्थिने ॥५
ततएते कथोपाया भरद्वाजेनधीमता।
कस्मिदिवन्मेरागहने ब्रह्मणोग्रउदाहृताः ॥६
अथास्यतुष्टोभगवान ब्रह्मालोक पितामहः।
वरंपुत्र गृहाणेतित मुवाच महाशयः ॥७
भगवन्भूतभव्येशवरोयं मेद्यरोचते।
येनेयंजनतादुःखान्मुच्यतेतदुदाहर ॥८

आरम्भिक मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं कि जो सर्वव्यापी ज्ञान स्वरूप प्रकाश परमेश्वर स्वर्ग लोक में—भूतल में - अन्तरिक्ष में तथा हम सबके बाहिर और भीतर सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं उन सर्वात्मा के लिये नमस्कार है ॥ १ ॥ महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा—हे राजन् ! जो मनुष्य—'मैं' सांसारिक बन्धन में बंधा हुआ हूं किन्तु उपाय और साधन के द्वारा मैं इससे युक्त हो सकता हूं। ऐसा जिसके मनमें निश्चय होता है तथा जो न तो अत्यधिक अज्ञानी है और न तत्वों का ज्ञाता ही है वही मनुष्य इस शास्त्र के श्रवण करने का एवं पढ़ने का अधिकारी होता है ॥ २ ॥ जो सर्व प्रथम कथा रूपी उपायों से बालकाण्ड—अयोध्या काण्ड आदि सम्पूर्ण काण्डों का भली भांति परिशीलन करके मोक्ष के उपाय भूत इन वैराग्य आदि छै प्रकरणों का अनुशीलन करता है वह विद्वान् पुरुष फिर इस संसार में जन्म ग्रहण नहीं किया करता है अर्थात् वह सांसारिक जन्म-मरण के दुःख से सर्वदा के लिये छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ हे शत्रुओं के मर्दन करने वाले ! यह रामायण दो खण्डों में है—एक इसका पूर्व खण्ड है और दूसरा उत्तर खण्ड है। इस रामायण में राग द्वेषादि दोषों को निराकरण करने के लिये श्रीराम की कथा रूपी महान् प्रबल बताये गये हैं। इसके सातों काण्डों की रचना करके पहिले एकाग्र चित्त वाला होकर मैंने अपने परम विनयशील

कुरुलोकहितार्थंत्वंशास्त्रमित्युक्तवानजः ॥१५
ममपुण्याश्रमात्तस्मात्क्षणादेवर्द्धिमागतः।
मुहूर्त्ताम्युत्थित प्रोच्चैंस्तरंगइववारिणः। १६

श्री ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्र ! इस विषय में तुम बहुत शीघ्र जाकर प्रयत्न पूर्वक अपने गुरुदेव बाल्मीकि महर्षि से ही प्रार्थना करो जिन्होंने इस निर्दोष रामायण की रचना की है। इस रामायण का श्रवण करने मात्र से ही मनुष्य समस्त मोह से पार हो जायगे। यह तो अपार गुणशाली सागर के सेतु के ही समान संसार रूप समुद्र से पार कर देने वाला है ॥९॥१०॥ श्री बालमीकि महर्षि ने कहा—समस्त भूतों के सृजन करने वाले ब्रह्माजी भरद्वाज से इस प्रकार कह कर उसी के साथ मेरे आश्रम में समागत हो गये थे ॥११॥ उस समय में मैंने अर्घ्य-पाद्य आदि के द्वारा भगवान ब्रह्माजी का पूजन किया था। समस्त प्राणियों के सम्पादन करने में तत्पर महान् सत्त्व वाले ब्रह्माजी ने मुझ से कहा था ॥१२॥ हे परम श्रेष्ठ महर्षे ! श्री राम के स्वरूप एवं स्वभाव का परम सुन्दर वर्णन करने वाले इस दोष रहित रामायण महान् ग्रन्थ की रचना का आरम्भ करके जब तक इस ग्रन्थ की समाप्ति न हो जावे तब तक चाहे आपके हृदय में कितना ही उद्वेग क्यों न हो, आप इस ग्रन्थ का परित्याग मत करना ॥१३॥ यह एक ऐसा सुंदर ग्रन्थ है कि इसके परिशीलन करते रहने से यह सम्पूर्ण जगत् इस परम घोर सांसारिक क्लेश से बहुत ही शीघ्र जलयान से सागर की भाँति पार हो जाता है। आप लोकहित के लिए इस रामायण शास्त्र की रचना अवश्य करो—मैं इस समय यही आप से कहने के लिये यहाँ पर समागत हुआ हूँ—यह ब्रह्माजी ने महर्षि वाल्मीकि से कहा था ॥१४॥१५॥ इसके पश्चात् वे मेरे उस पवित्र आश्रम से उसी क्षण में अन्तर्हित हो गये थे, और जल की तरङ्ग की भाँति मुहूर्त मात्र में ही ऊपर की ओर अभ्युत्थित हो गये थे ॥१६॥

का अनुशरण करने वाले परम मतिमान् मन्त्रियों के पुत्र—इन सब ने इस संसार रूपी घोर संकट में पड़कर कैसा व्यवहार किया था—यही आप मुझे स्पष्ट रूप से बतलाइये । इस महापुरुषों के व्यवहार का श्रवण कर के मैं भी जन समुदाय के साथ वसा ही व्यवहार करूँगा ।।२०।।२१।।२२।। हे राजेन्द्र ! जिस समय में भरद्वाज ने पूर्वोक्त विषय का प्रतिपादन करने के लिए मुझसे अत्यधिक आदर के साथ अनुरोध किया था तो उस समय में ब्रह्मा जी के आदेश का परिपालन करने के लिए मैं उक्त विषय के वर्णन करने में प्रवृत्त होगया था ।।२३।। मैंने उसी समय में कहा था—हे वत्स भरद्वाज ! तुमने जो भी मुझसे पूछा है मैं अब उसे कहता हूं । तुम समाहित होकर श्रवण करो । मेरे द्वारा वर्णित उपदेश से तुम उसका श्रवण कर अपना सम्पूर्ण मोह दूर कर सकोगे ।। २४ ।।

तथाव्यवहरप्राज्ञंयथाव्यवहृतः सुखी ।
सर्वासंसक्तयाबुद्धारामो राजीव लोचनः ।।२५
लक्ष्मणोभरतश्चैव शत्रुघ्नश्च महामनाः ।
कौसल्या च सुमित्रा च सीता दशरथस्तथा ।।२६
कृतास्त्रश्चाविरोधश्च वोध पारमुपागताः ।
वसिष्ठोवामदेवश्च मन्त्रिणोष्टौतथेतरे ।।२७
धृष्टिर्जयंतोभासश्च सत्योविजयएवच ।
विभीषणः सुषेणश्चहनुमानिन्द्रजित्तथा ।।२८
एतेष्टौमन्त्रिणः प्रोक्ताः समनीरागचेतसः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।।२९
एतैर्यथाहुतदत्तं गृहीतमुषितस्मृतम् ।
तथाचेद्वर्त्तसेपुत्रमुक्त एवासि सङ्कटात् ।।३०
अपारसंसार समुद्रपाती,
लब्ध्वापरांयुक्तिमुदारसत्त्वरः ।

का अनुशरण करने वाले परम मतिमान् मन्त्रियों के पुत्र—इन सब ने इस संसार रूपी घोर संकट में पड़कर कैसा व्यवहार किया था—यही आप मुझे स्पष्ट रूप से बतलाइये । इस महापुरुषों के व्यवहार का श्रवण कर के मैं भी जन समुदाय के साथ वसा ही व्यवहार करूँगा ।।२०।।२१।।२२।। हे राजेन्द्र ! जिस समय में भरद्वाज ने पूर्वोक्त विषय का प्रतिपादन करने के लिए मुझसे अत्यधिक आदर के साथ अनुरोध किया था तो उस समय में ब्रह्मा जी के आदेश का परिपालन करने के लिए मैं उक्त विषय के वर्णन करने में प्रवृत्त होगया था ।।२३।। मैंने उसी समय में कहा था—हे वत्स भरद्वाज ! तुमने जो भी मुझसे पूछा है मैं अब उसे कहता हूं । तुम समाहित होकर श्रवण करो । मेरे द्वारा वर्णित उपदेश से तुम उसका श्रवण कर अपना सम्पूर्ण मोह दूर कर सकोगे ।। २४ ।।

तथाव्यवहरप्राज्ञंयथाव्यवहृतः सुखी ।
सर्वासंसक्तयाबुद्ध्यारामो राजीव लोचनः ।।२५
लक्ष्मणोभरतश्चैव शत्रुघ्नश्च महामनाः ।
कौसल्या च सुमित्रा च सीता दशरथस्तथा ।।२६
कृतास्त्रश्चाविरोधश्च बोध पारमुपागताः ।
वसिष्ठोवामदेवश्च मन्त्रिणोष्टौतथेतरे ।।२७
धृष्टिर्जयंतोभासश्च सत्योविजयएवच ।
विभीषणः सुषेणश्चहनुमानिंद्रजित्तथा ।।२८
एतेष्टौमन्त्रिणः प्रोक्ताः समनीरागचेतसः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।।२९
एतैर्यथाहुतदत्तं गृहीतमुषितस्मृतम् ।
तथाचेद्वर्त्तसेपुत्रमुक्त एवासि सङ्कटात् ।।३०
अपारसंसार समुद्रपाती,
लब्ध्वापरांयुक्तमुदारसत्वरः ;

न शोक मायाति न दैन्यमेति,
गत ज्वरस्तिष्ठतिनित्यतृप्तः ॥३१

हे महा मतिमान् भरद्वाज ! तुम सबके साथ वैसा ही सुखी बनाने वाला व्यवहार करो जैसा कि आनन्द स्वरूप वाले कमल नयन श्रीराम ने समस्त संसार में आसक्ति की भावना का सर्वथा परित्याग करके रहते हुए व्यवहार किया था ॥२५॥ महान् मन वाले लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न-कौशल्या--सुमित्रा-सीता--महाराज दशरथ—श्रीराम के सखा कृताल और अविरोध-पुरोहित वासिष्ठ—वामदेव तथा अन्यान्य आठ मन्त्रिगण ये सभी परम ज्ञान को प्राप्त हो गये थे ॥२६॥२७॥ धृष्टि-जयन्त-भास-सत्यवादी विजय-विभीषण-सुषेण-हनुमान और इन्द्रजित—ये श्रीरामचन्द्र भगवान के आठ मन्त्री बताये गये हैं। ये सब के सब समदर्शी थे। इन सभी का चित्त विषयों में आसक्त नहीं था और ये सब जीवन्मुक्त महान् आत्मा वाले थे। इनको प्रारब्धानुसार जो भी कुछ प्राप्त होता था उसी में परम सन्तुष्ट रहते हुए उसी के अनुकूल व्यवहार किया करते थे ॥२८॥२९॥ हे पुत्र ! इन उपर्युक्त महापुरुषों ने जिस रीति से होम-दान आदान-प्रदान किया था तथा इन्होंने इस जगत् में जिस ढंग से निवास किया था और जिस विधि से इन्होंने स्मरण-चिन्तन एवं श्रौत-स्मार्त कर्मों का परिपालन किया था उसी भाँति यदि तुम भी बर्ताव करते हो तो समझलो कि इस सांसारिक घोर संकट से तुम बिल्कुल छूटे हुए ही हो ॥३०॥ उदार एवं तत्त्व गुण से सुसम्पन्न पुरुष इस अपार संसार रूपी सागर में गिरकर भी यदि ऊपर में बतलाए हुए उत्कृष्ठ साधनों को अपना लेने से उस मनुष्य को शोक-दैन्य कुछ भी कभी नहीं होता है और न वह कभी दुःख में ही पड़ता है। सभी तरह की चिन्ताओं से मुक्त होकर वह परमानन्द रूपी सुधा का पान करके सर्वदा के लिए संतृप्त हो जाया करता है ॥ ३१ ॥



तृतीय सर्ग

जीवन्मुक्तस्थिति ब्रह्मन्कृत्व राघवमादितः ।
क्रमात्कथय मे नित्यं भविष्यामि सुखी यथा ॥१
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनः स्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥२
दृश्यात्यताभावबोधं विनातन्नानु भूयते ।
कदाचित्केन चिन्नामस्वबोधोन्विष्यतामतः ॥३
सचेह संभवत्येव तदर्थ मिदमाततम ।
शास्त्रमाकर्णयसि चेत्तत्त्वमाप्स्यसिनान्यथा ॥४
जगद्भ्रमोयं दृश्योपिनास्त्येवेत्यनुभूयते ।
वर्णोव्योम्नइवाखेदाद्विचारेण मुनानघ ॥५
दृश्यंनास्तीतिबोधेन मनसो दृश्य मार्ज्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्नापरानिर्वाण निर्वृतिः ॥६
अन्यथाशास्त्र गर्त्तेषुलुठतां भवतामिह ।
भवत्यकृत्रिमाज्ञानांकल्पैरपिन निर्वृतिः ॥७
अशेषेणपरित्यागोवासनानांयउत्तमः ।
मोक्षइत्युच्यतेब्रह्मन्सएव विमलक्रमः ॥८

भरद्वाज मुनि ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आप अब भगवान श्रीराम की कथा का आरम्भ करके क्रमशः जीवन्मुक्त की स्थिति का वर्णन करके मुझे सुनाइये जिससे मैं सदा के लिये परम सुख-सम्पन्न हो जाऊँ ॥१॥ श्री वाल्मीकि जी ने कहा—हे परम साधु पुरुष भरद्वाज ! जिस प्रकार से रूप से रहित इस आकाश में नील-पीत आदि रंगों को देखने का भ्रम हो जाया करता है ठीक उसी भाँति इस निर्गुण एवं आकार रहित ब्रह्म में अज्ञान के कारण जगत् की सत्ता का भ्रम हुआ करता है। इस समुत्पन्न हुए जगत् सम्बन्धी भ्रम को इस रीति भुला दिया

क्षीणायांवासनायां तु चेतोगलतिसत्वरम् ।
क्षीणायांशीतसंतत्यां ब्रह्मन्हिमकणोयथा ॥६
अयंवासनयादेहोध्रियते भूतपंजरः ।
तनुनांतर्निविष्टेन मुक्तोघस्तंतुनायथा ॥१०
वासनाद्विविधाप्रोक्ता च मलिना तथा ।
मलिनाजन्मनोहेतुः शुद्धाजन्म विनाशिनी ॥११
अज्ञानसुघनाकाराघनाहंकारशालिनी ।
पुनर्ज्जन्म करी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥१२
पुनर्ज्जन्मांकुरंत्यक्त्वस्थितासंभृष्टबीजवत् ।
देहार्थंध्रियतेज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥१३
अपुनर्जन्म करणीजीवन्मुक्तेषुदेहिषु ।
वासनाविद्यतेशुद्धादेहेचकइव भ्रमः ॥१४
ये शुद्धवासनाभूयोनजन्माऽनर्थ भाजनम् ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यंते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥१५
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्तो यथा रामो महामतिः ।
तत्ते हं शृणुवक्ष्यामिजरामरण शांतये ॥१६

हे विप्रवर ! जिस प्रकार से शीत के नष्ट हो जाने पर हिम के कण तुरन्त ही गल जाया करते हैं ठीक उसी भाँति जन्म-जन्मान्तरों से स्थित वासनाओं के पुञ्ज के क्षीण हो जाने पर चित्त भी शीघ्र ही गल जाया करता है। अर्थात् उसका एकदम अभाव-सा हो जाया करता है ॥६॥ यह भूतों के समुदाय से समारब्ध देह वासना के द्वारा ही धारण किया जाता है। यह मन वासनाओं का ही एक पुन्ज स्वरूप होता है। जिस तरह से तन्तु से मुक्त होता है उसी भाँति अन्तर्निविष्ट तनु से यह भी मुक्त ओघ वाला है ॥१०॥ यह वासना भी दो प्रकार की कही जाती है—एक तो परम शुद्ध वासना होती है और दूसरी मलिन वासना हुआ करती है यही जन्म ग्रहण करने की कारण भूत होती है। इसी के द्वारा

यह जीवात्मा जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमण किया करता है । जो विशुद्ध वासना होती है वही जन्म का विनाश करने वाली अर्थात् मोक्ष की साधना स्वरूपा हुआ करती है ।। ११।। विद्वानों ने मलिन वासना को ही पुनर्जन्म के प्राप्त कराने वाली बताया है। अज्ञान ही इस मलिन वासना की घनीभूत आकृति है और वह बढ़े हुए अहङ्कार से शोभा वाली हुआ करती है ।।१२।। जो भुने हुए बीज के तुल्य पुनर्जन्म ग्रहण करने के अंकुर को जो उत्पन्न करने की शक्ति वाला है उसे परित्याग करके सिर्फ शरीर धारण करने मात्र के लिये स्थित रहा करती है उसी वासना को शुद्धा कहा जाता है जो शुद्ध वासना ही रखते हैं वे पुनर्जन्म प्राप्त करने के पात्र नही हुआ करते हैं। वे तो जानने के योग्य परमेश्वर के तत्व को जानने वाले परम मतिमान् पुरुष जीवन्मुक्त कहे जाया करते हैं ।। १३, १४, १५ ।। जिस प्रकार से परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्र प्रभु जीवन्मुक्त होने के पद को प्राप्त हो गये थे । अब मैं उसी को जरा-मरण की शान्ति के लिये आपके समक्ष में कहूँगा। आप सावधान मन वाले होकर उसका श्रवण कीजिए ।।१६।।

द्रष्टुमुत्कंठितंतात म मेदेनःथमानसम् ॥२२
तदेवामर्थितां पूर्वां सफलांकर्त्तुं महेंसि ।
नसोस्तिभुवनेनाथत्वयायोर्थीनमानितः । २३
इति संप्रार्थितो राजा वासिष्ठेनसमंतदा ।
विचार्या मुंचदेवैनंरामंप्रथममर्थिनम् ॥२४

हे भरद्वाज ! आप तो महान् मतिमान् हैं । अब आप श्रीराघवेन्द्र प्रभु की सुन्दर एवं समुज्ज्वल जीवनचर्य्या से सम्बन्ध रखने वाली परम शुभ इस मङ्गलकारिणी कथा का क्रमशः श्रवण करो । हम उसका भली भांति वर्णन करेंगे . उसी के द्वारा आप सदा–सर्वदा के लिये पूर्ण तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लोगे ॥ १७ ॥ कमल के समान नेत्रों वाले भगवान् श्री रामचन्द्रजी जब अपने विद्या के अध्ययन को साङ्ग समाप्त करके विद्याभवन से अपने घर में वापिस लौटकर आये तब विविध भांति की गृह में आनन्द क्रीड़ाऐं करते हुए परम निर्भीक भाव वाले होकर उन्होंने कुछ समय व्यतीत किया था ॥ १८ ॥ इसके उपरान्त कुछ समय व्यतीत होने पर जब कि महाराज दशरथ (श्रीराम के पिता) इस भूमण्डल का परिपालन कर रहे थे और उनके न्यायोचित धार्मिक प्रशासन में समस्त प्रजाजन शोक–रोग आदि से रहित होकर बहुत ही सुख–साम्राज्य के साथ दिन बिता रहे थे ॥ १९ । उसी अवसर में एक दिन अनन्त कल्याण-मय सद्गुण गणों से विभूषित श्री राघवेन्द्र प्रभु के हृदय में उत्तम तीर्थों एवं परम पुण्यमय महाश्रमों के दर्शन करने की तीव्र उत्कंठा जाग्रत हो उठी थी ॥२०॥ उसी समय में श्रीराम ने मन में यही चिन्तन करके अपने पितृ चरण महाराज दशरथजी के समीप में जाकर उनके चरण कमलों में आदर पूर्वक प्रणाम करते हुए निवेदन किया था जिस प्रकार से हंस नूतन पद्मों को ग्रहण किया करता है ठीक उसी भांति नखों से केशर वर्ण वाले महाराज के चरणों का उन्होंने परम प्रीति पूर्वक स्पर्श किया था ॥२१॥ श्रीराम ने कहा — हे पिताजी, आप तो मेरे स्वामी हैं

अतएव मैं अपने मन का विचार निस्सङ्कोच प्रकट कर रहा हूं कि इस समय में मेरे मन में ऐसी तीव्र उत्कंठा समुत्पन्न हो उठी है कि मैं तीर्थों-देवालयों-वनों और आश्रमों का जा-जा कर दर्शन करूँ ॥२२॥ हे स्वामिन् ! आज आपकी सेवामें मेरी यह पहली याचना है और आप इसको सफल करने के योग्य हैं । हे नाथ ! संसार में अब तक ऐसा कोई भी याचक नहीं है जिसको आपने उसकी अभीष्ट वस्तु प्रदान कर उसका सम्मान नहीं किया हो ॥२३॥ श्रीराम प्रथम बार ही एक याचना लेकर महाराज के समक्ष में उपस्थित हुए थे और उनके विनयावनत होकर इस भांति प्रार्थना करने पर महाराज दशरथ ने महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी के साथ परामर्श करके श्रीराम को तीर्थाटन और दर्शन यात्रा करने की आज्ञा प्रदान करदी थी ॥२४॥

शुभेनक्षत्र दिवसे भ्रातृभ्यां सहराघवः ।
मंगलालंकृतवपुः कृतस्वस्त्ययनोद्विजैः ॥२५

वसिष्ठ प्रहितैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्चसमन्वितः ।
स्निग्धं कतिपयैरेवराजपुत्रवरैः सह ॥२६
अंबाभिर्विहिताशीभिरालिंग्यालिंग्य भूषितः ।
निरगात्स्व गृहात्तस्मात्तीर्थयात्रार्थ मुद्यतः ॥२७

निर्गतः स्वपुरात्पौरैस्तूर्यं घोषेण वादितः ।
पीयमानः पुरस्त्रीणां नेत्रभृंगौघभंगुरैः ॥२८
ग्रामीण ललनालोलहस्तपद्मापनोदितैः ।
लाजवर्षैर्विकीर्णात्माहिमैरिवहिमाचलः ॥२९

आवर्जयन्विप्रगणान्परि शृण्वन्प्रजाशिषः ।
आलोकयन्दिगंतांश्च परिचकामजांगलान ॥३०
अथारभ्य स्वकात्तस्मात्क्रमात्कोशलमंडलात् ।
स्नानदानतपोध्यानपूर्वकंसददर्शह ॥३१

किसी परम शुभ दिन एवं नक्षत्र में ब्राह्मणों ने वहाँ पर समागत होकर श्रीराम की यात्रा के लिए स्वस्तिवाचन किया था और उनके शरीर को परम माङ्गलिक वेष-भूषा से समलंकृत किया था। सभी माताओं ने उनको अपने हृदय से संलग्न कर-कर के शुभ आशीर्वाद दिये थे और अपनी ओर से अनेक अलङ्कार पहिनाये थे। इस के अनन्तर श्रीराम लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन दोनों भाइयों, कुलगुरु महर्षि वशिष्ठजी द्वारा प्रेषित शास्त्रज्ञ विप्रों तथा अपने ऊपर स्नेह भाव रखने वाले कुछ इने-गिने अन्य राजकुमारों के साथ यात्रा करने के लिये समुद्यत हुए थे ॥ २५ । २६ । २७ ॥ जिस समय में श्रीराम अयोध्या नगरी से बाहिर निर्गमन कर रहे थे, उस समय में नगर के निवासियों के द्वारा तुर्यघोष किया गया था और पुरवासिनी नारियों के भौंरों के समुदाय के समान भंगुर लोचनों द्वारा उनके रूप रस का पान किया जा रहा था। ग्रामों में निवास करने वाली ललनाओं के हस्त कमलों से श्रीराम के ऊपर हिमकणों से हिमाचल की भाँति लाजाओं (खीलों) की वर्षा की जा रही थी ॥ २८ । २९ ॥ श्री राघवेन्द्र प्रभु दान-मान आदि से समस्त ब्राह्मणों को अपने अनुकूल बनाते हुए—सभी ओर से प्रजाजनों के शुभ आशीर्वाद श्रवण करते हुए और सभी दिशाओं में रहने वाले सुन्दर दृश्यों पर दृष्टिपात करते हुए वन्य प्रदेशों में भ्रमण करने लगे ॥३०॥ श्रीराम ने अपने निवास स्थान उस कोशल जनपद से आरम्भ करके क्रमशः स्नान, दान, तप और ध्यानपूर्वक समस्त तीर्थ-स्थलों का दर्शन किया था ॥३१॥

नदीतीराणि पुण्यानिवनान्यायतनानिच ।
जङ्गलानिजनान्तेषु तटान्यब्धिमहीभृताम् ॥३२
मन्दाकिनीमिन्दुनिभांकालिन्दीं चोत्पलामलाम् ।
सरस्वतीं शतद्रूं च चन्द्रभागामिरावतीम् ॥३३
वेणीं च कृष्णवेणीं च निर्विंध्यां सरयूं तथा ।

चर्मण्वतीं वितस्तां च विपाशांबाहुदामपि ॥३४
प्रयागं नैमिषं चैव धर्मारण्यंगयां तथा ।
वाराणसी श्रीगिरिञ्च केदारं पुष्करं तथा ॥३५
मानसं चक्रम सरस्तथैवात्तर मानसम् ।
वडवावदनं चैव तीर्थवृन्दं ससादरम् ॥३६
अग्नितीर्थं महातीर्थ मिन्द्रद्युम्न सरस्तथा ।
सारांसिसरिश्चैवतथानदङ्कदावलीम् ॥३७

नदियों के पवित्र तट, पुण्य वन, परम पावन आश्रम, जङ्गल, जनपदों की सीमाओं में स्थित समुद्र और पर्वतों के तट, चन्द्रमा के तुल्य आभा से सम्पन्न गङ्गा, नीलकमल के समान कान्ति से युक्त परम निर्मल कलिन्दजा यमुना, सरस्वती, शतद्रू (सतलज), चन्द्रभागा (चिनाव), इरावती (रावी) वेणी, कृष्णावेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती (चम्बल), वितस्ता (झेलम), विपासा (व्यास), बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी, श्री शैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रम प्राप्त, मानस सरोवर, उत्तर मानस, बड़वामुख, अन्य तीर्थ समुदाय, अग्नि तीर्थ महा तीर्थ, इन्द्रद्युम्न सरोवर आदि, पुण्य तीर्थ, सरोवर, सरितायें, नद, तालाब, कुण्ड—इन सब का श्रीराम ने बहुत ही आदर और श्रद्धा के साथ दर्शन किया था ॥३२। ३३। ३४। ३५। ३६। ३७ ॥

स्वामिन कार्तिकेयं च शालग्रामं हरिं तथा ॥
स्थानानि व चतुः षष्टिहरेरथहरस्य च ॥३८
नानाश्चर्य विचित्राणि चतुरब्धि तटानि च ।
विन्ध्यं मन्दरं कुञ्जांश्च कुलशैलस्थलानिचः ॥३९
राजर्षिणांच महतांब्रह्मर्षीणांतथैव च ॥
देवानां ब्राह्मणानां च पावनानाश्रमाञ्छुभान । ४०

भूयोभूयः स बभ्राम भ्रातृभ्यां सहमानदः ।
चतुर्ष्वपिदिगन्तेषु सर्वानेव महीतरान् ।।४१
अमर किन्नर मानव मानितः
समवलोक्य महीमखिलामिभाम् ।
उपययौस्वगृहं रघुनन्दनोवि-
ह्हतदिक् शिवलोकमिवेश्वरः ।।४२

स्वामी कार्तिकेय, शालग्राम स्वरूप श्री विष्णु, भगवान विष्णु और शिव भगवान के चौंसठ स्थल, विविध प्रकार के आश्चर्यजनक दृश्यों के द्वारा अतीव विचित्र शोभा धारण करने वाले चारों सागरों के तट, विन्ध्य गिरि और मन्दर पर्वत की कुञ्जें, हिमाचल आदि सात कुल पर्वतों के स्थान और बड़े-बड़े राजर्षि - महर्षि- देवगण एवं ब्राह्मण वृन्द के परम मङ्गलकारी पावन आश्रमों का श्रीरामचन्द्रजी ने श्रद्धा पूर्वक दर्शन किया था ।।३८-४० । समाज में दूसरों को मान प्रदान करने वाले श्रीरामचन्द्रजी अपने छोटे भाइयों के साथ चारों दिशाओं में वारम्बार तथा प्रान्त भागों में और इस महीतल के सम्पूर्ण छोरों में भ्रमण करते हुए फिरे थे । जिस तरह देव आदि के द्वारा वन्द्यमान भगवान शिव समस्त दिशा-विदिशाओं में स्वेच्छया विहार करके पुनः अपने ही शिवलोक में लौट कर आजाया करते हैं उसी प्रकार से श्रीरघुकुल भूषण श्रीराम देवों—किन्नरों तथा मानव समुदायों के द्वारा परम सम्मान प्राप्त करते हुए इस सम्पूर्ण महीमण्डल का भली भांति अवलोकन करके फिर अपनी अयोध्यापुरी में वापिस लौट कर समागत हो गये थे ।।४१-४२।।

-o--o-

चतुर्थ सर्ग

रामः पुष्पाञ्जलिव्रातेर्विकीर्णः पुरवासिभिः ।।
प्रविवेशगृहेश्रीमज्जयन्तोविष्टपं यथा ।।१

प्रणनामाथपितरंवसिष्ठं भ्रातृबान्धवान् ।
ब्राह्मणान्कुलवृद्धांश्चराघवः प्रथमागतः ॥२
सुहृद्भिर्मातृभिश्चैवपित्राद्विजगणेन च ।
मुहुरालिङ्गिताचारो राघवो नममौ मुदा ॥३
तस्मिन् गृहे दाशरथेः प्रियप्रकथनैर्मिथः ॥
जघूर्णुर्मधुरैराशामृदुवंशस्वनैरिव । ४
बभूवाथदिनान्यष्टौरामागमन उत्सवः ।
सुखंमत्तजनोन्मुक्त कलकोलहलाकुलः ॥५
उवाससमुखंगेहे ततः प्रभृति राघवः ।
वर्णयन्विविधाकारान् देशाचारा नितस्ततः ॥६

श्री वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! जिस समय में श्रीरामचन्द्रजी तीर्थाटन करके वापिस अयोध्यापुरी में अपने घर को आये तो उस समय में पुरवासी जनों ने उनका बड़ा भारी स्वागत किया था। नगर निवासियों ने उनके ऊपर पुष्पों के पुञ्जों को बखेर दिया था। जिस प्रकार से देवेन्द्र के पुत्र जयन्त स्वर्ग में प्रवेश किया करते हैं, ठीक उसी भांति श्रीराम ने अपने महल में प्रवेश किया था। वहां पहुँच कर श्रीराम ने सर्व प्रथम अपने पिताजी को प्रणाम किया था। इसके उपरान्त महर्षि वशिष्ठजी को, अपने से बड़े बन्धु-बान्धवों को, ब्राह्मणवृन्दों को और फिर कुल में होने वाले बड़े-बूढ़ों को प्रणाम किया था। इसके अनन्तर सभी ने सुहृदों—बन्धुगणों पिता तथा समस्त ब्राह्मणों ने श्री राघवेन्द्र प्रभु को बारम्बार अपने हृदय से प्रीतिपूर्वक लगाया था तथा श्रीराम ने भी उन सब के प्रति प्रणाम् एवं प्रिय भाषण आदि समुचित आचार-व्यवहार का निर्वाह किया था। उस अवसर में रघुनाथजी को ऐसा अत्यधिक आनन्दोल्लास हुआ था कि वे फूले नहीं समाये थे। उस समय भगवान् श्रीराम के घर में परस्पर प्रियालापों से, वेणुओं की मधुर ध्वनि से समस्त दिशाओं के समान ही वह सम्पूर्ण

घर आनन्द ध्वनि से ध्वनित हो गया था ॥१—४॥ अयोध्यापुरी में भगवान् श्रीराम के तीर्थाटन से वापिस शुभागमन के उपलक्ष्य में लगातार आठ दिन तक आनन्दोत्सव का समारोह मनाया गया था। उस अवसर पर हर्षोल्लास से मतवाले जन समाज के द्वारा आनन्द पूर्वक किये गये गीत-वाद्य प्रभृति का परम मधुर कोलाहल सभी ओर व्याप्त होगया था ॥५॥ तभी से विभिन्न देशों में प्रचलित अनेक तरह के रहन-सहन आदि का जब तब वर्णन करते हुए श्रीराम अपने घर में ही सुख पूर्वक रहने लगे थे ॥६॥

प्रातरुत्थाय रामोसौ कृत्वा सन्ध्यायथाविधि।
सभासंस्थं ददर्शेन्द्रसमंस्वपितरं तथा ॥७
कथाभिः सुविचित्राभिः सवसिष्ठादिभिः सह।
स्थित्वादिन चतुर्भागं ज्ञानगर्भाभिरादृतः ॥८
जगामपित्रानुज्ञातो महत्यासेनयावृतः।
वराहमहिषाकीर्णं वनमाखेटकेच्छया ॥६
तत आगत्यसदनेकृत्वास्नानादिकं क्रमम्।
समित्रवान्धवोभुक्त्वानिनाय ससुहृन्निशाम् ॥१०
एवं प्रायदिनाचारोभ्रातृभ्यां सहराघवः।
आगत्यतीर्थयात्रायाः समुवासपितुर्गृहे ॥ १
नृपति संव्यवहार मनोज्ञा-
सुजनचेय सिचन्द्रिक यानया।
परिनिनायदिनानिसचेष्टयास्तुत
सुधारस पेशलयानघ ।१२

श्रीराघवेन्द्र प्रभु नित्य प्रति प्रातः काल उठकर स्नानानन्तर सविधि सन्ध्या वन्दनादि से निवृत्त होकर राजसभा में देवेन्द्र के समान सभावस्थित परम तेजस्वी पिता महाराज दशरथ के दर्शन किया करते थे ॥७॥ वहाँ पर सभा में एक प्रहर तक महर्षि वसिष्ठजी प्रभृति के

साथ बैठकर आदर पूर्वक ज्ञान से भरी कथा-वार्ता सुना करते थे ।।८।। अपने पिताजी की आज्ञा प्राप्त करके बहुत बड़ी सेना को साथ में लेकर श्रीराम वाराह-महिष आदि से समाकीर्ण वन में आखेट करने की इच्छा से जाया करते थे। फिर वहां से वापिस लौटकर अपने निवास-सदन में आकर स्नानादिक कृत्य क्रमपूर्वक किया करते थे और अपने मित्र तथा बन्धुगण के साथ भोजन करके मित्रों के साथ रात्रि व्यतीत किया करते थे। इसी प्रकार से प्रायः श्रीराम की अपने भाइयों के साथ दिन-चर्या रहा करती थी। तीर्थयात्रा से वापिस आकर श्री राघवेन्द्र प्रभु ने अपने पिताजी के समीप में ही घर में निवास किया था। हे अनघ भारद्वाज! श्रीराम की प्रत्येक चेष्टा एवं नृपोचित सद्व्यवहार रखने के कारण सभीकी उनमें बहुत ही सुन्दर प्रीति हुआ करती थी। उनके प्रति वह प्रीति सत्पुरुषों के चित्त में चन्द्रमा की चाँदनीके तुल्य परम आह्लाद समुत्पन्न किया करती थी श्रीराघवेन्द्र की चेष्टा के विषयमें सभी अत्यधिक प्रशंसा किया करते थे तथा वह भी अमृतरस के समान मधुर-सुन्दर एवं कोमल हुआ करती थी। इसी भांति की चेष्टा के द्वारा वे अपना काल यापन किया करते थे ।।९।१०।।११।।१२।।



पंचम सर्ग

अथोनषोडशेवर्षेववर्त्तमानेर घूद्वहे ।
रामानुयायिनितथाशत्रुघ्नेलक्ष्मणेपि च ।।१
भरतेसस्थितेनित्यं मातामहगृहसुखम् ।
पालयत्यवनिराज्ञियथावदखिलाभिमाम् ।।२
जन्यत्रार्थं च पुत्राणां प्रत्यहे सहमन्त्रिभिः ।
कृतमन्त्रे महाप्राज्ञेतज्ज्ञ दशरथेनृपे ।।३
कृतायां तीर्थयात्रायां रामो निजगृहे स्थितः ।

जगामानुदिनं कार्श्यंशरदीवामलंसरः ॥४
कुमारस्यविशालाक्षं पाण्डुतां मुखमाददे ।
पाक फुल्लदलं शुक्लं सलिलमालमिवाम्बुजम् ॥५
कपोलतलसंलीन पाणिः पद्मासन स्थितः ।
चिन्तापरवश स्तूष्णीमव्यापारोवभूवह ॥६
कृशाङ्गश्चिन्तयामुक्तः खेदीपरमदुर्मनाः ।
नोवाचक स्यचित्किचिल्लिपि कर्मापितोपमः ।.७
खेदात्परिजनेनासौप्र र्थ्यमानः पुनः पुनः ।
चकाराह्निकमाचारं परिम्लान मुखाम्वुजः ॥८

महर्षि प्रवर वाल्मीकि जी ने कहा—हे भरद्वाज! जिस समय में श्री रघुनाथ जी की अवस्था सोलह वर्ष से कुछ कम ही थी, उनके छोटे भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्न श्रीराम का निरन्तर अनुसरण किया करते थे। भरत तो सुख के साथ अपने नाना के पास ननसाल में रह रहे थे । महाराजा दशरथ इस सम्पूर्ण महीमण्डल का न्यायोचित रूप से रक्षण एवं परिपालन किया करते थे । महान प्राज्ञ महाराज प्रति दिन अपने मन्त्रियों के साथ विराजकर अपने पुत्रों के विवाह सम्बन्ध के लिये परामर्श किया करते थे । तीर्थयात्रा करके वापिस घरमें आकर स्थित रहते हुए श्रीराम वर्षा के पश्चात शरत्काल में विमल सरोवर की भाँति ही दिन-पर-दिन कृश होने लगे थे ॥१॥२॥३॥४॥ श्रीराम का विशाल नेत्रों वाला मुख पीला पड़ गया था । जिस तरह पाकसे फुल्ल दलवाला शुक्ल सालिमाल अम्बुज होजाता है । वे सर्वदा पद्मासन से संस्थित होते हुए हाथ की हथेली पर कपोलों को रखकर चिन्तावश होकर चुपचाप निष्कर्म होकर बैठे रहा करते थे ॥५। ६। कृश अङ्गों वाले श्रीराम चिन्ता से युक्त-खिन्न और अत्यधिक उदास रहा करते थे । लिपिकर्म में अर्पित के समान किसी से भी कुछ नहीं बोला करते थे ।७॥ परिजन लोग बारम्बार नम्र

प्रार्थना करते थे तभी मलीन मुख कमल वाले श्रीराम अपना आह्निक कृत्य किया करते थे ॥८

एवं गुणविशिष्टं तं रामं गुणगणाकरम् ।
आलोक्य भ्रातरावस्यतामेवाययतुर्दशाम् ॥९
तथा तेषुतनूजेषु खेदवत्सुकृशेषु च ।
सपत्नीकोमहीपालाश्चिताविवशतांययौ ॥१०
कातेपुत्रघनाचिन्तेत्यवंरामं पुनः पुनः ।
अप्रच्छत्स्निग्धयावाचानैवाकथयदस्य सः ॥११
नकिंचित्तातमेदुःखमित्युक्त्वापितुरङ्गकः ।
रामोराजीवपत्राक्षस्तूष्णीमेवस्म तिष्ठति ॥१२
ततो दशरथा राजारामः किं खेदवानिति ।
अपृच्छत्सर्वकार्यज्ञं वसिष्ठ वदतांवरम् । १३
इत्युक्तश्चिन्तयित्वासवसिष्ठ मुनिनानृप। ।
अस्त्यत्रकारण श्रीमन्माराजन्दुःख मस्तुते ॥१४
कोपं विषादकलनांविततं
चहर्षं नाल्पेनकारणवशेनवहंति सन्ता ।
सर्गेणसंहृतिजवेनविनाजगत्यां
भूतानिभूपनमहांतिविकारवन्ति ॥१५

इस प्रकार से गुणों की खान तथा अनेक गुण गण से विशिष्ट श्रीराम को समालोकित कर इनके दोनों भाई भी उसी दशा को प्राप्त होगये थे ॥९॥ उस प्रकार से अपने पुत्रों को परम खिन्न और कृश हो जाने पर महाराज दशरथ पत्नी के सहित परम चिन्ता से आतुर एवं विवश होगये थे ॥१०॥ हे भरद्वाज ! महाराज दशरथ अपने परम प्रिय पुत्र श्रीराम से बारम्बार स्नेह पूर्ण वाणी से मधुर स्वर में पूछा करते थे — 'बेटा, आपके मन में यह कैसी बड़ी भारी चिन्ता उसको हो गई है जिससे तुम सदा उदास और कृश रहा करते है ?'

श्रीराघवेन्द्र इसका उत्तर दिया करते थे—हे पिताजी, मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है और न कोई कष्ट ही है—इतना कहकर कमल के सदृश नेत्रों वाले श्रीराम अपने पिता की गोद में चुपचाप बैठ जाया करते थे ॥११-१२॥ इसके उपरान्त एक दिन महाराज दशरथ ने समस्त कार्यों के ज्ञान वाले और वक्ताओं में परम वरिष्ठ वसिष्ठ महर्षि से पूछा था—हे गुरुदेव ! मेरे पुत्र श्रीराम इन दिनों अत्यन्त खिन्न क्यों रहा करते हैं ? महाराज के द्वारा इस भांति पूछने पर वसिष्ठ मुनि ने कुछ देर विचार करके कहा—हे श्रीमन् ! इसमें कुछ कारण अवश्य है किन्तु इसके लिए आपके मन में कोई भी दुःख करने का अवसर नहीं होना चाहिए। ॥१३-१४॥ जो सन्त महापुरुष होते हैं वे किसी भी अल्प कारण के वश में आकर कोप-विषाद और विशेष हर्ष नहीं किया करते हैं। वे लोग इस जगत में सृजन और संहार के विना हे राजन् ! कभी भी विकार को प्राप्त नहीं हुआ करते हैं अर्थात् महान् पुरुषों के हृदय में ऐसी साधारण से कारणों से कोई भी विकृतियां नहीं होती हैं ॥ ५॥



षष्ठ सर्ग

इत्युक्ते मुनिनाथेन सन्देहवतिपार्थिवे ।
खेदवत्यास्थिते मौनं किंचित्कालप्रतीक्षणे ॥१
परिखिन्नासुसर्वासुराज्ञीषु नृपसद्मसु ।
स्थिता सुसावधानासुराम चेष्टासुसर्वतः ॥२
एतस्मिन्नेवकालेतु विश्वामित्र इति श्रुतः ।
महर्षिरभ्यगाद्द्रष्टुं तमयोध्यानराधिपम् ॥३
तस्ययज्ञोथरक्षोभिस्तथाविलुलुपे किल ।
मायावीर्यबलोन्मत्तैर्धर्मकार्यस्य धीमतः ॥४
रक्षार्थं तस्य यज्ञस्य द्रष्टुमैच्छत्सपार्थिवम् ।

नहिशक्नोत्यविघ्नेन समाप्तुं समुनिः क्रतुः ।।५
ततस्तेषांविनाशार्थं मुद्यतस्तपसांनिधिः ।
विश्वमित्रो महातेजा अयोध्यामभ्यगात्पुरीम् ।।६
सराज्ञोदर्शनाकांक्षीद्वाराध्यक्षानुवाचह ।
शीघ्रमाख्यातमां प्राप्तं कौशिक गाधिनः सुतं ।।७
तस्यद्वचनं श्रुत्वाद्वास्था राजगृहेययुः ।
संभ्रान्तमनसाः सर्वेतेनवाक्येन चोदिताः ।।८
तेगत्वाराजसदनं विश्वामित्रमृषिं ततः ।
प्राप्तमावेदयामासुः प्रतिहाराः पतेस्तदा ।।९

श्री वाल्मीकि महर्षि ने कहा—मुनि नाथ यह मुनि वशिष्ठ जी के द्वारा इस प्रकार से समझाये जाने पर भी राजा दशरथ को सन्तोष नहीं हुआ था और वे सन्देह तथा खेद से युक्त होकर ही कुछ समय तक प्रतीक्षा करते हुए अवस्थित रहे थे ।।१।। केवल महाराज दशरथ ही को इसकी चिन्ता नहीं हुई प्रत्युत उस राज भवन में सर्वत्र समस्त ज्ञानियों के हृदय में श्रीराम की ऐसी चेष्टा के विषय में चिन्ता व्याप्त हो रही थी और सभी परम सावधानी बरत रहीं थीं ।।२।। इसी अवसर में महर्षि प्रवर श्रीविश्वामित्रजी अयोध्या के महाराज दशरथ जी से मिलने के लिये वहां पर समागत हुए थे ।।३।। उस समय में धर्म कार्य में परायण महान् बुद्धिमान महर्षि विश्वामित्र जी के आश्रम में एक यज्ञ हो रहा था । माया-बल और वीर्य के मद में उन्मत्त रहने वाले राक्षसों ने एक साथ उस यज्ञ में आक्रमण करके उनके यज्ञ का विध्वंस करा दिया था । अपने उस यज्ञ की सुरक्षा के लिये ही विश्वामित्र महर्षि ने महाराज दशरथजी से मिलने की इच्छा की थी । क्योंकि बिना सुरक्षा के वे उस अपने यज्ञ की समाप्ति बिना विघ्न-बाधाओं के पूर्णतया नहीं कर पा रहे थे ।।४-५।। इसी कारण से उन सब निशाचरों के विनाश करने के ही लिये उद्यत होकर वे तपोनिधि विश्वामित्र मुनि उस समय उस

अयोध्या पुरी में आये थे । ६।। वहाँ पहुँचकर मुनि ने राजा से मिलने की अभिलाषा रखते हुए द्वारपालों से कहा था—'आप लोग तुरन्त ही जाकर महाराज को मेरे समागमन की सूचना दे दो' और तुम महाराज से कह देना कि गाधि के पुत्र कुशिक वंश में समुत्पन्न होने वाले विश्वामित्र आये हैं ।।७।। विश्वामित्र मुनि के इस वचन का श्रवण कर राजद्वार पर स्थित प्रहरियों ने राजमहल में तुरन्त पहुँचकर महाराज को बता दिया था कि महर्षि विश्वामित्रजी आपसे मिलने के लिये पधारे हैं क्योंकि मुनि के वचन को सुनकर वे सभी सम्भ्रान्त मन वाले होगये थे ।।८-९।।

अथास्थानगतंभूपंराजमंडल मालिनम् ।
समुपेत्यत्वरायुक्तोयाष्टीको सौव्यजिज्ञयत् ।।१०
देवद्वारिमहातेजावालभास्कर भासुरः ।
ज्वालारूपाजटाजूटः पुमाञ्छ्रीमान वस्थितः ।।११
समासुरपताकांतांसायश्वेभ पुरुषायुधम् ।
कृतवांस्तं प्रदेशंयस्तेजोभिः कीर्णं कांचनम् ।।१२
वीक्ष्यमाणेतुयाष्टीके निवेदयति राजनि ।
विश्वामित्रोमुनिः प्राप्तइत्यनुद्धतयागिरा ।।१३
इतिमाष्टी कवचनमाकर्ण्यनृपसत्तमः ।
ससमेत्री ससामंतः प्रोत्तस्थौहेम विष्टरात् ।।१४
पदातिरेवसहसाराज्ञांवृंदेन मालिनः ।
वसिष्ठवामदेवाभ्यां सहसामंत संस्तुतः ।।१५
जगामयत्रतत्रासौविश्वामित्रो महामुनिः ।
ददर्श मुनि शार्दूलं द्वारभूमावस्थितम् ।।१६

महामुनि विश्वामित्र जी के इस आदेश वचन का श्रवण करके राजद्वार के पालक भृत्यों ने राजा के महल में जाकर महाराज से प्रार्थना की थी हे महाराज ! महर्षि विश्वामित्र समागत हुए हैं । उस

समय में राजा दशरथ अनेक आधीन राजाओं की मण्डली से समावृत हो रहे थे । द्वारपाल ने महाराज से कहा था—राजद्वार पर नवीन समुदित सूर्य के समान महान् तेजस्वी और अग्नि की ज्वालाओं के सदृश अरुण वर्ण की जटा-जूटों को धारण करने वाले एक महापुरुष आकर खड़े हुए हैं । उन महापुरुष ने अपने तेज के द्वारा भासुर पताका के अन्त तक अश्व-गज और पुरुषों के आयुधों वाले उस प्रदेश को स्वर्णमय सा कर दिया है । इस प्रकार से छड़ीदार राजा के देखते हुए निवेदन करके यह बड़ी ही नम्रता के साथ बोला—महर्षि विश्वामित्र आये हुए हैं । ज्यों ही छड़ीदार ने महर्षि का नाम लिया था उसके वचन को सुनते ही महाराज दशरथ अपने मन्त्रीगण और सामन्तों के सहित तुरन्त ही सुवर्ण के सिंहासन से उठकर खड़े होगये थे । अनेक नृपमण्डल से घिरे हुए तथा सामन्तों से युक्त एवं प्रशंसित होते हुये महाराज दशरथ सहसा वसिष्ठ एवं वामदेवजी के साथ पैदल ही द्वार पर चल दिये थे । वहाँ पर महामुनि विश्वामित्रजी समवस्थित थे । राजा ने द्वारभूमि पर खड़े हुए विश्वामित्रजी का दर्शन किया था । ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

केनापि कारणे नोर्वातलमर्कमुपागतम् ।
ब्राह्मणे तेजसाक्रांतंक्षात्रेण च महौजसा ॥१७
जराजरठयानित्यं तपः प्रसररूक्षया ।
जटावल्या वृत स्कंधंससन्ध्यां भ्रमिवाचलम् ॥१८
उपशांतंचकांतंच दीप्तम प्रतिघाति च ।
निभृतं चोर्जितताकारंदधानंभास्वरं वपुः ॥१९
पेशलेनातिभीमेनप्रसन्नेनाकुलेन च ।
गंभीरेणातिपूर्णनतेजसारंजित प्रभम् ॥२०
अनंतजीवित दशासखीमेकामनिन्दिताम् ।
धारयंतंकरेश्लक्ष्णां कुंडीमम्लान मानसं ॥२१

करुणाक्रांत चेतस्त्वात्प्रसन्नैर्मधुराक्षरैः ।
वीक्षणैरमृतेनेवसंसिचंतमिमाः प्रजाः ।।२२
युक्त यज्ञोपवीतांगेधवलप्रोन्नतभ्रुवम् ।
अनंतं विस्मयंचांतः प्रयच्छेतमि वेक्षितुः ।।२३
मुनिमालोक्यं भूपालो दूरादेवानताकृतिः ।
प्रणनामगलन्मौलिमणि मालित भूतलम् ।।२४

उस समय में वे महामुनि ऐसे दिखलाई दे रहे थे मानों किसी कारण वश साक्षात् सूर्य ही इस भूमण्डल पर उतर कर समागत हो गये हों। वे ब्राह्मणोचित तेज तथा महान् क्षात्रबल से सुसम्पन्न थे। वार्द्धक्य के कारण अत्यधिक पकी हुई और निरन्तर तपश्चर्या में संलग्न रहने के कारण सूखी जरा वल्लरियों से उनके कन्धे संध्याकालीन मेघों से अस्ताचल के समान समावृत थे। महर्षि ने परम सौम्य शान्त–कान्तिपूर्ण–उद्दीप्त–प्रतिघात से विरहित–विनय शील तथा हृष्ट-पुष्ट अवयवों से संयुत एवं परम तेजस्वी शरीर धारण कर रखा था। उनका महान् तेज परम सुन्दर होने के ही साथ–साथ अत्यन्त भयावह भी था। प्रसाद गुण से समन्वित एवं बहुत दूर तक विस्तृत–परम गम्भीर एवं अतिशयता को प्राप्त हुआ वह उनका तेज था। उस महान् तेज से महर्षि के अङ्गों की कान्ति अनुरञ्जित हो रही थी। महर्षि ने अपने कर कमल में एक कुण्डी कमण्डलु ग्रहण कर रखी थी जो चिकनी-निर्दोष एवं अत्यन्त उत्तम थी। वह उनके करप्रान्त में स्थायी जीवन काल की सम्पूर्ण अवस्थाओं में एक सहचरी के समान ही उनका साथ दिया करती थी। महामुनि का अन्तःकरण बहुत ही अधिक निर्मल था और उनके हृदय में करुणा भरी हुई थी। अतएव उनकी वाणी बहुत ही मधुर एवं प्रसन्नता की सूचना देने वाली थी। महर्षि अपनी स्नेहमयी दृष्टि से इस तरह देख रहे थे मानों वे अपने समक्ष में स्थित जन-समाज को पीयूष से सिञ्चित कर रहे हों। उनके प्रोन्नत एवं धवल अङ्ग पर यज्ञो-

पवीत की शोभा थी। विश्वामित्र जी दर्शकों के मन में अत्यधिक आश्चर्य का संचार कर रहे थे। उन महर्षि वशिष्ठ को दूर ही से देखकर राजा दशरथ का शरीर विनय से झुक गया था और अपने मुकुट से मण्डित मस्तक से महर्षि के चरण कमलों में झुककर प्रणाम किया था ॥१७।१८॥ १६॥२०॥२१॥२२॥२३॥२४।

मुनिरभ्यवनीनाथंभास्वानिवशक्रतुम् ।
तत्राभिवादयां चक्रे मधुरोदारयागिरा ॥२५
ततो वसिष्ठ प्रमुखाः सर्व एव द्विजातयः ।
स्वागतादिक्रमेणेनं पूजयामासुरादृताः ॥२६
अशंकितोपनीतेन भास्वतादर्शनेनते ।
साधोस्वनुगृहीताः स्मोरविणेवांबुजाकराः ॥२७
यदनादियदक्षुण्णं यदपायविवर्जितम् ।
तदानंद सुखं प्राप्तं मयात्वद्दर्शनान्मुने ॥२८
अद्यवर्त्ता महेनूनं धन्यानांधुरिधर्मतः ।
भवदागमनस्येमे यन्दयं लक्ष्यमागताः ॥२९
एवंप्रकथयं तोत्रराजानोथमहर्षया ।
आसनेषुसमास्थानमासाद्यस मुपविशन ॥३०
सदृष्ट्वा मालितंलक्ष्या मीतस्तमृषिसत्तमम् ।
प्रहृष्टवदनोराजा स्वयमर्घ्यंन्यवेदयत् ॥३१
सराज्ञः प्रतिगृह्याघ्यं शास्त्र दृष्टेन कर्मणा ।
प्रदक्षिणं प्रकुर्वन्तंराजानंपर्यपूजयत् ॥३२
सराज्ञा पूजितस्तेन प्रहृष्टवदनस्तदा ।
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ॥३३

महामुनि ने भी जिस तरह से सूर्यदेव देवराज इन्द्र का प्रत्यभिवादन किया करते हैं उसी भांति परम मधुर एवं उदारता से भरे हुए वचनों के द्वारा शुभाशीर्वाद देकर भूपाल महाराज दशरथ का प्रत्यभिवा-

हन किया था। इसके उपरान्त फिर वसिष्ठ आदि सभी समुपस्थित ब्राह्मण समुदाय ने उनके स्वागत आदि के क्रम से विश्वामित्र महामहर्षि का समादर-सत्कार किया था। महाराज दशरथ ने कहा—हे महात्मन्! परम तेजस्वी भगवान् सूर्यदेव सदृश अपने दर्शन के द्वारा कमलों से परिपूर्ण सरोवरों पर कृपा वर्षण करने की भाँति आज श्रीमान् का जो यह असम्भावित तेजोमय दर्शन अचानक हो प्राप्त हो गया है इससे हम सभी लोग अत्यन्त ही प्रसन्न एवं अनुग्रहीत हो गये है। हे मुने! आज आपके दर्शन से मुझे अनादि--अक्षुण्ण-अपाय वर्जित अमन्दानन्द का सुख प्राप्त हो गया है। आज हम सब लोग परम धन्यों के भी शिरोमणि हो गये हैं कि आपके इस शुभागमन से हम सब को आपका यह परम शुभ दर्शन प्राप्त हो रहा है। महामुनि विश्वामित्र जी से इस प्रकार से वार्तालाप करते हुए अन्य सभी नृपगण तथा महर्षि प्रवर सब लोग राज सभा में प्राप्त होकर यथोचित आसनों पर बैठ गये थे। परम श्रेष्ठ महर्षि का दर्शन कर उनकी तपस्या की लक्ष्मी से भयभीत—प्रसन्नमुख राजा ने स्वयं ही अर्घ्य समर्पित किया था। राजा के प्रदत्त अर्घ्य को अङ्गीकार करके महर्षि विश्वामित्र ने शास्त्र में वर्णित विधि से प्रदक्षिणा करते हुए महाराज दशरथ को देखकर उनकी मुनि ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। राजा दशरथ के द्वारा समर्चित होकर विश्वामित्र अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। उनका मुख कमल एक दम खिल गया था फिर नरेश से उन्होंने कुशल प्रश्न पूछा था ॥२५॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥३२॥३३॥

वसिष्ठेन समागम्य प्रहस्य मुनिपुंगवः।
यथार्हं चार्चयित्वैनं पप्रच्छानामयं ततः ॥३४

क्षणं यथार्हमन्योन्यं पूजयित्वा समेत्य च।
ते सर्वे हृष्टमनसो महाराजनिवेशने ॥३५

यथोचितासनगता मिथः संवृद्ध तेजसः।
परस्परेण पप्रच्छुः सर्वेऽनामयमादरात् ॥३६

उपविष्टा यतस्मैस विश्वामित्रायधीमते ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव भूयोभूयोन्यवेदयत् ॥३७
अर्चयित्वातुविधिवद्विश्वामित्रमभाषत् ।
प्रांजलिः प्रयतोवाक्यमिदं प्रीतमना नृपः ॥३८
यथा अमृतस्य संप्राप्तिर्यथावर्षमवर्षके ।
यश्चथांद्यस्येक्षण प्राप्तिर्भवदागमनं तथा ॥३९
यथेष्टदार संपर्कात्पुत्रजन्मा प्रजावतः ।
स्वप्न दृष्टार्थलाभश्वदागमनं तथा ॥४०
यथेप्सितेन संयोग इष्ट स्यागमनं यथा ।
प्रणष्टस्य यथालाभो भवदागमनंतथा ॥४१
यथाहर्षोनभोगत्यामृतस्य पुनरागमात् ।
तथात्वदागमाद्ब्रह्मन्स्त्रागतं ते महामुने ॥४२
ब्रह्मलोक निवासोहिकस्य न प्रीति मावहेत् ।
मुनेतवागमस्तद्वत्सत्यमेव ब्रवीमिले ॥४३

मुनि पुङ्गव वसिष्ठ जी ने वहाँ आकर विश्वामित्र जी का यथोचित रूप से समर्चन करके हँसते हुए आरोग्य प्रश्न पूछा था । क्षण भर में परस्पर में सब एक दूसरे से मिलकर यथायोग्य समादर—सत्कार करके सब प्रसन्न चित्त होते हुए महाराज के महल में यथास्थान समुपविष्ट हो गये थे । वहाँ पर एक दूसरे के सम्पर्क में आकर उन सबके तेज अत्यधिक बढ़ गये थे । वे सब आपस में आदर पूर्वक एक दूसरे के क्षेम—कुशल पूछने लगे थे । जिस समय में मुनिवर बैठ गये थे तब श्रीमान् उनके लिये राजा ने पाद्य-अर्घ्य आदि बारम्बार निवेदन किया था । इस तरह से महर्षि विश्वामित्र जी का पूर्ण विधि—विधान के साथ समर्चन करके फिर नरेश्वर ने परम प्रसन्न होते हुए प्रणत होकर दोनों हाथ जोड़ते हुए विश्वामित्र जी से कहा था—हे विप्रवर ! जिस तरह से वर्षा के अभाव में अमृत की सम्प्राप्ति हो जावे तथा अन्धे को नेत्रों

का लाभ हो जावे उसी भांति से यहाँ पर इस समय आपका शुभागमन सुखप्रद हो रहा है। जैसे आपकी अभीष्ट स्त्री से पुत्र का जन्म होवे और स्वप्न में देखा हुआ अर्थ का लाभ हो ठीक उसी तरह से आपके आगमन से आनन्द हो रहा है । जिस रीति से अपने अभीष्ट वस्तु के योग से आनन्द होता है तथा उस व्यक्ति के समागम से सुख लाभ होता है एवं नष्ट हुई वस्तु के प्राप्त हो जाने से प्रसन्नता होती है ठीक उसी तरह से इस समय यहाँ आगमन से सुख हो रहा है । हे महा मुने ! आकाश गमन से जैसे खुशी होती है तथा अमृत के पुनरागमन से सुख होता है ब्रह्मन् ! आपके आगमन से आनन्द हो रहा है। आपका परम स्वागत है । ब्रह्मलोक में निवास करना किसको सुखदायक न होगा ? हे मुने ठीक उसी तरह आपके यहाँ आगमन से मुझे हर्ष हो रहा है—यह मैं बिल्कुल सत्य भाषण कर रहा हूं ।। ३४।३५।३६।३७।३८।३९।४०।४१।४२।४३।।

कश्चतेपरमः कामः किंचतेकरवाण्यहम् ।
पात्रभूतोसिमेविप्र प्राप्तः परमधार्मिकः ।।४४
पूर्वं राजर्षि शब्देन तपसाद्योतित प्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योसि भगवन्मया ।।४५
गंगा जलाभिषेकेणयथाप्रीति र्भवेन्मम ।
तथात्वद्दर्शनात्प्रीतिरंतः शीतयतीवमाम् ।।४६
विगतेच्छाभयक्रोधो वीतरागो निरामयः ।
इदमत्यद्भुतंब्रह्मन्यद्भवान्मामुपागतः ।।४७
शुभक्षेत्रगतंचाहमात्मानम पकल्मषम् ।
चंद्रबिंबईवोन्मग्नंवेद वेद्यविदांवर ।।४८
साक्षादिवब्रह्मणो मेत वाभ्यागमनंमतम् ।
पूतोस्म्यनुगृहीतश्चतवाभ्याग मनान्मुने: ।।४९
त्वदागमन पुण्येन साधोयदनुरंजितम् ।

अद्यमे सफलंजन्मजीवितंतत्सुजीवितम् ॥५०
त्वामिहाभ्यागतं दृष्ट्वा प्रतिपूज्य प्रणम्यच ।
आत्मन्येवन माम्यंतर्हृष्ट्वेंदुं जलधिर्यथा ॥५१

हे महर्षि प्रवर ! आप तो परमार्थिक धर्मात्मा हैं तथा आप दान के भी परमोत्तम पात्र हैं। यह मेरा परम सौभाग्य है कि आप इस समय मेरे यहाँ पधार आये हैं। अब आप कृपा कर बताइये, आपकी सर्वश्रेष्ठ अभिलाषा क्या है ? पहिले तो आप 'राजर्षि' कहे जाया करते थे किन्तु तपश्चर्या के अतुल प्रभाव ने आपके ब्रह्म तेज को प्रकाशित कर दिया था और आपने "ब्रह्मर्षि" पद को प्राप्त कर लिया था। अतएव आप मेरे द्वारा सर्वथा पूजा करने के योग्य हैं ॥ ४४, ४५ ॥ जिस तरह से गङ्गा के जल में स्नान करने से मुझे बहुत अधिक प्रसन्नता होती है उसी प्रकार से इस समय में आपके दर्शन से भी मुझे अधिक प्रीति हो रही है जो कि मेरे अन्तःकरण को मानो शीतल कर रही है ॥ ४६ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं जानता हूँ कि आपके अन्तःकरण से इच्छा—भय—क्रोध आदि सभी निकल गये हैं आप एक म वीतराग और निरामय हैं। राग और द्वेष कुछ भी विकार आप में नहीं हैं—ऐसा सब कुछ होने पर भी इस समय में आप मेरे समीप में पधारे हैं—यह एक अत्यन्त ही अद्भुत बात है। आप तो वेदों के द्वारा जानने के योग्य एवं जानने वालों में भी परम वरिष्ठ हैं। आपके यहाँ पर पदार्पण से मैं दर्शन—पूजन और वन्दना करके उसी भाँति अपने आप में हर्ष से फूला नहीं समा रहा हूँ जैसे समुद्र अपने ही अन्दर चन्द्र का प्रतिबिम्ब देखकर अपने आप में नहीं समाया करता है तथा तट की सीमा को लाँघ करके आगे बढ़ जाया करता है ॥ ४७, ४८ ॥ हे मुने ! आपके यहाँ आगमन को मैं तो यही समझता हूँ कि साक्षात् ब्रह्मा ही दिव्लोक से यहाँ पधार आये है। मैं तो आपके चरण दर्शन से परम पवित्र और अनुगृहीत हो गया हूँ ॥ ४ ॥ हे साधो ! आपके समागम के पुण्य से बहुत ही आनन्द हुआ

है और मेरा तो यह जीवन ही सुफल हो गया है। आपको यहाँ पर समागत हुए देखकर आपका अर्चन करके और आपको प्रणाम करके मैं अपने आत्मा में ही नमन करता हूं जिस तरह जलधि चन्द्रमा को किया करता है ॥५०, ५१॥

यत्कार्यंयेन वार्थेन प्राप्तोसिमुनिपुंगव ।
कृतामित्येवतद्विद्धिमान्योसिति सदामम ॥५२
स्वकार्येनविमर्शंत्वं कर्तुमर्हसिकौशिक ।
भगवन्नास्त्यदेयंमेत्व मियत्प्रतिपद्यते ॥५३
कार्यं स्यनविचारंत्वंकर्तुमर्हसि धर्मतः ।
कर्त्ता चाहमशेषतेदैवतं परमंभवान ॥५४
इदमतिमधुरंनिशम्य वाक्य,
श्रुति सुखमात्म विदाविनो तमुक्तम् ।
प्रथितगुणयथागुणैर्विशिष्टं,
मुनि वृषभः परमं जगामहर्षम् ॥५५

हे मुनिपुङ्गव! आपको जो भी कुछ कार्य्य हो और जिस भी प्रयोजन से आपका पदार्पण यहाँ पर हुआ हो उसे अब आप पूर्णतया सिद्ध ही हुआ ही समझ लीजिए क्योंकि आप तो सदा ही हमारे माननीय पुरुष हैं॥ ५२॥ हे कुशिक कुल नन्दन! आप अपने हृदय में कुछ भी विचार न करें। हे भगवन्! आपके लिये मुझे कुछ भी न देने योग्य वस्तु नहीं है क्योंकि आपके समान सत्पात्र पाकर ही प्रदान की हुई वस्तु की सार्थकता हुआ करती है। मैं तो आपका सभी कार्य्य पूर्ण कर दूंगा क्योंकि आप तो हमारे परम देवता है॥ ५३, ५४॥ आत्मज्ञान से सम्पन्न महाराज दशरथ के द्वारा कथित इस अत्यधिक मधुर और श्रवण सुखद एवं गुणगण की विशेषता से युक्त वचन का श्रवण करके विख्यात गुण और परम ख्यात यश वाले श्रेष्ठ मुनि विश्वामित्र जी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी॥५५।

सप्तम सर्ग

तच्छ्रुत्वाराजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमामहातेजाविश्वामित्राभ्यभाषत ।।१
सदृशराजशार्दूल तवै वैतन्महीतले ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठवशवर्त्तिनः ।।२
यत्तुमेहृद्गतंवाक्यं तस्यकार्यंविनिर्णयम् ।
कुरुत्वराजशार्दूल धर्मं समनुपालय ।।३
अहंधर्मं समातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्यविघ्न करा घोर राक्षसा ममसंस्थिताः ।।४
यदायदा तुयज्ञेनयजेहं विबुधव्रजान ।
तदातदातुमेयज्ञंविनिघ्नंति निशाचराः ।।५
बहुशोविहिते तस्मिन्मयाराक्षस नायकाः ।
अकिरंस्तेमहीं यागेमांसेन रुधिरेण च ।।६
अवधूते तथाभूते तस्मिन्याग कदम्बके ।
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादुपागतः ।।७
नचमेक्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिवा ।
तथाभूतहितत्कर्मन शापस्तस्यविद्यते ।।८
ईदृशीयज्ञदीक्षासाममतस्मिन्महाक्रतौ ।
त्वत्प्रसादादविघ्नेन प्रापयेयं महाफलम् ।।९

महर्षि श्री वाल्मीकि जी ने कहा—हे भरद्वाज ! उस राजसिंह के इस अत्यन्त अद्भुत और विस्तृत वाक्य का श्रवण करके परम पुलकित होकर महान् तेजस्वी विश्वामित्र महर्षि ने कहा—हे नृपों में परम श्रेष्ठ ! आप तो एक महान् कुल में समुत्पन्न हुए हैं । आपका ऐसा कथन इस भूमण्डल में परम उचित ही है फिर आप सदा महर्षि वसिष्ठ जी की ही आज्ञा के ही अधीन रहा करते हैं । अब मैं अपने हृदय में निहित विचार

आपके समक्ष में रखता हूँ। हे राज शार्दूल ! आप उस पर अपने किये जाने वाले कार्य का निर्णय करते हुए धर्म का अनुपालन कीजिए ।।१, २, ३ ।। हे पुरुषों में परम श्रेष्ठ ! मैं धार्मिक कार्य्य सिद्धि के लिये यज्ञ किया करता हूँ उसमें विघ्न डालने वाले परम घोर राक्षस गण मेरे आश्रम में आ घुसते हैं। जिस-जिस समय में भी मैं यज्ञों के द्वारा देवगणों का यजन किया करता हूँ तभी तब परम दुष्ट निशाचर आकर मेरे यज्ञ को नष्ट कर दिया करते हैं। मैंने अनेक बार यज्ञों का अनुष्ठान आरम्भ किया था किन्तु राक्षसों के नायकों ने उस यज्ञ मण्डप की पवित्र भूमि भाग में रक्त और मांस बखेर दिया था ।। ४, ५, ६ ।। मैं बहुत कुछ यज्ञ कार्य को सम्पादन करने के लिए परिश्रम भी करता हूँ किन्तु फिर भी इन दुष्ट राक्षसों के उपद्रवों के निरन्तर होने के कारण उसमें सफल नहीं हो रहा हूं। अतएव उस विघ्न के निवारण करने के लिए ही उस अपने आश्रम से आपके समीप में आकर उपस्थित हुआ हूँ। हे राजन् ! मेरे मनमें ऐसा विचार कभी भी नहीं होता है कि मैं क्रोध करके उन्हें शाप दे दूँ क्योंकि वह भूतों के हित का ही कर्म है उसमें शाप देना शोभन नहीं होता है। मैं यही चाहता हूँ कि आपके ही प्रसाद से वह मेरी यज्ञ की दीक्षा विना किसी विघ्न वाधा के पूर्ण करके मैं महान् पुण्य के फल का भागी वन जाऊँ ।। ७, ८, ९ ।।

त्रातुमर्हसिमामार्तं शरणार्थिन मागतम् ।
अर्थिनां यन्निराशत्वं सत्तमेभिभवोहिसः ॥१०
तवास्तितनयः श्रीमान् दृप्तशार्दूलविक्रमः ।
महेन्द्रसदृशोवीर्येरामोरक्षो विदारणः ॥११
तंतुश्र राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्ष धरं शूरं ज्येष्ठं मेदातुमर्हसि ॥१२
शक्तोह्येषमया गुप्तेदिव्येन स्वेन तेजसा ।
राक्षसायेऽपकर्त्तार स्तेषां मूर्द्ध विनिग्रहे ॥१३

श्रेयश्चास्य करिष्यामि बहुरूपमनंतकम् ।
त्रयाणामपिलोकानां येनपूज्यो भविष्यति ॥१४
नचतेराममासाद्य स्थातुं शक्तानिशाचराः ।
क्रुद्धं केसरिणं दृष्ट्वा वनेरणइवैणकाः ॥१५
तेषां न चान्यः को कुस्थाद्योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
ऋतेकेसरिणः क्रुद्धान्मत्तानां करिणामिव ॥१६

हे राजन् ! शरण में समागत—अर्थात् प्रार्थी मुझको रक्षित करने के आप योग्य होते हैं । श्रेष्ठ पुरुष के सामने उपस्थित होकर अर्थियों की निराशा का हो जाना तो उनका एक साक्षात् अभिभव (तिरस्कार) ही हुआ करता है ॥१०॥ आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमान् श्रीराम मदोन्मत्त सिंह के समान महान् पराक्रमी हैं । उनका बल-पराक्रम देवराज के समान ही अत्यधिक है और वे उन समस्त दुष्ट राक्षसों के विदीर्ण करने में पूर्णतया समर्थ हैं ॥११॥ अतएव हे राजशार्दूल ! आपके ज्येष्ठ पुत्र जो काकपक्षों के धारण करने वाले—सत्य पराक्रमशील—शूरवीर श्री राम हैं उनको अब आप मेरे यज्ञ की रक्षा करने के लिये मुझे सुपुर्द कर दीजिए । इनकी सुरक्षा तो मैं करूंगा और ये अपने दिव्य तेज से उन समस्त यज्ञ के विध्वंस करने वाले एवं सम्पूर्ण संसार का अपकार करने वाले राक्षसों का शिर काटने के कार्य में समर्थ हो जायेंगे ॥ १२, १३ ॥ मैं इन श्री राघवेन्द्र को अस्त्र चलाने की विद्या प्रदान कर विविध भाँति से अनन्त कल्याण का भागी बना दूंगा जिसके कारण त्रैलोक्य में परम पूजनीय हो जायेंगे ॥ १४ ॥ वे निशाचर गण आपके महान् पराक्रमी पुत्र श्रीराम के सामने ठहर नहीं सकते हैं । जिस तरह से वन में क्रोध में भरे हुए केशरी को देखकर मृग स्थित नहीं रहा करते हैं ॥ १५ ॥ श्रीराम से अन्य कोई भी पुरुष नहीं है जो उन राक्षसों से युद्ध करने का उत्साह एवं शक्ति रखता हो जैसे मदोन्मत्त हाथियों से क्रुद्ध केसरी के सिवाय अन्य कोई भी युद्ध नहीं किया करता है ॥ १६ ॥

वीर्योत्सिक्ताहिते पापाः कूटोपमारणे ।
खरदूषणयोर्भृत्याः कृतांताः कुपिताइव ॥१७
रामस्यराजशार्दूल सहिष्यंतेन सामकान ।
अनारतगता धारा जलदस्येव पांसवः ॥१८
न च पुत्र कृतं स्नेहं कर्त्तुं मर्हसि पार्थिव ।
न तदस्तिजगत्यस्मिन्यन्नदेयं महात्मनाम् ॥१९
हंत नूनं विज्ञानामिहतांस्तान् विद्धि राक्षसान् ।
नह्यस्मदादयः प्राज्ञाः संदिग्धे संप्रवृत्तयः ॥२०
अहवेद्मिमहात्मानं रामंराजीवलोचनम् ।
वसिष्ठश्चमहातेजाये चान्ये दीर्घदर्शिनः ॥२१
यदि धर्मो महत्त्वं चयशस्तेमनसिस्थितम् ।
तन्मह्यंसमभिप्रेतमात्मजंदातु मर्हसि ॥२२
दशरात्रश्चमेयज्ञो यस्मिन् रामेणराक्षसाः ।
हंतव्या विघ्नकर्त्तारो ममयज्ञस्य वैरिणः ॥२३
अत्राप्यनुज्ञांकाकुत्स्थददतांतव मंत्रिणः ।
वसिष्ठ प्रमुखाः सर्वेतेन रामं विसर्जय ॥२४

पापात्मा वे निशाचर युद्ध में कालकूट के समान भयङ्कर हैं। उनको अपने बल-पराक्रम पर अत्यधिक गर्व रहता है। वे सब राक्षस खर और दूषण के भृत्य हैं और जब वे क्रुद्ध होते हैं तो साक्षात् यमराज के ही तुल्य जान पड़ते हैं ॥ १७॥ हे राज शार्दूल ! वे चाहें कैसे भी बलवान् हों, किन्तु निरन्तर गिरती मेघों की धारा को धूलि कणों के समान ही वे निशाचर श्रीराम के सायकों को कदापि सहन नहीं कर सकते हैं। हे राजन् ! इस समय में आप पुत्र में होने वाले स्नेह को करने के योग्य नहीं हैं। इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो महान आत्मा वाले पुरुषों को देने के योग्य नहीं है ॥१८, १९॥ मैं अप

तपोबल के प्रभाव से इस बात को बहुत ही अच्छी तरह से निश्चय ही जानता हूँ आप भी मेरे कथन के अनुसार ही उन समस्त राक्षसों को मरा हुआ ही समझ लीजिए। क्योंकि हमारे समान विज्ञ पुरुष सन्देह से युक्त विषय में कभी भी प्रवृत्त नहीं हुआ करते हैं ॥ २० ॥ यह कमल के तुल्य नेत्रों वाले श्रीराम कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। ये तो साक्षात् परमात्मा हैं—इनको मैं जानता हूं—महर्षि वसिष्ठ महान् तेजस्वी वसिष्ठ जी पहिचानते हैं तथा अन्य दीर्घदर्शी महर्षि गण भी जानते हैं ॥ २१ ॥ यदि आपके हृदय में धर्म-महत्त्व और यश के लिये कोई विशेष स्थान है अर्थात् इनका गौरव आप मनमें मानते हैं तो अपने परम अभीष्ट पुत्र श्रीराम को मुझे इस समय में प्रदान कर दीजिए ॥ २२ ॥ मेरा वह यज्ञ दश दिन में साङ्ग सम्पूर्ण हो जायगा जिसकी सुरक्षा हेतु मैं श्रीमान् की याचना कर रहा हूं और जिसमें यज्ञ के द्रोही विघ्न करने वाले राक्षसों का वध करना है ॥ २३ ॥ हे काकुत्स्थ ! आपके वसिष्ठ आदि सभी मन्त्रणा देने वाले लोग इस कार्य के लिये भी आपको अवश्य ही अपनी-अपनी अनुमति दे देंगे। अतएव आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिए ॥ २४ ॥

नात्येतिकालः कालज्ञयथायंममराघवः।
तथा कुरुष्वभद्रतेमाचशोके मनः कृथाः ॥२५
कार्यमण्वापिकालेतु कृतमेत्युपकारताम्।
महदप्युपकारोपि रिक्ततामेत्य कालतः ॥२६
इत्येवमुक्ताधर्मात्माधर्मार्थ सहितं वचः।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥२७
श्रुत्वावचोमुनिवरस्य महानुभाव,
स्तूष्णी मतिष्ठदुपपन्न पदंसवक्तुम् ॥
नोयुक्तियुक्त कथनेन विनैति,
तोषधीमानपूरित मनोभिमतश्च लोकः ॥२८

ठीक और समुचित समय पर किया हुआ स्वल्प भी कार्य बहुत उपकार करने वाला हुआ करता है। और समय व्यतीत हो जाने पर महान् भी उपकार भले ही किया जावे वह सब व्यर्थ हो जाया करता है। यह राघव समय पर मेरा काय सम्पन्न कर देवें और समय न निकल जावे, हे कालज्ञ ! ऐसा ही आप इस समय में करिए। आपका कल्याण ही होगा। आप अपने मन में किसी भी प्रकार का शोक न करिए। ।।२५, २६।। इस तरह से अर्थ से युक्त वचन कहकर महान् आत्मा वाले परम धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र जी चुप हो गये थे ।।२७।। वरिष्ठ मुनि विश्वामित्रजी का यह वचन सुनकर महानुभाव महाराज दशरथ मुनि को युक्ति से युक्त प्रत्युत्तर देने के लिये स्वल्प समय तक चुपचाप बैठे रहे थे क्योंकि वह मतिमान् पुरुष जिसका अभीष्ट पूर्ण नहीं किया गया हो युक्ति युक्त उत्तर पाये विना किसी भी प्रकार से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है ।।२८।।



अष्टम सर्ग

तच्छ्रुत्वाराजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्त्तमासीन्निश्चेष्टः सदैन्यं चेदमब्रवीत् ।।१
ऊनषोडषवर्षोयं रामोराजीवलोचनः।
नयुद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सहराक्षसैः ।।२
इयमक्षोहिणी पूर्णायस्याः पति रहं प्रभो ।
तया परिवृतो युद्धं दास्यामि पिशिताशिनाम् । ३
इमेहिशूरविक्रांताभृत्यामंत्र विशारदाः ।
अहं चैषां धनुष्पाणिर्गोप्तासमरमूर्द्धनि ।।४
एभिः सहैव वीराणांमहेन्द्र महतामपि ।
ददामि युद्धं मत्तानां करिणामिव केसरी ।।५

वालोरामस्त्वनीकेषु न जानाति बलाबलम् ।
अन्तःपुराहतेदृष्टानानेनान्याराणावनिः ॥६
नशस्त्रैः परमैर्युक्तो न च युद्ध विशारदः ।
नचास्त्रैः शूरकोटीनां तज्ज्ञः समरभूमिषु ॥७

महर्षि वाल्मीकि जी ने कहा—हे भरद्वाज ! वह राजसिंह महाराज दशरथ विश्वामित्रजी के इस भाषित का श्रवण करके वह श्रेष्ठ वात्सल्य भाव से सम्पन्न राजा दो घड़ी तक चेष्टा रहित होकर बैठे रहे थे । फिर बहुत ही दीनता के साथ यह वचन कहने लगे थे । हे मुनीश्वर! कमल के तुल्य सुन्दर नेत्रों वाले श्रीराम की अवस्था अब सोलह वर्ष से कम है । मैं इस छोटी उम्र में श्रीराम में राक्षसों के साथ युद्ध करने की योग्यता नहीं देख रहा हूँ ॥१॥२॥ हे प्रभो ! मेरे पास इस समय में यह पूरी अक्षौहिणी सेना है जिसका मैं ही एकमात्र स्वामी हूँ । उस सेना से परिवृत होकर मैं उन मांसाहारी राक्षसों से स्वयं युद्ध करूँगा ॥ ३ ॥ ये सभी सैनिक मेरे भृत्य हैं और इनका सबका पोषण मेरे ही द्वारा हुआ है । ये सब उत्तम योद्धा हैं तथा युद्ध में उचित परामर्श देने में भी बहुत कुशल हैं । मैं स्वयं समरक्षेत्र में सबसे आगे धनुष हाथ में लेकर सबकी रक्षा करूँगा ॥४॥ इन सबके साथ में रहकर मैं महेन्द्र देव से भी बढ़े हुए बहादुरों को उसी भाँति युद्ध करने का अवसर दूँगा जैसे मदोन्मत्त गजों को सिंह दिया करता है ॥५॥ श्रीराम अभी बालक हैं । इनको शस्त्रास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं है और युद्ध करने की कला में भी इन्होंने कुशलता प्राप्त नहीं की है अतएव बलाबल को यह कुछ भी नहीं जानते हैं । अन्तःपुर के अतिरिक्त इस बालक श्रीराम ने अभी तक अन्य रणभूमि को कभी नहीं देखा है ॥६॥ यह परमोत्तम शस्त्रों के ज्ञान से भी युक्त नहीं है और न इनको युद्ध करने की विद्या का पाण्डित्य है । यह तो करोड़ों शूरवीरों के नवीनतम अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञाता भी समरभूमि में नहीं है ॥७॥

है। मैं अब निशाचरों के साथ युद्ध करने के लिए इसको आपको कैसे दे दूं ॥ १३ ॥ हे महामते ! वालाङ्गनाओं का सङ्ग, साधु सुधारस और राज्य से भी अधिक पुत्र का स्नेह सुख देने वाला होता है ॥ १४ ॥

येदुरंतामहाम्भास्त्रिषु लोकेषु खेददाः।
पुत्र स्नेहेनसंतोपि कुर्वंतेतानसंशयम् ॥१५
असवोथधनंरादास्त्यज्यं ते मानवैः सुखम्।
न पुत्रो मुनि शार्दूलस्वभावोत्थ्येषजपु ॥१६
राक्षसाः क्रूर कर्माणः कूटयुद्ध विशारदाः।
रामस्तान्योधयत्विरथं युक्ति रेवाति दुःसहा ॥१७
विप्र युक्तोहिरामेण मुहूर्त्त मपिनोत्सहे।
जीवितुजीविताकांक्षी नरामंनेतुमर्हसि ॥१८
नववर्षसहस्राणि मम जातस्य कौशिक।
दुःखेनोत्पादितस्त्वेते चत्वारः पुत्रकामया ॥१९
प्रधानभूतस्तेऽवेरामः कमललोचनः।
त वनेह श्योऽप्यन्ये धारयंति न जीवितम् ॥२०
स एव रामो भवतानीयतेराक्षसान्प्रति।
यदितत्पुत्रहीनं त्वं मृतमेवाशुविद्धिमाम् ॥२१

तपश्चर्या के महान् दुरन्त आरम्भ तीनों लोकों में कायक्लेश करने वाले हुआ करते हैं किन्तु उन खेद देने वाले तपों को भी सन्त पुरुष भी पुत्र प्राप्ति के लिये स्नेह वश होकर निस्संशय किया ही करते हैं ॥१५॥ हे मुनिशार्दूल ! जन्तुओं का कुछ स्वभाव ही यह होता है कि मानवों के द्वारा धन,दारा, सुख और प्राण तक भी त्याग दिये

ही बहुत दुःसह है ॥१७॥ श्रीराम से वियुक्त होकर मैं जीवित रहने की आकांक्षा वाला जीवित नहीं रह सकता हूं। अतएव आप श्रीराम को लेजाने के योग्य नहीं हो सकेंगे ॥१८॥ हे कौशिक! नौ सहस्र वर्ष से पुत्र की कामना वाले मेरे बड़े ही दुःख से ये चार पुत्र हुए हैं। ॥१ ॥ उन चारों में प्रधान यह श्रीराम ही हैं जिनके कमल के समान परम सुन्दर लोचन हैं। इनके बिना वे अन्य तीनों पुत्र भी अपना जीवन धारण भी नहीं कर सकते हैं ॥२०॥ उन्हीं श्रीराम को राक्षसों से युद्ध करने के लिए आप लेजा रहे हैं। यदि आप मुझको पुत्रहीन तथा शीघ्र ही मरा हुआ ही समझते हैं तो ऐसा करें ॥२१॥

चतुर्णामात्मजानांहिप्रीतिरत्रैवमेपरा ।
ज्येष्ठंधर्ममयंतस्मान्नरामंनेतु मर्हसि ॥२२
निशाचरवलं हेतुं मुने यदितवेप्सितम् ।
चतुरंगसमायुक्तं मयासहवलंनय ॥२३
किं वीर्या राक्षसास्तेतु कस्यपुत्राः कथंचते ।
कियत्प्रमाणाः केचैवइतिवर्णयमेस्फुटम् ॥२४
कथं तेन प्रकर्त्तव्यं तेषांरामेणराक्षसाम् ।
मामकैर्बाल कैर्ब्रह्मन्मयावाकूटयोधिनाम् ॥२५
सर्वमेशंसभगवन्यथा तेषां महारणे ।
स्थातव्यंदुष्टभाग्यानां वीर्योत्सिक्ताहिराक्षसाः ॥२६
श्रूयतेहि महावीर्यो रावणोनामराक्षसः ।
साक्षाद्वै श्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ॥२७
सचेत्तवमखे विघ्नं करोति किल दुर्मतिः ।
ततसंग्रामेन शक्ताः स्मो वयंतस्य दुरात्मनः ॥२८

वैसे तो मुझे अपने चारों ही पुत्रों में परम प्रीति है किन्तु यह धर्ममय ज्येष्ठ जो श्रीराम हैं इनको लेजाने के तो आप किसी भी प्रकार योग्य नहीं है ॥२२॥ हे मुनिवर! यदि आपका यही अभीष्ट है कि

निशाचरों के बल का दमन हो जावे तो फिर चतुरङ्गिणी सेना से युक्त मुझे आप अपने साथ ले चलिये ।। २३ ।। अब आप मुझे बतलाइये कि वे राक्षस कितने पराक्रम वाले—किसके पुत्र—कितने लम्बे चौड़े विशाल प्रमाण वाले हैं और किस भाँति के हैं तथा वे कौन हैं ? श्री राम के द्वारा उन राक्षसों का युद्ध कैसे किया जायेगा ? हे ब्रह्मन् ! वे मेरे छोटे बालक हैं वे युद्ध करना क्या जानें । उन कूटयुद्ध करने वालों से तो मुझे भी युद्ध करना नहीं आता है ।।२४।।२५।। हे भगवन ! आप मुझे यह सभी कुछ बतलाइये कि जिस तरह से उन दुष्ट भाव वाले—वीर्य से उत्सिक्त राक्षसों के साथ महारण में ठहरना चाहिये । ।।२६।। ऐसा सुना जाता है एक रावण नाम वाला राक्षस महान् बल-वीर्य वाला है । वह वैश्रवण (कुवेर) का साक्षात् भाई है और विश्रवामुनि का पुत्र है ।। २७ ।। वही दुर्मति यदि आपके मख (यज्ञ) में विघ्न किया करता है तो उस दुरात्मा के साथ संग्राम में हम नहीं ठहर सकते हैं ।। २८ ।।

काले काले पृथग्ब्रह्मनभूरिवीर्यं विभूतयः ।
भूतेष्वभ्युदयं यांति प्रलीयंते च कालतः ।।२६
अद्यास्मिं स्तुवयंकालेरावणादिषु शत्रुषु ।
नसमर्थाः पुरः स्थातुं नियतेरेषनिश्चयः ।।३०
तस्मात्प्रसादंधर्मज्ञ कुरुत्वंममपुत्रके ।
ममचैवाल्पभाग्यस्य भवान्हिपरदैवतम् ।।३१
देवदानवगंधर्वायक्षाः पतग पन्नगाः ।
नशक्तारावणंयोद्धुं किं पुनः पुरुषायुधि ।।३२
महावीर्यवतांवीर्यं मादत्ते युधिराक्षसः ।
तेनसन्द्धं नशक्ताः स्मसंयुगेतस्यबालकैः ।।३३
अयमन्यतमः कालः पेलवीकृतसज्जनः ।
राघवोपिगतोदैन्यं यतोवार्द्धकं जर्जरः ।।३४

हे ब्रह्मन् ! समय-समय पर अत्यधिक बल वीर्य वाली विभूतियाँ हुआ करती हैं जो कि प्राणियों में अभ्युदय को प्राप्त होती हैं और काल आने पर वे सब स्वतः ही प्रलीन हो जाया करती हैं ॥२८॥ आज इस काल में रावण आदि ऐसी ही विभूतियाँ हैं कि उन शत्रुओं के समक्ष में हम ठहर ही नहीं सकते हैं—यह ऐसा कुछ नियति का ही निश्चय है ॥२६॥३०॥ इसी लिये हे धर्मज्ञ ! मेरे पुत्र पर तो आप कृपा कीजिये मुझ जैसे अल्प भाग्य वाले पुरुष के तो आप परम देवता ही हैं ।३१॥ रावण तो इतना महान् बलवान निशाचर है कि पुरुषों की बात ही क्या है उसके साथ युद्ध में देवगण–दानव–गन्धर्व–यक्ष पतग—पन्नग कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ३२ ॥ महान् वीर्य्य वालों के भी वीर्य को युद्ध में वह राक्षस ले लेता है और उसके साथ युद्ध करने में हम लोग तो समर्थ नहीं हैं भला मेरे बालक कैसे उससे युद्ध कर सकते हैं ॥३३॥ यह कुछ काल ही और तरह का है जिसने सज्जनों को निर्बल-सा बना दिया है । श्रीराम भी एक वृद्ध के समान जर्जर होकर हीनता को प्राप्त होगये हैं ॥३४॥

अथबालवणं ब्रह्मन्यजध्नंतंमघोः सुतम् ।
कथयत्वसुरप्रख्यंनैवमोक्ष्यामिपुत्रकम् ॥३५
सुंदोपसुंदयोश्चैव पुत्रौ वैवस्वतोपमौ ।
यज्ञविघ्न करौ ब्रूहि न तेदास्यामि पुत्रकम् ॥३६
अथनेष्यसिचेद्ब्रह्मंस्तद्धतोरम्यमेवते ।
अन्यथातुनपश्यामि शाश्वतं जयमात्मनः ॥३७
इत्युक्तामृदुवचनंरघूद्वहो ,
सोकल्लोलि मुनिमत संशयेनिमग्नः ।
ना ज्ञासीत्क्षणमपि निश्चय ,
महात्माप्रोद्वीनाविव जलधौ समुह्यमानः ॥३८

हे ब्रह्मन् ! अथवा रावण वह यज्ञ विध्वंस करने वाला मधु दैत्य

का पुत्र लवणासुर है जो कि बहुत प्रख्यात असुर है। अतएव मैं तो अपने पुत्र श्रीराम का त्याग नहीं करूँगा ॥१५॥ या आप यह बतलाइये कि वैवस्वत के सदृश सुन्द-उपसुन्द के पुत्र हैं जो यज्ञ के अन्दर विघ्न करने वाले हैं। मैं तो अपने पुत्र को नहीं दूंगा ॥१६॥ हे ब्रह्मन्! यदि आप अपने तपोबल से बलात श्रीराम को मेरी स्वीकृति के बिना ही ले जायंगे तो आप यह निश्चय समझ लीजिये कि आपने मेरा ही हनन कर दिया है क्यों कि मृत्यु गत होने के अतिरिक्त अन्य तो मैं कोई उपाय ही अपने विजय को नहीं देख रहा हूँ ॥१७॥ इस प्रकार से रघुवंशोद्भव महाराज दशरथ कोमल वचन कह कर मुनि के मतरूपी संशय लहर में निमग्न होगये थे। वह महात्मा सागर की तरङ्ग में समुह्यमान की भांति क्षणमात्र के लिए किसी भी निश्चय को उन्होंने नहीं जाना था अर्थात् मेरा इस समय में क्या कर्तव्य है—इसका कुछ भी निर्णय नहीं कर सके थे ॥१८॥



नवम सर्ग

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यस्नेहपर्याकुलेक्षणम् ।
समन्युः कौशिकोवाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥१॥
करिष्यामितिज्ञश्रुत्यप्रज्ञिहातुमर्हसि ।
समःानकेसरीभूत्वामृगतामिववांछसि ॥२॥
राघवाणाम युक्तोयकुलस्यास्य विपर्ययः ।
नकदाचनजायन्ते शीताशोष्ण रश्मयः ॥३
यदि त्वं नक्षमोराजनगमिष्यामियथागतम् ।
हीनप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखीभवसबान्धवः ॥४
तस्मिन् कोपपरीतेथ विश्वामित्रे महात्मनि ।

च चालवसुधाकृत्स्ना सुरांश्वभयमाविशत् ।।५

क्रोधाभिभूतं विज्ञाय जगन्मित्रे महामुनिम् ।

धृतिमान्सुव्रती धीमान्वसिष्ठोवाक्यम ब्रवीत् ।।६

इक्ष्वाकूणां कुलेजात। सासाद्धर्मडवापरः ।

भवान दशरथः श्रीमांस्त्रैलोक्यगुणभूषित ।।७

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! महाराज दशरथजी के स्नेह से पर्याकुल नेत्रों वाले इस वचन का श्रवण करके क्रोध से युक्त होकर महर्षि कौशिक राजा दशरथ से बोले—हे राजन् ! पहिले तो आपने आप जो भी आज्ञा देंगे उसे मैं करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा करली थी अब उस अपनी की हुई प्रतिज्ञा को क्या त्याग करने के योग्य हो रहे हैं ? आप केसरी होकर क्या मृग होना चाहते हैं ? रघु के वंश में समुत्पन्न होने वालों के लिये यह बिल्कुल ही कुल की मर्यादा के विरुद्ध है । चन्द्रमा की किरणें कभी भी उष्ण नहीं हुआ करती हैं ।।१।।२।।३।। हे राजन् ! यदि तुम अपने वचनों का पालन करने में असमर्थ हो तो मैं जैसे आया था वैसे ही चला जाऊंगा किन्तु तुम काकुत्स्थ होते हुए हीन प्रतिज्ञा वाले होकर बन्धु बान्धवों के सहित सुखी रहना ।।४।। श्री वाल्मीकि ने कहा—उस महात्मा विश्वामित्र के क्रोध से व्याप्त हो जाने पर सम्पूर्ण भूमि हिल उठी थी और असुरों के हृदय में अज्ञात भय समुत्पन्न हो गया था ।।५।।जगत के मित्र महर्षि को क्रोध से अभिभूत समझ परम धैर्यशाली, सुव्रत और बुद्धिमान वसिष्ठ जी ने यह वाक्य कहा था ।।६।। श्री वसिष्ठ ने कहा—हे राजन् ! आप इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न हुए हैं और साक्षात् दूसरे धर्म की मूर्ति के ह समान हैं। सो आप श्रीमान महाराज दशरथ है जो कि त्रैलोक्य में परम प्रसिद्ध गुणगणों से विभूषित हैं ।।७।।

धृतिमान्सुव्रतोभूत्वान धर्मं दातु मर्हसि ।

त्रिषुलोकेषु विख्यातो धर्मेणयशसायुतः ।।८

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्वनधर्मं हातु मर्हसि ।
मुनेस्त्रिभुवनेशस्य वचनं कर्तुं मर्हसि ॥६

करिष्यामीति संश्रुत्यतत्ते राजन्नकुर्वतः ।
इष्टापूर्त्तं हरेद्धर्मंतस्माद्रामं विसर्जय ॥१०

इक्ष्वाकुवंशराजातोपि स्वयंदशरथोपिसन् ।
न पालयसिचेद्वाक्यं कोपरःपालयिष्यति ॥११

युष्मदादि प्रणीतेन व्यवहारेण जन्तवः ।
मर्यादांनविमुञ्चतितांनहातुं त्व मर्हसि ॥१२
गुप्तेपुरुपसिंहेन ज्वलनेनामृतं यथा ।
कृतास्त्रम कृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ॥१३
एष विग्रहवान धर्म एषवीर्यवतांवरः ।
एपवुद्धाधिकोलोके तपसां च परायणम् ॥१४

हे राजन् ! परम धैर्यशाली और सुन्दर व्रतों वाले होकर भी धर्म को त्याग करने के योग्य नहीं हैं क्यों कि आप तो तीनों लोकों में धर्म से और महान यश से युक्त विख्यात हैं ॥८॥ हे राजन । आप अपने धर्म का प्रतिपालन करें और उसके त्याग करने के योग्य नहीं हैं । इन तीनों भुवनों के स्वामी मुनिवर के वचनों का पालन करने के आप योग्य होते हैं ॥९॥ 'मैं करूंगा"—ऐसी प्रतिज्ञा करके हे राजा ! उसे नही करने वाले आप के इष्टापूर्त्त का हरण हो जायगा अतएव अब आपका यही कर्त्तव्य है कि श्री राम को मुनि के साथ जाने दीजिए ॥१०॥ इक्ष्वाकु के वंश में समुत्पन्न और स्वयं दशरथ होते हुए भी यदि अपने वचन का पालन नहीं करेंगे तो अन्य फिर कौन वचन का पालन करेगा ॥११॥ आप सरीखे महानुभावों के द्वारा प्रणीत व्यवहार से ही सभी प्राणी अपनी मर्यादा का त्याग नहीं किया करते हैं । उसी मर्यादा को आप त्याग करने के योग्य नहीं हैं ॥१२॥ जिस प्रकार से देवेन्द्र-सदन में अग्नि के द्वारा

हे राजन् ! यह श्रीमुनिवर विविध शास्त्रों के ज्ञाता हैं और चराचर त्रैलोक्य में इनके सदृश अन्य कोई भी नहीं हैं जो शस्त्रास्त्रों का ज्ञाता हो और न कोई भविष्य में भी ऐसा ज्ञाता होगा ॥१५॥ देव-ऋषि इनमें कोई भी ऐसा नहीं है। असुर और राक्षस-नाग-यक्ष-गन्धर्व सब मिलकर भी मुनिवर विश्वामित्र सदृश नहीं हैं ॥१६॥ जिस समय में पहिले इन्होंने राज्य प्राप्त किया था उस समय में इन कौशिक के लिये शत्रुओं के द्वारा परम दुर्जय अवमू कृशाश्व ने दिया था। अर्थात् तप से सन्तुष्ट होकर रुद्र देव ने प्रदान किया था। वे कृशाश्व के पुत्र जो प्रजापति के सुतों के ही समान थे-वे परम वीर-दीप्तिमान् और महान् ओज वाले थे इन्हीं मुनिवर की सेवा किया करते थे। अर्थात् अनुचरों की भाँति ही शुश्रूषा करते थे ॥१७-१८॥ जया और सुप्रभा ये दो सुमध्यमा दक्ष की कन्याएँ थीं। उन दोनों की परम दुर्जय सौ सन्तति थीं ॥१९॥ पति की सेवा से वरदान प्राप्त करने वाली जया ने पहिले पाँच सौ पुत्रों को जन्म दिया था। वे कामचारी पुत्र सुरों की सेना का वध करने के लिये परम समर्थ थे ॥२०॥ सुप्रभा ने भी दूसरे पाँच सौ पुत्रों को जन्म दिया था जो नाम से संघर्ष-दुर्धर्ष-दुराकार और बलीयान थे। ऐसे यह विश्वामित्र जगन्मुनि महान् वीर्यशाली-महा तेजस्वी हैं। इनके साथ श्रीराम के गमन करने में अपनी बुद्धि में बिल्कुल मत करो ॥२१-२२॥ हे साधो ! ऐसे महान् सत्त्व वाले मुनीन्द्र के समीप में स्थित रहने पर पुरुष को यदि मृत्यु भी प्राप्त होती हो तो वह अमरता को प्राप्त हो जाया करता है। हे राजन् ! आप एक मूढ पुरुष के समान हीनता को प्राप्त मत होओ ॥२३॥

-o-o-

दशम सर्ग

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।

संप्रहृष्ट मनारामसा जुहावसलक्ष्मणम् ॥१
प्रतिहार महाबाहुं रामं सत्यपराक्रमम् ।
सलक्ष्मणम् विघ्नेन पुण्यार्थं शीघ्रमानय ॥२

इतिराज्ञाविसृष्टोसौ गत्वातः पुरमन्दिरम् ।
मुहूर्तमात्रेणागत्यदामुवाच महीपतिम् ॥३
देवदोर्दलिताशेषरिपोरामः स्वमन्दिरे ।
विमनाः संस्थितोरात्रौ षट्पदः कमले यथा ॥४

आगच्छामिक्षणेमेतिवक्ति ध्यायति चैकतः ।
नकस्यचिच्च निकटे स्थातु मिच्छतिखिन्नधीः ॥५

इत्युक्त स्तेनभूपालस्तंरामानुचरंजनम् ।
सर्वमाश्वासयामास पप्रच्छ च यथा क्रमम् ॥६

कथंकीदृग्विधो राम इति पृष्टोमहीमृता ।
रामभृत्यजनः खिन्नोवाक्यमाहमहीपतिम् ॥७
देहयष्टिमि देव धारयतइमेवयम् ।
खिन्नाः खेदे परिम्लानततो रामे सुतेतव ॥८

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—महर्षि वसिष्ठजी के द्वारा इस प्रकार से कहने पर महाराज दशरथजी ने परम प्रसन्न मन वाले होकर लक्ष्मण के सहित अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम को बुलाया था ॥१॥ राजा दशरथजी ने कहा—महान् बाहुओं वाले-सत्य पराक्रम से सम्पन्न लक्ष्मण के सहित श्रीराम को यहाँ पर विघ्न रहित ऋषि के यज्ञ जैसे पुण्यमय कार्य की सिद्धि के लिये शीघ्र ही ले आओ ॥२॥ इस तरह से राजा के द्वारा आज्ञा प्राप्त करने वाला भेजा गया वह द्वारपाल अन्तःपुर के मन्दिर में पहुँच कर मुहूर्त मात्र में ही फिर वापिस लौटकर उसने राजा से कहा था ३। हे स्वामिन् ! आपने अपनी भुजाओं से समस्त शत्रुओं को दलित कर दिया है। श्रीराम इस समय में अपने ही निवास करने के मन्दिर में

अत्यन्त उदास और विषण्ण होकर रात्रि में कमल में बन्द भौंरे की भाँति खामोश संस्थित हैं ।।४।। वे कहते हैं कि मैं एक क्षण में ही आ रहा हूँ। श्रीराम अकेले ही कुछ ध्यान-सा कर रहे हैं। उनकी बुद्धि ऐसी खिन्न हो रही है कि वे किसी को भी अपने समीप में ठहरने की आज्ञा नहीं देते हैं अर्थात् वे अकेले ही एकान्त में रहना चाहते हैं ।।५।। प्रतीहार के द्वारा इस प्रकार से कहे गये राजा ने उस श्रीराम के अनुचर जन को भली भाँति आश्वासन दिया था और सब वृत्तान्त क्रम पूर्वक उससे पूछा था ।।६।। राजा ने पूछा था श्रीराम कैसे और किस तरह से हैं। श्रीराम के सेवक ने अत्यन्त खिन्न होकर राजा को उत्तर दिया था ।।७।। हे देव ! हम सब लोग खेद में मलिन शरीर वाले आपके पुत्र श्रीराम के विषय में बहुत ही खिन्न हो रहे हैं तथा इस अपने यष्टि के तुल्य कृश शरीर को धारण किये हुए हैं ।।८।।

रामोराजीव पत्नाक्षोयतः प्रभृति चागतः ।
सत्रिप्रतीर्थ यात्रायास्ततः प्रभृतिदुर्मनाः ।।९
यत्नप्रार्थनयाऽस्माक निजव्यापार माह्निकम् ।
सोयमाम्लानवदनः करोतिन करोतिवा ।।१०

यद्द्रव्यमुचितं स्वादुपेशलं चित्तहारि च।
बाष्पपूर्णक्षणइव तेनैव परिखिद्यते ।१५

कमल दल के समान सुन्दर नेत्रों वाले श्रीराम विप्रों सहित जब से तीर्थ यात्रा करके यहाँ वापिस लौट कर आये हैं तभी से अत्यन्त उदास रहा करते हैं ।।९।। बड़े ही प्रयत्नों के साथ हम लोग जब प्रार्थना किया करते हैं तो अपने शरीर का स्नानादि कार्य और आह्निक वे किया करते हैं। वे इतने मलिन मुख वाले हैं कि वह भी किया करते हैं अथवा कभी नहीं करते हैं। १०। स्नान-देवों का अर्चन-दान और भोजन आदि सभी में वे उदास भावना रखा करते हैं। जब उनसे प्रार्थना भी की जाया करती है तब भी वे तृप्ति के साथ भोजन नहीं किया करते हैं ।।११।। अन्तःपुर की चञ्चल नारियों के द्वारा तथा उनके साथ क्रीडा के आँगन मे झूलन एवं लीलाओं से चातक पक्षी के समान कभी सानन्द क्रीडा नहीं करते हैं ।।१२।। हे राजन् ! माणिक्य अकुल से प्रोत केयूर (बाहु भूषण अङ्गद) तथा कटक (कड़े) आदि भूषण उनको आनन्द प्रदान नहीं किया करते है जैसे स्वर्ग जिसका पतन वहाँ से शीघ्र होने वाला हो उसे वह अच्छा नहीं लगा करता है। क्रीड़ा करती हुई वधुओं से विलोकन वाली सघन एवं कुसुमों की गन्ध युक्त वायु पूर्ण कुन्जों में तथा लताओं से वंछित गृहों में भी श्रीराम का मन अत्यन्त विषाद युक्त हो जाया करता है। जो भी द्रव्य स्वाद पूर्ण-समुचित-पेशल और मनोहर होता है उसी से वे आँसुओं से भरे हुए नेत्र वाले की तरह खेद को प्राप्त हुआ करते हैं ।।१३-१४-१५।।

किमिमादुःखदायिन्यः प्रस्फुरन्ती पुरांगनाः।
इतिनृत्तविलासेषु कामिनीः परिनिन्दति ।।१६

भोजनं शयनं यानं विलासं स्नानमासनम् ।
उन्मत्त चेष्टित इवनाभिनंदत्यनिन्दितम् ।।१७

किं सम्पदा किं विपदा किं गेहेन किमद्रिणा ।
सर्वमेवासदित्युक्त्वा तूष्णीमेकोवतिष्ठते ॥१८

नोदेति परिहासेषु न योगेषु निमज्जति ।
नचतिष्ठति कार्येषु मौनमेवावलम्बते ॥१९

विलोलाकवल्लयेहिलावलित लोचनः ।
नानन्दयन्तिललनाचर्यो मृग्योवनतरुं यथा ॥२०

एकान्तेषु दिगन्तेषु तीरेषु विपिनेषु च ।
रतिमायात्मरण्येषु विक्रीतइवजन्तुषु ॥२१

वस्त्रपानाशनादान पराङ्मुखतयातया।
परिव्राड्धर्मिणं भूपसोनुयाति तपस्विनम् ॥ २
एक एववसन्देशे जनशून्ये जनेश्वर ।
नह सत्येकयाबुद्ध्या न गायतिनरोदिति ॥२३
बद्ध पद्मासनः शून्यमनावामकरस्थले ।
कपोलतलम घामकेवलं परितिष्ठति ॥२४
नाभिमानमुपादत्तेन च वांछतिराजताम् ।
नोदेतितास्त मायातिसुखदुःखानुवृत्तिषु ॥१५
न विद्मः किम ऽयाति कि करोति किमीहते ।
किं ध्यायति किमायाति कथं कि मनु धावति ॥२३
प्रत्यहंकृश तामेतिप्रत्यहं याति पांडुताम् ।
विराग प्रत्यहं याति शरदतइवद्रुमः ॥२७
अनुयातीतथैवं तो राजच्छत्रुघ्नलक्ष्मणो ।
तादृशावेवतस्यैव प्रतिबिवाविवीस्थतो ।२८

हे राजन् ! वे अपने उपभोग की सामग्री यह जान कर सर्वदा वस्त्र भोजनादि की ओर से विमुख ही रहा करते हैं और एक सन्यास करने वाले तपस्वी की ही भांति आचार का अनुसरण किया करते हैं। हे ज्ञानेश्वर ! श्रीराम सदा एकान्त स्थान में अकेले ही बैठे हुए न कभी हँसते हैं न गान करते हैं और सुनहरी किया करते हैं और रुदन ही किया करते है। वे सर्वदा सूने चित्त वाले होकर बैठे रहते हैं अर्थात् कोई भी संकल्प विकल्प नहीं करते हैं ॥२२-२३-२४॥ उन्हें कभी किसी बात का न अभिमान ही होता है और न वे राज्यासन के प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। उन्हें सुख प्राप्त होने पर कभी न प्रसन्नता होती है और न दुःख पाने पर कोई विषाद ही हुआ करता है। हम लोगों को यह पता ही नहीं चलता है कि वे क्या करते हैं और क्या चाहते हैं तथा सदा किसका ध्यान लगाया करते हैं। यह अवश्य है कि वे आये

दिन दुबले-पतले होते चले जा रहे हैं और एकदम पीले पड़ते जा रहे हैं। उनका वैराग्य नित्यप्रति बढ़ता ही चला जा रहा है। उनके ही अनुसरण करने वाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी प्रतिदिन कमजोर होते जा रहे हैं। भृत्य-माता और अन्य जनों के द्वारा पूछने पर भी उन्हें कुछ भी उत्तर न देकर चुपचाप ही बैठे रहा करते हैं ॥२५—२८॥

भृत्यैराजभिरंबाभिः संपृष्टोपिपुनः पुनः ।
उक्त्वानकिंचिदेवेति तूष्णीमास्तेनिहीहितः ॥२९
आपातमात्ररम्येषुमाभोगेषुमनः कृथाः ।
इतिपार्श्वगतंभव्यम मनुशास्ति सत्स्वजनम् ॥३०
नाना विभवरम्यासु स्त्रीषु गोष्ठी गता सु च ।
पुरः स्थितमिवास्नेहोनाशमेरानुपश्यति ॥३१
नीत मायुरनाभा पदप्राप्ति विवरजितैः ।
चेष्टितैरितिका कल्पा भूयोभूयः प्रयागपति ॥३२
सम्राड्भवेतियाश्वंस्थं वदन्त मनुजोविनम् ।
प्रलयन्तमिवोन्मत्त सत्यन्य मनामुनिः ॥३३
नप्रोक्तमाकर्णं यतिईक्षतेन पुरोगतम् ।
करोत्यवज्ञां सर्वत्र सुसमेत्यापि वस्तुनि ॥३४
अप्याकाशसरोजिन्य अप्याकाशमहावने ।
इत्थमेतन्मनइति विस्मयोस्य न जायते ॥३५
कान्तामध्यगतस्यापि मनोस्यमदनेषवः ।
न भेदयन्ति दुर्भेद्यं धाराइव महोपलम् ॥३६

श्रीराम अपने समीप मे रहने वाले लोगों को भी सर्वदा यही उपदेश दिया करते हैं कि—ये समस्त सांसारिक भोग ऊपर से ही सुन्दर लगा करते हैं वास्तव में ये सब सार हीन और नाशवान् हैं। अतएव इनमें किसी को भी मन नहीं लगाना चाहिए। हम सभी ने परमपद की प्राप्ति से दूर कर देने वाली चेष्टाओं के द्वारा ही सब आयु व्यर्थ ही

आपदामेकमाधारा धर्मनिर्वाहिनि किं धनम् ।
लब्धुमिच्छेति सर्वं स्वमर्थिने प्रयच्छति । ३७
इयमापदियं सम्पदित्येवं कल्पनामयः ।
मनसोऽभ्युदितो मोह इति श्लोकाननुगायति ॥३८
हा हतोऽहं मनायोऽहं मिथ्याक्रन्दं परोऽनिशम् ।
न तनोति वैराग्यं चित्रमित्येवमत्यसौ ॥३९

मनसि मोहमयास्य महात्मनः
सकल भातितमः किल चाद्भुतम् ।
सकलतामयतीह मोहरन्दिनको
भुवि भास्कर तानिव ॥४०

श्रीराम तो सदा सबको ऐसी ही शिक्षा दिया करते हैं कि—"यह धन विपदाओं का स्थान है । तू इसको पानेकी इच्छा क्यों किया करता है "श्रीराम अपना सम्पूर्ण धन इच्छा रखने वाले वयस्कों को बांट दिया

करते हैं ॥३७। यह आपत्ति है और यह सम्पत्ति है— इस प्रकार की जो कल्पनाऐं होती हैं उनके रूप में मनका मोह अर्थात अज्ञान ही प्रकट हुआ करता है – इसी प्रकार के श्लोकों का वे सर्वदा गान किया करते हैं हैं ॥३८॥ हाय ! मैं मर गया – मैं अनाथ हो गया हूँ—इस रीति से सर्वदा सब लोग रोते-पीटते रहा करते हैं तो भी इस दुःखमय संसार से किसी को भी वैराग्य नहीं होता है—यह कितने महान आश्चर्य की बात है—श्रीराम सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं ॥३९॥



एकादश सर्ग

एवंचेत्तन्महाप्राज्ञाभवंतोररघुनन्दनम् ।
इहानयतुत्वरिताहरिणंतरिणइव ॥१
एषमोहोरघुपतेर्नापद्भ्योन चरागतः ।
विवेकवैराग्यवतो बोध एवमहोदयः ॥२
इहायातुक्षणाद्रामइहचैव वयं क्षणात् ।
मोहं तस्यापनेष्यामो मारुतोद्रिघने यथा ॥३
एतस्मिन्मार्जिते युक्त्या मोहेसर रघुनन्दनः ।
विश्रांतिमेष्यति वदेतस्मिन्वयमिवोत्तमे ॥४
सत्यतां मुदितां प्रज्ञाँ विश्रांतिमपतापताम् ।
पीनताम्बर वर्णत्वं पीतामृत इवैष्यति ॥५
निजाञ्चप्रकृतामव व्यवहार परम्पराम् ।
परिपूर्ण मनामान्य आचरिष्यत्य खण्डतम् ॥६
भविष्यति महासत्वो ज्ञातलोक परावरः ।
सुख दुःख दशाहीनः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥७

श्री विश्वामित्र जी ने कहा—आप लोग तो परम बुद्धिमान हैं।

यदि ऐसी ही बात है तो आप लोग श्रीराम को मृगों के झुण्ड के उस यूथपति की भांति शीघ्र यहां बुला लाओ। यह इस तरह का मोह श्रीराम को किसी आपत्ति के कारण नहीं हुआ है और न किसी आसक्ति से ही हुआ है। श्रीराम तो विवेक और वैराग्य से युक्त हैं अत: एव उनको यह बोध ही होगया है मोह इसको नहीं कह सकते हैं। यह बोध तो उनका अभ्युदय ही करने वाला है। श्रीराम को यहां लिवा लाइए हम उनके इस मोह को क्षण मात्र में ही दूर कर देंगे और फिर वे हम लोगों के ही समान परम पद में विश्रान्ति को प्राप्त हो जांयगे ॥१॥२॥ ।४॥ हमारे उपदेश से यथार्थ बोध का उदय हो जायगा और फिर श्री राम अमृत पान किये हुए पुरुष के समान सत्यता अर्थात वास्त-विक स्वर्गीय सुख-मुदिता अर्थात परमानन्द स्वरूपता और प्रज्ञा अर्थात पूर्ण ज्ञान स्वरूपता को प्राप्त होते हुए सन्ताप से रहित एवं विश्रान्ति के सुख से युक्त-हृष्ट-पुष्ट और कान्ति से युक्त हो जांयगे। फिर अपने मन में परिपूर्णता का अनुभव करते हुए वह श्रीराम अपने वर्णाश्रम के अनुसार व्यवहार की परम्परा का बाधा रहित होकर पालन करेंगे ॥५॥ ॥६॥ श्रीराम महान सन्त गुण से युक्त तथा सगुण निर्गुण परमात्मा के ज्ञान वाले हो जांयगे। फिर उनको सुख दुःख की दशाएँ नहीं सतायेंगी अथवा आह्लादित नहीं करेंगी। वे मिट्टी के ढेले-पाषाण और सुवर्ण में कोई भी अन्तर नहीं समझेंगे॥७॥

इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा सम्पूर्ण मानसः ।
प्रहिणोद्राममानेतुं भूयो दूत परम्पराम् ॥८
एतावतायकालेनरामोनिजगृहासनात् ।
पितुः सकाशमागन्तुमुत्थितोर्क इवाचलात् ॥९
वृतः कतिपयैर्भृत्यैर्भ्रातृभ्यांचजगामह ।
तत्पुण्यस्वपितुः स्थानस्वर्गं सुरपतेरिव ॥१०
दूरादेवददर्शासोरामोदशरथ तदा ।

वृतंराजसमूहेन देवौघेनेववासवम् ॥११
वसिष्ठ विश्वामित्राभ्यां सेवितं पार्श्वयोर्द्वयोः ।
सर्वशास्त्रार्थ तज्ज्ञनमंत्रिवृंदेन मालितम् ॥ १२
चारुचामरहस्ताभिः कान्ताभिः समुपासितम् ।
ककुब्भिरिवमूर्त्ताभिः संस्थिताभिर्यथोचितम् ॥१३
वसिष्ठविश्वामित्राद्यास्तथादशरथा दयः ।
ददृशूराघवंदूराद्रुपायाँ तंगुहोपमम् ॥१४
सत्त्वावष्टब्धगर्भेणशैत्येनेवहिमाचलम् ।
त्रितंसकलसेव्येन गंभीरेण स्फुटेन च ॥१५

महर्षि विश्वामित्रजी के द्वारा इस तरह से कहने पर महाराज दशरथ बहुत अधिक प्रसन्न हो गये थे और उन्होंने बारम्बार दूतों को श्रीराम को बुला लाने के लिये भेज दिया था ।।८।। उसी समय में उदयाचल से सूर्य की भाँति श्रीराम अपने कतिपय सेवकों तथा दोनों भाइयों को साथ लेकर परम पुण्यमय सुरपति के स्वर्ग के समान पिताजी के राजसदन को चल दिये थे ।९।।१०।। श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से ही महाराज दशरथ को राजाओं के समुदाय से युक्त देवों के समूह से परिवृत इन्द्र के समान देखा था । ११।। महाराज दशरथ के दोनों पार्श्वभागों में विश्वामित्र जी और महर्षि वसिष्ठ जी विराजमान थे तथा समस्त शास्त्रों के तत्वार्थ के ज्ञाता मन्त्रियों के मण्डल ने एक माला की भाँति उन्हें घेर रक्खा था ।।१२।। वसिष्ठ जी तथा विश्वामित्रजी और महाराज दशरथ आदि सबने कुमार कार्तिकेय के सदृश अपनी ओर आते हुए देखा था ।।१४।

सौम्यं समशुभाकारं विनयोदार मानसम् ।
कांतोपशांत वपुषं परस्यार्थस्य भाजनम् ।।१६
एवमुनीन्द्रे ब्रुवतिपितुः पादाभिवन्दनम् ।
कर्तुमभ्याजगामाथरामः कमललोचनः ।।१७
प्रथमंपितरमपश्चान्मुनी मान्यैकमानितौ ।

ततोविप्रांस्ततोबंधूंस्ततोगुरुगणान्सुहृत् ॥१८
जाग्रहृचवतोदृष्टयामनाङ मूर्न्नातथागिरा।
राजलोकेन विहितां तां प्रणाम परंपराम् ॥१६
विहिताशीर्मुनिभ्यां तु रामः सु सम मानसः।
आस सादपितुः पुण्य समीपंसुर सुन्दर ॥२०
पादाभिवंदनपरं तमथा सौ महीपतिः।
शिरस्यभ्यालिंगाश्रु चुंबच पुनः पुनः ॥२१

श्रीराम का स्वरूप शान्ति-विवेकमय सत्व गुण से युक्त-सौम्य एवं समदर्शी था। हिमाचल की भाँति उनके हृदय में शीतलता थी। उनकी आकृति परम शुभ मङ्गलमयी थी। श्रीराम का हृदय विनय और उदारता से परिपूर्ण था। उनका शरीर कान्ति युक्त एवं परम शान्त था और वे परम पुरुषार्थ के आधार थे ॥१५-१६॥ श्रीविश्वामित्रजी राजा दशरथ से श्रीराम को अपने बुलाने के विषय में वार्तालाप कर ही रहे थे कि उसी समय में कमल के समान नेत्रों वाले श्रीराम पिताजी के चरणों में प्रणाम करने के लिए वहाँ पर उपस्थित हो गये थे ॥१७॥ श्रीराम ने सबसे पहिले अपने पिताजी के चरणों में मस्तक झुकाया था। इसके उपरान्त सम्माननित पुरुषों के भी सम्माननीय दोनों मुनियों को प्रणाम किया था। फिर अन्य विप्रों और बन्धुगण-गुरुजन और सुहृदों को श्रीराम ने अभिवादन किया था ॥१८॥ इसके अनन्तर नृपों के समूह के द्वारा की हुई प्रणामों की परम्परा को प्रसन्न दृष्टि से देखकर कुछ मस्तक को झुकाकर एवं वाणी के द्वारा कुछ कह कर स्वीकार किया था ॥१९॥ समता की भावना से परिपूर्ण हृदय वाले श्रीराम को दोनों मुनियों ने आशीर्वाद दिया था। इसके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी देव के समान सुन्दर पिताजी के पवित्र सन्निधि में प्राप्त हुए थे ॥२०॥ राजा दशरथ ने अपने चरणों में प्रणाम करने वाले प्रियतम पुत्र को अपने हृदय से लगाकर बारम्बार चुम्बन किया था ॥२१॥

शत्रुघ्नंलक्ष्मणं चैव तथैवपदवीरहा ।
आलिगनघनस्नेहोराजहंसोंबुजजे यथा ॥२२

उत्संगेपुत्रातिष्ठेतिवदत्यथमहीपतौ ।
भूमौ परिजनास्तीर्णसोंशुकेथन्यविक्षत ॥२३

पुत्रप्राप्तविवेकस्त्वंकल्याणानां च भाजनम् ।
जडवज्जीर्णयाबुद्धयाखेदायात्मानदीयताम् ॥ २४

वृद्धविप्रगुरुप्रोक्त त्वादशेनानुतिष्ठता ।
पदमासाद्यतेपुण्यं न मोहमनुधावता ॥२५

तावदेवा पदोदूरेतिष्ठतिपरिपेलवः ।
यावदेवनमोहस्य प्रसरः पुत्रदीयते ।२६

राजपुत्रमहाबाहो शूरस्त्वं विजितास्त्वया ।
दुरुच्छेदादुरारंभाअप्यमी विषयारयः ॥२७

किमतज्ज्ञइवाज्ञानां योग्येऽस्यामोह सागरे ।
विनिमज्जसिकल्लोलबहुलेजाड्य शालिनि ॥२८

इसी प्रकार से वीर शत्रुओं के विनाश करने वाले दशरथ ने घनीभूत स्नेह से युक्त होते हुए अम्बुज की राजहंस की भाँति लक्ष्मण और शत्रुघ्न को भी अपने गले लगाया था ॥२२॥ राजा ने कहा था—हे पुत्र ! मेरी गोद में आकर बैठो किन्तु श्रीराम परिजनों के द्वारा बिछाये हुए वस्त्र पर भूमि में ही उपविष्ट हो गये थे ।।२३॥ राजा दशरथजी ने कहा—हे बेटा ! तुम तो अनेक प्रकार के कल्याणों के आधार हो । तुमको पूर्ण ज्ञान-विवेक प्राप्त हो गया है । तुम एक जड़ पुरुष की भांति जीर्ण बुद्धि से अपने आपको कभी खिन्न मत करो ।।२४॥ तुम्हारे समान विवेकशील पुरुष वृद्ध-विप्र एवं गुरुजनों के द्वारा किये हुये कथन का प्रतिपालन करने से परम पद प्राप्त कर लिया करते हैं और मोह का

अनुसरण करते हैं उन्हें वह प्राप्त कभी नहीं होता है ।।२५।। हे पुत्र ! जहां तक हृदय में मोह के प्रसार का अवसर नहीं दिया जाता है वहीं तक ये समस्त विपत्तियां तुच्छीभूत होकर दूर रहा करती हैं ।।२६।। इसके अनन्तर महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहु राजकुमार ! अ ब तो महान् शूर वीर हैं । आपने विषय रूपी शत्रुओं को जीत लिया है जो कि दुःखों के समुदाय को समुत्पन्न करने वाले हैं और बहुत ही कठिनता से नष्ट होने वाले होते है ।।२७।। इस प्रकार से महान् ज्ञानी होते हुये भी आप ज्ञान शून्य मनुष्यों के योग्य-जड़ता वाले तथा तरङ्गों से युक्त व्यामोह रूपी सागर में क्यों निमग्न हो रहे हैं ।।२८।।

चलन्नीलोत्पलव्यूह समलोचन लोलताम् ।
ब्रूहिचेतः कृतांत्यक्त्वाहेतुनाकेन मुह्यसि ।।२९
किंनिष्ठाः केचतेकेनकियन्तः कारणेनते ।
आधयः प्रविलुंपंतिमनोगह मिवाखवः ।।३०
मन्येनानुचितानांत्वमाधीनां पदमुत्तमम् ।
आपत्सुचाप्रयोज्यं तेनिहीना अपिचाधय ।।३१
यथाभिमतमाशुत्वंब्रूहि प्राप्स्यसि चानघ ।
सर्वमेव पुनर्येनमेत्स्यं तेत्वां तुनाधयः ।।३२
इत्युक्त मस्यसुमतेरघुवंशकेतु ,
कर्ण्यं वाक्यमुचितार्थ विलासगर्भम् ।
तत्याजखेदमिगर्जतिवारिवहि ,
बर्हीयथात्वनुमिताभिमतार्थं सिद्धि ।।३३

विश्वामित्रजी ने कहा—हे राजकुमार ! आप हिलने वाले नील-कमल के सदृश जो आप के नेत्रों में जो चञ्चलता विद्यमान है इसमें आपके चित्त की व्यग्रता ही कारण प्रतीत हो रही है । अब उसका त्याग करके हम को आप बतलाइये कि इसका क्या कारण है जिससे यह व्यामोह आपको होरहा है ? आपके हृदय में जो भी ऐसा मोह उत्पन्न

लोहे की शलाकाओं के सदृश लिप्त होकर अपने ही मन की मिथ्या कल्पना से सम्बद्ध रहा करते हैं ॥९॥

मनः समायत्तमिदंजगदाभोगि दृश्यते ।
मश्वासदिवाभातिकेन स्म परिमोहिताः ॥१०
असतैववयंकष्टंविकृष्टा मूढ़ बुद्धयः ।
मृगतृष्णांमसादूरे वनेमुग्धमृगाइव ॥११
नकेनचिच्चविक्रीता विक्रीताइव संस्थिताः ।
वतमूढ़ावयं सर्वेजानाना अपिशांवरम् ॥१२
किमेतेपु प्रपंचेपु भोगानाम सुदुर्भगाः ।
मुधैवहिवयं मोहात्सं स्थिता वद्ध भावनाः ॥१३
आज्ञातंवहुकालेन व्यर्थमेव वयंवने ।
मोहे निपतितामुग्धाः श्वभ्रे मुग्धामृगाइव ॥१४
किमेराज्येन किं भोगैः कोहंकिमिदमागतम् ।
यन्मिथ्यैवास्तुतन्मिथ्याकस्यनामकिमागतम् ॥१५
एवंविमृशतो ब्रह्मन्सर्वेष्वेव ततोमम ।
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्यमरुष्विव ॥१६

जो यह मन असत् है उसी के आधीन होकर लोग इस संसार के पदार्थों में सुख न होने पर भी सुख माना करते हैं। सबको ऐसा मोह हो रहा है कि वास्तविक सुख का ज्ञान ही नहीं हो पाता है ॥१०॥ बालू की चमक को ही जल समझकर वन में दूर तक भटकते मृगों की भांति ही मूढ़ बुद्धि वाले लोग मिथ्या भूत नश्वर संसार के पदार्थों में भटक रहे हैं ॥११॥ किसी के द्वारा न बिके हुए भी लोग बेचे हुए मनुष्यों के ही समान परवश होकर मूढ़ बने हुए हैं। हम इस सांसारिक माया से छुटकारा पाने का प्रयत्न नहीं किया करते हैं—यह महान् खेद का विषय है ॥१२॥ इस संसार के प्रपंचों में समस्त सुखाभास उपभोग अत्यन्त दुर्भाग्य से भरे हुए हैं। व्यर्थ ही हम सब इनके मोह में भ्रान्ति

लोहे की शलाकाओं के सदृश लिप्त होकर अपने ही मन की मिथ्या कल्पना से सम्वद्ध रहा करते हैं ॥६॥

मन: समायत्तमिदंजगदाभोगि दृश्यते ।
मश्वासदिवाभातिकेन स्म परिमोहिताः ॥१०
असतैववयंकष्टंविकृष्टा मूढ़ बुद्धयः ।
मृगतृष्णांमसादूरे वनेमुग्धमृगाइव ॥११
नकेनचिच्चविक्रीता विक्रोताइव संस्थिताः ।
वतमूढ़ावयं सर्वेजानाना अपिशांबरम् ॥१२
किमेतेषु प्रपंचेषु भोगानाम सुदुर्भगाः ।
मुधैवहिवयं मोहात्सं स्थिता बद्ध भावनाः ॥१३
आज्ञातंवहुकालेन व्यर्थमेव वयंवने ।
मोहे निपतितामुग्धाः श्वभ्रे मुग्धामृगाइव ॥१४
किमेराज्येन किं भोगैः कोहंकिमिदमागतम् ।
यन्मिथ्यैवास्तुतन्मिथ्याकस्यनामकिमागतम् ॥१५
एवंविमृशतो ब्रह्मन्सर्वेष्वेव ततोमम ।
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्यमरुष्विव ॥१६

जो यह मन असत् है उसी के आधीन होकर लोग इस संसार के पदार्थों में सुख न होने पर भी सुख माना करते हैं। सबको ऐसा मोह हो रहा है कि वास्तविक सुख का ज्ञान ही नहीं हो पाता है ॥१०॥ बालू की चमक को ही जल समझकर वन में दूर तक भटकते मृगों की भाँति ही मूढ़ बुद्धि वाले लोग मिथ्या भूत नश्वर संसार के पदार्थों में भटक रहे हैं ॥११॥ किसी के द्वारा न बिके हुए भी लोग बेचे हुए मनुष्यों के ही समान परवश होकर मूढ़ बने हुए हैं। हम इस सांसारिक माया से छुटकारा पाने का प्रयत्न नहीं किया करते हैं—यह महान् खेद का विषय है ॥१२॥ इस संसार के प्रपंचों में समस्त सुखाभास उपभोग अत्यन्त दुर्भाग्य से भरे हुए हैं। व्यर्थ ही हम सब इनके मोह में भ्रान्ति

से बद्ध माने हुए हैं ॥१३॥ वन में किसी गड्ढे में दुर्भाग्य से पड़ जाने वाले मृग के ही समान दीर्घ समय के बाद में लोगों को यह ज्ञात होता है कि हम गर्त में पड़े हुए हैं और माया मोह के मिथ्याभूत जाल में ग्रसित हो रहे हैं।।१४।। मुझे इस इतने विशाल साम्राज्य एवं सुखों-भोगों से क्या प्रयोजन है—मैं कौन हूँ और प्रपंच जो दृश्यमान हो रहा है क्या है मेरे समक्ष में यह क्यों समागत हुआ है । जो मिथ्याभूत है वह मिथ्या ही बना रहे—इससे किसको क्या नुकसान होगा ॥१५॥ हे ब्रह्मन् ! एक पथिक को मरुस्थल की भाँति मुझे भी इस तरह विचार करते-करते समस्त भोग्य पदार्थों से वैराग्य एवं अरुचि होगई है ।। १६ ॥

तदेतद्भगवन्ब्रूहिकिमिदंपरिणश्यति ।
किमिदंजायतेभूयः किमिदं परिवद्र्धते ॥१७
जरामरणमापच्चजननंसंपदस्तथा ।
आविर्भावतिरोभावं त्रि विद्धं ते पुनः पुनः ॥१८
भोगैस्तैरेवतैरेव तुच्छैर्वयममीकिल ।
पश्य जर्जरतांनीतागतैरिवगिरिद्रुमाः ॥१९
अचेतनाइवजनाः पवनैः प्राणनामभिः ।
ध्वनंतः संस्थितायद्वत् यथा कीचक वेणवः ॥२०
शाम्यतीदकथद्दुःखमिति ताप्तोस्मि चिंतया ।
जरद्द्रुमइवोग्रेणकोटरस्थेनवह्निना ॥२१
ससारदुःखपाषाणनीरंध्रहृदयोप्यहम् ।
निजलोकभया देवगलद्बाष्पंनरोदिमि । २२

हे भगवन् ! अब आप ही बतलाइये कि यह असत् शरीर नष्ट होकर पुनः समुत्पन्न होता है क्या और क्यों बढ़ता है ? जरा मरण जनन-आपत्ति और सम्पत्ति आदि अनर्थ की परम्परा है जिनका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है और बारम्बार इनकी वृद्धि हुआ

करती है ॥१७॥१८॥ विभिन्न स्वरूपों वाले इन सांसारिक तुच्छ भोगों ने हम लोगों को प्रचण्ड झंझावात के द्वारा पर्वत के वृक्षों की ही भाँति एक दम जर्जर बना दिया है ॥१६॥ कीचक बांस वायु के मर जाने से जिस तरह बाँसुरी के समान ध्वनि किया करते हैं वैसे ही मनुष्य अचेतन होते हुए प्राण वायु धारण करके व्यर्थ ही बोला करते हैं ॥२०॥ जिस वृक्ष की खौंतर में उग्र अग्नि का प्रवेश होगया हो और वह जल कर फुँक रहा हो उसी तरह से मुझे भी यही चिन्ता व्याप्त हो रही है कि वह दुःख कैसे शान्त होगा। मैं इस चिन्ता से बड़ा ही सन्तप्त हूँ ॥२१॥ सांसारिक इन दुःख द्वन्दों से बिना छिद्र वाले पाषाण की भाँति ही मेरा हृदय होगया है। मेरे परिजन भी मुझे देखकर क्रन्दन करेंगे— इसी भय से मुझे रोना आता भी है तो भी मैं रुदन नहीं करता हूं ॥ २२ ॥

शून्यामन्मुखवृत्तीस्ताः शुष्करोदननीरसाः।
विवेकएवहृत्संस्थो ममंकांतेषुपश्यति ॥२३
भंशंमुह्यामि संस्मृत्यभावाभावमयीं स्थितिम्।
दारिद्र्यणेवसुमगोदूरेसंसार चेष्टया ॥२४
मोहयंति मनोवृत्तिखडयंति गुणावलिम्।
दुःखजालं प्रयच्छेतिविप्रलम्भ पराःश्रियः ॥२५
चितानि चयचक्राणिनानंदायधनानिमे।
संप्रसूत कलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥२६
विविधदोषदशा परिचित नैर्जिततभंगुरकाकल्पितैः।
ममनवृंति मेतिमनोमुनेनिगडितस्यपथावनदंतिनः ॥२७
खलाः काले काले निशिनिशितमोहैकमिहि,
कागतालोकेलोके तिपयशतचोराः सुचतुराः।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्तादिशिदिशिविवेकं,
कहरणे रणेशक्तास्तेपांकइवविदुषःप्रोज्यन्य सुभटाः ॥२८

हे मुनिवर ! मेरी मुख की चेष्टाएँ शुष्क हैं न मुझे रुदन ही होता है और न हर्ष ही है। मुझे तो एकान्त में बैठकर हृदय में विवेक ही सूझता है ॥२३॥ मुझे इन [illegible]यतम प्रतीत होने वाले विषयों का विनाश तथा परमानन्द के अभाव की स्थिति का स्मरण करके अत्यन्त मोह होता है जैसे कोई धन सम्पन्न पुरुष दरिद्र होकर अपनी प्रथम सम्पत्ति सम्पन्नता की दशा का स्मरण कर मोह को प्राप्त हुआ करता है वही अवस्था इस समय मेरी है ॥२४॥ ये सांसारिक सम्पदायें सबको वञ्चित किया करती हैं। इनसे मनुष्यों की मनोवृत्ति मोहित हो जाया करती है और अच्छे गुणों का नाश हो जाता है। सम्पदायें दुःखों का जाल-सा फैला दिया करती हैं ॥२५॥ ये विशाल धन-वैभव तो चिन्ताओं के चक्र में फँसाने वाले हैं मुझे इन से तनिक भी आनन्द का आभास नहीं होता है जैसे बहुत से बच्चों को जन्म देने वाली स्त्रियों से परिपूर्ण घर भी उग्र आपत्तियों का ही आलय हुआ करता है ॥२६॥ हे मुनि-वर ! देह एवं विषयोपभोगों की क्षणभंगुरता के कारणों से उनके अनेक दोषों एवं दुर्दशाओं को सोचने से वन में स्वच्छन्द भ्रमण करने वाले हाथी के बाँधे जाने के ही समान मेरे मन को शान्ति एव सुख प्राप्त नहीं होता है॥२७॥ यह अज्ञान घोर अँधेरी रात के ही समान है इसमें भी मोह का कुहरा छाया हुआ है। इसमें लोगों के ज्ञान का प्रकाश एकदम नष्ट हो गया है। ऐसी दशा में दूसरों को दुःख देने में बहुत ही कुशल विषय सैकड़ों की संख्या में चोरों लुटेरों के समान ही विवेक रूपी उत्तम रत्न का अपहरण करने में जी-जान से संलग्न हो रहे हैं। इन विषय रूपी डाकुओं के साथ युद्ध करके इन्हें मार भगाने के लिए तत्व के ज्ञानी पुरुषों को छोड़कर अन्य कौन योद्धा समर्थ हो सकते हैं ? ॥ २८ ॥

त्रयोदश सर्ग

इयमस्मिन् स्थितोदारासंसारे परिकल्पिता ।
श्रीर्मुने परिमोहाय सापिनूनंकदर्थदा ॥१
उल्लासबहुलानंत कल्लोलानमाकुलान् ।
जडान्प्रवहति स्फारान्प्रावृषेवतरंगिणी ॥२
चिंतादुहितरोबह्व्यो भूरिदुर्ललितैधिताः ।
चचलाः प्रसवत्यस्यास्तरंगाः सरितोयथा ॥३
एषाहि पदमेकत्रनंनिवध्नातिदुर्भगा ।
दग्धेवा नियताचारमितश्चेतश्चधावति ॥४
जनयंती परंदाहं परामृष्टांगिकासती ।
विनाशमेवधत्तेंतर्दीपलेखेव कज्जलम् ॥५
गुणागुणविचारेण विनैवकिलपार्श्वगम् ।
राजप्रकृतिवन्मूढा दुरारूढावलंबते ॥६
कर्मणातेन तेनैषा विस्तार मनुगच्छति ।
दोषाशीविषवेगस्य यत्क्षीरंविस्तरायते ॥७

श्रीराम ने कहा— हे मुनिवर ! यदि लक्ष्मी संसार में स्थिर होकर रहती तो अनेक सुखों का साधन होने के कारण यह परम उत्कृष्ट होती किन्तु मूर्ख मनुष्य इसे पाकर ऐसी मिथ्या कल्पना किया करते हैं। यह न तो कभी स्थिर रहती है और न स्थिरता एवं उत्कृष्टता के योग्य ही है। यह तो केवल व्यामोह में फँसाकर दुःखदायिनी ही हुआ करती है ।।१।। वर्षा ऋतु में नदी की ही भाँति इसकी चञ्चल तरङ्गें वायु के झोंकों के समान बढ़ती रहा करती हैं। सम्पत्ति से चिन्ता रूपिणी अनेक पुत्रियाँ उत्पन्न होकर दुष्ट चेष्टाओं से बढ़ती हुई चली जाया करती हैं ।।२।। ।। यह लक्ष्मी शास्त्रविहित सदाचार से शून्य पुरुष के पास पहुँच कर इधर-उधर दौड़ती रहा करती है और एक स्थान पर

टिककर कभी भी नहीं रहती है ॥४॥ परम कष्ट भोगकर प्राप्त की हुई भी यह गुणी धार्मिक लोगों के उपभोग में नहीं आया करती है और गुणागुण का कुछ भी विचार न करके जो भी पार्श्ववर्ती होता है उसी का अवलम्बन कर लिया करती है। यह राजाओं की प्रकृति के ही समान मूढ़ होती है ॥६॥ यह द्यूत-युद्ध वाणिज्य आदि कर्मों से ही दूध पिलाने से सर्पों के विष की ही भाँति ही वृद्धि को प्राप्त हुआ करती है ॥७॥

तावच्छीत मृदु स्पर्शः परेस्वे च जने जनः।
वात्ययेवहिमंयावच्छ्रियानपरुषी कृतः ॥८
प्राज्ञाः शूराः कृतज्ञाश्चपेशला मृदवश्चये ।
पांपुमुष्टयेवमणयः श्रियातेमलिनी कृताः ॥९
नश्रीः सुखायभगवन्दुः खायैवहिवर्द्धते ।
गुप्ताविनाशनंधत्ते मृति विषलता यथा ॥१०
श्रीमानजननिद्यश्चशूरश्चाप्यविकत्थनः ।
समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः ॥११
एषाहिविषमा दुःख भोगिनां गहनागुहा ।
घनमोहगजेन्द्राणां विध्यशैलमहातटी ॥१२
सत्कार्यपद्मरजनीदुःखकैरवचंद्रिका ।
सुदृष्टि दीपिकावात्या कल्लोलौघतरंगिणी ॥१३
संभ्रामा भ्रादिपदवी विषाद विषवर्द्धिनी ।
केदारिकाविकल्पानां खेदायमयभोगिनी ॥१४
मनोरमाकर्षतिचित्तवृत्तिकदर्थं,
साध्याक्षणभंगुरा च ।
व्यालावली गात्र विवृत्त देहाश्च,
श्रोत्थितापुष्यलतेव लक्ष्मीः ॥१५

मनुष्य उसी समय तक अपने और पराये जनों के प्रति कोमल

और शीतल रहा करते हैं अर्थात् दया स्नेह एवं औदार्य का व्यवहार किया करते हैं जब तक वे बलवान वायु के वेग से बर्फ के समान धन वैभव से परम कठोर और असहनीय नहीं बना दिये जाते हैं ।।८।। यह सम्पत्ति का प्रभाव कुछ ऐसा है कि जिस प्रकार से मुट्ठी भर धूल मणियों और रत्नों को मलिन कर देती है ठीक उसी भाँति बड़े २ विद्वान्–शूर–कृतज्ञ–मृदुल और सुन्दर भावों से सुसम्पन्न पुरुषों को भी कलङ्कित कर दिया करता है ।।९।। हे भगवन् ! धन-वैभव सुख के लिये नहीं केवल दुःख देने के लिये ही बढ़ा करता है जिस तरह विष की लता सुरक्षित रख कर भी रक्खी जावे तो भी मौत ही देने वाली हुआ करती है ठीक उसी भाँति यह धन रक्षित रहते हुए भी विनाश का ही कारण बना करता है ।।१०।। इस संसार में ये तीन प्रकार के पुरुष बहुत ही दुर्लभ होते हैं वह जो श्री सम्पन्न होते हुए भी समाज की बुराई का पात्र न हो—स्वयं महान् शूर होकर भी आत्मश्लाघा न करता हो और तीसरा वह जो स्वामी होते हुए भी अपने समस्त समाश्रित सेवकों पर तथा प्रजाजनों पर समभाव बनाये रखता हो ।।११।। यह धन वैभव दुःख रूपी व्यालों के लिये परम गहन गुफा होता है एवं मोह रूपी गजेन्द्रों के लिए विन्ध्याचल की महा विशालतर भूमि है ।।१२।। यह सम्पत्ति सत्कर्म रूपी कमलों को संकुचित कर देने वाली निशा के समान होती है और दुःख रूपी कुमुदों के विकास करने के लिए चाँदनी का प्रभाव रखती है तथा सद्बुद्धि रूपी दीपक को बुझाने एवं नष्ट करने के लिए वायु के झोंकों का कार्य किया करती है ।।१३।। यह धन-वैभव भय तथा भ्रान्ति रूपी मेघों की उत्पत्ति एवं वृद्धि करने वाला है एव विषाद रूपी विष को बढ़ाने वाला हुआ करता है । धन–सम्पत्ति अनेक संशयों की खेती के लिए अर्थात् बहुत से विकल्पों को पैदा करने के लिये क्यारी के समान है । धन से नाना प्रकार के संशय समुत्पन्न हुआ करते हैं ।।१४।। सम्पद मनोरम होने के कारण मनुष्यों की चित्तवृत्ति को अपनी ओर खींच

लिया करती है और बहुधा अनर्थकारी कर्मों के द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है और क्षणभर में ही अर्थात् कुछ ही समय में नष्ट हो जाने वाली है। यह लक्ष्मी कुछ समय ही के लिये व्यालों से आवृत पुष्पों की लता के समान रहा करती है जोकि प्रातःकाल में ही दिखलाई देती है ॥ १५ ॥



चतुर्दश सर्ग

आयुः पल्लव कोणाग्रलंवांकण भंगुरम् ।
उन्मत्तमिवसत्यज्ययात्यकांडेशरीरकम् ॥१
विषयांशीविषासंग परिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रोढ़ात्म विवेकानामायुरायास कारणम् ॥२
येतुविज्ञात विज्ञेया विश्रांतावितते पदे ।
भावाभाव समाश्वासमायुस्तेषांसुखायते ॥३
वयं परिमिताकार परिनिष्ठितनिश्चयाः ।
संसाराभ्रतडित्पु जेमुनेनायुषि निर्वृ ताः ॥४
युज्यतेवेष्टनंवायोराकाशस्य च खडनं ।
ग्रथनं च तरंगाणामास्थानायुषियुज्यते ॥५
पेलवंशरदीवाभ्रमस्नेह इव दीपकः ।
तरंगकइवालोलंठातमेघो पलक्ष्यते ॥६
तरंगप्रतिविम्वेन्दुतवाडित्पु जंभोंवुजम् ।
ग्रहीतु मास्थां वघ्नामिनत्वायुषि ह्वस्थितो ॥७
अविश्रांतमनाः शून्यमायुराततमीहते ।
दुःखायैव विमूढ़ोंतर्गर्भमश्वतरीयथा ॥८

श्रीराम ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! मनुष्य की आयु पत्ते के एक कोने पर लटकते हुए जल के विन्दु के ही समान स्थिरता रहित है। वह

तो असमय में ही एक उन्मत्त पुरुष की भाँति इस शरीर को छोड़कर चल दिया करती है ॥ १ ॥ सांसारिक विषयों ने विषधरों के सम्पर्क के ही समान जिन मनुष्यों के चित्त एवं शरीर को पूर्णतया जर्जरित कर दिया है और जिनमें परम प्रौढ़ आत्म-विवेक का सर्वथा अभाव है ऐसे उन लोगों की आयु भी उन्हें क्लेशकर ही हुआ करती है ॥ २ ॥ जो जानने के योग्य परब्रह्म परमात्मा को जान गये हैं और उसके पद में प्रतिष्ठित हैं ऐसे महापुरुषों की आयु हानि-लाभ, दुःख-सुख में चित्त को सम भाव से सुस्थिर रखने वाली होने के कारण से ही सुख देने वाली हुआ करती है ॥ ३ ॥ हे महर्षे ! हम सब लोग अपना ऐसा ही निश्चय माने हुए हैं कि यह आत्मा इस नपे तुले परिमित शरीर में ही है। अतएव इस संसार रूपी मेघ में बिजली के समान चमक कर छिप जाने वाली आयु में हमको सुख नहीं मिलता है क्योंकि यह क्षण भंगुर है ॥ ४,५ ॥ लहर—जलादि में प्रतिबिम्बित चन्द्र—विद्युत्पुञ्ज और आकाश कमल को, जो सर्वथा असम्भव है, मैं हाथों से ग्रहण करने में तो विश्वास भी कर सकता हूँ किन्तु इस सर्वथा अस्थिर आयु पर मेरा लेश मात्र भी विश्वास नहीं है ॥ ६, ७ ॥ विश्रान्ति से रहित मन वाले लोग जो अपनी बहुत लम्बी चौड़ी शून्य आयु की इच्छा किया करते हैं वे केवल दुःखों को भोगने के लिये हैं जैसे खिच्चरी का गर्भ धारण करना उसकी मृत्यु का ही कारण हुआ करता है क्योंकि उदर विदीर्ण करके ही उसके गर्भ को निकाला जाता है ॥८॥

ससार संसृतावस्यां फेनोस्मिन्सर्ग सागरे ।
कायवल्लयांमसोब्रह्मन् जीवित मेनरोचते ॥९
प्राप्यं प्राप्यतेयेन संभूयोयेन नशोच्यते ।
परायानिर्वृ तेः स्यानं यत्तज्जीवित मुच्यते ॥१०
तरवोपिहि जीवंति जीवंति मृगपक्षिणः ।
सजीवतिमनोयस्य मननेन न जीवति ॥११

जातास्तएव जगति जंतवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेहिजायंते शेषाजरठगर्दभाः ॥१२
भारोविवेकनः शास्त्रंमारोज्ञानं च रागिणः ।
अशांतस्य मनोमारोमारोनात्म विदोवपुः ॥१३

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस देह रूपी लता का इस संसार में भ्रमण करना जल के विकार स्वरूप फेन के ही समान अत्यन्त अस्थिर है। अतएव मुझे यह जीवन ही रखना अच्छा नहीं लगता है ॥ ९ ॥ मानव जीवन में आवश्यक रूप से परम पुरुषार्थ स्वरूप जो प्राप्त करने के योग्य है उसको जो प्राप्त कर लिया करता है जो कि परम सुख का स्थान है उसी मानव का जीवन सार्थक एवं सफल माना जाता है ॥१०॥ यों तो जड़, वृक्ष और पशु—पक्षियों का गण भी जीवित रहा करता है, किन्तु इनके हू. जीवन का रखना सर्वथा तुच्छ ही होता है। वास्तविक जीवन तो वही है जो वासना का क्षय तत्त्व बोध के द्वारा मननपूर्वक किया करते हैं अन्यथा यह जीवन व्यर्थ ही होता है ॥ ११ ॥ उनका ही जीवन प्रशस्त होता है जो इस जीवन को प्राप्त कर परम निवृत्ति को प्राप्त किया करते हैं और पुनः जन्म धारण नहीं करते हैं। शेष तो गर्दभों के ही समान चिरकाल तक व्यर्थ ही जीवन धारण किया करते हैं ॥१२॥ विवेक से शून्य पुरुष का शास्त्रों का अध्ययन भार ही है—रागी का ज्ञान भार होता है—जिसके मन को शान्ति नहीं प्राप्त होती है उस अनात्मवेत्ता का मन और शरीर सभी भार ही होता है ॥१३॥



पञ्चदश सर्ग

मुधैवाभ्युत्थितोमोहान्मुधैवपरिवर्द्धते ।
मिथ्याम येनमीतोस्मिदुरहंङ्कार शत्रुणा ॥१
अहंकारवशादेव दोष कोशकदर्थताम् ।
ददाति दीनदीनांनांसंसरो विविधा कृतिः ॥२

अहंकार वशादापदहंकारादुराधयः ।
अहंकारवशादीहात्वह कारोममानयः ॥३
तमहंकार माश्रित्यपरमं चिरवैरिणम् ।
नभुंजेनपिवाम्यंमः किमु भोगान्भुजेमुने ॥४
ससाररजनीदीर्घा मायामनसिमोहिनी ।
तताहंकारदोपेण किराते नेत्रवागुरा ॥५
यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणिमहांति च ।
अहंकारात्प्रसूप्तानितान्य गात्खदिराव ॥६
शमेंदुसैंहि केयास्यं गुणपद्महिमाशनिम् ।
साम्यमेचरत्कालअहंकारं त्यजाम्यहम् ॥७
नाहंरामोन मेवांछा भावेषु नचमेमनः ।
शांत आसितु मिच्छामिस्वात्मनीव जिनोयथा ॥८
सर्वापदांनिलयम ध्रुवमंतरस्थमु,
न्मुक्तमुत्तमगुणेनसंश्रयामि ।
यत्रादहं कृतिपदं परितोतिदुःखं
शेपेणमांसमनुशाधि महानुभाव ॥९

श्रीराम ने कहा—हे मुनिवर ! संसार में अहङ्कार बड़ा ही भयानक शत्रु के समान है। इससे बड़े २ अनर्थ हो जाते हैं। यह मोह के कारण ही उत्पन्न होता है और अज्ञान से ही इसकी वृद्धि हुआ करती है—मैं इससे बहुत ही भयभीत हूँ।. १ ॥ इस व्यर्थ अहङ्कार से ही अन्य अनेक दोषों की उत्पत्ति होकर मनुष्य कुत्सित हो जाता है। विषयों में लम्पट लोगों का यह संसार विभिन्न स्वरूप वाला है ॥ २ ॥ अहङ्कार से ही अनेक शारीरिक आपत्तियों का उद्गम हुआ करता है तथा मानसिक चिन्ताऐं भी अहङ्कार के कारण मनुष्य को घेरे रहा करती हैं। समस्त दुश्चेष्टऐं और मानसिक विकृत्तियाँ भी अहङ्कार से होती हैं ॥ २ ॥ यह अहङ्कार लोगों का चिर शत्रु है। मैं भी उसी का आश्रय ग्रहण कर भोजन और पान नहीं करता हूं - हे मुनिवर ! ये सभी भोग व्यर्थ हैं।

इनसे क्या लाभ है ? ॥ ४ ॥ अहङ्कार के दोष से इस संसार रूपी अन्ध-कार पूर्ण रात्रि में प्राणियों को मोह मुग्ध बना देने वाली विशाल माया का जाल बिछा हुआ है ॥ ५ ॥ जितने भी इस संसार में महान् विपद एवं दीर्घ दुःख हैं वे सभी इस अहङ्कार से ही समुत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे पर्वत से खदिर वृक्ष उपज जाया करते हैं। दुःख मात्र का मूल अहङ्कार ही है ॥ ६ ॥ न तो राम नामधारी मैं कुछ हूं—न मेरी कुछ इच्छा है और न मेरा मन किसी भी ओर जाया करता है—इस तरह मैं अहङ्कार का त्याग करके उद्वेग रहित होता हुआ परम शान्त भाव से रहता हूँ जिस प्रकार से बुद्ध अहिंसा परायण होकर रहा करते हैं ॥८॥ हे महानुभाव ! जो सब आपदाओं का आश्रय है तथा उत्तम गुणों से रहित हृदय के अन्दर निवास किया करता है उस अनित्य अहंकार की अधीनता में रहना नहीं चाहता हूं। मुझे यह विवेक हो गया है कि यह अहंकार सभी प्रकार से दुःख स्वरूप ही होता है। इस विषय में जो भी मेरा कर्त्तव्य शेष रहा हो उसका अब उपदेश प्रदान करें ॥९॥



षोडश सर्ग

दोषैर्जर्जरतां याति सत्कार्यादार्य सेवनात् ।
वातांतः पिच्छलववच्चेतश्चलति चंचलम् ॥१
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थं मेवाभि धावति ।
दूरादूरतरंदीनं ग्रामेकौलेयको यथा ॥२
नाप्राप्नोतिक्वचित्किंचित्प्राप्तैरपि महाघनैः ।
नांतः सपूर्णतामेतिकरंडक इवांबुभिः ॥३
नित्यमेव मुनेशून्यं कदाशावागुरावृतम् ।
नमनोनिर्वृतियाति मृगो यूथादिवच्युत ॥४
तरंगतरलां वृत्ति दधदालून शीर्णताम् ।

उनमें कभी भी स्थिरता नहीं आती है। मनुष्य अज्ञान के कारण ही अपने आपको संतप्त मानकर व्यग्र रहा करता है ॥७॥

वह्नेरुष्णतरः शैलादपि कष्टतरक्रमः ।
वज्रादपि दृढ़ो ब्रह्मन दुर्निग्रह मनोग्रहः ॥८
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव ।
क्षणेन विरतिंयाति बालः क्रीडनकादिव ॥९
सकलगुणजयाशा यत्र बद्धा महद्भि
स्तमरिमिहविजेतुं चित्तमभ्युथितोहम् ।
विगतरतितयां तन्नाभिनंदामि लक्ष्मीं
जड़मलिन विलासांमेघलेखामि वेंदुः ॥१०

हे मुनिवर ! यह मनरूपी पिशाच अग्नि से भी अधिक उष्ण है और सर्वदा सन्ताप दिया करता है। इसके ऊपर अधिकार प्राप्त करके वश में कर लेना पर्वत पर चढ़ने से भी ज्यादा कठिन है और यह वज्र से भी अधिक कठोर है। मन के ऊपर नियन्त्रण करना बहुत ही कठिन कार्य है ॥ ८ ॥ मांस भक्षण करने के ही समान यह मन भी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए विषयों की तरफ दौड़ जाया करता है। छोटे बालक को खिलौना देखते ही तुरन्त ललक सी उत्पन्न होती है और फिर कुछ ही समय के बाद वह जैसे उससे अपना मुँह फेर लिया करता है ठीक उसी भाँति प्राप्त हुए विषय से क्षण-मात्र में ही मन विरत होकर दूसरे नित नये विषयों की खोजकर उनकी ओर लपकता रहता है ॥ ९ ॥ महापुरुष सर्वदा शमदमादि समस्त सद्गुण गणों के स्वाधीन होने की आशा करते हैं उसी तरह मैं भी इस शत्रु चित्त पर विजय पाने की आशा रखकर उद्यत हुआ हूँ। जिस तरह चन्द्रमा कभी मेघमाला का अभिनन्दन नहीं करता है उसी भाँति तीव्र वैराग्य सम्पत्ति से युक्त होकर मैं भी इस जड़—मलिन विलास वाली लक्ष्मी का कभी अभिनन्दन नहीं किया करता हूँ ॥ १० ॥

—o—o—

अधिक बढ़ा करती है जिस तरह समुद्र में हलचल उत्पन्न करने वाली लहरें उठा करती हैं उसी तरह अन्तःकरण को तृष्णा अत्यन्त चलायमान बना दिया करती है ॥ ४, ५ ॥ यद्यपि यह चित्त रूप चातक इस बढ़ी हुई तृष्णा के रोकने के लिये बहुत-सी तरह २ की चेष्टाऐं किया करता है तो भी सड़े-गले तिनके की आंधी की ही भाँति यह कलंकिनी तृष्णा कहाँ से कहाँ तक अयोग्य दशा में पहुँचा दिया करती है ॥ ६॥

दूरं दूर मितोगत्वासमेत्य च पुनः पुनः ।
भ्रमत्याशुदिगंतेषु तृष्णोन्मत्तातुरंगमी ॥७
पुत्रमित्रकलत्रादितृष्णया नित्य कृष्टया ।
खगेष्विवकिरात्येदंजालं लोकेषु रच्यते ॥८
रोगार्त्तिगना तृष्णागंभीररं मपिमानवम् ।
उत्तानतांनयंत्याशु सूर्यांश व इवांबुजम ॥९
अपिमेरुसमंप्राज्ञमपि शूर मपि स्थिरम् ।
तृणीकरोति तृष्णे कानिमेषेण नरोत्तमम् ॥१०

मनुष्य के हृदय में स्थिति रहने वाली यह तृष्णा उन्मत्त हुई घोड़ी के ही समान दूर-दूर तक दौड़ लगाकर भी पुनः तुरन्त ही लौट आया करती है और फिर भी अति शीघ्र दशों दिशाओं के अन्त तक चक्कर काटा काटा करती है ॥ ७ ॥ यह समाकर्षण करने के स्वभाव वाली तृष्णा मनुष्यों को फँसाने के लिये ही संसार में दारा—पुत्र और मित्र प्रभृति की परम्पराऐं चिड़ीमार की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिये जाल की रचनाऐं करने के समान ही निरन्तर किया करती है॥८॥ जिस तरह से सूर्य की किरणें कमलों का विकास करके उनको अत्यधिक उत्तान कर दिया करती हैं ठीक उसी भाँति अत्यन्त गम्भीर और धैर्य-शाली पुरुष को भी रोगों की पीड़ा—अङ्गना और यह तृष्णा अधीर बना दिया करती हैं ॥ ९ ॥ हे महर्षे ! मेरु पर्वत के समान अत्यधिक

त्पन्न हो जाया करती है। यह स्वयं जड़ होते हुए भी जड़ता का ज्ञान रखने वाला है। मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थ प्राप्त करने का साधन होने से भव्य भी है और अविवेक एवं मोह का आधार होने के कारण महान् मूढ़ है। इस देह के समान गुणहीन एवं शोचनीय—अधम अन्य कोई भी नहीं है ॥ २, ३, ४ ॥ इस देहरूपी वृक्ष की सुन्दर कान्ति ही छाया है और जीवात्मा रूपी राहगीरों का यह विश्राम करने का स्थान है जो स्वल्प समय के पश्चात् इसे त्याग कर चले जाया करते हैं। इस देह को किसका आत्मीय अर्थात् अपना कहा जावे और किसका पराया कहा जावे। इस अनित्य एवं अस्थाई शरीर पर आस्था और अनास्था ही क्या की जा सकती है ॥५॥ विविध वासनाओं के जाल ही जिसका मूल है जिसके कारण से दुरुच्छेद स्वरूप वाला तथा अनेक प्रकार के भ्रम से प्रिय संस्पर्श से रहित यह शरीर रूपी वृक्ष मुझे सुखकर प्रतीत नहीं होता है ॥६॥

कलेवरमहंकार गृहस्यस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्ये तु वास्थैर्यं किमनेन मुने मम ॥७
समस्वरोगायतनंवलीपलितपत्तनम् ।
सर्वाधिसार गहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥८
किं श्रिया किं चराज्येन किं कायेन किमीहितैः ।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृंतति ॥९
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यंतरंमुने ।
नाशैक धर्मिणो ब्रूहि कैवकायस्यरम्यता ॥१०
मरणावसरे कायजीवंनानु सरंतिये ।
तेषुतातकृतघ्नेष कैवास्थावदधीमताम् ॥११

अहंकार रूपी गृहस्थी का विशाल गृह यह शरीर भूमि पर पतित हो जावे तथा अस्थिरता को भले ही प्राप्त हो जावे। हे मुनिवर! मुझे इस शरीर से क्या प्रयोजन है? अर्थात् मैं इस कलेवर को कुछ भी

परवाह नहीं किया करता है चाहे यह नष्ट होकर रहे वा न रहे ॥७॥ अनेक प्रकार के रोगों का घर शरीर होता है। इसके केश श्वेत होकर पक जाया करते हैं और इसमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। विविध दुःखों के भोगने के लिये परम गहन अरण्य है। यह देहरूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है ॥८॥ यह महा काल सभी का उच्छेद करने वाला विद्यमान है तो फिर स्वल्प समय के लिये स्थित रहने वाले धन-वैभव, राज्य शरीर और मनोरथों से क्या प्रयोजन है अर्थात् सभी निस्सार हैं ॥९॥ हे मुनिवर! बाहिर—भीतर रक्त और मांस का लोथड़ा तथा विनाश के धर्म वाले इस शरीर में क्या सौन्दर्य एवं आकर्षण है?—आप ही बतलाइये ॥१०॥ ये शरीर ऐसे कृतघ्न हैं कि जिन जीवों ने बड़े ही प्यार से इसका पोषण करके सुरक्षित रक्खा था मृत्यु के अवसर पर उन जीवों का भी अनुसरण किया करते हैं। हे तात! ऐसे शरीर में आप ही बतलाइये किन भावना की आस्था हो सकती है ॥११॥

मुक्तापीत्वाचिरंकाल बालपल्लव पेलवाम् ।
तनुर्नामेत्ययत्नेन विनाश मनुधावति ॥१२
सुचिरं प्रभुतां कृत्वा संसेव्यविभवश्रियम् ।
नोच्छायमेतिनस्थैर्यंकाय: किमिति पाल्यते ॥१३
जराकालेजरामेति मृत्युकालेतथामृतिम् ।
समएवविशेषज्ञ: कायोभोगिदरिद्रयो: ॥१४
नकिंचिदपिहृदयेस्मिन्सत्यं तेन हृतात्मना ।
चिरंदग्ध शरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥१५

चिरकाल पर्यन्त खूब अच्छी तरह खाने—पीने के बाद भी यह शरीर नवीन एवं कोमल पत्तों के ही समान थोड़े से ही झटके पाकर तुरन्त विनाश की ओर दौड़ा करता है चाहे कितना भी इसके ठीक बनाये रखने का यत्न क्यों नहीं किया जावे ॥ १२ ॥ अत्यधिक समय मात्र पर अपनी प्रभुता जमाकर तथा सम्पदा का सुखोपभोग करके

से न तो यह कोई उत्थान को प्राप्त होता है और न इसमें स्थिरता ही आती है। ऐसे शरीर के पालन-पोषण के करने से क्या लाभ है? ॥१३॥ हे कोई कितने ही सुखोपभोग करने वाला धनी हो या कोई दुःखों में हुआ दरिद्र हो—दोनों का शरीर समान ही होता है। सबको समय पर बुढ़ापा होता है और मौत भी सबको आया करती है॥ १४॥ इस दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् में कुछ भी सत्य एवं स्थिर नहीं है। सभी एक न एक दिन नाश को प्राप्त होने वाले हैं। यह शरीर भी उसी तरह से अनित्य है। इस शरीर का स्वयं दाह करके भी मनुष्य इसमें इतना मोहित रहा करता है और वञ्चित होता है—यही बड़े आश्चर्य की बात है॥ १५॥



एकोनविंश सर्ग

लब्ध्वापि तरलाकारेकार्यंमार तरंगिणि।
संसार सागरे जन्म बाल्यंदुःखायकेवलम् ॥१
अशक्ति रापदस्तृष्णा मूकतामूढ़बुद्धिता।
गृध्नुतालोलतादैन्यं सर्वं बाल्येप्रवर्त्तते ॥२
रोषरोदन रौद्रासुदैन्यजर्जरितासु च।
दशासुबंधन बाल्यमालानं करिणामिव ॥३
तिर्यग्जातिसमारम्भः सर्वैरेवावधीरितः।
लोलोबालसमाचारो मरणादपिदुःखदः ॥४
जलवह्नयनिलाजस्त्र जातभीत्या पदे पदे।
यद्भयं शैशवेऽबुद्धया कस्यारदिहितद्भवेत् ॥५
बाल्यंरम्यमितिव्यर्थं बुद्धयः कल्पयंतिये।
तान्मूर्खगुरुषान्ब्रह्मन्धिगस्तुहतचेतसः ॥६
सर्वेषामेवसत्वानांसर्वावस्थाम्य एवहि।

मनश्चञ्चलतामेति बाल्येदशगुणमुने ॥७

श्री राघवेन्द्र जी ने कहा—हे मुनीश्वर ! अनेक प्रकार के कार्यों के अभिनिवेशों वाले—नाशवान् चार प्रकार के शरीरों से पूर्ण इस संसार रूपी सागर में मनुष्य का जन्म प्राप्त करके भी इस अत्यन्त दुर्लभ मानव जीवन में भी बाल्यकाल केवल दुःखप्रद ही होता है ॥१॥ कार्य करने की असमर्थता—अनेक आपत्तियाँ—तृष्णा—मूकता—मूढ़ बुद्धि का होना—खिलौनों की अभिलाषा—चञ्चलता—दीनता आदि अनेक दोषों का बहुल्य इस बचपन की ही अवस्था में हुआ करता है ॥ २ ॥ गजों के आलान के ही समान क्रोध—रुदन—हठ—दीनता और पीड़ा आदि की दशाओं में बाल्यकाल पूर्णतया बन्धन से युक्त हुआ करता है ॥ ३ ॥ बचपन में पशु-पक्षियों की-सी चेष्टाऐं हुआ करती हैं। सभी लोगों के द्वारा बालक का तिरस्कार कर दिया जाता है। बालक की चपलता से भरी हुई चेष्टाऐं मौत से भी अधिक दुःखदायिनी हुआ करती हैं ॥४॥ बालकपन में अज्ञान रहने के कारण जल—अग्नि—वायु से निरन्तर कष्ट होता रहा करता है और पग-पग पर भय बना रहता है। ऐसा भय आपत्ति काल में भी शायद किसी को होता होगा ॥ ५ ॥ बचपन परम सुन्दर होता है—ऐसी कल्पना निरर्थक बुद्धि वाले ही लोग किया करते हैं। हे ब्रह्मन् ! ऐसे विचार वाले मनुष्य पूर्णतया हतबुद्धि वाले ही हैं। उनको धिक्कार ही है ॥६॥ सभी प्राणियों की सभी दशाओं में मन परम चंचल हुआ करता है किन्तु हे मुनिवर ! वही चञ्चल मन बालक का दश गुना चञ्चलता वाला हुआ करता है ॥ ७ ॥

सर्वाणिदुःखभूतानिसर्वदोषादुराधयः ।
बालमेवोपजीवंतिश्रीमंतमिव मानवाः ॥८
नवंनवंप्रीतिकरंनशिशुः प्रत्यहं यदि ।
प्राप्नोति तदसौयाति विषवेषम्यमूर्छनाम् ॥९
स्वोकेनवशमायाति स्तोकेनैतिविकारिताम् ।

अमेध्यएवरमतेबालः कौलेयको यथा ॥१०
अंतश्चित्तेर शक्तस्यशीतातप निवारणे।
कोविशेषोमहाबुद्धे बालस्योर्वीरुहस्तथा ॥११
सकलदोषदशाविहताशयंशरणमप्यविवेक विलासिनः।
इहनकस्य चिदेव महामुने भवति
बाल्यं मलं परितुष्टये ॥१२

बहुत-से दुःख और दुर्व्यसन—समस्त दोष और मानसिक व्यथाएँ बालक में ही रहा करती हैं जैसे धन सम्पन्न पुरुष के सभी मनुष्य समाश्रय को ग्रहण किया करते हैं।८। यदि छोटा बच्चा नित नये प्रीति उत्पन्न करने वाले पदार्थ प्रतिदिन प्राप्त नहीं किया करता है तो उसके चित्त में बड़ी विपत्ति हो जाया करती है जिससे वह विषम मूर्छा को प्राप्त हो जाता है ॥९॥ बालक की वृत्ति कुत्ते के समान ही हुआ करती है और सर्वत्र अपवित्र स्थान में ही रमण करना और खेलना पसन्द किया करता है। वह थोड़ा सा खिलाने एवं पुचकार करने से वशीभूत हो जाता है तथा थोड़ा सा घुड़काने एवं छड़ी दिखाने से भयभीत और बिगड़ने वाला हो जाया करता है ॥१०॥ बालक ठीक जड़ वृक्ष के समान होता है जो मन में अन्दर शीतातप आदि के दुःख का अनुभव करने पर भी उनके निवारण करने का सामर्थ्य नहीं रखता है हे महान् बुद्धि वाले ! वृक्ष से बालक में क्या विशेषता है ? ॥११॥ सम्पूर्ण दोषों से दूषित अन्तःकरण वाला, अज्ञान के कारण निरंकुश होकर विहार करने के स्वभाव से युक्त यह बचपन किसी को भी सुख देने वाला नहीं होता है ॥१२॥



विंश सर्ग

वाल्यानर्थमथत्यक्त्व पुमानामिहताशयः।
आरोहतिनिपाताय यौवनं संभ्रमेणतु ॥१

तत्रानंत विलासस्य लोलस्यस्वस्य चेतस: ।
वृत्तीरनुभवन्याति दु:खाद्दु:खांतरंजड: ॥२

स्वचित्त बिल संस्थेन नाना संभ्रमकारिणा ।
बलात्कामपिशाचेनविवश: परिभूयते ॥३

निमेष भा सुराकार मालोल घनगर्जितम् ।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते ॥४

मधुरं स्वादुतिक्तं च दूषणं दोषभूषणम् ।
सुराकल्लोल सदृशं यौवनं मे न रोचते ॥५

श्रीराम चन्द्र ने कहा—हे महर्षि प्रवर ! बाल्यावस्था समाप्त होने पर फिर मनुष्य बचपन के दोषों का त्याग कर देता है और फिर वह भोगों का उपभोग करने के लिये बड़े उत्साह और भ्रम अथवा काम-देव रूपी पिशाच से दूषित चित्तवाला होकर नरक में गिरने के लिये ही यौवन पर समारूढ़ हो जाया करता है ॥१॥ इस यौवन की दशा में यह मूर्ख मनुष्य बेहद विलासों से परिपूर्ण चेष्टाओं वाले चञ्चल चित्त की राग-द्वेष आदि कुवृत्तियों का अनुभव करता हुआ एक दु:खसे दूसरेदु:ख को प्राप्त होता रहता है ॥२॥ मन रूपी गुहा में संस्थित अनेक तरह की भ्रान्तियाँ समुत्पन्न करके वाला यह काम रूपी पिशाच अपने वश में हो जाने वाले मनुष्य का बलपूर्वक तिरस्कार किया करता है ॥३॥ क्षण मात्र के समय में प्रकाश देने वाला—चञ्चल मेघों की गम्भीर गर्जना (अहङ्कार से भरे हुए वचन) से व्याप्त रहने वाला तथा बिजली भाँति चमक कर छिप जाने वाला है वह अनेक दोषों से भरा हुआ अशुभ यौवन भी मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होता है ॥४॥ यह विविध भोगों के उपभोग करने के समय में अत्यन्त मधुर-मनोरम एवं स्वादिष्ट प्रतीत होता है और परिणाम में दु:खप्रद होने के कारण कटु लगा करता है। यह यौवन अनेक दोषों से परिपूर्ण है और नाना दोषों का

आभूषण है एवं मदिरा के विलास के तुल्य मोह पैदा करने वाला है—ऐसा यौवन मुझे कभी भी अच्छा नहीं लगता है ॥५॥

येकेचनसमारंभास्ते सर्वसर्व दुःखदाः
तारुण्ये संनिधियांति महोत्पाताइवक्षये ॥६
कांतावियोग जातेन हृदिदुःस्पर्शवह्निना।
यौवने दह्यतेजंतुस्तरु र्दावाग्निना यथा ॥७
सुनिर्मलापि विस्तीर्णापावन्यपिहियौवने।
मतिः कलुषतामेतिप्रावृषीवतरंगिणी ॥८
उद्बोधयति दोषालिंविकृततिगुणावलिम्।
नराणां यौवनोल्लासो विलासोदुष्कृतश्रियाम् ॥९
दिनानिकतिचिद्येयं फलितादेहजंगले।
युवता शरदस्यांहिनसमाश्वासमर्हंथ। १०

आरम्भ में प्राप्त होने के ही समय में अत्यन्त सुन्दर लगने वाला तथा शुभ एवं सुन्दर भावनाओं से रहित अन्तःकरण वाला और वैश्या-स्त्री के सङ्गम के समान परम घृणित यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगा करता है जिस तरह से महाप्रलय के समय में सभी को दुःख देने वाले बड़े २ उत्पात सभी ओर से उमड़ कर उठा करते हैं उसी तरह से इस यौवनावस्था में सबको दुःख देने वाले सभी आयोजन मनुष्यों के समीप में आजाया करते हैं ॥६॥ युवावस्था में ऐसा मोह उत्पन्न हो जाया करता है जो सभी मङ्गलमय आचारों को भुला दिया करता है और बुद्धि को एकदम कुण्ठित कर देने वाले अत्यधिक भ्रम को पैदा कर देता है। दावाग्नि के द्वारा वृक्षों को दग्ध कर देने के ही समान युवा-वस्था में मनुष्य अपनी प्रियतमा के वियोग की असह्य शोक की अग्नि से मन ही मन में अहर्निश जलता रहा करता है ॥७॥ वर्षा ऋतु में नदी के ही समान अत्यन्त निर्मल, विशाल और परम पवित्र भी बुद्धि युवावस्था प्राप्त होने पर कलुषित हो जाया करती है और यौवन

का व्यामोह पूर्ण म.ामद सम्पूर्ण विवेक एवं बुद्धि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया करता है ॥८॥ यह यौवन का उल्लास एवं विकास अनेक दोषों के समुदाय को जाग्रत कर दिया करता है अर्थात् युवावस्था में मानवों में बहुत से दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं और जो भी स्वाभाविक सद्गुण गण होते हैं उनके समूह का समूलोन्मूलन कर दिया करता है। इसीलिये इस यौवन को पापों के वैभव का विलास कहा जाता है ॥ ९ ॥ यह यौवन इस मानव के देहरूपी जङ्गल में स्वल्प समय के ही लिये प्रकाश में आने वाली शरत् ऋतु के समान है। मनुष्यों को इस पर तनिक भी आस्था नहीं करनी चाहिए ॥१०॥

अस्त्येवप्रयात्येव शरीराद्युवता खगः।
क्षणे नैवाल्पभाग्यस्य हस्ताच्चिंतामणिर्यथा ॥११
यदायदापरांकोटि मध्यारोहतियौवनम्।
वल्गंतिसज्वराः कामास्तदानाशाय केवलम् ॥१२
हर्षमायातियो मोहात्पुरुषः क्षणभंगिना।
यौवनेनमहामुग्धः सवैनर मृगस्मृतः ॥१३
मानमोहान्मदोन्मत्तं यौवनं योमिलष्यति।
अचिरेणसदुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते ॥१४
ते पूज्यास्ये महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवन संकटात् ॥१५

जिस तरह से भाग्यहीन पुरुष के हस्तगत हुई चिन्तामणि क्षण भर में ही हाथ से निकल कर गुप्त हो जाया करती है ठीक उसी भाँति मद-यौवन रूपी पक्षी इस मानव के श रीर से कुछ ही समय में शीघ्र ही उड़ जाया करता है ॥१ ॥ जिस-जिस समय में यह युवावस्था अपनी चरम सीमा पर समारूढ़ हो जाया करती है तभी तब ये सन्ताप से परिपूर्ण कामनाऐं केवल मानव के महानाश के लिये ही बढ़ने अथवा नृत्य करने लगती हैं ॥१२॥ जो महामूढ़ पुरुष इस स्वल्प समय के लिये समा-

गत होने वाले यौवन से मोहवश परम प्रसन्नता प्राप्त किया करता है वह मनुष्य साक्षात् पशु ही के समान हुआ करता है ।।१३।। जो पुरुष अभिमान और अज्ञान के वश होकर इस मद से उन्मत्त रहने वाली युवावस्था की अभिलाषा करता है या इसे पाकर प्रसन्न होता है उस दुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य को शीघ्र ही पश्चात्ताप करने का भागी होना पड़ता है ।।१४।। इस भू मण्डल में वे ही महात्मा पुरुष पूजा के योग्य हैं जो इस महान् निन्दनीय यौवनरूपी सङ्कट से सुखपूर्वक बिना दोषोत्थापन के पार होकर बेदाग निकल चुके हैं ।।१५।।



एकविंशति सर्ग

मांस पांचालि कायास्तुयंत्रलोलेंग पंजरे ।
स्नाय्वास्थि ग्रंथिशालिन्याः स्त्रियाः किमिवशोभनम्॥१
त्वङ्मांसरक्त वाष्पांबु पृथक्कृत्वाविलोचनम् ।
समालोकयरम्यं चेत्किमुपापरिमुह्यसि ।।२
इतः केशाइतारेक्तमितीयं प्रमदा तनुः ।
किमेतया निंदितयाकरोति विपुलाशयः ।।३
वासोविलेप नैर्यानिलालितानि पुनः पुनः ।
तान्यं गान्यं गलुण्ठतिकव्यादाः सर्वदेहिनाम् ।।४
मेरुश्रृंग तटोल्लासि गंगाजलरयोपमा ।
दृष्टायस्मिन् स्तनेमुक्ताहारस्योल्लासशालिता ।।५
श्मशानेषुदिगन्तेषु स एव ललना स्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिंडइवांध सः ।।६
रक्तमांसास्थिदिग्धानिकरमस्य यथावने ।
तथैवांगा निकामिन्यास्तां प्रत्यपिहिकोग्रहः ।।७

श्रीराम ने कहा—कामिनी की कमनीयता पर व्यर्थ ही पुरुषों

को भ्रम हुआ करता है। स्त्री के शरीर में जो कि शकट आदि यन्त्र के समान चञ्चल है ऐसी शोभा की क्या अधिक वस्तु है। यह एक मांस, अस्थि, स्नायु आदि के द्वारा निर्मित हुई प्रतिमा मात्र है ॥ १ ॥ यदि त्वचा—मांस—रक्त आदि में कोई रमणीयता है तो स्त्री में भी हो सकती है और उक्त पदार्थों में कुछ भी शोभानता नहीं है तो फिर उन्हीं से गढ़ी हुई स्त्री में भी कोई सौन्दर्य नहीं है। व्यर्थ ही सुन्दरता का भ्रम हो रहा है ॥ २ ॥ युवती के शरीर में केश—गौरवर्ण और मांस ही तो हैं। इनके अतिरिक्त अन्य क्या है? जो विशाल विवेक से समन्वित हृदय वाले हैं उनको इस परम निन्दित नारी के शरीर से क्या मोह हो सकता है? ॥ ३ ॥ हे समादरणीय मुनिवर! बेश कीमती वस्त्र-भूषण और केशर-कस्तूरी आदि के विलेपनों के द्वारा जिनको सुसज्जित कर परम प्रीति का प्रदर्शन किया गया था उन्हीं दुलार किये हुए समस्त देहधारियों के अङ्गों को एक ऐसा समय भी आता है कि गीध—गीदड़ प्रभृति मांसाहारी जीव नोंच-नोंच कर घसीटा करते हैं ॥ ४ ॥ नारी के जिस सुन्दर समुन्नत स्तनमण्डल पर मेरु शिखर से प्रवाहित गङ्गाजल की धारा के सदृश स्वच्छ—शुभ्र मोतियों का हार सुशोभित रहा करता था प्राण पखेरू के उड़ जाने के पश्चात् कामिनी के उसी स्तन को श्मशान में अन्न के पिण्ड के समान काटकर खाया करते हैं ॥ ५ ॥ वन में विचरण करने वाले गर्दभादि के अङ्ग जैसे रक्त—मांस और हड्डियों से निर्मित हुए हैं उसी भाँति नारियों के भी अङ्ग उन्हीं रुधिरादि उपकरणों से बने हुए हैं फिर यह रहस्य ज्ञान रखते हुए भी पुरुषों का कामिनी के प्रति ऐसा आकर्षण क्यों होता है? ॥ ६, ७ ॥

आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र मुने मोहैककारणम् ॥ ८
विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम्।
को विशेषो विकारिण्यामादराया: स्त्रियास्तया ॥ ९

ललनालान संलीना मुने मानवदंतिनः ।
प्रबोधं नाधिगच्छंति दृढ़ैरपिशमांकुशैः ॥१०
केशकज्जल धारिण्योदुःस्पर्शालोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्नि शिखानार्योदहंति तृणवन्नरम् ॥११
शोच्यतां परमांयाति तरुणस्तरुणीपरः ।
निबद्धः करिणोलोलो विंध्यखाते यथा गजः ॥१२
यस्यस्त्रीतस्य भोगेच्छानिः स्त्रीकयस्क भोग भूः ।
स्त्रियंत्यक्त्वाजगत्यक्तं जगत्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥१३

हे मुनिवर ! मनुष्य कामिनी के कलेवर में जिस आपात रमणीयता की कलित कल्पना किया करते हैं वह उसमें नाम मात्र को भी मेरे मत के अनुसार नहीं है। इसका एक मात्र कारण विलास प्रिय पुरुषों के मन का मोह ही होता है ॥ ८ ॥ मानवों के मन में विकृति उत्पन्न कर देने वाली युवती और मदिरा में क्या अन्तर है ? मदिरा मद के द्वारा मनुष्य को अधिक उल्लास दिया करती है तो कामिनी पुरुषों के हृदय में काम का भाव जगाकर आनन्द प्रदान करती है। अतएव आत्मकल्याण की कामना रखने वाले पुरुष के लिये ये दोनों ही त्याग करने के योग्य हैं ॥ ९ ॥ यह नारी जाज्वल्यमान अग्नि की शिखा के ही समान है, उसके केश धूम (धूँआ) की पंक्ति के तुल्य हैं। अग्नि की ज्वाला तिनकों को जला दिया करती है और दूर से देखने में अग्नि की शिखा के ही भाँति केश—कज्जल धारण करने वाली नारियाँ नेत्रों को प्रिय लगती हैं किन्तु इनका स्पर्श परिणाम में दुःख देने वाला होता है। ये पुरुष को काम वासना की अग्नि से अहर्निश जलाती रहा करती हैं ॥१० ॥ ११ ॥ अहर्निश तरुणी के प्रेमपाश में परायण रहने वाले मनुष्य की दशा अत्यन्त ही शोचनीय होती है और वह हथिनी के लिये प्राप्त करने के लिये अत्यधिक चञ्चल होता हुआ विन्ध्याचल के गर्त्त में पड़े हुए हाथी के ही समान परम विकल हो जाया करता है ॥ १२ ॥ सभी भोगों

की भूमि यह नारी ही हुआ करती है जिसके समीप में युवती विद्यमान है उसी पुरुष को भोगों की इच्छा उत्पन्न हुआ करती है क्योंकि यही भोगों के भोगने का क्षेत्र होता है। स्त्री से रहित होने पर भोग हो ही नहीं सकते हैं। जिसने नारी का त्याग कर दिया है उसने सम्पूर्ण जगत् को ही मानों त्याग दिया है। अतएव इस संसार में नारी में आसक्ति का त्याग कर सुखी होना चाहिए। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है ॥१३॥



द्वाविंशति सर्ग

अपर्याप्तंहिबालत्वं बलात्पिबति यौवनं।
यौवनं च जरापश्चात्पश्यकर्कशतांमिथः ॥१
हिमाशनिरिवांभोजंवात्येव शारदंबुकम्।
देहंजरानाशयति नदीतीरतरुं यथा ॥२
जर्जरीकृतसर्वाङ्गी जराजरठरूपिणी।
विरूपतांनयत्याशु देहं विपलवोयथा ।।३
शिथिलादीर्घ सर्वाङ्गंजराजीर्णकलेवरम्।
समंपश्यंतिकामिन्यः पुरुषंकरमं यथा ॥४
दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैववांधवाः सुहृदस्तथाा।
हसंत्युन्मत्तकमिवनरं वार्द्धककंपितम् ॥६
दुष्प्रेक्ष्यं जरठदीनंहीनं गुण पराक्रमैः।
गृध्रा वृक्षमिवादीर्घगर्द्धोत्यम्येतिवृद्धकम् ॥७
दैन्यदोषमयीदीर्घा हृदिदाह प्रदायिनी।
सर्वापदामेकसखीवार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥८

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—हे मुनीश्वर ! सांसारिक भोगों के उपभोग करने में निरत मनुष्यों का सम्पूर्ण जीवन यों ही समाप्त हो जाया करता है पूरा बचपन क्रीड़ा-कौतुकों की अभिलाषा में—समस्त यौवन

स्त्री आदि के भोगने में पूरा हो जाया करता है और फिर भी तृप्ति नहीं होती है अन्त में नितान्त अशक्तावस्था वाली वृद्धता आ जाती है ॥१॥ जिस तरह से कमलों को हिमपात और शरत्काल में जल को वायु विनष्ट कर दिया करते हैं ठीक उसी भांति नदी तट पर स्थित वृक्ष के समान वृद्धावस्था शरीर का विनाश कर देती है ॥२॥ खाये हुए अणुमात्र विष के समान ही जरठ के स्वरूप वाली यह वृद्धता मनुष्य के सब अङ्गों को जर्जरीभूत कर दिया करती है और बुढ़ापे के आते ही सम्पूर्ण अङ्ग—प्रत्यङ्ग विरूप हो जाया करते हैं ॥ ३ ॥ बुढ़ापे से पूर्ण तथा ग्रसित होने के कारण समस्त अङ्गों के शिथिल हो जाने वाले पुरुष को सब कामिनियाँ पुरुष को ऊँट के ही समान देखा करती हैं। अर्थात् वृद्ध से युवतियाँ प्रेम न कर घृणित दृष्टि से ही देखती हैं ॥ ४ ॥ वार्धक्य में काँपने वाले पुरुष को देखकर दास दासी–बान्धव–मित्र–पुत्र और स्त्री भी उन्मत्त जैसा समझकर वृद्ध की हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ६ ॥ बुढ़ापे में भोगों की शक्ति के न होने पर भी विषयों में अभिलाषा अत्यधिक बढ़ी–चढ़ी रहा करती है। वृद्ध सम्पूर्ण गुण–गण और पराक्रम से रहित होकर एक दीन और उपेक्षणीय हो जाया करता है। छोटे वृक्ष को गीध की भाँति सभी लोग वृद्ध पुरुष को तुच्छ–सा समझा करते हैं ॥७॥ दीनता के दोषों से परिपूर्ण और हृदय में अधिक दाह प्रदान करने वाली तथा समस्त आपदाओं को लाने वाली स्पृहा बुढ़ापे में बढ़ जाया करती है ॥८॥

कर्त्तव्यं किं मयाकष्टं परतोत्यति दारुणम् ।
अप्रतीकार योग्यंहिवर्द्धतेवार्द्धके भयम् ॥६

कोहंवराकः किमिवकरोमिकथमेव च ।
तिष्ठामि मौनमेवेतिदीनतोदेति वार्द्धके ॥१०

गर्द्धोभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते ।
हृदयंदह्यते नूनं शक्तिदौस्थ्येन वार्द्धके ॥११

तेजराजीर्णं राक्षस्या पश्याशुविजितामुने ॥१५
अभावोग्रेसरीयत्रजजराजयतिजंतुपु ।
कस्तत्रेहसमाश्वासोममदमतेर्मुने ॥१६
किंतेनदुर्ज्जीवितदुर्ग्रहेण जरा
गते नापिहिजीव्यतेयत ।
जराजगत्यामजिताजनानां-
सर्वैपणास्ताततिरस्करोति ॥१७

हे मुनिवर! जो लोग सुरक्षा के लिये पर्वतों की गुफाओं में प्रविष्ट होकर युद्ध में शत्रुओं के द्वारा भी नहीं जीते जाते हैं वे भी इस जीर्ण राक्षसी जरा (वृद्धता) के द्वारा शीघ्र ही विजित हो जाया करते हैं ॥१५॥ सभी प्रकार के जन्तुओं को पहिले तो वृद्धता आकर अच्छी तरह तिरस्कृत एवं असमर्थ बना देती है और फिर मौत आकर अवश्य ही सबको समाप्त कर दिया करती है। हे मुनिवर! मन्द बुद्धि वाले मेरा इस शरीर में कुछ भी विश्वास एवं आस्था नहीं है ॥ १६ ॥ इस जरा से परिव्याप्त दुःखमय बुरे मानव जीवन में जो दुराग्रह है अर्थात् जीवित बने रहने की कामना है वह निरर्थक ही है। ऐसे जीवन रखने से क्या लाभ है। हे तात! इस जगत् में यह जरा को तो मनुष्य जीत ही नहीं सकते हैं जो आकर सम्पूर्ण अभिलाषाओं पर पानी फेर दिया करती है ॥ १७ ॥



त्रयोविंशति सर्ग

विकल्प कल्पनानल्पजल्पितैरल्प बुद्धिभिः ।
मेहैरुद्धुरतांनीतः संसार कुहरे भ्रमः ॥१
सतांकथमिवास्तेहजायतेजाल पंजरे ।
वालाएवात्तुमिच्छति फलं मुकुर विंवितम् ॥२

नतदस्तीहयदयंकालः सकल घस्मरः ।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धि मिव वाडवः ॥३

समस्तसामान्यतयाभीमः कालो महेश्वरः ।४
दृश्यसत्तामिमां सर्वं कवलीकर्तुमुद्यतः ॥५

महतामपिनोदेवः प्रतिपाल यतिक्षणम् ।
कालः कवलितानंत विश्वोविश्वात्मतांगतः ॥६

युगवत्सर कल्पाख्यैः किंचित्प्रकटतांगतः ।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ॥७

श्रीराम चन्द्र जी ने कहा—हे महामुने ! इस संसार में जो अल्पल्प बुद्धि वाले पुरुष हैं उनको मैं इसका भोक्ता हूँ—यह मेरे भोगने के योग्य पदार्थ हैं—इन भोगों के ये सब साधन हैं—मैं इनका सम्पादन कर भोग करूँगा इतना मैंने प्राप्त कर लिया है शेष प्राप्त करूँगा—इस तरह के बहुत से मनोविकल्पों की कल्पना हुआ करती हैं और ये लोग इस नश्वर शरीर को ही आत्मा तथा सुखोपभोगों को ही परम पुरुषार्थ समझा करते हैं। मनुष्य शत्रुमित्रादि के तथा राग द्वेषादि के भेदों वाले होकर इस संसार को उन्होंने अत्यन्त दुरुच्छेद वाला बना दिया है और सबको इस के स्वरूप में बड़ा भ्रम हो रहा ॥१॥ इस संसार में काल-वय-शरीर और भोगों की क्षणिकता है तो अब आप ही बतलाइये कि जगत् के प्रपंच में सत्पुरुषों की किस तरह से आस्था हो सकती है ? शीशे में प्रतिबिम्बित फल के खाने की इच्छा तो बाल ही किया करते हैं ॥२॥ जिस प्रकार से चन्द्रोदय के कारण उच्छलित समुद्र को बड़वानल खा जाया करता है उसी तरह इस जगत् में समुत्पन्न कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसको सर्वभक्षी काल न खा जाता हो। इस काल के गाल में सभी ग्रसित हो जाया करते हैं। ४॥ जो कुछ भी इस जगत् में दिखलाई दिया करता है और विद्यमान है उन समस्त पदार्थों को साधा-

रणतया यह महाकाल जो साक्षात् संहार करने के लिए महेश्व रुद्र रूप है, कवलित कर जाया करता है और यह ग्रसने को उद्यत रहता है ॥५॥ जो बल-बुद्धि और वैभव आदि के कारण महान् से भी महान् होते हैं उनको भी यह सम्पूर्ण विश्व को कवलित कर जाने वाला महाबली काल एक क्षण के लिये भी प्रतीक्षा न कर समय आने पर तुरन्त खा जाया करता है । ॥६॥ इस महा बलवान् कालदेव का कोई स्वरूप देखने में नहीं आता है । यह तो कल्प-युग-वर्ष आदि के द्वारा कुछ प्रकट हुआ करता है और यह सभी पर हुआ अपना, आक्रमण करके स्थित रहता है । यह देवासुर मनुष्यादि किसी को भी छोड़ता नहीं है ॥ ७ ॥

येरम्यायेश्शुमारंभाः सुमेरुगुरवेपियो ।
कालेनविनिगीर्णा स्तेगरुडेने व पन्न गाः ॥८
निदर्यः कठिनः क्रूरः कक्कर्शः कृपणोधमः ।
नतदस्तिय द्यापिन कालोनिगिरत्ययं ॥९
कालः कवलनैकांतम तिरत्तिगिरन्नपि ।
अनतैरपिलोकौघैर्नायं तृप्तो महाशनः ॥१०
हरत्ययं नाशयतिकरोत्यत्तिनिहंति च ।
कालः संसारनृत्तं हिनाना रूपं यथानटः ॥ ११
सकलमप्यकलाकलितांत रसुभग दुर्भरूपघरं वपुः ।
प्रकट यन्सहसंवचगोपयन्विलसतीहहिकाल वलंनृषु। १२

हे मुनिवर ! चाहे कोई सुरम्य हों या शुभआरम्भ वाले हों और सुमेरु के समान परम गुरुतम हों इस विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्पों को गरुण की भाँति ही इस महाकाल के द्वारा सभी एक न एक दिन अवश्य ही निगीर्ण हो जाया करते हैं ॥८। यह काल पाषाण के समान कठोर, दया से रहित, व्याघ्र के तुल्य महान क्रूर और क्रकचादि के सदृश कर्कश होता

है। इस जगत् में ऐसा कोई भी नहीं है जिसको यह काल न निगल जाता हो ॥९॥ इस महाकाल का अहर्निश कवलित करते रहने का प्रमुख कर्म है। एक के पश्चात् दूसरे को ग्रसता ही रहता है और अनन्त लोकों के समुदायों का महान् ग्रसन करते हुए भी इसको कभी तृप्ति नहीं हुआ करती है ॥१०॥ यह काल ही इस विश्व की रचना करता है—यही हरण-नाश और ग्रसन करके इस संसार का हनन किया करता है। जिस तरह नट रङ्गमञ्च पर अनेक प्रकार का नृत्य दिखाया करता है इसी प्रकार से यह महावर्ती काल भी अनेक प्रकार की नृत्य क्रीड़ायें किया करता है। संसार का सृजन और हनन सभी कुछ इस काल के ही प्रभाव से ही हुआ करता है ॥११॥ इस संसार में मनुष्यों की बुद्धि विवेक से शून्य एवं अत्यन्त चंचल है। लोग यहाँ पर अपने अनेक संकल्पों और विकल्पों की रचना किया करते हैं और महावर्ती काल के प्रभाव का उनको तनिक भी ज्ञान नहीं होता है। ऐसे ही झूठे मनसूबे बाँधते हुए सब लोग एक दिन इस काल के ग्रास बन जाया करते हैं ॥१२॥



चतुर्थविंशति सर्ग

अस्योड्डामरलील स्यद्रूरास्त सकला पदः ।
संसारराजपुत्रस्य कालस्या कलितौजसः ॥१
अस्यैवाचरतोदानैर्मृगयेनं न मृगव्रजैः ।
आखेटककजर्जरिते जगज्जंगलजालके ॥२
चंडीचतुरसंस्थाना सर्वं मातृगणान्विता ।
संसार वन विन्यस्ता व्याघ्री भूतोपवासिनी ॥३

श्रीराम चन्द्र जी ने कहा—हे मुनिवर! यह काल भी एक राज-कुमार के ही समान मृगया इस संसार रूपी वन में किया करता है। इस काल रूपी राजकुमार का भी बल-विक्रम न चिन्तन करने के योग्य है

ओर इसकी लीलाऐं अत्यन्त उद्भट होती हैं। इस काल की गति को कोई भी रोकने वाला नहीं है जिस प्रकार से राज पुत्र की समस्त आपद ऐं उससे दूर ही रहा करती हैं ।।१।। इस जगत् रूपी महान् जंगल में समस्त प्राणी ही इसके आखेट के पशुओं के समान हैं जो कि विवेक से रहित हैं ।।२। यह व्याघ्नी के समान इस संसार रूपी बनी में भूतों का विनाश करने के लिये विहार किया करती है। यह साक्षात् चण्डी के तुल्य है जिसके साथ समस्त मातृगण रहा करती हैं ।।३।।



पञ्चविंशति सर्ग

अथैवदुर्विलासानांचूडामणिरिहापरः ।
करोत्यत्तीति लोकस्मिन्दैवं कालश्चकथ्यते ।।१
क्रियामात्रादृतेयस्य स्वपरिस्पंद रूपिणः ।
नान्यदालक्ष्यतेरूपं न कर्मन समीहितम् ।।२
तेनेयमखिलाभूत संततिः परिपेलवा ।
तापेन हिममालेवनीता विधुरतांभृशम् ।।३
यदिदंदृश्यते किंचिज्जगदाभोगिमडलम् ।
तत्तस्यनर्त्तनागार मिहासवतिनृत्यति ।।४
तृतीयं च कृतांतेति नामविभ्रलसदारुणम् ।
कापालिकवपुर्मत्तं दैवं जगति नृत्यति ।।५
नृत्यतोहिकृतां तस्य नितांतमिवरागिणः ।
नित्यंनित्यति कांतायां मुनेपरमकामिता ।।६
शेषः शशिकला शुभ्रो गंगावाहश्च तौत्रिधा ।
उपवीते अवीते च उभौ संसारवक्षसि ।।७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा— हे महामुने ! यह काल अपने दुर्विलासों के करने में सर्वाधिक प्रमुख है। यही कृतान्त की अवस्था में स्थित होकर प्राणियों के बुरे-भले कर्मों का फल दिया करता है इसीलिये लोक में इसी

को दैव या काल कहा जाया करता है ॥१॥ वैसे इसका प्रत्यक्ष स्वरूप तो किसी को दिखलाई नहीं दिया करता है किन्तु जंगल में अनेक क्रियाओं के परिस्पन्दन से ही इसके स्वरूप का भान हुआ करता है ॥२॥ जिस तरह ताप से हिमगाल गल कर विनष्ट हो जाया करती है उसी तरह इस संसार के समस्त प्राणियों का समुदाय भी अपने कर्मवश होता हुआ इस काल के ही प्रभाव से विनाश को प्राप्त हो जाया करता है ॥३॥ इस जगत् में जो कुछ भी दिखलाई दिया करता है वह सभी इस काल रूपी नर की नाट्यशाला ही है और महा विस्तृत नृत्यशाला में राग द्वेषादि की अत्यन्ताधिक प्रवृत्तियों के द्वारा ताण्डव नृत्य करता रहता है ॥४॥ सांसारिक विषयों में इन्द्रियों की अतिशय प्रवृत्ति कराने वाली यह काल की मर्यादा के स्वरूप वाली नियति ही उसकी प्रिय कान्ता है। स्त्री होने के कारण यह अत्यन्त चंचल होती है और विषयों की ओर प्राणियों का उन्मुखीकरण करके उनके धैर्य का विनाश कर दिया करती है ॥५॥ सर्प के द्वारा अनिल के भक्षण करने के समान ही यह समस्त भूतों के समुदाय को ग्रसती है। यह कृतघ्न स्वरूप वाला काल अत्यन्त ही कठोर आचार वाला होता है जो मानवों को तरुणता से वार्धक्य में डाल कर विनष्ट कर दिया करता है ॥ ६ ॥ यह यामराज भी अत्यन्त निर्दयी राजा है जो कभी भी किसी प्राणी पर दया नहीं किया करता है और कोई भी जीव इसकी उदारता और कृपा का पात्र नहीं हुआ करता है ॥७॥

चंद्रार्क मडले हेम कटकोकर मूलयोः।
लीलासरसिजं हस्ते ब्रह्मन्ब्रह्मांडकर्णिका ।८
ताराबिंदु चितं लोल पुष्करावर्त्त पल्लवम्।
एकार्ण वपयोधौत मेकमवरमंवरम् ॥६
एवं रूपस्य तस्याग्रे नियतिर्नित्यकामिनी।
अनन्तमितसारंभागारंभैः परिनृत्यति ॥१०

तस्यानर्त्तनलोलाया जगन्मण्डपकोटरे।
अरुद्धस्पदंदरूपाया आगमापायचंचुरे ॥१॥

हे मुनिवर ! इस जगत में विशाल ऐश्वर्य और भोग-विलास के आधार समस्त विषय तुच्छ हैं जिनका परिणाम परम दारुण एवं दुरन्त दुःख ही हुआ करता है ॥ ॥ मानव की आयु की कुछ भी स्थिरता नहीं है और अत्यन्त चंचलता से परिपूर्ण है जो चाहे जभी समाप्त हो जाया करती है। मृत्यु अत्यन्त कठोर होता है जो किसी को भी क्षमा नहीं किया करता है। जिस यौवन पर मानव गर्व किया करता है और न मालूम क्या-क्या निन्दित कर्म नहीं करता है वह तरुपरान्त भी स्थायी नहीं होता है। बाल्यावस्था तो जड़ता से ही पूर्ण होती है और मोह में ही समाप्त होजाया करती है ॥६॥ हे मुनिवर ! इस संसार की रचना ऐसी कला से पूर्ण एवं आकर्षक है कि इसकी विषय-छटा को देखकर मनुष्यों का मन मोह मुग्ध हो जाया करता है किन्तु ये सभी बन्धन में डालने वाले हैं। विषयों का भोग महान् व्याधि के तुल्य है और विषयों की तृष्णा केवल मृगमरीचिका के समान वास्तविकता से शून्य हुआ करती है ॥१०॥ विषयों की ओर हठात् लपकती हुई ये इन्द्रियां मनुष्य की शत्रु हैं और मन तो परम बलिष्ठ रिपु है जो असत् देहादि को सत्य मान लिया करता है तथा आत्मा को स्वयं ही विनाश कर देता है ॥११॥

कालास्यं समुपादाय कल्पान्तेषु किलाकुला।
नृत्यत्येषा पुनर्देवी स्फुटच्छैल घनारवम ।१२
पश्चात्प्रालम्बविभ्रांत कौमार मृतबर्हिभिः।
नेत्र त्रय वृहदंध्रभूरिमांकार भीषणैः ॥१३
लम्बलोल जटा चन्द्र विकीर्ण हरमूर्द्धभिः।
उच्चारच्चारु मन्दार गौरीकबर चामरैः ॥१४

उत्ताण्डवाचलाकार भैरवोदर तुम्बकैः ।
रणत्सशतरंध्रेन्द्र देहभिक्षा कपालकैः ॥१५
शुष्क शरीर खट्वाङ्ग भरैरापूरिताम्बरम् ।
भीषयत्यात्मनात्मानं सर्व संहारकारिणी । १६

हे साधो ! इस लोक में मनुष्य की बुद्धि क्षीण हो जाया करती है और अत्यन्त भीतर ही भीतर आकुलित होकर सन्तप्त होती रहा करती है। इसमें विषयों के प्रति राग ही भरा रहता है और वैराग्य की भावना कभी नहीं होती है ॥१२॥ संसार में मनुष्य के हृदय में रजोगुण व्याप्त रहा करता है और तमोगुण की ओर ही वृद्धिशील रहता है । सत्त्व गुण तो उदित ही नहीं होता है फिर अध्यात्म तत्त्व तो बहुत ही कठिन है और वह तो दूर की वस्तु है, अर्थात परमानन्द की प्राप्ति होना तो सर्वथा सम्भव ही नहीं है । मनुष्य के जीवन की स्थिति अस्थिर है न मालूम यह किस क्षण में समाप्त हो जावे । इस स्वप्नकालीन जीवन में भी बुद्धि विषयों की ओर अनुराग करने में ही उन्मुख रहा करती है । धैर्य छूट जाया करता है और निरर्थक पदार्थों में ही रति रहती है । जो कि नश्वर एवं क्षण भङ्गुर हैं ॥१३॥१४॥ इस संसार में माया मोह के जाल में फँस कर मति अत्यन्त मन्द एवं मलिन हो जाया करती है—यह मानव-शरीर भी पतनशील है और नष्ट ही हो जाने वाला है—वृद्धता देह में समागत होकर अहर्निश जलाती रहती है तथा किये हुए दुष्कृतों का कुफल प्रतिस्फुरित होता रहता है ॥१५॥ यह यौवन चाहे कितना भी यत्न क्यों न किया जावे कायम नहीं रहा करता है—इस संसार में सत्पुरुषों की सङ्गति अत्यन्त दुर्लभ होती है—स्वर्गादि का सुख भी अनित्य है जिसकी प्राप्ति करने के लिये लोग धर्म कृत्य किया करते हैं और लालायित रहा करते हैं। इस लोक में सभी कुछ नाशवान एवं असत्य है ॥१६॥

विश्वरूपशिरश्च कचारु पुष्करमालया ।

तांडवेषु विवल्गंत्या महाकल्पेषु राजते ॥१७
प्रमत्तपुष्करावर्त्तऽमरोड्डामरारवैः ।
तस्याः किलपलायन्ते कल्पान्तेतु वुरादयः ॥१८
नृत्यतोन्तः कृतांतस्य चन्द्रमण्डलभासिनः ।
तारका चन्द्रिकाचारु व्योमपिच्छावचूलिनः ॥१६
एकस्मिश्छ्रवणे दीप्ताहिमवानस्थि मुद्रिका ।
अपरे च महामेरुः कांताकांचनकर्णिका ॥२०
अत्रैव कुण्डलेलोलेचन्द्रार्कौगण्डमण्डले ।
लोकालोकाचल श्रेणी सर्वतः कटि मेखला ॥२१
इतश्चेतश्वेगच्छंती विद्युद्वलय कर्णिका ।
अनिलां दोलितामाति नीरदांशुक पट्टिका ॥२२
मुसलैः पट्टिशैः प्रासैः शूलैस्तोमर मुद्गरैः ।
तीक्ष्णैः क्षीणजगद्व्रात कृतांतैरिव संभृतैः ॥२३

हे मुने ! इस सांसरिक मोह माया में मन डूबा रहता है और उसमें प्रसन्नता का एकदम अभाव रहा करता है। करुणा की भावना उत्पन्न ही नहीं होती है और अत्यन्त नीच विचार मनमें प्रवेश करके स्थिर हो जाते हैं ॥१७॥ धैर्य लोगों में विल्कुल नहीं रहता है सभी अधीर हो गये हैं जिसके कारण मनमें स्थिरता का अभाव रहता है। यह मनुष्य सर्वदा जीवन मरण के बन्धन में तराडूवी किया करता है। यहाँ पर सत्पुरुषों का समागम अत्यन्त दुर्लभ रहता है और वहुधा चारों ओर दुर्जन पुरुष ही दिखलाई दिया करते हैं जिनकी सङ्गति से पतन होता है॥१८॥ भावों के न रहने पर भी संसार के बन्धन करने वाली वासना बराबर स्थिर रहती है और यही वासना प्राणियों के समुदाय को भी भटकाती रहा करती है ।१६। महान् वलवान काल के प्रभाव से ये दिशाऐं भी दिखलाई नहीं दिया करती हैं और सद् व्यवहार-उपदेश भी विरुद्ध दृष्टिगत हो जाता है—ये अत्यन्त विशालकाय शैल जभी विशीर्ण होजाया करते

हैं जब संसार में सभी का विनाश अवश्यम्भावी है तो मुझ जैसे पुरुष में क्या आस्था हो सकती है ? ॥२०। यह आकाश, समस्त भुवन-भूमि-सागर-तारागण-सिद्ध-दानव और ध्रुव तथा अमर कहलाने देवगण भी स्थिर न रह कर विनाश को प्राप्त हो जाया करते हैं तो मुझ जैसे साधारण मानव के जीवन में क्या आस्था हो सकती है ॥२१—२३॥



षष्टविंशति सर्ग

अन्यच्चतातातितराम रम्ये मनोरमे चैह जगत्स्वरूपे ।
न किंचिदायाति तदर्थं जातं येनातिविश्रांति मुपैतिचेतः ॥१
बाल्येगते कल्पित केलिलोले मनोमृगेदार दरीषु जीर्णे ।
शरीरकेजर्जरतां प्रयाते विद्रूयते केवलमेवलोकः ॥२
जरातुषाराभिहतां शरीर सरोजिनीं दूरतरे विमुच्य ।
क्षणाद्गते जीवित चंचरीके जनस्य संसारसरोत्र शुष्कम् ॥३
यथायदापाकमुपैति नूनं तदा ।देयं रतिमातनोति ।
जरामराऽनल्पनवप्रसूना विवर्जराकायलतानराणाम् ॥४
तृष्णा नदीसारतर प्रवाहग्रस्ताखिलानं तपदार्थजाता ।
तटस्थ सन्तोष सुवृक्षमूलनिकाषदलावह तीहलोके ॥५

श्रीराम भद्र कहते हैं—हे तात ! यह संसार बहुत ही बुरा एवं निन्दित है तो भी ऊपर से यह मनुष्यों के मन में बहुत ही सुन्दर एवं सुखद प्रतीत हुआ करता है। हे मुनिवर ! मुझे तो इस जगत में ऐसा कोई भी पदार्थ दिखाई नहीं देता है जिसके पाने से चित्त को अत्यन्त विश्राम अर्थात् परम सुख मिल सके। १॥ मनुष्य का बचपन तो अनेक प्रकार के कल्पना किये हुए क्रीडा के कौतुकों में ही चञ्चलता के साथ समाप्त हो जाया करता है। युवावस्था आते ही वह मन रूपी

ही देखे जाया करते हैं ॥८॥ जो हाथियों के समुदाय से पूर्ण सेना रूपिणी तरङ्गों से उभार को प्राप्त हुए समर सागर को अपने बल पराक्रम के प्रभाव से पार कर जाया करते हैं मेरे विचार से वे शूर वीर नहीं हैं। मैं तो उन्हीं को वास्तव में शूर वीर मानता हूं जो मन की अत्युन्नत तरङ्गों से परिपूर्ण इस शरीर और इन्द्रियों रूपी समुद्र को विवेक-वैराग्य के द्वारा पार कर जाया करते हैं ॥९॥

सक्लिष्ट पर्यन्त फलाभिरामा
नदृश्यतेकस्यचिदेवकाचित ।
कियादुराशाहतचित्तवृत्तिर्या-
मेत्य विश्रान्ति मुपैति लोकः ॥१०
कीर्त्याजगद्दिक्कुहरं प्रतापैः
श्रियागृहे सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
येपूरयंत्यक्षत धैर्यबन्धान
ते जगत्यांसुलभामहान्त ॥११
अभ्यन्तरस्थं गिरिशैलभित्ते
र्वज्रालयाभ्यन्तर संस्थितं वा ।
सर्वं समायान्ति ससिद्धवेगाः
सर्वाः श्रियः सन्तत मापदश्च ॥१२
पुत्राश्चदाराश्चधनं च बुद्धया
प्रकल्प्यतेतातर सायनाभम् ।
सर्वंतुतन्नोपक रोत्यथां तेय
नाति रम्याविषमूर्छं नैव ॥१३
विषादयुक्तो विषमामवस्था
मुपागतः कायवयोवसाने ।
भावान्स्मरन्स्वानिहधर्म-
रिक्त नुजंतुर्जरावानि हृदत्यतंतः ॥१४

दुराशाओं से आहत चित्तवृत्ति वाले पुरुष कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिस को करके शाश्वतिक शान्ति को प्राप्त कर सके। सभी कर्म क्लेशकर होते हैं और उनसे प्राप्त स्वर्गादि सुख भी नाशवान् हैं अतएव अभीष्ट वस्तु के प्राप्त होने पर भी अन्ततोगत्वा नाश होने से वह भी दुःख के ही स्वरूप में परिणित हो जाया करता है। १०।। ऐसे महद पुरुष तो इस जगत में अत्यन्त दुर्लभ ही होते हैं जो कीर्ति से इस संसार को, प्रताप से समस्त प्रदेशों एवं दिशा-विदिशाओं को तथा सम्पदा से याचना करने वालों के घरों को और क्षमा-उदारता आदि सात्विक गुणों से लक्ष्मी को परिपूर्ण किया करते हैं और धैर्य नहीं छोड़ा करते हैं।।११।। पुण्य फल के स्वरूप वाली सिद्धियां और सम्पदाएं तथा पापों के परिणाम स्वरूप आपद एं निरन्तर स्वतः ही सब को प्राप्त होती रहा करती हैं। यह प्रारब्ध का फल बिना मिले नहीं रहता है और सबको अवश्य भोगना पड़ता है चाहे कोई पर्वतों की गहनतम गुफाओं में रहता है या किसी भी वज्र निर्मित अभेद्य दुर्ग में निवास करता हो ।।१२।। हे तात ! इस संसार में पुत्रादिका परिवार-स्त्री और धन प्रभृति को मनुष्य भ्रम से उपहत बुद्धि के कारण अपने सुखों का साधन समझते हैं किन्तु ये सभी कोई जब मृत्यु काल आता है कुछ भी भलाई नहीं कर पाते हैं प्रत्युत उस काल में तो अत्यन्त रमणीय भोग भी विष-पान से होने वाली मूर्च्छा के समान ही दुःखद प्रतीत हुआ करते हैं।१३। बाल्यकाल और यौवन के समाप्त हो जाने पर वृद्धावस्था में पहुँच कर इस परम जराजीर्ण-शीर्ण शरीर के कारण जीवात्मा अत्यन्त विषाद में मग्न होकर अपने किये हुए पापों का स्मरण किया करता है और अन्दर ही अन्दर दुस्सह ज्वाला से जलता रहा करता है।।१४।।

कामार्थधर्माप्ति कृतान्तराभिः क्रियाभिरादीविवसान्निनीत्वा।
चेतश्चलद्बर्हिणपिच्छलोलंविश्रांतिमा गच्छतुकेन पुंसः।१५
पुरोगतैरप्यनवासरूपैस्तरंगिणीतुङ्गतरङ्ग कल्पः।

क्रियाफलैर्देववशादुपेतैर्विडम्ब्यते भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥१६
नियथातकरुणां समेत्यजन्माशु जयं प्रयान्ति।१७
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः समेत्यगच्छन्तिकुलोप्यहोभि.। १८
इतस्ततो दूरतरे प्रहृत्य प्रविश्यगेहं दिवसावसाने।
विवेकिलोकाश्रय साधुकर्मरिक्तेऽिन रात्रौक उपैति निद्राम.१९
विहावितेशत्रुजने समस्ते समागतायामभितश्चलक्ष्म्याम्।
सेव्यंत एतानि सुखानियावत्तावत्समायाति कुतोपि मृत्युः.२०

जिस मनुष्य ने आरम्भ से अब तक सम्पूर्ण जीवन में धनार्जन-विषयभोग और अभीष्ट मनोरथों की पूर्ति के लिये धर्म को ही अपने हृदय में स्थान दिया है और इन्हीं के लिये अब तक सब कुछ कर्म करने में पूरा जीवन व्यतीत कर दिया है उस मनुष्य का बुढ़ापे में जाकर चित्त मोर पंख के समान ही चञ्चल हो जाया करता है। उस दशा में कौनसा उपाय है जिससे यह शान्ति प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म के बिना सुख-शांति पाना अत्यन्त ही कठिन एवं असम्भव है ॥१५॥ प्रायः लोगों की रुचि इन नदी के तरङ्गों के समान शीघ्र ही विनष्ट होने वाले सांसारिक विषयों में ही रुचि रहा करती है और आत्म ज्ञान की ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं होता है। मनुष्यों का पूरा जीवन संसार में इन कार्यों का अभी करना है और इनको बाद में करना है—इसी प्रकार से देखनेमें सुन्दर किन्तु परिणाम में अनर्थ रूप सिद्ध होने वाले कार्यों में विनष्ट हो जाया करता है और इसी खाम ख्याली में जीवन नष्ट हो जाता है ॥१६॥ जिस प्रकार से वृक्षों में पत्ते उत्पन्न होकर कुछ ही समय में पीले पड़कर झड़ जाया करते हैं और विनष्ट हो जाते हैं उसी तरह से ये प्राणी भी इस असार संसार में मानव जीवन प्राप्त कर भी आत्म ज्ञान से रहित होकर अपने पूर्ण जीवन को लौकिक पदार्थों में ही घुमाकर अन्त में सब कुछ को यहीं पर छोड़कर थोड़े ही समय में चल बसते हैं और इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जीवन का कुछ

भी उपयोग नहीं कर पाते हैं ॥१८॥ महामूढ़ों के बिना कोई भी समझ-दार मनुष्य दिन में दूर-दूर तक इधर-उधर भटक कर विवेकशील महा-पुरुषों की सङ्गति और सत्कर्मों का अनुष्ठान न करते हुए सन्ध्या के समय घर में आकर सुख की नींद नहीं सो सकता है ॥१६॥ बाधा पहुँचाने वाले सब शत्रु समुदायों को निहत कर हटा देने पर जिस समय में सभी ओर से ऐश्वर्य की वृद्धि होती है उसमें लिप्त होकर वैभव से सम्प्राप्त विषयों के उपभोगों में मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप और वास्तविक कर्त्तव्य को भूल जाता है और उन्हीं के सेवन में निरत हो जाया करता है इसी बीच में उन्हें मृत्यु आकर घेर लेती है ॥२०॥

कुतोविसंवर्द्धितुच्छरूपैर्भविरमीभिः क्षण नष्ट दृष्टैः ।
विलोह्यमाना जनताजगरयांनवेत्युपायातममहोन पातम् ॥२०
प्रियासुभिः कालमुखं क्रान्तेजनैडकास्ते हृत कर्मबद्धाः ।
यैः पपीनतामेवबलादुपेत्य शरीर बन्धेनतेभवन्ति ॥२१
प्राणायहारैकपरा नराणां मनोमनोहारितयाहरंति ॥२२
रक्तच्छद्धाश्ट् वंचल पत्रदाक्ष्यो-
विधुद्रुभुमालोललताः स्त्रियश्व ॥२३
इतोन्यतश्वोपगतामुधेव समानसकेतनिबद्धभावा ।
यात्रासभासङ्ग समानराणांकल त्रमित्रव्यवहारमाया ॥२४
प्रदीपशांतिष्विश्वमुक्तभूरिदशास्वति स्नेहनिबंधनीषु ।
संसारमाला सुचलाचलासु न ज्ञायते तत्वमतात्विकीष ॥२६

इस जगत् में अहर्निश इस मृत्यु की लीला को देखते हुए भी बहुत ही आश्चर्य इस बात का है कि इस अवश्यम्भावी और न टाली जाने वाली मौत को नहीं जान पाते हैं। इस संसार में किसी कारण से अतुल सम्पदा और सुख वैभव प्राप्त कर बहुत बड़े बन कर भी क्षणभर में ही विनष्ट होते हुए देखे जाते हैं फिर भी मानव इन तुच्छ विषयों में ही —ु को भूलकर भटकते ही रहा करते हैं ॥२?॥ अपने प्राणों से प्रेम

करने वाले भी मनुष्य देह के ही पोषण द्वारा विषयों के सुख भोगने में परायण रहा करते हैं तथा काल के गाल में जाकर विनष्ट हो जाते हैं। जो तत्वज्ञ विवेकीजन होते हैं वे ही देह को तुच्छ एवं आत्म-कल्याण का सा धन मात्र समझते हुए श्रेय सम्पदन किया करते हैं ॥२२॥ वृक्षों पर छायी हुई रमणीय विषवेलों के ही समान भ्रमरों के तुल्य चञ्चल एवं कोमल तथा रक्त पल्लवों के सदृश अधरों वाली मनोहारिणी सुन्दरियाँ आरम्भ काल में मन को चुरा लेती है और ये फिर परिणाम में प्राणों के हरण करने वाली बन जाया करती हैं ॥२३—२४॥ इस जगत में स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु आदि का जो एकत्र मिलन हो जाता है। यह सम्पूर्ण व्यवहार माया से परिपूर्ण है इस सम्मिलन में सत्यता और स्थिरता लेश मात्र को भी नहीं है। जिस प्रकार से तीर्थों की यात्रा में तथा देवोत्सवों में एकत्रित हुए दूर-दूर के अपरिचित मनुष्यों का एक मेला हो जाया करता है उसी भाँति परलोक से आकर पुत्रादि के रूप में यहाँ सब सम्मिलित हो जाते हैं जैसे अमुक स्थान पर हमारी आपके साथ मुलाकात होगी—ऐसा संकेत देकर स्वल्प समय के लिए मिलने के अभिप्राय से ही यह पारिवरिक समुदाय जर जाया करता है और फिर सभी एक-एक करके चल बसते हैं और किसी से भी कुछ सम्पर्क नहीं रहता है ॥२५॥ जिस तरह से दीपमालाओं में दीपक जलते बुझते हुए रहते है ठीक उसी तरह बाल्य-यौवन और वृद्धता की अवस्थाओं को भोगते हुये जन्म-मरण की परम्पराऐं कुलस्ल चक्र के समान वेग पूर्वक घूमती रहा करती है और अत्यन्त चंचल हैं 'दीपक में तेल है तभी तक वह जलता है वैसे ही यह अतात्विक स्नेह जीवन तक ही रहता है जो कि सर्वथा मृष्याभूत है ॥२६॥

संसारसरंभकुचकिकेय प्रावट्पयोवुद्बुदभंगुरापि।
असावधानस्वजनस्यवुद्धीचिरस्थिर प्रत्ययमातनोति ॥२६
शोभोज्ज्वलादेव वशाद्विनष्टागुणाः स्थिता। सं-ति जर्जत्वे

आश्वासनादूरतरं प्रयाता जनस्यहेमंतइवांबुजस्य ॥२८
पुनः पुनर्दैववशादुपेत्यस्वदेह भारेण कृतोपकारः ।
विलूयतेयत्रतरुः कुठारै राश्वासने तत्रहिकः प्रसङ्गः ॥२९
मनोरमस्याप्यतिदोष वृत्तो रंतर्विघातायसमुत्थितस्य ।
विषद्रुमस्येवजनस्य सगा दासाद्यतेसंप्रति मूर्छनेव ॥३०

कुम्हार का चाक बराबर फिरता है किन्तु असावधान पुरुषों की बुद्धि में उसकी चिर स्थिरता ही प्रतीत हुआ करती है ठीक उसी तरह से वर्षा के जल के बुलबुलों के तुल्य अस्थिर एवं अनित्य भी सांसारिक प्रवृत्ति चिर स्थायिनी प्रतीत हुआ करती है ॥२७। जिस प्रकार से शरत्काल में कमलों के सौन्दर्य-सौगन्ध्यादिक गुण शोभाप्रद होते हैं और हेमन्त में सब विनष्ट हो जाया करते है उसी तरह मनुष्य की यौवनावस्था में चमत्कृत दिखाने वाले गुणगण वृद्धता के आते ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाया करते हैं इसलिये इनमें कुछ भी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥२८॥ यह संसार बड़ा ही स्वार्थी एवं कृतघ्न है। जो दैववश अनेक बार जन्म ग्रहण करके अपने छाया-पत्र-पुष्प और फलों के द्वारा वृक्ष प्राणियों का उपकार किया करते हैं उस निरीह निःस्वार्थ सेवक वृक्ष को भी काट दिया जाता है ऐसे संसार में मानव सरीखा उपकार से रहित महान् अपराधी प्राणी सदा जीवित रहेगा ऐसा विश्वास करने का कोई भी कारण नहीं हो सकता। २९॥ विष वृक्ष और विषयों में समासक्त मनुष्य ये दोनों ही ऊपर से ही बहुत मनोरम प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु इनके अन्दर बड़े भारी दोष भरे रहा करते हैं। विष से युक्त वृक्ष हृदय में स्थित प्राणों का विघात करने को खड़ा रहता है और विषयों में आसक्त पुरुष भीतर रहने वाली शान्ति का विघात के लिये होता है। अर्थात् इन दोनों की सङ्गति से तुरन्त ही मूर्छा अथवा मूढ़ता प्राप्त हो जाया करती है ॥३०॥

कास्तादृशोया सुनसंतिदोषाः
कास्त'दिशोया सुनदुःखदाहः।
कास्ताः प्रजाया सुनभंगुरत्वं
काःताः कियाया सुननाममाया ।३०
कल्पाभिधानक्षण जीविनोहि-
कल्पौघसंख्या कलनेविरिंच्याः।
अतः कलाशालिनिकालजाले-
लघुत्वदीर्घत्वधियोप्यसत्याः ।।३१
सर्वत्र पाषाणमयामहीध्र-
मृदामहीदारु भरेव वृक्षा ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावाना
पूर्व मस्तीह विकार हीनम् ।।३२

इस संसार में सभी वस्तुएँ दोषों से भरी हुई हैं। जगत् में ऐसी कौन सी दृष्टियाँ हैं जिनमें दोष नहीं हैं? वे कौन-सी दिशाऐं हैं जिनमें दुख एवं दाह नहीं विद्यमान है? किसी भी ओर चले जाइये सर्वत्र संसार में पीड़ा-ही-पीड़ा दिखलाई दिया करती है वे ऐसे कौन-से जीवों के शरीर हैं जो क्षण भर में नाश को प्राप्त हो जाने वाले नहीं हैं? तथा कौन-सी लोक में होने वाली क्रियाऐं हैं जिनमें माया से पूर्ण छल-कपट नहीं है अर्थात् संसार के प्रत्येक कार्य कपट और पाखण्ड से भरे पूरे ही रहा करते हैं ।।३१।। इस काल में क्षण से लेकर कल्पों तक की कल्पना भी वास्तविक न होकर असत्य ही हुआ करती है जिसके ही आधार पर जीवन की लघुता और दीर्घता लोग माना करते हैं। जिस तरह क्षण अनन्त है वैसे ही कल्प भी अनन्त होते हैं। भगवान् विष्णु और रुद्र की दृष्टि में कल्प भी क्षण के ही समान हैं। ब्रह्म लोक के निवासी भी कल्पों तक जीवन रखने वाले भी कुछ क्षणों तक ही जीवित रहा करते हैं। अन्त में सभी का विनाश होता है और सदा सर्वदा कोई भी यहाँ

नहीं रहता है ॥३२॥ इस जगत् में लोगों ने अपने कल्पित संकेतों के अनुसार ही समस्त पदार्थों के विशेष नाम रख लिये हैं। सर्वत्र पहाड़ों में पत्थर ही रहा करते हैं और पाषाणों के अतिरिक्त वहां पर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं होती है। इसी तरह यह भूमि मिट्टी की है और वृक्षों में काष्ठ ही हुआ करता है। मानवों का शरीर हाड़-मांस का ही होता है कहने का तात्पर्य यही है कि इन समस्त भोग्य वस्तुओं में कुछ भी वस्तु विकार से रहित एवं अपूर्व नहीं है ॥३३॥

आलोक्यते चेतनकानुविद्धापयोनुवदोस्तनयोनमःस्थः।
पृथग्विभागेपदार्थलक्ष्म्या एतज्जगन्नेतरदस्तिकिंचित् ॥३४
चमत्कृतिश्चेवह मनस्विलोकचेतश्चमत्कारकरीनराणाम्।
स्वप्नेपिसाधोविषयंकदाचित्केषांचिदम्येतिनचित्ररूपा ॥३५
आदातुमिच्छन्पदमुत्तमानां स्व चेतसैवा पहतोद्यलोकः।
पतत्यशंकंपशुरद्रिकूटा दानीलवल्लीफलवांछयैव ॥३६
क्वचिज्जनामाद्दं वसुंदरेषु क्वचित्कठोरेषुचसंचरति।
देशांतरालेषुनिरंतरेषुवनातखण्डेष्विवकृष्णसाराः ॥३७
जनः कामासक्तोविविधकुकला चेष्टनपर
सतुस्वप्नेप्यस्मिन्जगतिप्सुम लोनाद्यसुजनः।
क्रियादुःखासंगाविधुराविधरानूनमखिला
नजानेन तत्वाकथमियदशाजीवितमयी ॥३८

संसार के समस्त पदार्थों की रचना जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—इन्हीं पांच महाभूतों से परस्पर में मिलकर हुआ करती है और विवेकहीन पुरुषों की दृष्टि में घर पर आदि अनेक रूपों में दिखलाई देकर भिन्न २ प्रतीत हुआ करते हैं। इन पदार्थों की प्रतीति चेतन के सान्निध्य से होती है। विवेक की दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभाग के साथ समीक्षण करने पर यह सम्पूर्ण जगत् इन्हीं पांच जल-आकाश आदि भूतों के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होता है ॥३४॥

हे महात्मन् ! सर्वथा मिथ्या होने पर भी इन पदार्थों के विषय में व्यावहारिक कौशल के कारण महान विद्वान पुरुषों के भी मन में भोग सम्बन्धी चेष्टा को समुत्पन्न करने वाली जो व्यवहार की चमत्कृति अथवा व्यावहारिक प्रवृत्ति देखी जाया करती है—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि बहुधा स्वप्नों में मिथ्या भूत विपय को लक्ष्य बनाकर कुछ लोगों की उस तरह की चमत्कार से पूर्ण प्रवृत्ति देखी जाया करती है ।।३५।। जिस प्रकार से हरी-हरी घास खाने की लालसा से पर्वत की अत्युन्नत चोटी पर पहुँच जाता है और वहां पर वह ऐसा आनन्दोन्माद में मग्न होकर फिसल जाया करता है ठीक उसी भांति इस संसार में लोग श्रेष्ठ पुरुषों के पद-वैभव आदि प्राप्त करने के हठपूर्वक इच्छा करने वाले रागद्वेप आदि अनेक दोपों से युक्त होकर अपने ही चित्त से पतन के गर्त्त में गिर जाया करते हैं ।।३६।। जैसे काले हरिण विभिन्न वन-प्रदेशों में भ्रमण किया करते हैं जो कहीं तो अत्यन्त कोमल होता है और कहीं बहुत कठोर हुआ करता है उसी तरह से ये जीवात्मा भी किसी समय में तो दयादाक्षिण्यादि सद्गुणगण से युक्त देहों में और कभी क्रोध नैकुर्यादि युक्त शरीरों में भ्रमता रहा करता है किन्तु फिर भी इसको विवेक नहीं होता है ।।३७।। इस संसार में जो एक स्वप्न के ही समान मिथ्याभूत है मनुष्य अनेक कामनाओं में मग्न होकर बहुत बुरी २ चेष्टाएँ किया करता हैं जो आपात रमणीय प्रतीत हुआ करती हैं और उनका परिणाम बड़ा ही भीषण होता है । यहां पर विवेकशील मनुष्य कोई भी दिखलाई नहीं दिया करते हैं । यहाँ पर सभी मनुष्य दुःख सहित क्रिया से शून्य रहते हैं अतएव उन्हें अवश्य ही दुःख दावानल में दग्ध होना ही पड़ता है । नहीं समझ में आता है कि ये लोग किस तरह से ऐसा जीवन जीकर संसार में रहा करते हैं और उन्हें कभी भी विवेक नहीं होता है ।।३८।।

++++

सप्तविंश सर्ग

यच्चेदं दृश्यते किंचिज्जगत्स्थावर जंगमम् ।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मम् स्वप्न संगम संनिभम् ॥१
शुष्क सागर संकाशो निखातो योद्य दृश्यते ।
स प्रातरभ्र संवीतो नगः संपद्यते मुने ॥२
यो वनव्यूह विस्तीर्णो विलीढ गगनो महान् ।
दिनैरेव सयात्युर्वी समतांकूपतांचवा ॥३
यदंगमद्य संवी कौशेय स्रग्विलेपनैः ।
दिगम्बर तदेवश्वो दूरे विशरितावटे। ।४
यत्राद्य नगरं दृष्टविचित्राचार चंललम् ।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्य धर्मता ॥५
यः पुमानद्य तेजस्वी मंडलान्यधि तिष्ठति ।
स भस्म कुटतां राजन् दिवसैरधि गच्छति ।।६
अरण्यानी महभीमाया नभोमंडलोपमा ।
पताकाच्छादिताकाशा सैव संपद्यते पुरी ॥७

श्री रामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! इस समय में यह जो स्थावर (अचर) और जङ्गम (चर स्वरूप वाला दृश्य जगत् जो कुछ भी प्रत्यक्ष में दिखलाई दे रहा है । हे ब्रह्मन् ! वह सभी स्वप्न में दिखलाई देने वाले मेल-मिलाप के ही समान निस्सार एवं अस्थिर ही है । हे मुनिवर ! जो आज सूखे हुए सागर के सदृश बड़ा विशाल खड्ड दिखलाई दे रहा है वही स्थान कुछ काल के पश्चात् मेघों से समावृत महान् विशाल पर्वत बन जाया करता है ॥ २ ॥ इस समय में जो आकाश मण्डल के समान नीलिमा से पूर्ण महा भयानक जङ्गल है वही कुछ समय के अनन्तर ध्वजा–पताकाओं से आकाश को भी ढक लेने वाला उत्तम एवं विशाल नगर बन जाता है। जो भूमि समतल परम सुन्दर है वही

कुछ समय में खार खड्डों के रूप में परिणित हो जाया करती है ।। ३ ।। आज संसार में जिस शरीर को मूल्यवान् रेशमी वस्त्रों—सुगन्धित परम दिव्य पुष्पों के हार—विविध भूषण और अनेक भाँति के अनुलेपनों से सजाया जाता है वही शरीर कल प्राणों के प्रयाण कर जाने पर बिल्कुल नग्न होकर ग्राम—नगर से अत्यधिक दूर किसी नदी—नाले के गड्ढे में पड़ा—पड़ा सड़ जाया ।। ४ ।। जहाँ पर आज अद्भुत आहार—विहार और चहल—पहल से परिपूर्ण चञ्चलता से युक्त नगर दिखलाई देता है वहीं कुछ ही दिनों में एकदम सुनसान वन के धर्म का उदय हो जायगा अर्थात् वही भूमि गहन वन के समान निर्जन बियाबान एवं अगम्य हो जायगी ।। ५ ।। हे राजन् ! जो पुरुष इस जगत् में आज परम तेजस्वी हैं जो पुरुष अनेक मण्डलों पर शासन कर अपना पूर्ण आधिपत्य जमाये हुए हैं वही कुछ ही दिनों के बाद एक राख का ढेर बन जाया करता है ।।६।। जो महा भयङ्कर नभोमण्डल के सदृश बनी इस समय में हैं वही कुछ ही समय के अनन्तर परम सुन्दर ध्वजा—पताकाओं से समाच्छादित आकाश वाली नगरी बन जाया करती है ।।७।।

या लतावलिता भीमाभात्यद्य विपिनावली ।
दिवसैरेव: सायाति पुनर्मरु महीपदम् । ८
सलिलं स्थलतां याति स्थली भवति वारिभूः ।
विपर्यस्यति सर्वहि सकाष्ठांबुतृणं जगत् ।।९
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्य संचयाः ।
भावाद् भावन्तरं याति तरंगवद नारतम् ।।१०
वातांतर्दीपक शिखा लोलं जगति जीवितम् ।
तडित्स्फुरण संकाशा पदार्थ श्री जगत् त्रये ।।११
विपर्यासमियं याति भूरिभूत परम्परा ।
बीजराशिरि धाजस्र पूर्यमाणः पुनः पुनः ।।१२
दिवसास्ते महांतस्ते संपदस्ताः क्रियाश्चताः ।

सर्वं स्मृतिपथं यातंयामो वयमपि क्षणात् ॥१३

जो इस मही मण्डल का भाग आज परम गहन लता और वल्लरियों से समावेष्टित अतीव भयावह वनों के स्वरूप में स्थित दिखलाई देता है इस महान् बलवान् काल के प्रभाव से कुछ ही दिनों में वही स्थल मरुभूमि (रेगिस्तान) का स्थान ग्रहण कर लिया करता है जहाँ पर जल का पूर्णतया अभाव रहता है ॥८॥ जलपूर्ण स्थान स्थल का स्वरूप धारण कर लिया करता है और परम शुष्क भूमि का स्थल भाग जलमय हो जाया करता है। काष्ठ–जल और तृणों के सहित यह सम्पूर्ण जगत् ही बिलकुल विपरीत दशा को प्राप्त करता रहता है ॥६॥ इस संसार में जिन पर मोह मुग्ध मानव बड़ा गर्व किया करते हैं ये यौवन–बचपन–शरीर और धन-दौलत सबके सब अस्थिर एवं अनित्य हैं और जल की तरङ्गों के समान ही एकभाव से दूसरे भाव को निरन्तर प्राप्त हुआ करते हैं ॥१०॥ इस जगत् में प्राणियों का जीवन हवा से युक्त स्थान में स्थित दीपक लौ के ही समान चंचल एवं चाहे जिस क्षण में अत्यन्त शीघ्र नष्ट होजाने वाला है और के समस्त पदार्थों की शोभा शालिता एवं चमक-दमक विद्युत की चमक के ही सदृश क्षणिक है ॥११॥ धान्यादि बीज राशि के समान ही निरन्तर पूर्ति करते रहने पर भी यह सम्पूर्ण भूतों की परम्परा विपर्यास को प्राप्त होजाया करती है ॥१२॥ हे मुनिवर ! वे महोत्सवों से पूर्ण एवं विशाल वैभव से समन्वित एवं शोभा वाले दिन—वे महान् प्रताप से युक्त पुरुष—वे प्रचुर सम्पदायें और बड़े-बड़े कार्य अब दृष्टि के मार्ग से दूर होकर केवल स्मरण के ही विषय रह गये हैं अर्थात् अचर्चा ही शेष है इसी तरह से जैसे पहिले लोग केवल चर्चा मात्र छोड़कर संसार से चल बसे हैं हम लोग भी क्षण भर में सब कुछ यहीं पर छोड़कर किसी अज्ञात स्थान को चले जाँयगे और आगे होने वाले लोगों के लिये केवल स्मरण का ही विषय बनकर रह जाँयगे ॥१३॥

प्रत्यहं क्षयमायाति प्रत्यहं जायते पुनः ।
अद्यापिहत ऋत्रायानांतोस्या दग्ध संसृतेः ॥१४
तिर्यक्त्वं पुरुषायंति तिर्यञ्चो नरतामपि ।
देवाश्चादेवतां यांति किमिवेह विभो स्थिरम् ॥१५
रचयन् रश्मिजालेन रात्र्यहानि पुनः पुनः ।
अतिवाह्य रविः कालो विनाशावधिमीक्षते ॥१६
ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च सर्वावाभूतजातयः ।
नाशमेवानु धावंति सलिलानीव वाडवम् ॥१७
द्यौ क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
विनाश वाडवस्यै तत्सर्वं संशुष्क मिंधनम् ॥१८
धनानि बान्धवा भृत्या मित्राणि विभवाश्चये ।
विनाश भय भीतस्य सर्वं नीरसतां गतम् ॥१९

इसी प्रकार से यह संसार प्रति दिन उत्पन्न हुआ करता है और प्रतिदिन नष्ट होता रहा करता है। इसका प्रवाह उत्पत्ति और विनाश बराबर होते रहने के कारण संसरणशील है अतएव इसे संसार कहा जाता है। इसी लिये आज तक इस नष्ट प्राय दग्ध हुए संसार का अन्त नहीं हुआ है ॥१४॥ हे मुनिवर ! कभी ये मनुष्य पशु-पक्षी आदि की तिर्यक योनियों में जन्म ग्रहण किया करते हैं और पशु-पक्षी गण मनुष्यों का जन्म प्राप्त करते हैं। मनुष्य ही नहीं देवगण भी अन्य देवेतर योनियों में जन्म कर्मवश धारण करते रहा करते हैं फिर इस संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो स्थिर रहा करती हो ॥१५॥ यह सूर्यदेव भी रात्रि-दिन की रचना करते हुए अन्त में विनाश को प्राप्त हुआ करते हैं ॥१६॥ जिस तरह से सम्पूर्ण जल वड़वानल की ही ओर अनुसरण किया करते हैं वैसे ही ब्रह्मा-विष्णु आदि समस्त देवगण अन्ततोगत्वा नाश को ही प्राप्त हुआ करते हैं ॥१७॥ स्वर्ग भूमि-वायु-आकाश-पर्वत-नदियाँ तथा दिशायें ये सभी इस विनाश स्वरूप वाले वड़वानल के लिए शुष्क

ईंधन के ही समान हुआ करते हैं ।।१८।। अतएव जब इस जगत् की सभी वस्तुयें नाशवान् हैं तो फिर ये धन-वैभव, भाई-बन्धु, भृत्यवर्ग, मित्रों का समुदाय और अनन्त ऐश्वर्य सब के सब विनाश होने के भय से भीत पुरुष के लिये नीरस ही प्रतीत हुआ करते हैं। १९।।

प्रति क्षण विपर्यासदायिना निहतात्मना ।
जगद् भ्रमेणकेनाम धीमंतोहि न मोहिताः ॥२०
तमः पंक समालब्ध क्षणमाकाशमंडलम् ।
क्षणं कनक निष्यंद कोमलालोक सुन्दरम् ॥२१
क्षणं जलद नीलाब्ज मालावलित कोटरम् ।
क्षणमुड्डामरखं क्षण मूकमिवस्थितम् ॥२२
क्षणं तारा विरचितं क्षणमर्केण भूषितम् ।
क्षणमिन्दु कृताह्लादं क्षणं सर्वं बहिष्कृतम् ॥२३

इस संसार में मनुष्य क्षण भर में ही विपुल वैभव प्राप्त कर धनी हो जाता है और क्षण मात्र में ही महा दीन दरिद्र होजाया करता है—एक क्षण में रोगी और स्वस्थ होता रहता है। इस प्रकार से प्रति-क्षण विपरीत दशा को प्राप्त कराने वाले इस नश्वर संसार में भ्रम से मोह को प्राप्त होने वाले बड़े-बड़े बुद्धिमान भी निमग्न रहा करते हैं। ऐसा यहाँ कोई भी नहीं है जो इस संसार के मोह जाल में फँसने से बचा हो।.२०।। यह आकाश का मण्डल क्षण मात्र में घोर अन्धकार के स्वरूप वाले कीच से ढक जाया करता है और फिर एक ही क्षण में सुवर्ण के द्रव के सदृश कोमल और सुन्दर दिखलाई देने लगता है—क्षण भर में घनघोर मेघों की घटाओं से समावृत होकर महा भीषण ध्वनि और तड़तड़ाहट से युक्त हो जाता है और क्षण भर में ही यह गूँगे के समान एकदम शान्त हो जाया करता है ।।२१—२२।। इस नभोमण्डल में विभिन्न छटायें देखने में आया करती हैं क्षण मात्र में तो इसमें तारागण बिखरे हुए दिखलाई देते है और क्षण भर में ही भगवान् भास्कर देव

से भूषित हो जाता है—एक ही क्षण में चन्द्रमा की चाँदनी से परम आह्लाद से परिपूर्ण हो जाता है और क्षण भर में ही यह सबसे रहित हो जाया करता है—इस प्रकार से आकाश की स्थिति के समान ही सांसारिक समस्त पदार्थों की दशा भी प्रत्येक क्षण में परिवर्त्तन होने के स्वभाव वाली होती है।।२३।।

आगमापायपरया क्षण संस्थिति नाशया।
न बिभेतिहि संसारे धीरो पिकइवानया ।।२४
आपदः क्षण मायांति क्षय मायांति संपदः।
क्षणं जन्म क्षणं मृत्युमुने किमिवन क्षणम् ।।२५
प्रागासीदन्यएवेह जातस्त्वन्योनरोदिनैः।
सदेक रूपं भगवन् किंचिदस्ति न सुस्थिरम् ।।२६
तनोत्युत्पादयत्यत्ति निहत्या सृजति क्रमात्।
सततं रात्र्यहानीव निवर्त्तते नरं प्रति ।।२७
अशूरेण हतः शूरएकेनापि हतं शतम्।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यंते जगत् ।।२८
बाल्यमल्प दिनैरेव यौवन श्रीस्ततो जरा।
देहेपि नैकरूपत्वं कास्था बाह्येषु वस्तुषु ।।२९
क्षणमानंदितामेति क्षणमेति विषादिताम्।
क्षणं सौमत्वमायाति सर्वस्मन्नटवन्मनः ।।३०

हे महा मुनिवर ! संसार में ऐसा कौन सा पुरुष है जो परम धीर होता हुआ भी क्षण मात्र में स्थिर और क्षण भर में विनष्ट होने वाली आवागमन की परम्परा से युक्त इस जगत् की स्थिति से भयभीत नहीं होता है ? ।। २४ ।। हे महामुने ! यहाँ पर क्षण मात्र में आपत्तियाँ और सम्पदाऐं आया करती हैं और विनष्ट होती रहा करती हैं। एक क्षण में ही जन्म होता है और क्षण मात्र में मृत्यु हो जाया करती है। हे मुनिवर ! इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो क्षणिक न हो

॥ २५ ॥ जो मनुष्य इस संसार में समुत्पन्न होकर आया है वह इसके पूर्व किसी अन्य ही स्वरूप में था और कुछ ही समय के पश्चात् वही किसी दूसरे ही रूप में हो जाया करता है। इस जगत् में सभी कुछ परिवर्त्तनशील है और एक ही रूप में रहने वाली सुस्थिर वस्तु कोई भी नहीं है ॥ २६ ॥ वृद्धि—विपरिणाम—अपक्षय—विनाश और पुनर्जन्म ये पाँच प्रकार के भावों का प्रभाव दिन-रात के ही समान प्रत्येक मनुष्य पर हुआ करता है ॥ २७ ॥ इस जगत् में देखा जाता है कि एक कायर पुरुष के द्वारा शूरवीर की मृत्यु हो जाती है और एक ही पुरुष के द्वारा सैकड़ों मनुष्य मारे जाया करते हैं तथा बिल्कुल साधारण पुरुष भी राजा हो जाया करते हैं। इस प्रकार से यह सम्पूर्ण संसार अहर्निश विपरीत दशा में परिवर्त्तित होता रहा करता है ॥ २८ ॥ यह बाल्यकाल बहुत थोड़े ही दिनों क्रीड़ा-कौतुकों के करने में व्यतीत हो जाया करता है जिस काल के विषय में कुछ भी ज्ञान ही नहीं हुआ करता है। इसके पश्चात् नव यौवन आता है और विभिन्न भोग-विलासों की मग्नता में वह भी कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाता है जिसमें कि भोगों की कामनाओं के आगे अन्य कुछ सूझता ही नहीं है। इसके अनन्तर वृद्धता आती है जिसमें सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियाँ तो शिथिल हो जाया करती हैं किन्तु विषय-तृष्णा बराबर बढ़ी-चढ़ी रहा करती है। इस तरह से जब हमारे इस शरीर में ही एकस्वरूपता नहीं होती है तो बाहिरी पदार्थों में एकरूपता के रहने का क्या विश्वास किया जा सकता है ? ॥ २९ ॥ यह मनुष्यों का मन एक नट के ही समान एक-एक क्षण में आनन्द और विषम विषाद का अभिनय किया करता है ॥ ३० ॥



अष्टाविंश सर्ग

इतिमे दोष दावाग्नि दग्धे महति चेतसि ।
प्रस्फुरंति न भोगाशा मृगतृष्णाः सरः स्विव ॥ १

प्रत्यहं याति कटुतामेषा संसार संस्थितिः।
कालपाक वशाल्लोला रसा निम्बयथा ।।२
राज्येभ्यो भोगपूगेभ्यश्चिन्तावद्भ्यो मुनीश्वर।
निरस्त चिन्ता कलिता वर मेकान्त शीलता ।।३
नानंदाय ममोद्यानं न सुखाय मम स्त्रियः।
न हर्षाय ममार्थाशा शाम्यामि मनसा सह ।।४
अनित्यश्चा सुखोलोकस्तृष्णा तात दुरुद्वहा।
चापलोपहतं चेतः कथं यास्यामि निवृंतिम् । ५

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! ये शरीर और विषयों के उपभोग पूर्णतया दुःख रूप एवं अनित्य हैं। इनमें बहुत-से दोषों को देखकर मेरा मन सन्तप्त हो गया है अब मेरे चित्त में सांसारिक भोगों के करने की अभिलाषा ही उत्पन्न नहीं होती है जिस तरह से जलाशयों में मृगतृष्णा का कभी भी उदय नहीं हुआ करता है उसी भाँति मेरे हृदय में भी भोगों के भोगने की आशा अंकुरित नहीं करती है ।। १ ।। मेरे हृदय में जगत् के दोषों को देखकर तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया है। जैसे नीम के वृक्ष पर छाई हुई रसशून्य गिलोय काल पाकर उत्तरोत्तर कटु होती है उसी तरह यह सांसारिक स्थिति प्रतिदिन मुझे अधिक से अधिक कड़वी प्रतीत हो रही है ।। २ ।। हे मुनिवर ! अनेक प्रकार की चिन्ताओं के भरे हुए इन क्षणिक घोर आपात रमणीय (आरम्भ में ही सुन्दर एवं सुखद लगने वाले) भोगों एवं राज्य वैभवों की अपेक्षा चिन्ता-जाल से विमुक्त-महात्मा पुरुषों के द्वारा अङ्गीकृत एकान्त स्थान का सेवन करना ही मुझे विशेष रुचिकर लगता है ।। ३ ।। साधारण तया सबके मन को रमाने वाले सुन्दरतम उद्यान में मुझे आनन्द प्राप्त नहीं होता है—स्त्रियों के हाव-भाव भी मेरे मन को सुख नहीं दिया करते हैं और विशाल विभवैश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्ति से भी मेरे चित्त में कोई भी हर्ष नहीं होता है। मैं तो अपने मन में शान्ति के साम्राज्य का ही

अभिलाषी हूँ ॥४॥ यह परम सुखमय प्रतीत होने वाला संसार ही अनित्य है और हे तात ! यह तृष्णा अतीव विशाल है जिसका कभी भी अन्त ही नहीं होता है। मन अत्यन्त चञ्चल है फिर इस जगत् में मैं किस किस प्रकार से शान्ति प्राप्त कर सकूँगा ॥५॥

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितम् ।
यथा तिष्ठामि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥६
किं मे राज्येन किं भोगैः किमर्थेन किमीहितैः ।
अहंकार वशा देतत्सएव गलितो मम ॥७
जन्मावलि वरत्रायामिन्द्रिय ग्रंथयो दृढाः ।
ये बद्धास्त द्विमोक्षार्थं यतंतेयेत उत्तमाः ॥८
मर्दितं मानिनीं लोकैर्मनो मकरकेतुना ।
कोमलं खुरनिष्पेषैः कमल करिणा यथा ॥९
अद्यचेत्स्वच्छया बुद्धया मुनीन्द्र न चिकित्स्यते ।
भूयश्चित्त चिकित्सायास्तत्किलावसरः कुतः ॥१०

मेरे मन की ऐसी स्थिति हो गई है कि न तो मैं मृत्यु के समागम का ही अभिनन्दन किया करता हूं और न इस जीवन का ही स्वागत करता हूं अर्थात् अधिक समय तक जीने को भी कल्याण कारक नहीं समझता हूं। मैं तो सन्ताप से रहित होता हुआ इस समय जिस तरह भी स्थित हूँ उसी तरह से रह रहा हूं ॥६॥ हे भगवन् ! मुझे इस परम विशाल राज्य वैभव से—सांसारिक विविध भोगों से—सम्पदा के द्वारा प्राप्त समृद्ध सुख से और अनेक तरह की चेष्टाओं से भी क्या प्रयोजन है ? मनुष्य अहङ्कार के वशीभूत होकर ही इन सबसे अपना सम्बन्ध रक्खा करता है किन्तु मेरा तो अहङ्कार ही विगलित हो गया है इसलिये मुझे अब इन सबकी आवश्यकता ही नहीं रही है ॥७॥ बारम्बार जन्म-मरण का जो तांता लगा रहता है वही चमड़े की रज्जु के समान है और प्रबल इन्द्रियां ही उसमें सुदृढ़ ग्रन्थियां लगी हुई हैं। इनसे बद्ध

हुए मानव इस संसार में यातनाऐं सहन करते हैं जो इस बन्धन से विमुक्त होकर मोक्ष के लिये यत्न किया करते हैं वे ही उत्तम श्रेणी के मनुष्य हैं ॥ ८ ॥ गजेन्द्र जिस तरह से अपने पदों के प्रहारों से कोमल कमलों को कुचल कर शीर्ण कर दिया करता है वैसे ही इस महा बलवान् काम॰ देव ने कामिनियों के द्वारा मानवों के मन को मथ दिया है ॥ ६ ॥ हे महामुनीन्द्रवर ! इसी समय में अर्थात् मनुष्य जीवन में आरम्भ में ही स्वच्छ विवेक बुद्धि के द्वारा इस चित्त की चिकित्सा अर्थात् विषयों से हटाकर परमार्थ की ओर लगाने का इलाज नहीं किया जाता है तो फिर इस चित्त की चिकित्सा करने का अवसर ही कहाँ प्राप्त हो सकेगा ? ॥१०॥

विषं विषय वैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मांतरघ्न विषया एक देह हरं विषम् । ११
न सुखानि न दुःखानि न मित्राणि वान्धवाः ।
न जीवितं न मरणं बंधा यज्ञस्य चेतसः ॥१२
तद् भवामि यथा ब्रह्मन् पूर्वापर विदांवर ।
वीतशोक भयायासोज्ञस्तथोप दिशा शुभे ॥१३
वासना जाल वलिता दुःख कंटक संकुला ।
निपातोत्पात बहुला भीमरूपाऽज्ञताटवी ॥१४
धिद्यंत एवे हनंते महात्मन् दुराधयो न क्षय माप्नुवंति ।
ये संगमे नोत्तम मानसानां निशातमांसीव निशाकरेण॥१५
आयुर्वायु विघट्टिताभ्र पटली लंबांबुवद्भद्रं गुरु,
भोगमेघवितान मध्य विलसन् सौदायिनी चंचलाः ।
लोला यौवन ललनाजलरयश्चेत्या कलय्य द्रुतं,
मुद्रं वाद्य दृढार्पितानन्तु मया चित्ते चिरं शांतये ॥१६

लोकों में जो प्रसिद्ध विष है वह वास्तव में विष नहीं कहा जाता

है क्योंकि यह विष तो उसी एक देह का नाशक हुआ करता है जिसके द्वारा उसका सेवन किया जाया करता है। वास्तविक महान् विषम विष तो ये विषय ही होते है जिनके सेवन करने पर ये अनेक जन्मों तक जीवों को कर्मों के फल भोगने के लिये मौत के मुँह में डाल कर बारम्बार विविध योनियों में जन्म ग्रहण कराया करते हैं ॥११॥ इस संसार में सुख दुःख, मित्र, भाईबन्धु, कुटुम्ब, परिवार, जीवन-मरण ये सब भव-बन्धन के कारण होते हुए भी ज्ञानी पुरुष के मन को नहीं बाँधा करते हैं जो ज्ञान शून्य अविवेकी होते हैं उन्हीं के मन इन में बाँधा करते हैं ॥१२॥ हे ब्रह्मन्! आप तो प्राचीन और अर्वाचीन सभी बातों के ज्ञाताओं में परम श्रेष्ठ एवं शिरोमणि हैं अतएव जिस रीति से मैं शोक—भय और खिन्नता आदि से छुटकारा पाकर वास्तविक ज्ञान से सुसम्पन्न हो जाऊँ वही उपदेश इस समय मुझे शीघ्रातिशीघ्र प्रदान कीजिए ॥१३॥ अज्ञान इस जगत् में एक महा भयङ्कर घोर वनी के ही तुल्य है। वनों में जिस तरह से मृगों को फँसाने के लिये जाल फैले हुए रहा करते हैं तथा कंटकों से युक्त झाड़ियाँ छाई रहा करती हैं। स्थान-स्थान पर बहुत—से परम विषम ऊँचे—नीचे स्थल रहा करते हैं ठीक उसी प्रकार से इस अज्ञान रूप वाले जगत् के वन में अनेक विषय—वासना के जाल फैले हुए हैं विविध दुःख ही इसमें कण्टकों के समान हैं और सम्पत्ति—विपत्ति की दशायें ही विषम ऊँचे-नीचे स्थान हैं ॥१४॥ चन्द्रमा की चाँदनी से रात्रि में होने वाला अन्धकार जिस तरह से विनष्ट होकर प्रकाश होजाया करता है उसी प्रकार से उत्तम एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाले महात्माओं को सत्सङ्ग सम्प्राप्त होने पर हे महात्मन्! ये सांसारिक दुरावियाँ भी क्षीण हो जाती हैं। ये ऐसी नहीं होती हैं जो महापुरुषों का सम्पर्क पाकर क्षय को प्राप्त न होवें ॥१५॥ यह आयु हवा से टक्कर खाने वाली मेघों की घटा से झरने वाले जल के कणों के ही तुल्य क्षण भंगुर है। ये विषयों के उपभोग बादलों के मध्य में चमचमाती हुई विद्युल्लता के समान चंचल हैं

और यौवन काल के मनोरञ्जन जल के वेग के सदृश चपल हैं—यही भलीभांति विचार करके मैंने इन सभी का त्याग कर दिया है और चिर-काल पर्यन्त स्थिर रहने वाली शान्ति को चित्त पर शासन करने के लिए पूर्ण अधिकार दे दिया है अर्थात् पूर्णतया अपने चित्त को सब ओर से हटा कर शान्त बना लिया है ॥१८॥



एकोनत्रिंश सर्ग

एवमभ्युत्थितानर्थं शत संकट कोटरे ।
जगदालोक्य निर्मग्नं मनो मनन कर्दमे ॥१
मनोमे भ्रयती वेदं संभ्रमश्चोप जायते ।
गात्राणि परिकपंते पत्राणीवजरत्तरोः ॥२
नावस्थितिमुपायातिनच यातियथेप्सितम् ।
चिन्ता जीवेश्वरायत्ता कांतेव प्रिय सद्मनि ॥३
अपहस्तित सर्वार्थं मनवस्थितिरवस्थिता ।
गृहीत्वोत्सृज्यचात्मानं भवस्थितिरवस्थिता । ४
अतोऽतुच्छमनायास मनुपाधिगतभ्रमम् ।
किंतत् स्थिति पदं साधो यत्र शोकोन विद्यते ॥५
सर्वारंभ समारूढाः सुजना जनकादयः ।
व्यवहार पराएव कथमुत्तमतांगताः ॥६
लग्नेनापि किलांगेषु वहुधा वहु मानद ।
कथं संसार पंकेन पुमानिह न लिप्यते ॥७

श्रीराम ने कहा—इस प्रकार से सैकड़ों प्रकार के अनर्थों के सङ्कटों से पूर्ण इस संसार रूपी अंधेरे वाले कुए में मग्न जीवों को देख-कर मेरा मन इसी की चिन्ता रूप दलदल में फंसा हुआ है ॥१॥ विविध

भोगों के उपभोगों में निरत जीवों के कोई कल्याण का मार्ग न देखकर बड़ी चिन्ताओं में मग्न मेरा मन चक्कर सा खाया करता है और मुझे बहुत भय होता है तथा जीर्ण वृक्ष के पत्तों के ही तुल्य मेरे अङ्गों में कम्प होता रहता है ।।२।। जीवरूपी पति के आधीन में रहने वाली यह न तो शान्त ही होती है और अपने प्रिय के सदन में रहने वाली कान्ता के समान न अपना अभीष्ट ही प्राप्त किया करती है ।।३।। समस्त सांसारिक पदार्थ और उनके उपभोग तो स्थिर होते ही नहीं हैं और पारमार्थिक सुख भी प्राप्त नहीं होते हैं—इस तरह से उभयतो भ्रष्ट यह मेरी मति चित्त को अनवस्थित बनाये हुए है ।। ४ ।। अतएव हे महात्मन् ! आप मुझे बतलाइए कि जन्म और मरण से रहित शरीर आदि की उपाधियों से विहीन और भ्रान्ति से रहित महती विश्रान्ति के प्रदान करने वाला वह परम पद कौन-सा है जिसमें प्राप्त होकर इस प्राणी को शोक नहीं होता है ।।५।। सम्पूर्ण प्रकार के कर्मों में समारूढ़ अर्थात् सभी राज्य-शासनादि कार्यों को बहुत ही अच्छी तरह से करने वाले और सदा लोक के व्यवहारों में भी परायण रहने वाले जनक आदि महापुरुष किस तरह से उत्तम पद को प्राप्त हुए थे ? ।।६।। हे महामुनिवर ! आप तो सर्वदा दूसरों को अधिक मान देने वाले हैं । कृपया यह बतलाइये कि वह ऐसा कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा इस संसार रूपी पङ्क (कीचड़) के अनेक अङ्गों में सम्पर्क हो जाने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता है ? ।।७।।

कां दृष्टि समुपाश्रित्य भवंतो वीत कल्मषाः ।
महांतो विचरंतीह जीवन्मुक्ता महाशयाः ।।८
आत्मवन् तृणवच्चेदं सकलं कलयन् जनः ।
कथमुत्तमतामेति मनोमन्मथमस्पृशन् ।।९
कं महापुरुषं पारमुपायातं महोदधे. ।
आचारेणानु संसमृत्य जनोयाति न दुःखिताम् ।।१०

किं तत् स्यादुचितं श्रेयः किं तत् स्यादु चितं फलम् ।
वर्तितव्यंच संसारे कथं नामासमंजसे ॥११
तत्त्वं कथयमे किंचिद्येनास्य जगतः प्रभो ।
वेद्मि पूर्वापरं धातुश्चेष्टिस्यानवस्थिते। ॥१२

हे महामुने ! किस प्रकार की बुद्धि का समाश्रय ग्रहण करके आप सरीखे महापुरुष जो पापों से रहित एवं विशुद्ध महान् आत्मा वाले हैं वे इस संसार में जीवन्मुक्त होकर विचरण किया करते हैं ॥८॥ सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने वाला—समस्त भोगों के प्रपञ्च को एक तृण के तुल्य मानने वाला और कामादि वृत्तियों से मन का बिल्कुल भी स्पर्श न करने वाला पुरुष किस तरह से श्रेष्ठ पद को प्राप्त हो सकता है ? जिसने इस संसार रूपी महासागर को पार कर लिया हो—ऐसा कौन सा महापुरुष है जिसके सुन्दर चरित्र का अनुसरण करके मनुष्य कभी दुःखित नहीं होता है ॥ ६-१० ॥ इस जगत् में प्राप्त करने के योग्य श्रेय तथा क्या उचित फल है ? इस असमञ्जस विषयों से पूर्ण संसार में इससे पार होने के लिये किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये ? ॥ २१ ॥ हे प्रभो ! आप मुझको कुछ तत्त्व ज्ञान का उपदेश दीजिए जिससे मैं ब्रह्माजी के द्वारा विनिर्मित इस अव्यवस्थित जगत् का पूर्वापर (आदि-अन्त) समझ सकूँ ॥१२॥

हृदयाकाश शशि नश्चेत सोमल मार्जनम् ।
यथामे जायते ब्रह्मंस्तथा निर्विघ्नमाचर ॥१३
किमिहस्यादुपादेयं किंवा हेयमथेतरत् ।
कथं विश्रांति मायातु चेतश्चपलमद्रिवत् ॥१४
केन पावन मंत्रेण दुःसंसृति विपूचिका ।
शाम्यतीय मनायास माया सशत कारिणी ॥१५
प्राप्यांतः पूर्णतां पूर्णोन शोचामि यथापुनः ।

संतो भवंतस्तत्त्वज्ञास्तथेहोपदिशंतु माम ।।१६
अनुत्तमानंद पद प्रधान विश्रांति रिक्तं सततं महात्मन् ।
कदर्थं यंतीह भृशं विकल्पाः श्वानोवनेऽहमिवाल्पजीवम् ।।१७

हृदय रूपी आकाश में स्थित रहने वाले इस मेरे मनरूपी चन्द्रमा का मल मार्जन जिस रीति से भी हो जावे हे ब्रह्मन्! वही उपदेश आप मुझे निर्बाध रूप से प्रदान कीजिए ।। १३ ।। आप मुझे कृपा कर यही बतलाइये कि इस महान् विषम संसार में क्या वस्तु तो ग्रहण करने के योग्य है और कौन-सा पदार्थ त्याग कर देने के योग्य है तथा ग्राह्य और त्याज्य—इन दोनों प्रकार की वस्तुओं से भिन्न वस्तु क्या है? यहाँ पर यह कौन-सा साधन है जिसके द्वारा मनुष्यों का यह महान् चञ्चल चित्त पर्वत के तुल्य स्थिरता एवं शान्ति को प्राप्त कर लेवे ।१४। ऐसा वह कौन-सा परम पावन मन्त्र है जिससे यह संसार रूपी विसूचिका (हैजे की बीमारी) जिसमें सैंकड़ों क्लेशों के सृजन करने वाले दोष भरे पड़े हैं, बिना ही परिश्रम के शान्त हो जावे? ।। १५ ।। हे महात्मन्! आप तो पूर्णतया तत्त्वों के ज्ञाता हैं। इस समय में आप मुझे इसी प्रकार का उपदेश प्रदान कीजिए जिससे मेरे अन्तःकरण में पूर्ण शान्ति प्राप्त कर फिर मैं सांसारिक चिन्तादि से उद्विग्न न होऊँ ।। १६ ।। हे महात्मन्! जिस प्रकार से वन में विभिन्न जन्तुओं के अधमरे शरीर को इधर से उधर घसीटते हुए कुत्ते उन्हें पीड़ा दिया करते हैं उसी भाँति अनेक प्रकार के संशय आनन्द मय ब्रह्मपद में आत्यन्तिक निष्ठा से विहीन पुरुष को सर्वदा कष्ट देते रहा करते हैं ।।१७।।



त्रिंशत्तमः सर्ग

कउपायोगतिः कावाका चिन्ताकः समाश्रयः ।
केनेयमशु दवकांन भवेज्जीविताटवी ।।१

न तदस्ति पृथिव्यां वादिविदेवेषु वा क्वचित् ।
सुधियस्तुच्छमप्येतद्यन्नयंतिन रम्यताम् ॥२
क्षयहि दग्ध संसारो नीरन्ध्र कलनाकुलः ।
कथ सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ।३
रागद्वेष महारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जंतुं न बाधते संसारार्णव चारिणम् ।४

श्री रामचन्द्र जी ने कहा – हे मुनिवर ! ऐसा कौन सा उपाय है—कौन-सी गति है—कौन-सा चिन्तन है – क्या आश्रय है और कौन-सा साधन है ? जिसका अवलम्बन करने से यह मानुष जीवन रूपी वन भविष्य में अशुभ करने वाला न होवे ॥१॥ हे भगवन् ! इस मही मण्डल में-स्वर्ग में अथवा देवों के समाज में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसको अत्यन्त तुच्छ होने पर भी आप सरीखे महान बुद्धिमान् पुरुष स्वर्गीय न बनादेवें ॥२॥ यह अत्यन्त नीरस जगत् क्षण भङ्गुर और निरन्तर घोर दुःखों से परिपूर्ण है । हे भगवन् ! कृपा करके अब आप यह बतलाइये कि ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे यह अज्ञान का निवारण होकर परमानन्द स्वरूप वाला एवं उत्तम आस्वाद से समन्वित हो जावे ॥३॥ हे प्रभो ! कृपा कर अब आप वह उपाय बतलाइये जिसका आश्रय ग्रहण करके इस संसार रूपी वन में विचरण करने वाले जीवात्मा को राग-द्वेष रूपी बड़े २ दोष-भोगों के समूह तथा ऐश्वर्य रूपी हिंसक जन्तु कुछ भी कष्ट न दे सकें ॥४॥

व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नायातिमेपया ।
अथवा व्यवहारस्य ब्रूततां युक्तिमुत्तमाम् ॥५
तत्कथं केनवाकिवा कृतमुत्तम चेतसा ।
पूर्वंयेनेति विश्रामं परम पावनं मनः ॥६
यथा जानासि भगवंस्तथा मोह निवृत्तये ।
ब्रूहि मे साधयो येननूनं निर्दुःखतां गताः ॥७

अथवातादृशी मुक्तिर्यदि ब्रह्मन्न विद्यते ।
नवक्तिममवा कश्चिद् विद्यमानामपि स्फुटम् ॥८
स्वयंचैवन चप्नोमितां विश्रांति मनुत्तमाम् ।
तदहंत्यक्त सर्वेहो निरहंकारतां गतः ॥९

आप मुझे उस प्रकार की व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाली किसी उत्तम युक्ति का उपदेश दीजिये जिसका आश्रय लेकर लोक के व्यवहारों में परायण रहने पर भी मुझे कोई दुःख अथवा आत्म-कल्याण में बाधा न हो सके ॥५॥ हे भगवन् ! आप कृपया मुझे यह बतलाइये कि किस अत्युत्तम चित्त वाले महानुभाव ने पहिले मुक्ति के द्वारा मोह का निवारण किया था ? यह भी बतलाइये कि उस महापुरुष ने किस रीति से क्या किया था ? जिसके करने से उसका मन पूर्णतया पवित्र एवं शुद्ध होकर परम शान्ति को प्राप्त हो गया ॥६॥ हे भगवन् ! इस सांसारिक महा मोह की निवृत्ति होने के लिये आप जिस प्रकार का जो कुछ भी उपाय एवं साधन जानते हैं। उस का ठीक-ठीक मुझको आप उपदेश प्रदान कीजिए। ऐसा वह कौन-सा उपाय या साधन है जिसका अवलम्ब ग्रहण करके अनेक श्रेष्ठ महापुरुष दुःखों से रहित दशा को प्राप्त हो गये हैं ॥७॥ हे ब्रह्मन् ! यदि इस प्रकार की कोई युक्ति ही नहीं है और मुझे कोई भी ऐसी युक्ति के होते हुए भी उस उत्तम युक्ति को स्पष्टतया नहीं बतलाता है तो फिर मैं किसी भी तरह से उत्तम विश्रान्ति प्राप्त नहीं कर पाऊँगा और मैं तो फिर सभी इच्छाओं का त्याग करके निरहङ्कारता को प्राप्त हो जाऊंगा ॥८—९॥

न भोक्ष्येन पिवाम्यंवुनाहं परितधेनुवरम् ।
करोमि नाहं व्यापारं स्नान दानाशनादिकम् ॥१०
नच तिष्ठामि कार्येषु संपत्स्वापद्दशासु च ।
न किंचदपि वांछामि देहत्यागादृते मुने ॥११
नाहमस्यनमेनान्यः शाम्याम्य स्नेह दीपवत् ।

सर्वमेव परित्यज्य त्यजमीदं कलेवरम् ॥१२
इत्युक्तवानमलशीत कराभि,
रामोरामो महत्तर विचार विकासिचेताः ।
तूष्णीं बभूव पुरतो महतां घनानांके
कारवं श्रमवशादिव नीलकण्ठ ॥ ३

हे मुनिश्रेष्ठ ! यदि मेरे मन को किसी भी रीति या युक्ति से शान्ति एवं सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती है तो मैं निश्चय ही खान-पान और वस्त्रादि का भी परित्याग कर दूंगा तथा दान-स्नानादि कुछ भी व्यापार नहीं करूंगा ॥१०॥ सम्पत्ति और विपत्ति की किसी भी दशा में कोई भी कार्य नहीं करूंगा । फिर मैं तो हे मुनिवर ! देह के त्याग के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा नहीं करूंगा ॥११॥ इस संसार में न मेरा कोई है और न मैं किसी का हूँ अर्थात् मेरा किसी से भी कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं बिना तेल वाले दीपक के ही तुल्य शान्त हो जाऊँगा और इस जगत् में सभी कुछ का त्याग करके इस अपने देह का भी त्याग दूंगा ॥१२॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! जिस प्रकार से मयूर मेघमाला की छटा को देख कर केका ध्वनि सुनाकर श्रान्त होने पर स्वयं ही चुप हो जाया करता है उसी भांति सुनिर्मलचन्द्र के तुल्य परम सुन्दर और महान् तत्वों के गहन विचार से विकसित चित्त वाले श्रीराघवेन्द्र प्रभु भी वसिष्ठजी आदि गुरु चरणों के समाने यह सब कहकर चुप हो गये थे ॥१३॥



एकत्रिंशतमः सर्ग

वदत्येव मनोमोह विनिवृत्तिकरं वचः ।
रामे राजीवपत्राक्षे तस्मिम् राजकुमारके ॥१
सर्वे बभूवुस्तत्रस्था विस्मयोत्फुल्ललोचनाः।

भिन्नांबरादेहरुहैर्गिरः श्रोतुमिवोद्धुरैः ॥२
विराग व सनापास्त समस्त भव वासनाः ।
मुहूर्त्तममृतां भोधिवीची विलुलिताइव ॥३
ता गिरो रामभद्रस्य तस्य चित्रार्पितैरिव ।
सश्रुताः शृणुकैरंतरानन्द पदवीवरैः ॥४
वसिष्ठ विश्वामित्राद्यैर्मुनिभिः संसद स्थितैः ।
जयंत धृष्टि प्रमुखैर्मन्त्रिभि। मन्त्रकोविदैः ॥५
नृपै दशरथ प्रख्यैः पौरैः पारशवादिभिः ।
सामन्तै राजपुत्रैश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ॥६
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पंजरस्थैश्च पक्षिभिः ।
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैः तुरंगैस्त्यक्त चर्वणै। ॥७
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निज वातायन स्थितैः ।
संशांत भूषणारावैरस्पदैर्वनितागणैः ॥८

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—कमल दल के समान परम सुन्दर नेत्रों वाले राज कुमार श्रीराम भद्र के द्वारा इस प्रकार की मन के महामोह के निवारण करने वाली बातें कही जाने पर उस राज सभा में संस्थित सभी लोगों के नेत्र महान् आश्चर्य से खिल गये थे और परम पुलकित होकर श्रीराम की वाणी सुनने के लिये अपनी जड़ता क्षीण कर चुके थे। उन सब सभासदों की समस्त सांसारिक वासनाऐं वैराग्य की भावना से विनष्ट हो गई थीं और वे सभी लोग कुछ समय के लिये अमृत पूर्ण सागर में निमग्न हो गये थे ॥१—३॥ जिन लोगों ने श्री राम की वे बातें सुनी थीं वे ऐसे निश्चल हो गये थे मानों चित्र लिखित मूर्तियां हों। उन सब का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया था ॥४॥ सभा में स्थित होकर जिन पुरुषों ने श्रीराम की कही हुई बातों का श्रवण किया था उनके नाम निम्नलिखित हैं—वसिष्ठ, विश्वामित्र सुादि मुनिगण मन्त्रणा करने में परम प्रवीण जयन्त, धृष्टि प्रभृति मन्त्रि मण्डल

महाराज दशरथ आदि नरेश, विभिन्न सामन्त गण, पुरवासी लोग, पारषद आदि, लक्ष्मणादि राजकुमार, वेदों के ज्ञाता अनेक ब्राह्मण-भृत्य वर्ग, अमात्य, महल की खिड़कियों में अवस्थित कौशल्या आदि महारानियाँ तथा वनिताएँ भी सब श्रीराम की बातें सुन रही थीं जिनके आभूषणों की ध्वनि भी निश्चलता के कारण नहीं हो रही थी। पिंजरों में स्थित पक्षी-क्रीडा मृग जो एकदम निष्कम्प थे और चर्वण (जुगाली) का त्याग करने वाले तुरङ्ग भी श्री राम की बातें सुन रहे थे ॥५–८॥

सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्व किन्नरैः।
नारद व्यास पुलह प्रमुखैर्मुनिपुङ्गवैः। ९
अन्यैश्च देवदेवेश विद्याधर महोरगैः।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुता। । १०
अथ तूष्णीं स्थितवति रामे राजीवलोचने।
तस्मिन् रघुकुलाकाश शशांके शशि सुन्दरे ॥११
साधुवाद गिरा सार्धं सिद्धसार्थ समीरिता।
वितानकसमाव्योम्नं पौष्पीवृष्टिः पपतह ।. १२
आपूरित सभालोके शांते कुसुम वर्षणे।
इमं सिद्धगणालापं शुश्रुवुस्ते समागताः ॥१३

आकाश में सञ्चरण करने वाले सिद्ध-गन्धर्व-किन्नर तथा नारद व्यास पुलह आदि परम श्रेष्ठ मुनियों ने और समस्त देवगण-देवों के राजा इन्द्र विद्याधर गण एवं महान् दिव्य नागों ने भी श्रीरामचन्द्र जी की अद्भुत अर्थ से समन्वित और अत्यन्त विवेक से भरी हुई अत्युदार वाणियों का श्रवण किया था ॥९–१०॥ राजा रघु के कुल रूपी आकाश में चन्द्र एवं शशि के समान परम सुन्दर और कमल दल के समान सुन्दर नेत्रों वाले श्रीराम जिस समय में अपनी समस्त उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये थे उस समय में 'साधुवाद' के परम गम्भीर ध्वनि

के सहित सिद्धगणों के द्वारा अन्तरिक्ष से ऐसी पुष्पों की वृष्टि की गयी थी कि वहाँ पर उन पुष्पों का चँदोवा-सा तन गया था ॥११—१२॥ उस सभा में समासीन समस्त लोगों को अच्छी तरह से आच्छादित करके जब वह पुष्पों की वर्षा समाप्त हुई तो सभासदों ने सिद्ध गणों के समुदाय का ऐसा परस्पर में किया गया वार्तालाप अपने कानों से श्रवण किया था ॥१ ॥

आकल्पं सिद्धसेना सुभ्रमद्भिरभितोदिवम् ।
अपूर्वमिदमस्माभिः श्रुतं श्रुतिरसायनम् । १४
यदनेनकिलोदार मुक्तं रघुकुलेन्दुना ।
वीतराग तया तद्विवाक्पतेरप्यगोचरम् ॥१५
अहोवत महतत् पुण्यमद्यास्याभिरिदं श्रुतम् ।
वचो राममुखोद्भूतं महह्लादकरं धियः ॥१६
उपशमामृत सुन्दर मादरा
दधिगतोत्तमता मदमेषयत् ।
कथितव नुचितं रघुनन्दनः
सपदि तेन वयं प्रतिबोधिताः ॥१७

सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषों के समुदाय में रह कर स्वर्ग के सम्पूर्ण भागों में भ्रमण करते हुए भी हम लोगों ने इसी समय में आज कर्णों को अमृत के तुल्य सुख देने वाला समस्त वेदों का सारभूत यह अत्यद्भुत प्रवचन सुना है ॥१४॥ लोक में वीतराग होने के कारण से इन श्रीरघुकुल चन्द्र श्रीराम ने जो उत्तम बातें कही हैं उनको सम्भवतः सुरगुरु वृहस्पति भी नहीं जानते हैं ॥१५॥ अहो ! यह हम सब लोगों के लिये परम सौभाग्य की बात है कि आज हम लोगों ने श्रीराम के मुखारविन्द से उद्गीर्ण परम पुण्यमय प्रवचन सुन लिया है जो कि अन्तःकरण को अत्यन्त आह्लाद प्रदान करने वाला है ॥ ६॥ इस समय में श्री रघुनन्दन ने आदर पूर्वक समु-

चित भाषण किया है वह शान्ति स्वरूप पीयूष से परिपूर्ण है अतएव बहुत ही सुन्दर है। यह भाषण परम श्रेष्ठ है और सर्वोतम सिद्ध हो गया है। अब तो इससे हम लोगों को भी यह ज्ञान उत्पन्न हो गया है कि स्वर्ग आदि के भी समस्त सुखोपभोग नस्सार ही हैं ॥१७॥



द्वात्रिंश सर्ग

पावनस्यास्य वचसः प्रोक्तस्य रघुकेतुना।
निर्णयं श्रोतुमुचितं वक्ष्यमाणं महिर्षिभिः ॥१
नारद व्यास पुलह प्रमुखा मुनिपुङ्गवाः।
आगच्छताश्वविघ्नेन सर्वएव महर्षयः ॥२
इत्युक्तासा समस्तैव व्योमवास निवासिनी।
तां पपात समां तत्र दिव्या मुनिपरम्परा ॥३
अग्रस्थितमनुत्सृष्ट रणद्वीणां मुनीश्वरम्।
पयःपीन घनश्यामं व्यासमेवकिलोतरा ॥४
भृग्वंगिरः पुलस्यादि मुनिनायक मण्डिता।
च्यवनोद्दालकोशीरशर लोमादिमालिता ॥५
वसिष्ठ विश्वामित्रोतान् पूजयामसतुः क्रमात्।
अर्घ्यै. पाद्यैर्वचोभिश्च सर्वानिवनभश्चरान्।
वसिष्ठ विश्वामित्रोते पूजयामासुरादरात्।
अर्घ्यैः पाद्यैः वचोभिश्च नभश्चर महागणाः ॥७

सिद्धगणों ने परस्पर में कहा—रघुकुल तिलक श्रीराम के द्वारा किये गये परम पावन प्रश्न वचनों का ये महर्षि-गण जो भी कुछ निर्णयात्मक उत्तर देंगे उसको भी हम लोगों को सुनना चाहिए ॥१॥ नारद-व्यास और पुलह आदि महर्षि श्रेष्ठो! आप सभी लोग उस निर्णय का श्रवण करने के लिये यहां पर पदार्पण कीजिये ॥२॥ श्रीवाल्मीकिजी ने

कहा—हे भरद्वाज ! सिद्धों के द्वारा ऐसा कहने पर विमानों पर निवास करने वाली दिव्य महर्षियों की समस्त मण्डली उसी समय उस राज-सभा में उतर आयी थी ॥ ॥ उस मुनि मण्डली में सबसे आगे देवर्षि नारदजी थे जो अपनी वीणा को साथ में ही लिये हुये थे और सबके पीछे महर्षि प्रवर व्यासजी थे जिनकी दिव्य कान्ति सजल मेघ के समान श्याम थी ॥४॥ इन दोनों के मध्य मे अन्य ऋषियों का समूह था। भृगु, अङ्गिरा और पुलस्त्य प्रभृति मुनीश्वर उस मण्डली की शोभा-वृद्धि कर रहे थे। च्यवन-उद्दालक-उशीर तथा शरलोम आदि महर्षियों ने उस मुनि मण्डली को सब ओर से घेर रक्खा था ॥५॥ आकाश मण्डल से जैसे ही वह मुनि मण्डली राज-सभा के भवन में उतरी थी वसे ही वसिष्ठ-विश्वामित्र ने अर्घ्य-पाद्य एवं मृदुल-मधुर वचनावली के द्वारा क्रम से उन समस्त आकाश चारी सिद्धों एवं महर्षियों का समर्चन किया था ॥६—७॥

सर्वादरेण सिद्धौघं पूजयामास भूपतिः ।
सिद्धौघो भूपतिश्चैव कुशल प्रश्न वार्त्तया ॥८
वसिष्ठ विश्वामित्राभ्यां सहते नारदादयः ।
इदमूचुरनूचाना राममानमिताननम् ॥९
अहोबत कुमारेणं कल्याण गुण शालिनी ।
वागुक्ता परमोदारा वैराग्यरस गर्भिणी ॥१०
परिनिष्ठित वक्तव्यं सबोधमुचितं स्फुटम् ।
उदारं प्रियमार्यार्हम विह्वलमपिस्फुटम् ॥११
अभिव्यक्त पदं स्पष्ट मिष्टं स्पष्टं चतुष्टमत् ।
करोति राघवप्रोक्तं वचः कस्य न विस्मयम् ॥१२
शतादेक तमस्यैव सर्वोदार चमत्कृतिः ।
ईप्सितार्थार्पणैकांतदक्षा भवति भारती ॥१३

इसके अनन्तर भूमिपति महाराज दशरथजी ने बहुत ही आदर

की भावना के साथ उन समागत सिद्धों के समुदाय का पूजन किया था। इसके उपरान्त समागत सिद्ध-सम्प्रदाय ने भी कुशल प्रश्न पूर्वक परम मधुर वार्तालाप के द्वारा महाराजाधिराज दशरथ का समुचित समादर-संस्कार किया था ॥८॥ इसके पश्चात् वसिष्ठ और विश्वामित्र जी के साथ देवर्षि नारद प्रभृति जो अनूचान थे अर्थात् साङ्ग वेदों का भली-भाँति अध्ययन किये हुए थे, मस्तक को झुकाकर विराजमान हुए श्रीराम-चन्द्रजी को लक्ष्य करके इस रीति से बोले थे ॥९॥ अहो! बहुत ही अधिक आश्चर्य की बात है कि राजकुमार श्रीराम ने इस तरह से अनेक प्रकार के कल्याण पूर्ण गुणगणों से शोभाशालिनी तथा वैराग्य के परम सार से भरी हुई अत्यन्त उदारता के साथ ये बातें कही हैं ॥१०॥ श्रीरामचन्द्र जी के इस सुन्दर भाषण में जो भी वक्तव्य अर्थ है वह इदमित्थ रूप से व्यवस्था के निहित है। वह भी ऐसी सुगम भाषा में कहा गया है कि जिसका श्रवण करते ही सुनने वाले उसके वास्तविक अभिप्राय को भली-भाँति समझ लेवें। जो भी कुछ इस भाषण में कहा गया है वह श्रेष्ठ पुरुषों के कहने के योग्य एवं अत्यन्त उचित है और बहुत ही स्पष्ट शब्दों के द्वारा ही प्रतिपादित है। इनके इन शब्दों में अनेक उत्कृष्ट अर्थ एवं अभिप्राय छिपे हुए हैं और ये श्रवण करने में भी परम प्रिय प्रतीत होते हैं ॥११॥ जो भी कुछ इस परम मधुर एवं प्रिय भाषण में बताया गया है वह चित्त की चञ्चलता के साथ नहीं कहा गया है प्रत्युत स्थिर बुद्धि से भली भाँति विचार करके ही अपना परम गूढ़ विचार अभिव्यक्त किया गया है। जिसका भावार्थ स्पष्ट रूप से सबको समझ मे आ जाता है। इस श्रीराम के भाषण का प्रत्येक पद व्याकरण से विशुद्ध एवं अर्धोच्चारणादि ग्रस्त दोषों से रहित है। श्रीराम की यह वाणी परम प्रिय होने के साथ हित के करने वाली और सबको सन्तोष प्रदान करने वाली है। श्रीराम के मुखारविन्द से निकले हुए ये वचन किस पुरुष को आश्चर्य में नहीं डाल देते हैं ॥१२॥ यों

बोलने वाले बहुत से होते हैं परन्तु सैकड़ों में कोई ही एक ऐसा पुरुष होता है जिसकी वाणी पूर्ण रूप से समुत्कृष्ट-चमत्कार से परिपूर्ण और अभीप्सित अर्थ को प्रकट करने में समर्थ हुआ करती है ॥१३॥

कुमार त्वां विना कस्य विवेकफलशालिनी ।
परविकासमायाति प्रज्ञाशरलता तता ॥१४
प्रज्ञा दीपशिखा यस्य रामस्येव हृदिस्थिता ।
प्रज्वलत्य समःलोककारिणीस पुमान स्मृता ॥१५
रक्तमांसास्थि यन्त्राणि बहून्यतितराणि च ।
पदार्थानभिकर्षन्ति नास्तितेषु सचेतनः ॥१६
जन्म मृत्युजरा दुःख मनुयान्ति पुनः पुनः ।
विमृशंतिन संसारं पशवः परिमोहिताः ॥१७
कथचित् क्वचिदेवं कोदृश्यते विमलाशयः ।
पूर्वापर विचारार्हो यथयमरिमर्दनः ॥१८

हे राजकुमार ! आपको छोड़कर दूसरा पुरुष ऐसा कौन है जिसकी वाणी बाण के सदृश सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ का भेदन करने वाली कुशाग्र बुद्धि रूप वाली लता विवेक रूपी फल से समन्वित होकर वैराग्य रूपी उत्तम विकास को प्राप्त हो रही हो ॥१४॥ श्रीराम के ही समान जिस पुरुष के हृदय में अनुपम प्रकाश का प्रसार करने वाली प्रज्ञा रूपिणी दीपक की शिखा (लौ) प्रज्वलित होरही हो वही इस संसार में परम श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है ॥१५॥ जिन पुरुषों में इस प्रकार की प्रज्ञा नहीं है उनका देह तो एक रक्त-मांस और हड्डियों का यन्त्र जैसा ही होता है और आत्म-बुद्धि होने के कारण वे शब्द-स्पर्श आदि वाले पदार्थों का उपभोग किया करते हैं । उन ऐसे लोगों की स्थिति को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अन्दर कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं और वे बिलकुल जड़ के तुल्य हो गये हैं ॥१६॥ जो लोग पूर्ण रूप से मोह · समाच्छन्न होने के कारण यह संसार क्या है और यह मानव देह

प्राप्त करने का क्या फल है। इसका कभी भी कुछ विचार ही नहीं किया करते हैं वे देखने में ही मनुष्य हैं और ज्ञान हीन होने के कारण निरे पशु ही होते हैं। ये बारम्बार महामोह में मग्न होकर जन्म-मृत्यु और जरा आदि की यातनाएँ भोगते रहा करते हैं ॥ १७ ॥ इस जगत में आगे-पीछे के विचार करने में योग्य और विमल आशय वाले पुरुष बड़ी कठिनाई से श्रीराम के तुल्य कहीं पर कोई एकाध ही हुआ करते हैं ॥१८॥

अनुत्तम चमत्कारफलाः सुभगमूर्तयः।
भव्याहि विरलालोके सहकार द्रुमाइव ॥१९
सम्यग्दृष्ट जगद्यात्रा स्वविवेक चमत्कृतिः।
अस्मिन्मान्यमतावन्तरियमजैव दृश्यते ॥२०
सुभगाः सुलभारोहाः फलपल्लवशालिनः।
जायन्तेतरवो देशे नतु चन्दन पादपाः ॥२१
वृक्षाः प्रतिवनं सन्तिनित्यं सफल पल्लवाः।
न त्व पूर्व चमत्कारो लवङ्गः सुलभः सदा ॥२२

जिस प्रकार से इस संसार में सबसे श्रेष्ठ मधुर फलों वाले और परम सुन्दर आकृति से युक्त आपके वृक्ष के समान उत्कृष्ट चमत्कार से समन्वित तत्व-साक्षात्कार स्वरूप फल से सुसम्पन्न एवं अतीव सुन्दर शरीर वाले भव्य पुरुष भी विरले ही हुआ करते हैं ।१९।। इन परमादरणीय बुद्धि वाले श्रीराम में अभी इसी छोटी अवस्था ही में अपने ही विवेक के कारण से उस तत्व दर्शन स्वरूप चमत्कार का उदय दिखलाई दे रहा है जिसके द्वारा इस जगत् के व्यवहारों का भली भाँति समीक्षण हुआ है ॥२०॥ जो देखने में परम सुन्दर हैं और जिन पर समारोहण भी बहुत ही सरलता से किया जा सकता है और जो अत्युत्तम फलों एवं पुष्पों से भी सुशोभित रहा करते हैं—इस तरह के वृक्ष प्रायः बहुत से हुआ करते है किन्तु चन्दन के वृक्ष सर्वत्र नहीं हुआ करते हैं इस कथन

का तात्पर्य है कि इसी प्रकार से श्रीराम के सदृश पुरुष सर्वत्र अति दुर्लभ हैं ।।२१।। सुन्दर फलों और पत्तों से भरे-पूरे वृक्ष प्रत्येक वन में सदा ही सुलभ हुआ करते हैं परन्तु अपूर्व चमत्कार से युक्त लौंग का वृक्ष सर्वत्र सुलभ नहीं हुआ करता है इसी भाँति रघुकुल भूषण श्रीराम के समान पुरुष सब जगह सुलभ नहीं हैं ।।२२।।

ज्योत्स्नेवशीताशशिनः सुतरोरिव मञ्जरी ।
पुष्पादामोद लेखेव दृष्टा रामाच्चमत्कृतिः ।।२३
यतन्तेसार संप्राप्तौ ये यशोनिधयो धियः ।
धन्याधुरिसतांगण्यास्तएव पुरुषोत्तमाः ।।२४
नरामेण समोस्तीह दृष्टोलोकेषु कश्चन ।
विवेकवानुदारात्मान भावीचेति नो मतिः ।।२५

जिस तरह चन्द्रमा से शीतल एवं नेत्रानन्दकारी चाँदनी समुत्पन्न होती है, सुन्दर वृक्ष से मनोरम मञ्जरी प्रकट होती है और पुष्प से सुन्दर चित्ताकर्षक सुगन्ध का प्रवाह प्रादुर्भूत हुआ करता है उसी प्रकार से श्रीराम से इसे तत्व दर्शन रूपी चमत्कार का आविर्भाव इस समय में देखा गया है ।।२३।। जो पुरुष सर्वदा तत्व-चिन्तन में तत्पर होकर विवेक के द्वारा आत्मज्ञान अथवा परब्रह्म परमात्मा के प्राप्ति स्वरूप सार पदार्थ के लिये प्रयत्नशील रहा करते हैं वे वास्तव में सुयशस्वी-सत्पुरुषों में अग्रणी-धन्य एवं समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ हैं ।।२४।। तीनों लोकों में श्रीराम के समान विवेकशील और उदार चित्त पुरुष न तो अब तक कोई देखा गया है और न भविष्य में ही कोई ऐसा होगा—ऐसी हमारी मान्यता है ।।२५।।

॥ वैराग्य प्रकरण सम्पूर्ण ॥

++++

❀ मुमुक्ष-व्यवहार प्रकरण ❀



प्रथम सर्ग

इति नादेन महता वचस्युक्ते समागतैः ।
राममग्रगतं प्रीत्या विश्वामित्रोभ्य भाषत ॥१
न राघव तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतांवर ।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्धया सर्वं विज्ञातवानसि ॥२
केवलं मार्जना मात्रं मनागेवोप उज्यते ।
स्वभाव विमले नित्यं स्वबुद्धि मुकुरे तव ॥३
भगवद् व्यास पुत्रस्य शुकस्येनमतिस्त व ।
विश्रांतिमात्र मेवांतज्ञति ज्ञेयाथ पेक्षते ।४
भगवद् व्यास पुत्रस्य शुकस्य भगवन् कथम् ।
ज्ञं येष्यादौन विश्रातं विश्रान्तंचधिया पुनः ॥५
आत्मोदन्त समं राम कथ्यमानमिदं मया ।
शृणु व्यासात्मजो दंतं जन्मनामंत कारणम् ॥६

महामहर्षि श्री वाल्मीकि जी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार से उस राजसभा में समागत सिद्ध पुरुषों ने जिस समय में बहुत ही समुच्च स्वर से श्रीरामचन्द्र जी के परम तात्त्विक ज्ञान से परिपूर्ण भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसका अभिनन्दन किया तो उस समय में महर्षि विश्वामित्र जी ने अपने ही समक्ष में विराजमान श्रीराम से अत्यन्त प्रेम के साथ कहा—॥ १ ॥ हे ज्ञानवानों में परम श्रेष्ठ राघव ! अब तुम्हारे लिए अब अन्य जानने के योग्य कुछ भी शेष नहीं है अर्थात् जो भी जानने के योग्य है वह सभी आप जानते हैं। तुम तो स्वयं ही

अपनी सूक्ष्म बुद्धि से सभी कुछ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके हो ॥ २ ॥ हे श्रीराम ! आपकी बुद्धि तो मुकुर के समान स्वाभाविक रूप से ही अत्यन्त स्वच्छ है अब तो उसमें केवल साधारण-सा परिष्कार कर देने की आवश्यकता है ॥ ३ ॥ हे श्रीराम ! आपकी बुद्धि तो भगवान् व्यास-देव जी के पुत्र शुकदेव जी की बुद्धि के ही समान है कि जो भी कुछ वस्तु है उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका है ॥ ४ ॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! भगवान् व्यासदेव जी के पुत्र शुकदेव जी को आदि में कैसे जानने योग्य वस्तुओं से मन को विश्रान्ति नहीं हुई थी और फिर गुरु चरण के उपदेश से वह विश्रान्त हुआ था ? ॥ ५ ॥ विश्वामित्र जी ने कहा—हे श्रीराम ! अब मैं तुम्हारे सामने व्यासदेवजी के पुत्र शुकदेव जी का यह वृत्तान्त बतला रहा हूँ जो कि बिल्कुल तुम्हारे ही वृत्त के तुल्य है। आप अब इसका श्रवण कीजिए। यह वृत्तान्त श्रवण करने वाले मनुष्यों के जन्म–मरण स्वरूप संसार के बन्धन का अन्त अर्थात् मोक्ष का कारण है ॥ ६ ॥

योयमंजन शैलाभो निविष्टो हेम विष्टरे।
पार्श्वे तव पितुर्व्यासो भगवान भास्कर द्युति ॥७
अस्याभूदिन्दुवदनस्तनयोनय कोविदः।
शुको नाम महाप्राज्ञो यज्ञोमूर्त्ये वसुस्थितः ॥८
प्रविचार यतो लोकयात्रामलमिमांहृदि।
तवेव किल तस्यापि विवेक उदभूदयम् ॥६
ते नासौस्व विवेकेन स्वयमेव महामनाः।
प्रविचार्य चिरं चारु यत्सत्य तदवाप्तवान् ॥१०
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्य विश्रांत मनाः स्थितः।
इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ ॥११
केवलं विररामास्य चेतो विगत चापलम्।
भोगेभ्यो भूरि भंगेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥१२

ये जो आपके पिता श्री (महाराज दशरथ) के समीप में स्वर्ण के सिंहासन पर अञ्जन गिरि के तुल्य एकदम श्याम वर्ण वाले और भगवान् भुवन भास्कर के समान तेजस्वी भगवान् व्यासदेव जी विराजमान हैं ॥ ७ ॥ इन्हीं व्यासदेवजी के नीति शास्त्र का महामनीष शुकदेव नाम से प्रसिद्ध अत्यन्त ब्रह्मज्ञानी पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसका मुख चन्द्रमा के समान परम सुन्दर था और वह मूर्तिमान् यज्ञ के स्वरूप वाले थे। ॥ ८ ॥ वे शुकदेव जी एक बार मन में मानव जीवन की इस सांसारिक यात्रा और व्यवहार पर विचार कर रहे थे। उस समय में आपके ही समान उनके भी हृदय में विवेक का उदय हो गया था ॥ ९ ॥ उन महा-मना महर्षि शुकदेव जी ने अपने ही आन्तरिक समुत्थित विवेक से स्वयं ही अत्यधिक समय तक विचार करके जो परमार्थ या साधन की समुच्च स्थिति एवं सत्य स्वरूप है उसे उन्होंने प्राप्त कर लिया था ॥ १० ॥ उस परमार्थ परम सत्य वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भी उनके हृदय में 'यही सच्चिदानन्द घन परब्रह्म परमार्थ वस्तु है'—ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ था और इसी दृढ़ विश्वास न होने के कारण सत्य वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भी उनके मन को शान्ति नहीं मिली थी ॥ ११ ॥ इस विवेक से केवल यही हुआ था कि वर्षा में होने वाली जलधारा के अतिरिक्त अन्य जनों से मुँह मोड़ लेने वाले चातक के समान ही उनका मन अत्यन्त क्षणभंगुर सांसारिक विषयों के भोगों से एकदम विरत हो गया था तथा इस चित्त में रहने वाली स्वाभाविक चञ्चलता दूर हो गयी थी ॥ १२ ॥

एकदा सो विमलप्रज्ञो मेरावेकांत सुस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्ण द्वैपायनं मुनिम् ॥१३
संसाराडंबरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमंयाति कियत्कस्यकदेतिवा ॥१४
इति पृष्ठेन मुनिना व्यासेनाखिल मात्मजे ।

यथावद मलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥१५
आज्ञासिषं पूर्वमेतदह मित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः शुभया बुद्धचान वाक्यं बह्त्र मन्यत ॥१६
व्यासोपि भगवान् बुद्ध्वा पुत्राभिप्राय मीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्र नाह जानामि तत्त्वतः ॥१७
जनको नाम भूपालो विद्यते वसुधातले ।
यथावद् वदेत्त्वसो वेद्यंतस्मात् सर्वमवाप्स्यपि ॥१८

एक बार परम विमल बुद्धि वाले महर्षि शुकदेवजी ने मेरु पर्वत पर नितान्त एकान्त स्थल पर विराजमान अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास जी से भक्ति की भावना से युक्त होकर पूछा था—हे महामुने ! यह संसार के स्वरूप वाला आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और किस रीति से इसका शमन या विनाश हुआ करता है ? यह कितना विशाल है और कितने समय तक रहने वाला है ? ॥ १३–१४ ॥ अपने पुत्र के द्वारा इस प्रकार से पूछे जाने पर महान् आत्म ज्ञान वाले मुनिश्रेष्ठ व्यासदेव जी ने जो कुछ भी बताने के योग्य बातें थीं वे सब यथावत् विशुद्ध रूप से शुकदेव जी को बतला कर समझा दिया था ॥ १५ ॥ अपने पिताजी के द्वारा दिये हुए उपदेश को श्रवण करने के अनन्तर शुकदेव जी ने अपने मन में विचार किया था कि यह इतना तो मैं पहिले ही स्वयं जान गया था—यही विचार करके शुकदेव जी ने पिताजी के उपदिष्ट वचनों का अपनी शुभ बुद्धि के द्वारा अधिक समादर नहीं किया था ॥ १६ ॥ भगवान् व्यासजी भी अपने पुत्र के इस भाव को समझ गये थे और उन्होंने शुकदेव जी से कहा—हे बेटा ! मैं वास्तव में तात्त्विक रूप से इस गहन विषय को नहीं जानता हूँ ॥ १७ ॥ इस भूमण्डल में जनक नाम वाले एक परम प्रसिद्ध राजा हैं जो कि इस जानने के योग्य तत्त्व यथार्थ रूप से जानते हैं। आप उन्हीं के पास जाइये और उनसे आपको सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा ॥१८॥

पित्रेत्युक्ते शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातले ।
विदेह नगरीं प्राप जनकेनाभि पालिताम् ॥१६
आवेदितो सौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्यास सुतो राजन् शुकोऽत्रस्थितवानिति ॥२०
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्ता मेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा वभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥२१
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमंगणम् ।
तत्राहानिस सप्तैव तथैवावस दुन्मनाः ॥२२
अथ प्रवेशया मास जनकोन्तःपुरं शुकम् ।
राजन दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि च ॥२३
तत्रोन्मदाभिः कांताभिः भोजनैर्भोग संचयैः ।
जन को लालयामास शुकं शशि समानम् ॥२४

अपने पिता (व्यासदेव) जी के इस प्रकार से कहने पर शुकदेव मुनि सुमेरु गिरि से उतर कर मही मण्डल पर आ गये थे और चलकर महाराज जनक के द्वारा पालित पुरी विदेह नगरी में पहुँच गये थे ॥१६॥ वहां पर द्वारपालों ने जाकर महाराज जनक को यह सूचना दी थी कि—'राजन् ! राजद्वार पर इस समय व्यासदेवजी के पुत्र शुकदेव स्थित हैं। ॥ २० ॥ महाराज जनक ने शुकदेवजी के आत्म ज्ञान की परीक्षा लेने के लिये अवहेलना के साथ द्वारपाल से कहा—शुकदेवजी समागत हुए हैं तो वहीं पर ठहरें—ऐसा कहकर जनक चुपचाप तक सात दिन तक बैठे रहे थे ॥२१॥ इसके अनन्तर महाराज जनक ने शुकदेव जी को राज-प्रासाद के आंगन में बुलवाया था किन्तु वहां प्रवेश कराने पर भी सात दिन तक पूर्ववत् उपरत होकर बैठे रहे और उनकी कोई भी खोज-खबर नहीं ली थी ॥ २२ ॥ इसके भी अनन्तर महाराज जनक ने शुकदेव जी को अन्तःपुर में प्रवेश करा देने की आज्ञा दे दी थी किन्तु अन्तःपुर में भी सात दिन तक स्वयं उनसे नहीं मिले थे ॥ २३ ॥ उस अन्तःपुर

में चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाले शुकदेव जी का यौवन-मद से उन्मत्त परम सौन्दर्य सम्पन्न कामिनियों के द्वारा अनेक भोग सामग्रियों से लालन पोषण कराते रहे थे।। २४।।

ते भोगास्तानि दुःखानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाजह्नुर्मंदपवना बद्धपीठमिवाचलम् ।।२५
केवलं सुसमः स्वस्थो मौनी मुदित मानसः ।
अतिष्ठत्स शुकस्तत्र सम्पूर्ण इव चन्द्रमाः ।।२६
परिज्ञात स्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीतं मुदितात्मानमवलोक्य न नामह ।।२७
निःशेषित जगत्कार्यं प्राप्ताऽखिल मनोरथ ।
किमीप्सितं तवेत्याशु कृतस्वागतमाहतम् ।। ८
संसाराडंबरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशम मायाति यथावत्कथया शुभे ।।२९
जनके नेतिपृष्टेन शुकस्य कथितं तदा ।
तदेव यत् पुराप्रोक्तं तस्य पित्रा महात्मना । ३०

किन्तु जिस प्रकार से सुदृढ़ मूल वाले अविचल वृक्ष को मन्दगति से वहन करने वाला वायु नहीं उखाड़ सकता है उसी तरह से अन्तःपुर में उपस्थित किए गये अनेक प्रकार के भोग तथा राजा जनक के द्वारा उपेक्षा से समुत्पन्न अनादर आदि के दुःख व्यास पुत्र शुकदेव जी के मन को अपनी ओर न आकर्षित करने में समर्थ हो सके और न कोई विकृति ही कर सके थे ।। २५ ।। शुकदेवजी अन्तःपुर में पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य विकारों से रहित—हर्ष—विषाद से विरहित होकर भोगों और अनादर में भी समभाव वाले होते हुए परम स्वस्थ—मौन और प्रसन्न चित्त बने रहे थे ।।२६।। राजा जनक ने इस रीति से परीक्षा करते हुए शुकदेव जी के स्वभाव को जान लिया था और फिर बड़े समादर के साथ उनको अपने समीप में बुलवाया था तथा परम प्रसन्न उनको प्रणाम किया

था ।।२ ।। इसके अनन्तर शीघ्रता से उनका स्वागत करके राजा जनक ने उनसे कहा—हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए जो भी आवश्यक कर्त्तव्य हैं वे सभी भाव से पूर्ण कर सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त कर लिया है आप तो परम कृतकृत्य और आप्त हो चुके हैं। अब आपको किस वस्तु की इच्छा है ? ।।२८।। श्री शुकदेवजी ने कहा—हे महाराज ! मैं यही जानना चाहता हूँ कि इस संसार का आडम्बर कैसे समुत्पन्न हुआ है और इसका विनाश किस रीति से हुआ करता है ? इसी प्रश्न का यथावत् उत्तर मेरे सामने आप करिये ।।२९।। विश्वामित्र जी ने कहा—इस रीति से पूछने पर महाराज ने शुकदेवजी को वही बातें बतलायीं थीं जिनको कि उनके पिता व्यासजी ने पहिले ही उनको बतलादी थीं ।।३०।।

स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।
एत देवच पृष्टेन पित्रामे समुदाहृतम् ।।३१
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदांवर ।
एष एवच वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ।।३२
यथा यंस्वविकल्पोत्थः स्वविकल्प परिक्षयात् ।
क्षीयते दग्ध संसारो निःसार इति निश्चयः ।।३३
तत्किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्रांति माप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ।।३४
नातः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्य परो मुने ।
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ।।३५
अविच्छिन्न चिदात्मैकः पुमानस्तीहनेतरत् ।
स्वसंकल्प वशाद् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ।।३६

शुकदेवजी ने कहा—हे राजन् ! मैंने अपने विवेक से स्वयं ही यह बात तो जान ली थी इस पर भी जब मैंने अपने पिताजी से पूछा उन्होंने भी मुझको यही बतलाया था और इस समय में बोलने वालों में

परम श्रेष्ठ आपने भी यही ब त कही है और शास्त्रों में महावाक्यों का यही अर्थ दृष्टिगोचर हुआ करता है ॥३५॥३२॥ समस्त शास्त्रों का यही निश्चय है कि यह नश्वरता के स्वभाव वाला संसार अपने ही सङ्कल्प से समुत्पन्न हुआ है और यह सङ्कल्पों के आत्यान्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है। अतएव यह निस्सार ही है ॥३३॥ हे महा बाहुओं वाले ! क्या यही अविचल सत्य है ? यदि यही सत्य है तो आप कृपा करके मुझे इस रीति से उपदेश दीजिये कि मेरे चित्त में स्थायी शान्ति प्राप्त हो जावे तथा भ्रम और सन्देह का सर्वथा निराकरण हो जावे ॥३४॥ राजा जनक ने कहा—इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अखण्ड-चिन्मय एक परम पुरुष परमेश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है—इस परम तत्व को आपने स्वयं ही अपने विवेक के द्वारा भली भाँति समझ लिया है और हे मुनिवर ! आपने इसी तत्व को गुरु स्वरूप अपने पिता जी से भी पुष्टि करा ली है। इससे बढ़कर दूसरा कोई भी जानने के योग्य तत्त्व नहीं है यह प्राणी अपने ही संकल्पों के वशीभूत होकर बद्ध होता है और संकल्प रहित होने से मुक्त हो जाया करता है ॥३५।३६॥

तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः।
भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्यात् प्राक् सकलादिह ॥३७
तव बालमहावीरमतिर्विरतिमागता।
भोगेभ्यो दीर्घरोगेभ्यः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥३८
न तथा पूर्णता जाता सर्वज्ञान महानिधेः।
तिष्ठस्तवासि स्फारे पितुस्तव यथा तव ॥३९
व्यासादधिक एवाहं व्यासशिष्योसि तत्सुतः।
भोगेच्छा तानवेनेह मत्तोप्यत्यधिक भवान् ॥४०
प्राप्त प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्ण चेतसा।
न दृश्येपतासि ब्रह्मन् मुक्तस्त्वं भ्रांतिमुत्सृज ॥४१

हे मुनिवर ! आपको जो कुछ भी जानने के योग्य वस्तु है उसे आपने पूर्णतया जान लिया है और आपका मन पूर्ण काम होगया है। आप बाह्य विषयों की ओर अपनी दृष्टि नहीं डालते हैं। अतएव आप पूर्ण रूप से मुक्त हैं। आपको भोगों से विरति होगई है ॥३७॥ हे मुनि कुमार ! आप याचक होते हुए भी विषयों के उपभोग करने में त्याग करने के कारण परम त्यागवीर हैं। चिरकाल तक बने रहने वाले भोग रूपी रोगों से आप पूर्ण विरक्त हो गये हैं। अब आप और मुझसे क्या सुनना चाहते हैं ? ॥३८॥ सब प्रकार के ज्ञान की निधि और महान् तप में स्थित आपके पिता श्री व्यासदेवजी को आपके समान इस ज्ञान के विषय में पूर्णतया प्राप्त नहीं हुई है ॥३ ॥ आप तो व्यासजी के शिष्य और उनके ही पुत्र होते हुए भी व्यासजी से भी अपने ज्ञान तथा वैराग्य में अधिक हैं। भोगों की इच्छा में तो मुझसे भी अधिक त्यागी हैं ।४०। हे मुनिवर ! आपने तो जो भी कुछ प्राप्त करने के योग्य था यह सब प्राप्त कर लिया है और अब आप पूर्ण काम हैं। हे ब्रह्मन् ! अब आप इस दृश्य जगत् में पतित नहीं होगे क्योंकि मुक्त हो गये हैं। अब आप अपनी भ्रान्ति का त्याग कर दीजिए ॥४१॥

अनुशिष्टः सइत्येवं जनकेन महात्मना।
अतिष्ठत्स शुकस्तूष्णीं स्वच्छे परम वस्तुनि ॥४२
वीत शोक भया यासो निरीहश्छिन्न संशयः।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थंनिन्दितम् । ४३
तत्र वर्ष सहस्राणि निर्विकल्प समाधिना।
दशस्थित्वा शशामासा वात्मन्य स्नेहदीपवत् ॥४४
व्यपगतकलना कलंकशुद्ध
स्वयममलात्मनि पावने पदेसौ।
सलिल कण इवां बुधौ महात्मा
व्गलितवासन मेकतां जगाम ॥४५

विश्वामित्रजी ने कहा—हे श्रीराम ! महात्मा जनक के द्वारा इस रीति से सुन्दर सदुपदेश प्राप्त करके महामुनि शुकदेवजी परमात्मा के ध्यान में स्थित हो गये थे। शुकदेव जी के शोक—भय—श्रम—सभी नष्ट हो गये थे। वे पूर्णतया निरीह और संशय से रहित हो गये थे। इसके उपरान्त वे सुमेरु पर्वत के परम प्रशस्त शिखर पर समाधि लगाने के लिये चले गये थे ॥ ४२–४३ ॥ वहाँ दश हजार वर्ष तक निर्विकल्पक समाधि में स्थिर रहकर तेल समाप्त होने पर दीपक की भाँति ही प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर वे परब्रह्म में लीन हो गये थे ॥ ४४ ॥ इस दृश्य जगत् के विषयोपभोगों में आसक्ति से उत्पन्न अज्ञान के दूर हो जाने से शुद्ध एवं सञ्चित पुण्य पापों के विनाश से अमलात्मा पावन पद परमात्मा में इस अशुद्ध देहादि की निवृत्ति हो जाने से कृष्ण वर्ण मेघ से पृथक् होकर जलकण समुद्र में जिस तरह मिलकर तत्सपान हो जाता है उसी विगलित वासना वाले शुकदेव मुनि की आत्मा अखण्ड एकता को प्राप्त हो गई थी ॥ ४५॥



द्वितीय सर्ग

तस्य व्यास तनूजस्य तनूजस्य मलमात्रोपमार्जनम् ।
यथोपयुक्तं ते राम तावदेवोपयुज्यते ॥१
ज्ञेयमेतेन विज्ञातकशेषेण मुनीश्वराः ।
स्वदतेस्मै नयद्भोगारोगा इवसुमेधसे ॥२
ज्ञात ज्ञेयस्य मनसोनूनमेतद्धि लक्षणम् ।
न स्वदंते समग्राणि भोगवृन्दानि यत्पुनः ॥३
भोगभाव नयायाति वंधोदार्ढ्य म वस्तुजः ।
तयोऽशांत यायाति वधो जगतिना नवम् ॥४
वासनातानवं रामा मोक्ष इत्युच्यते बुधैः ।
पदार्थ वासन दार्ढ्यं वंध इत्यभिधीयते ॥५

श्री विश्वामित्रजी ने कहा—हे श्रीराम ! जिस प्रकार से व्यास-देव के पुत्र शुकदेव जी को उपदेश के द्वारा मलमात्र का ही उपमार्जन किया गया था उतना ही अब आपको भी उपयुक्त है ॥ १ ॥ इसी कथित अर्थ के समर्थन कराने के विचार से महर्षियों को सम्बोधित करके उन्होंने कहा था—हे मुनीश्वरो ! श्रीराम ने जो भी कुछ ज्ञातव्य वस्तु है उसको पूर्ण रूप से जान लिया है क्योंकि विशुद्ध बुद्धि के हो जाने से श्रीराम को ये सांसारिक भोग रोगों के समान प्रतीत होते हैं और बिल्कुल भी नहीं सुहाते हैं ॥ २ ॥ जो भी कोई ज्ञेय वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसके मन की ऐसी ही दशा हो जाया करती है कि उसे ये समस्त भोगों का समूह रुचिकर नहीं लगा करता है और ज्ञानी का लक्षण भी होता है ॥ ३ ॥ भोगों के चिन्तन करने से अज्ञान से समुत्पन्न यह बन्धन सुदृढ़ हो जाया करता है तथा भोगों के उपभोग करने की वासना के नितान्त शान्त हो जाने पर सांसारिक बन्धन भी क्षीण हो जाया करता है ॥ ४ ॥ हे राम ! विद्वान् पुरुष इस भोगों के उपभोग करने की वासना के क्षय हो जाने को ही मोक्ष अर्थात् बन्धन से छुटकारा पा जाना कहा करते हैं और सांसारिक विषयों में होने वाली सुदृढ़ वासना को ही भव-बन्धन बतलाया करते हैं ॥५॥

स्वात्म तत्त्वाभिगमनं भवति प्रायशो नृणाम् ।
मुने विषय वैरस्यं कदर्थादुपजायते ॥६
सम्यक् पश्यति यस्तज्ज्ञो ज्ञात ज्ञेयः स पंडितः ।
न स्वदंते बलादेव तस्मै भोगा महात्मने ॥७
यशः प्रभृति नायस्मै हेतु नैव विना पुनः ।
भुवि भोगान रोचंते सजीवन्मुक्त उच्यते ॥८
ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते ।
विषयेष्वरतिर्जंतोर्मरुभूमो लतायथा ॥९
अतएव हि विज्ञात ज्ञेयं विद्धि रघूद्वहम् ।

यदेनं रंजयंत्ये तान रम्या भोग भूमयः ॥१०

हे मुनिवर! विषयों के उपभोगों में क्लेशों का अनुभव होने से ही निरसता हुआ करती है अर्थात् उनसे उपरति हो जाती है और फिर प्रायः मनुष्यों को आत्म-तत्व का ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है ॥ ६ ॥ जिसकी राग आदि दोषों से रहित दृष्टि हुआ करती है वही तत्व का ज्ञाता है और उसी ने जानने के योग्य वस्तु को जान लिया है तथा वही विद्वान् है। ऐसे महान् आत्मा वाले पुरुष को विषयों के भोग हठात् अच्छे नहीं लगा करते हैं ॥ ७ ॥ यश आदि हेतु के बिना ही इस जगत् में जिसको भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ करते हैं वह जीवन्मुक्त कहा जाया करता है ॥ ८ ॥ जिस समय तक जानने के योग्य तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है तब तक मनुष्यों के हृदय में मरुभूमि में लहलहाती लता की भाँति विषयों की ओर से वैराग्य नहीं हुआ करता है ॥ ९ ॥ अतएव हे मुनिवृन्द! आप सब लोग यह भली भाँति समझ लेवें कि रघुकुल तिलक श्रीराम को निश्चित रूप से ज्ञेय तत्व का पूर्ण ज्ञान होगया है क्योंकि इनको ये सांसारिक भोगों के रमणीय स्थल आनन्दित नहीं कर रहे हैं ॥ १० ॥

रामो यदंतजानाति तद् वस्त्वित्येव सन्मुखात् ।
आकर्ण्य चित्त विश्रान्ति माप्नोत्येव मुनीश्वराः ॥ ११
केवलं केवली भाव विश्रान्ति समपेक्षते ।
राम बुद्धिः शरल्लक्ष्मीः खलुविभ्रमण यथा ॥ १२
अतस्त चित्त विश्रान्त्यै राघवस्य महात्मनः ।
युक्ति कथयतु श्रीमान् वसिष्ठो भगवानयम् ॥ १३
रघूणामेष सर्वेषां प्रभुः कुलगुरु सदा ।
सर्वज्ञः सर्वसाक्षी च त्रिकालामल दर्शनः ॥ १४

हे मुनेश्वर वृन्द! श्रीरामचन्द्र जो जिस आत्म तत्व को जानते ही विवेक जन्य बुद्धि के द्वारा जानते हैं उसके विषय में जिस समय से यह

सद्गुरु के मुख से यह श्रवण कर लेंगे कि—'यही वास्तव में परमार्थ वस्तु है' तभी उनके चित्त को अवश्य ही विश्राम प्राप्त होगा ॥ ११ ॥ जिस प्रकार से शरत्काल की सुषमा मेघों से विरहित अत्यन्त निर्मल आकाश मात्र की अपेक्षा रखा करती है ठीक उसी तरह से श्रीराम की बुद्धि को केवल सच्चिदानन्द घन अद्वितीय परमात्म तत्त्व में विश्राम प्राप्त करने की अपेक्षा है । १२ ॥ अतएव महात्मा श्री राघवेन्द्र के चित्त की विश्रान्ति के लिये पूज्य चरण श्री वसिष्ठ जी ही किसी समुचित युक्ति का प्रतिपादन करें ॥ ३ ॥ कारण यह है कि ये महामुनीन्द्र समस्त रघुवंशियों के ही नहीं प्रत्युत समस्त इक्ष्वाकु वंश वालों के सर्वदा से प्रभु—नियन्ता—शिक्षक एवं कुल गुरु हैं । ये स्वयं सर्वज्ञ—एवं साक्षी तथा तीनों कालों में मोह आदि से रहित और निर्मल दृष्टि वाले हैं । ॥ १४ ॥

वसिष्ठ भगवन्वपूर्वं कच्चित्स्मरसियत्स्वयम् ।
आवयोर्वैर शांत्यर्थं श्रेयसे च महाधियाम् ॥१५
निषधाद्रेर्मुनीनां च सानौसरल संकुले ।
उपदिष्टं भगवता ज्ञानं पद्मभुवा बहु ॥१६
येन युक्तिमता ब्रह्मन् ज्ञानेनेय हि वासना ।
सांसारी नूनमायाति शमश्यामेव भास्वता ॥१७
तदेव युक्तिमज्ज्ञेयं रामायांते निवासिने ।
ब्रह्मन्नुपदिशाशुत्वं येन विश्रांतिमेष्यति ॥१८
कदर्थनाचनैवेषा रामोहि गतकल्मषः ।
निर्मले मुकुरे वक्त्रमयत्नेनैवबिंबति ॥१९

हे भगवन् ! पूज्य वसिष्ठ जी ! क्या आपको पूर्व घटित बात का स्मरण है जिस समय में हम दोनों में वर्द्धित वैर की शान्ति के लिए एवं महान् बुद्धिमान् मुनिगणों के परम कल्याण के सम्पादनार्थ निषध गिरि के देवदारु वृक्षों से आवृत शिखर पर ब्रह्माजी ने स्वयं साक्षात्

समागत होकर परम महत्व से पूर्ण ज्ञान का उपदेश प्रदान किया था ? ॥१५।१६॥ हे ब्रह्मन् ! उस प्रकार के युक्ति संयुत ज्ञान से भगवान भुवन भास्कर के उदय से अन्धकार पूर्ण रात्रि के ही समान यह सांसारिक वासना अवश्य ही नष्ट हो जाया करती है ॥ १७ ॥ हे ब्रह्मन् ! इस समय में आप उसी युक्ति युक्त ज्ञान प्राप्त करने के योग्य वस्तु का उपदेश अपने परम भक्त शिष्य श्रीराम को दीजिए जिसको प्राप्त कर इनको विश्रान्ति हो जावे ॥ १८ ॥ हे मुनिवर ! इसमें आपको अत्यधिक श्रम सहन करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि श्रीराम स्वयं सर्वथा पापों से रहित हैं। अतएव जिस प्रकार से परम स्वच्छ दर्पण में बिना किसी यत्न करने के ही मुंह का प्रतिबिम्ब दिखलाई देने लगता है ठीक उसी तरह से श्रीराम को ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान और विश्राम प्राप्त हो जायगा ॥१ ॥

तज्ज्ञानं सचशास्त्रार्थस्तद्वैदग्ध्यमनिंदितम् ।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधोयदुप दिश्यते ॥२०
अशिष्याय विरक्ताय यत्किञ्चिदुपदिश्यते ।
तत् प्रयात्य पवित्र त्वं गोक्षीरं श्वदृताविव ॥२१
वीतराग भय क्रोधानिर्मानागलितैनसः ।
वदति तादृशा यत्र तत्र विश्राम्यतीहधीः ॥२२
इत्युक्ते गाधिपुत्रेण व्यास नारद पूर्वकाः ।
मुनयस्ते तमेवार्थं साधु साध्वित्य पूजयन् ॥२३
अथोवाच महातेजा राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः ।
ब्रह्मेव ब्रह्मणः पुत्रो वसिष्ठो भगवान्मुनिः ॥२४

हे ब्रह्मन् ! वह ही ज्ञान–शास्त्रार्थ और पाण्डित्य परम प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ है जिसका उपदेश वैराग्य से समन्वित शिष्य को दिया जाया करता है ॥२०॥ जिस में विरक्तता का अभाव है और जो शिष्य की भावना से हीन है उसे कुछ भी उपदेश दिया जावे वह तो कुत्ते के चर्म

से मण्डिल कूपी में निहित दूध के ही समान दूषित होजाया करता है ॥२१॥ जिस स्थान पर आप सरीखे वीतराग—भय रहित—क्रोध हीन—निरभिमान एवं निष्पाप महापुरुष तत्वज्ञान का उपदेश दिया करते हैं वहां पर तो तुरन्त ही उसी समय में बुद्धि को विश्राम की प्राप्ति हो जाया करती है ॥२२॥ इस प्रकार से गाधिनन्दन श्री विश्वामित्र के द्वारा कहने पर संस्थित व्यासदेव तथा नारद प्रभृति समस्त महामुनियों ने 'साधु—साधु'—यह उच्चारण करते हुए उनके कथन की अत्यधिक प्रशंसा की थी ॥२३॥ इसके उपरान्त महाराज दशरथ के समीप में ही विराजमान ब्रह्माजी के आत्मज—महान् तेजस्वी भगवान वसिष्ठजी ने जो कि अपने पिता परमेष्ठी के ही सदृश महान् ज्ञान-विज्ञान से सुसम्पन्न थे कहा था ॥२४॥

मुने यदादिशसिमे तदविघ्नं करोम्यहम् ।
कः समर्थः समर्थोपि सतां लंघयितुं वचः ॥२५
अहंहि राजपुत्राणां रामादीनां मनस्तमः ।
ज्ञानेनापन याम्याशु दीपेनेव निशातमः ॥२६
स्मराम्यखंडितं सर्वं संसार भ्रम शांतये ।
निषधाद्रौ पुरां प्रोक्तं यज्ज्ञानं पद्मजन्मना ॥२७
इति निगदितवानसौ महात्मा
परिकर बध गृहीत वक्तृतेजाः ।
अकथ यदिदमज्ञतोपशांत्यै
परम पदैक विबोधनं वसिष्ठः ॥२८

श्री वसिष्ठजी ने कहा था—हे मुनिवर ! आप जिस कार्य के करने के लिये मुझे आदेश प्रदान कर रहे हैं उसे मैं बिना किसी विघ्न—बाधा के अभी आरम्भ कर रहा हूं शक्ति—सम्पन्न होकर भी कौन पुरुष सन्त पुरुषों की आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ हो सकता है ? प्राचीन समय में निषध पर्वत की शिखर पर परम पूज्य चरण पद्म योनि ब्रह्मा

जी ने इस संसार के भ्रम को दूर करने के लिए जिस ज्ञान का सदुपदेश दिया था वह सब अविकल रूप से मुझे याद है। मैं श्रीराम आदि राज पुत्रों के मन के अज्ञानान्धकार को अपने ज्ञान के उपदेश से दीपक के द्वारा निशा के अन्धकार के समान ही शीघ्रता से नष्ट कर दिया करता हूँ ॥२५।२६।२७॥ श्री बाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार से वक्तृता के उत्तम तेज को धारण करने वाले महामुनि वसिष्ठजी ने कहकर फिर अज्ञान की परम शान्ति के लिए परमोत्तम ज्ञान का उपदेश दिया था ॥ २८ ॥



तृतीय सर्ग

सर्वदा सर्वमेवेह संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥१
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥२
आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संप्राप्यते हितः ॥३
प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।
तथैव तिष्ठामि मुने कृपणः किं करोम्यहम् ॥४
अतएव हि हे राम श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा ॥५

हे रघुनन्दन ! इस संसार में सर्वदा ही भलीभांति पुरुषार्थ करने से अर्थात् प्रयत्न करने से सभी लोगों को सब कुछ मिल जाया करता है जहाँ फिर भी किसी को असफलता देखी जाया करती है वहाँ पर अच्छी रीति से प्रयत्न पूर्वक पुरुषार्थ का ही अभाव हुआ करता है ॥१॥ वह पुरुषार्थ उच्छास्त्र और शास्त्रित अर्थात् शास्त्र में कथित दो प्रकार होता

है। जो शास्त्रोक्त के विपरीत उच्छास्त्र पुरुषार्थ होता है वह अनर्थकारी हुआ करता है तथा शास्त्रित पुरुषार्थ से परमार्थ होता है। अतएव शास्त्र में बतलाया हुआ ही पौरुष (प्रयत्न) करना चाहिये क्योंकि इसी से कल्याण होता है ॥२॥ बाल्यावस्था से ही अच्छी तरह अभ्यस्त किए हुए शास्त्रों से तथा सत्पुरुषों के सङ्ग आदि गुणों के द्वारा जो प्रयत्न पूर्वक पुरुषार्थ किया जाता है उससे ही हितप्रद स्वार्थ सम्प्राप्त किया जाता है ॥३॥ श्रीराम ने कहा—हे मुनिवर ! पूर्व जन्मों की वासना का जाल मुझे जिस प्रकार से नियोजित किया करता है मैं उसी भाँति स्थित रहा करता हूं क्योंकि यह वासना की ऐसी परतन्त्रता होती है कि स्वतन्त्र रूप से किसी भी स्वार्थ का सम्पादन किया ही नहीं जा सकता है तो भला ऐसी स्थिति में कृपण मैं क्या करूँ ॥४॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीराम ! प्राक्तन वासना के अनियोज्य होने ही से अपने प्रबल प्रयत्न के द्वारा समुपनीत पुरुषार्थ से ही आप श्रेय को प्राप्त कर सकते हैं अन्य किसी भी प्रकार से कल्याण नहीं हो सकता है। यहां पर अभिप्राय है कि यद्यपि पूर्व जन्मों की वासना का प्रभाव अवश्य ही होता है किन्तु वह तीव्र वायु के समान पुरुष प्रेरित नहीं किया करती है किन्तु इच्छा के उपसंहार के करने से स्वतन्त्रता होती ही है ॥५॥

द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथवा ॥६
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदपनीयसे।
तत्क्रमेण शुभेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥७
अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति संकटे।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता स्वयम् ॥८
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीय शुभे पथि ॥९
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।

ही चित्त को भी विष से भी अधिक हानिप्रद विषयों के ग्रहण न करने की बात समझानी चाहिए ॥१२॥

प्रागभ्यासवशाज्जो यदा ते वासनोदयः ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥१३
सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥१४
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥१५
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ परित्याज्यो वासनौघो निरोधिना ।१६
यदतिसुभगमार्यसेवितं तच्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या ।
अधिगमय पदं सदा विशोकं तदनु तदप्यवमुच्यसाधुतिष्ट ॥१७
अपुनर्ग्रहणायान्तस्त्यक्त्वा संसारभावनाम् ।
संपूर्णौ शमसंतोषौ चादायोदारया धिया । १८
सुपूर्वापरवाक्यार्थविचारविषयाद्दृतम् ।
मनः समरसं कृत्वा सानुसन्धानमात्मनि ॥१९
श्रृणु राम पुरा प्रोक्तं ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥२०

हे अरिमर्दन ! प्रथम किए हुए अभ्यास के कारण से अर्थात् इस जन्म में भी अत्यधिक अभ्यास करने से अथवा पहिले जन्म में किये हुए अभ्यास के वश से या बचपन से ही किये हुए अभ्यास के कारण से जब यह आपको वासना का उदय हुआ है तो आपके किये हुए अभ्यास की सफलता ही समझ लेनी चाहिये ॥१३॥ अशुभ वासना से शुभ वासना की अधिकता में और दोनों प्रकार की वासनाओं की समान दशा में कर्त्तव्य बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि सन्दिग्ध दशा में अत्यधिकता से शुभ वासना का समाहरण करना चाहिए। हे तात ! शुभ वासनाओं की वृद्धि होने पर भी कोई दोष नहीं हुआ करता है ॥१४॥ वासना

तो च हे कैसे भी हो वह अविद्या जनित होने से दोष युक्त ही है इसके लिये वसिष्ठजी ने श्रीराम से कहा—जब तक आपके मन में विशेष ज्ञान नहीं है और आप उस परब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानते हैं तो तब तक गुरु के उपदेश और शास्त्रोक्त प्रमाणों से जो निर्णय किया जावे उसी का समाचरण करें ।।१५।। इसके अनन्तर जिस समय में आप इन सांसारिक रागादि दोषों को दग्ध कर देवें और आप ज्ञातव्य तात्त्विक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर विवेकपूर्ण हो जावें तो उस समय में आपको शुभ वासनाओं के समूह का भी परित्याग कर देना चाहिए ।। १६ ।। अत्यन्त शोभन माहात्म्य से समन्वित और परम श्रेष्ठ महापुरुषों के द्वारा सुशोभित शुभ वासनाओं का अनुसरण करके सुन्दर अभिप्राय से युक्त बुद्धि के द्वारा मन को शोक रहित पद पर प्राप्त कराओ। जब पूर्ण विवेकोत्पत्ति हो जावे तो फिर उस सद्वासना का भी परित्याग करके भली भाँति स्थित रहना चाहिए ।। १७ ।। महामहर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम ! इस संसार में पुनर्जन्म न प्राप्त करने के लिए अर्थात् भव बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के हेतु अन्तःकरण में सांसारिक भावना का परित्याग कर देना चाहिए। अपनी उदार-बुद्धि से हृदय में पूर्ण शम एवं सन्तोष को धारण करे ।। १८ ।। सुन्दर पूर्व और अपर वासनाओं के विचार रूपी विषय में सादर-समन्वित और अनुसन्धान से युक्त मन को करे। वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीराम ! पहिले परमेष्ठी ब्रह्मा जी ने यह कहा था। इसका आप श्रवण करिये। यही प्रकार बुद्धि का परम आश्वासन देने वाला और समस्त दुःखों का क्षय करने वाला है ।।१९।२०।।

केनोक्तं कारणेनेदं ब्रह्मन्पूर्वं स्वयंभुवा ।
कथं च भवता प्राप्तमेतत्कथय मे प्रभो ।।२१
अस्त्यनन्तविलासात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
चिदाकाशोऽविनाशात्मा प्रदीपः सर्ववस्तुषु ।।२२

स्पन्दास्पन्दसमाकारास्ततो विष्णुरजायत ।
तस्यापि हृदयाम्भोजात्परमेष्ठी व्यजायत ॥२३
सोऽसृजत्सकलं सर्गं विकल्पौघं यथा मन ।
एतस्मिन्भारते वर्षे नानाव्यसनसंकुलम् ॥२४
जनस्यंतस्य दु खं स दृष्ट्वा सकललोककृत् ।
जगाम करुणामीशः पुत्रदुःखात्पिता यथा ॥२५
क एतेषां हताशानां दु खस्यान्तो हतायुषाम् ।
स्यादिति क्षणमेकाग्रश्चिन्तयित्वा स्वतप्यत ॥२६
तपो दानं जस्पतीर्थं नात्यन्तं दुःखशान्तये ।
तत्तावद्दु खमोक्षार्थं ज्ञानं प्रकथयाम्यहम् ॥२७

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! पहिले भगवान् स्वयम्भू ने किस कारण से यह कहा था और हे प्रभो ! आपने इसको कैसे प्राप्त किया था ?—यह मुझे अब आप बतलाने की कृपा कीजिए ॥ २१ ॥ महामहर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—अनन्त कार्यों के स्वरूप वाले—सब में व्याप्त और समस्त विषयों तथा वस्तुओं में भासित होने वाले—चिदाकाश एवं अविनाश आत्मा वाले—इस जगत् के रूप से स्पन्दन युक्त तथा स्पन्दन रहित आकार वाले उनके स्वरूप से अर्थात् परब्रह्म से विष्णु समुत्पन्न हुए थे और फिर उनके हृदय कमल से भगवान् परमेष्ठी (ब्रह्मा) की समुत्पत्ति हुई थी ॥ २२ । २३ ॥ उन्हीं भगवान् परमेष्ठी ने इस सम्पूर्ण जगत् का सृजन किया था जिस प्रकार से यह मनोरथों का समूह स्वरूप मन होता है । इस समस्त लोक की रचना करने वाले उन भगवान् परमेष्ठी ने इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के व्यसनों से घिरे हुए मनुष्यों के दुःखों को जिस समय में देखा था तो जिस तरह से पिता के हृदय में अपने पुत्र की दयनीय दशा को देखकर करुणा उत्पन्न हो जाती है उसी तरह से ब्रह्मा जी को दया का भाव हो गया था ॥ २४ । २५ ॥ उस समय में ब्रह्माजी के हृदय में ऐसा विचार उत्पन्न हो गया था कि इन हत आयु और

आशा वाले बिचारे मनुष्यों के दुःखों का अन्त किस प्रकार से होवे— इस तरह से एक क्षण के लिये उन्होंने एकाग्र मन वाले होकर चिन्तन किया था और उनके मन को बहुत ही अधिक अनुताप हो गया था ॥ २६ ॥ इनके दुःखों की आत्यन्तिक शान्ति के लिये यह तपश्चर्या—दान—जप और तीर्थों का सेवन कुछ भी लाभदायक नहीं होंगे। अतएव इन सबके दुःखों की मुक्ति के लिये मैं ज्ञान का उपदेश करता हूं ॥ २७ ॥

इति संचिन्त्य भगवान्ब्रह्मा कमलसंस्थितः ।
मनसा परिसंकल्प्य मामुत्पादितवानिमम् ॥२८
कमण्डलुधरो नाथः सकमण्डलुना मया ।
साक्षमालं स्थितः पद्मे स प्रणम्याभिवादितः ॥२९
एहि पुत्रेति मामुक्त्वा स स्वाब्जस्योत्तरे दले ।
मां निवेश्य महाबाहो प्रोवाच भगवानजः ॥३०
मुहूर्तमात्रं ते पुत्र चेतो वानरचञ्चलम् ।
अज्ञानमभ्याविशतु सबाष्पं दर्पण यथा ॥३१
इति तेनाशु शप्तः सन्विचारं समनन्तरम् ।
अहं विस्मृतवान्सर्वं स्वरूपममलं किल ॥३२
अथाहं दीनतामेत्य स्थितोऽसंबुद्धया धिया ।
दुःखशोकाभिसंतप्तो जातो जन इवाधमः ॥३३

भगवान् विष्णु की नाभि से समुत्पन्न कमल पर संस्थित होने वाले भगवान् ब्रह्मा जी ने इस भांति अच्छी तरह से चिन्तन करके उन्होंने मानसिक सङ्कल्प के द्वारा मुझको उत्पन्न किया था ॥ २८ ॥ कमण्डलु धारण करने वाले मैंने अक्षमालाधारी कमण्डलु-समन्वित-पद्म पर संस्थित उन स्वामी ब्रह्माजी को सादर प्रणाम करके अभिवादन किया था ॥ २९ ॥ उस समय में "हे पुत्र ! यहाँ पर आओ"—ऐसा मुझसे कहकर उन्होंने अपनी स्थिति वाले कमल के उत्तर दल पर मुझे बिठाकर

हे महाबाहुओं वाले ! फिर भगवान् अज ने मुझसे कहा था ॥ ३० ॥ हे पुत्र ! तुम्हारा चित्त दो घड़ी तक वानर के समान चञ्चल है। मुखोद्गत ऊष्मा से युक्त दर्पण की भाँति अज्ञान प्रवेश करे ॥ ३१ ॥ इस रीति से उनके द्वारा अभिशप्त होता हुआ मैं शीघ्र ही इसके अनन्तर विचार और सम्पूर्ण अमल स्वरूप को भूल गया था ॥ ३२ ॥ इसके अनन्तर मैं अत्यन्त दैन्य दशा को प्राप्त करके असम्बुद्ध बुद्धि से युक्त होकर स्थित होगया था और एक अत्यन्त अधम पुरुष के समान दुःख तथा शोक से अभिसंतप्त हो गया था ॥ ३३ ॥

अथाभ्ययात्स मां नाथः पुत्र किं दुःखवानसि ।
दुःखोपघातं मां पृच्छ सुखी नित्यं भविष्यसि ॥३४
ततः पृष्टः स भगवान्मया संसारभेषजम् ।
कथं नाथ महादुःखमयः संसार आगतः ॥३५
कथं च क्षीयते नाथ ततस्तेन महात्मना ।
तज्ज्ञानं सुबहु प्रोक्तं यज्ज्ञात्वाहं सुखी स्थितः ॥३६
ततो विदितवेद्यं मां निजायां प्रकृतौ स्थितम् ।
स उवाच जगत्कर्ता वाक्यं सकलकारणम् ॥३७
शापेनाज्ञपदं नीत्वा पृच्छकस्त्वं मया कृतः ।
पुत्रास्य ज्ञानसारस्य समस्तजनसिद्धये ॥३८

इसके उपरान्त वे नाथ मेरे समीप आकर बोले—हे पुत्र ! क्या दुःख को प्राप्त हो गये हो ? इस दुःख के उपघात के विषय में तुम मुझसे पूछो। फिर नित्य ही अवश्य सुख प्राप्त करने वाले हो जाओगे ॥ ३४ ॥ तब उन भगवान् श्री ब्रह्माजी से मैंने पूछा था—हे नाथ ! इस संसार रूपी महारोग की क्या औषधि है अर्थात् भव-बन्धन की महाव्याधि किस उपाय या साधन से दूर हो सकती है ? अत्यन्त महान् दुःखों से परिपूर्ण संसार रूपी रोग कैसे समागत हो गया है ? ॥ ३५ ॥ हे स्वामिन् ! यह संसार की महाव्याधि का क्षय किस प्रकार से होता है ? मैंने जब इस

तरह से पूछा तो फिर उन महान् आत्मा वाले ब्रह्माजी ने अतीव सुन्दर बहुत-सा ज्ञान मुझे प्रदान किया था जिस ज्ञान को प्राप्त करके मैं परम सुखी होकर स्थित रहता हूँ ।। ३६ ।। इसके अनन्तर जानने के योग्य तत्व को जानने वाले तथा निज प्रकृति में स्थित मुझसे इस सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाले उनने सबका कारण स्वरूप वाक्य कहा था ।।३७।। मैंने तुमको शाप देकर पहिले एकदम अज्ञ बना दिया था जिससे इस समय मुझसे उस अज्ञान का कारण पूछने वाले बन गये थे । हे पुत्र ! मैंने ऐसा इसलिए ही किया था कि इस ज्ञान के सार की सिद्धि समस्त जनों को हो जावे ।। ३८ ।।

इदानीं शान्तशापस्त्वं वोधं परमुपागतः ।
गच्छ वत्स महीपीठं जम्बूद्वीपान्तरस्थितम् ।।३६
साधो भारतवर्षे त्वं लोकानुग्रहहेतुना ।
तत्र क्रियाकाण्डपरास्त्वया पुत्र महाधियः ।।४०
उपदेश्याः क्रियाकाण्डक्रमेण शमशालिन ।
विरक्तचित्ताश्च तथा महाप्राज्ञा विचारिणः ।।४१
उपदेश्यास्त्वया साधो ज्ञानेनानन्ददायिना । ४२
इति तेन नियुक्तोऽहं पित्रा कमलजन्मना ।
इह साधोऽवतिष्ठामि यावद्भूतपरम्परा ।।४३
कर्तव्यमस्ति न ममेह हि किंचिदेव
स्थातव्यमित्यतिमना भुवि संस्थितोऽस्मि ।
संशान्तया सततमुप्तधियैव वृत्या
कार्यं करोमि नच किंचिदहं करोमि ।।४४
अज्ञतानज्ञते पूर्वं वक्तुनिर्णीय कार्यतः ।
यः करोति नरः प्रश्नं पृच्छकः स महामतिः ।।४५

अब इस समय में आपको दिया हुआ वह मेरा शाप शान्त हो गया है और तुमने पूर्णतया विशुद्ध होकर परमोत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया

है। हे वत्स ! अब मेरी यही आज्ञा है कि तुम जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित महापीठ को चले जाओ ॥ ३६ ॥ हे साधो ! समस्त लोगों पर परमानुग्रह करने के लिये अब तुमको भारतवर्ष में चले जाना चाहिए। वहाँ पर हे पुत्र ! क्रियाकाण्ड में परायण महा बुद्धिमान् बहुत लोग हैं जो महान् पण्डित हैं—उच्च विचारों को रखने वाले हैं और वैराग्य से परिपूर्ण मन वाले लोग हैं उन्हें शमशाली आपको क्रियाकाण्ड क्रम के द्वारा उपदेश देना चाहिए। हे साधो ! परमानन्द प्रदान करने वाले ज्ञान के द्वारा आपको उन्हें अवश्य ही उपदेश देना चाहिए क्योंकि वे ज्ञान के पूर्ण पात्र हैं ॥ ४०, ४१, ४२ ॥ कमल से समुत्पत्ति होने वाले मेरे पिता श्री ब्रह्माजी के द्वारा मेरी यहाँ पर नियुक्ति की गई है। अतएव हे साधो ! जब तक इस जगत् में यह भूत-परम्परा अर्थात् प्राणियों का आवागमन रहेगा तब तक मैं यहाँ पर अवस्थित हूँ ॥ ४३ ॥ इस कर्मक्षेत्र भारतवर्ष में मेरी अवस्थिति रखने में मेरा अपना कुछ कर्त्तव्य नहीं है अर्थात् किसी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मेरा अवस्थान नहीं है केवल परमार्थ के लिये लोगों पर अनुग्रह के हेतु गुरु के वचन का पालन करने को मैं यहाँ स्थित हूँ। मुझे यहाँ पर स्थित रहना ही चाहिए क्योंकि गुरु का ऐसा ही आदेश है इसी कारण से अपने मन को जीतने वाला मैं इस भूमण्डल में स्थित रहता हूं। इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में हर्ष एवं विषाद से रहित परम शान्त निरन्तर प्रसुप्त बुद्धि वाली वृत्ति से मैं केवल परमार्थ की दृष्टि से कार्य किया करता हूं और मैं वैसे अपने लिये कुछ भी नहीं किया करता हूं ॥ ४४ ॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—सबसे पूर्व वक्ता के कथ्य से उसकी अज्ञता और अनज्ञता निर्णय करके जो मनुष्य प्रश्न किया करता है वह पूछने वाला महती बुद्धि वाला हुआ करता है ॥ ४५ ॥

पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणि ॥४६

हो जाता है तो फिर अन्य तीनों भी वशीभूत हो जाया करते हैं। इस प्रकार से चारों ही अनुकूल हो जाते हैं ॥ ४९ ॥ तपश्चर्या और दम से युक्त सज्जन पुरुषों के संसर्गपूर्वक शास्त्रों के द्वारा आदि में इस सांसारिक बन्धन से छुटकारा (मोक्ष) पाने के लिए अपनी प्रज्ञा का ही अभिवर्धन करना चाहिए ॥५०॥

दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति ॥५१

दुरन्तेयं किल विषयविषजविषूचिका यदि न चिकित्स्यते तन्नितरां नरकनगरनिकरफलानुबन्धिनी तदैतत्करोति यत्र शिलाशितासिशतपातोत्पलाततािडनम् ॥५२

अग्निदाहो हिमावसेचनं अङ्गावकर्तनचन्दनचर्चा निरवधिना एव नरकनिपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षं शिरच्छेदः सुखनिद्रामूकीकरणमाननमुद्रावाधिर्यं महानुपचयः ॥५३

तदेवं रामशास्त्रेणावहेलया व्यवहर्तव्यम् । अवश्यमेवं विचारणीयम् । एवं चाववोद्धव्यम् । यथा किल शास्त्रविचाराद्वोधो भवतीति ॥५४

हे श्रीराम ! यह संसार विष के वेग से समुत्पन्न विषूचिका नाम वाली महान् व्याधि है । इस व्याधि का प्रशमन ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता के विज्ञान के स्वरूप वाला योग ही परम पावन गारुड़ मन्त्र है इसी के द्वारा हुआ करता है । जिस तरह से सर्पादि के विष की शान्ति गारुड़ मन्त्र से होती है उसी भाँति इस सांसारिक महाविष की शान्ति ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्यविज्ञान से होती है । संसार के विष लिये यही गारुड़ मन्त्र के समान है । यह परमार्थ ज्ञान योग सज्जन पुरुषों के साथ शास्त्रों के विचार करने से प्राप्त हो जाया करता है।५१। ये सांसारिक विषय ही अर्थात् विषयों का उपभोग ही महाविष है उससे समुत्पन्न

से भी उस प्रकार का सुख प्राप्त नहीं होता है जिस तरह का परम सुख आन्तरिक शान्ति से मनुष्य को प्राप्त होता है ।।६३।। जिस शान्ति का ऐसा अत्युत्तम फल होता है उसका स्वरूप यह है कि शान्ति वाला पुरुष शुभ और अशुभ का श्रवण करके—स्पर्श करके—देखकर—खाकर और सूंघकर भी न तो ग्लानि किया करता और न हर्ष को ही प्राप्त होता है अर्थात् शुभ और अशुभ जिसके लिये दोनों ही समान हैं वही शान्त कहा जाया करता है ।।६४।। मृत्यु—उत्सव और युद्ध आदि के भी अवसरों में जिसका मन आकुलता से रहित चन्द्रमा के बिम्ब के समान परम स्वच्छ हो वही शान्ति-सम्पन्न कहा जाता है । महान् वैराग्य में समास्थित दृढ़ विवेक वाले पुरुष को जोकि भवितव्यता की अपरिहार्यता को जानता है, सुख-दुःख की प्राप्ति में हर्ष—विषाद कुछ भी नहीं हुआ करता है । इसी को शम कहा जाता है ।।६५।। तपस्वियों में—बहुत-सी बातों का ज्ञान रखने वालों में—याजकों में—राजाओं में—बलशालियों में और गुणगण से युक्तों में जो शम वाला पुरुष होता है वही शोभित हुआ करता है अर्थात् शम (शान्ति) के आगे तप, ज्ञान, यजन, ऐश्वर्य, बल और अनेक अन्य गुण सभी फीके पड़ जाया करते हैं और इनका कुछ भी महत्त्व नहीं होता है ।।६६।।

शममममृतमहार्यमार्यगुप्तं परमवलम्ब्य परं पदं प्रयाता ।
रघुतनय यथा महानुभावाः क्रममनुपालय सिद्धये तमेव ।।६७
शास्त्रावबोधालया धिया परमपूतया ।
कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽमिशमात्मनः ।।६८
विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम् ।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ।।६९
कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता ।
चिन्तनीय प्रयत्नेन सप्रतीकारमात्मना ।।७०
अनष्टमन्धकारेषु बहुतेजःस्वजिह्मितम् ।

पश्यत्यपि व्यवहितं विचारश्चारुलोचनम् ॥७१
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ।।७२

हे श्रीराम ! इस शम की अत्यधिक महिमा इसी लिये है कि बड़े २ महान् पुरुषों ने भी इसी का समाश्रय ग्रहण कर समुच्च परम पद की प्राप्ति की है । शम ऐसा अद्भुत है कि इसका कोई हरण नहीं कर सकता है और श्रेष्ठ पुरुषों ने इसकी सुरक्षा की है तथा इसी अमृत स्वरूप का अवलम्बन किया है । इसी शम परम गुण के सहारे से महानुभावों ने परम पद का लाभ प्राप्त किया है । अतएव सिद्धि के लिये अर्थात् परमपद की प्राप्ति के हेतु शम विचार सन्तोष ध्यानादि का क्रमशः तुम भी अनुपालन करो ।।६७।। किस कार्य का क्या कारण है—इसके ज्ञान रखने वाले पुरुष को उचित है कि समस्त सत्कर्मों को ईश्वर के चरणों में समर्पित करके परम पावन और शास्त्र ज्ञान द्वारा निवृत्ति परायण विमल बुद्धि से निरन्तर आत्मज्ञान का विचार ही करना चाहिए ।।६८।। विचारों की जब तीक्ष्णता होती है तो वह विमलता को प्राप्त हुई बुद्धि परम पद को देख लिया करती है अर्थात् विवेक की तीव्रता से बुद्धि में सुतरां परम पद की प्राप्ति की भावना स्थिर होजाया करती है । इस अत्यन्त बढ़े हुए सांसारिक बंधन रूपी महान् रोग की विचार करते रहना ही महौषध है । ६६ ।। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि 'मैं कौन हूं—मेरा इस जगत् में किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये आगमन हुआ है और इस संसार से क्या कितना सम्बन्ध है"—इसी प्रकार से आपत्ति काल में भी सर्वदा स्वयं अपने आप के द्वारा इसमें उपस्थित होने वाले विघ्नों के प्रतीकार के सहित प्रबल प्रयत्न के साथ चिन्तन करते रहना चाहिए । ।'७०।। सर्वदा विवेक की वृद्धि के द्वारा विचार करना ऐसा सुन्दर नेत्र के समान है जो अंधकार में भी नष्ट न होने वाले तथा अत्यन्त तेज के चाकचिक्य से न दिखाई देने वाले और व्यवधान से युक्त भी भी

देख लिया करता है अर्थात् विचार करने पर सभी का वास्तविक भान हो जाया करता है ॥ ७१ ॥ मैं कौन हूं और यह संसार नाम वाला महान् दोष मुझे किस प्रकार से प्राप्त हो गया है—इस रीति से न्याय पूर्वक जो परामर्श करता है उसे ही विचार कहा जाता है ॥७२॥

संतोषो हि परं श्रेयः संतोषः सुखमुच्यते ।
संतुष्टः परमभ्येति विश्राममरिमर्दन ॥७३
संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविषायते ॥७४
अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य संप्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्टः स इहोच्यते ॥७५
आशावैवश्यविवशे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥७६
नाभिवाञ्छत्यसंप्राप्तं भुङ्क्ते यथाक्रमम् ।
यस्तु सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते ॥७७
समतया मतया गुणशालिनां पुरुषराडिह यः समलंकृतः ।
तममलं प्रणमन्ति नरोत्तमा अपि महामुनयो रघुनन्दन ॥७८

महामहर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस जगत् में सन्तोष ही परम कल्याण करने वाला है । अतएव इस सन्तोप को ही सुख कहा जाता है । हे अरियों के मर्दन करने वाले श्रीराम ! जो पुरुष इस सद्गुण सन्तोप से समन्वित होकर परम सन्तुष्ट होता है वह परम विश्राम को प्राप्त कर लेता है ॥ ७३ ॥ इस सन्तोष स्वरूप वाले अमृत के पान से जो पुरुष अत्यधिक शान्त होकर तृप्ति प्राप्त कर चुके हैं उनके लिये यह अतुल भोगों की श्री प्रतिकूल विष के ही तुल्य प्रतीत हुआ करती है ॥ ७४ ॥ अब सन्तोष का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जो अभीष्ट वस्तु प्राप्त नहीं हुई है उसकी प्राप्ति की इच्छा का त्याग करके तथा अभीष्ट वस्तु

के प्राप्त हो जाने पर उसकी कमी एवं अधिकता होने के कारण से विषाद और हर्षोल्लास से रहित होने वाला जो सदा सम भाव से युक्त पुरुष होता है वही सन्तुष्ट कहा जाया करता है ।। ७५ ।। जिस समय तक पूर्ण रूप से सन्तोष नहीं होता है तब तक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है क्योंकि अनेक आशाओं में फँसा हुआ मनुष्य विवश होकर अस्वस्थ होता है । उसका चित्त सन्तोष से रहित होने के कारण मलिन रहा करता है । जिस तरह म्लान दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दिखलाई नहीं दिया करता है वैसे ही वहाँ ज्ञान नहीं होता है ।। ७६ ।। जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है उसकी जो इच्छा नहीं किया करता है और जो स्वतः सम्प्राप्त है उसका आचार क्रम के अनुसार ही उपभोग किया करता है । आचार क्रम का उल्लंघन न करना प्राप्त वस्तुओं के उपभोग में भी परम आवश्यक है । जिसका समाचरण परम सौम्य होता है वही पुरुष सन्तुष्ट कहा जाता है ।। ७७ ।। हे श्री रघुनन्दन ! जो पुरुष गुणशाली पुरुषों के द्वारा सम्मत समता से समलंकृत हैं वह इस संसार में परम श्रेष्ठ पुरुष है । ऐसे श्रेष्ठ पुरुष का उत्तम जन और महामुनिगण भी विशेष रूप से नमन किया करते हैं ।।७८।।

विशेषेण महाबाहो संसारोत्तरणे नृणाम् ।
सर्वत्रोपकरोतीह साधुः साधुसमागमः ।।७९

शून्यमाकीर्णतामेति मृत्युरप्युत्सवायते ।
आपत्संपदिवाभाति विद्वज्जनसमागमे ।।८०

यः स्नातः शीतसितया साधुसंगमगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।।८१

विच्छिन्नग्रन्थयस्तज्ज्ञाः साधवः सर्वसंमताः ।
सर्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपाया भवाम्बुधौ ।।८२

चत्वार एते विमला उपाया भवभेदने ।
यैरभ्यस्तास्त उत्तीर्णा मोहवारिभवार्णवात् ।।८३

त्वमेतयाखण्डितया गुणलक्ष्म्या समाश्रितः ।
मनोमोहहरं वाक्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥८४
मोक्षोपायकथामेतां शृण्वतामरिमर्दन ।
अनिच्छतामपि बलात्परो बोधः प्रवर्तते ॥८५
लोभमोहादयो दोषास्तानवं यान्त्यल धियः ।
मनः प्रसादमायाति शरदीवामल सरः ॥८६

हे महान् बाहुओं वाले ! इस जगत् में मनुष्यों को इस संसार के पार करने में विशेष रूप से सर्वत्र परम सुन्दर साधु पुरुषों का समागम (सङ्ग) उपकार किया करता है । साधु-सङ्गति इस संसार सागर के उत्तरण में विशेष रूप से लाभदायक हुआ करती है ॥ ७९ ॥ विद्वान् पुरुषों के समागम में परम शून्य स्थल भी प्राणियों से संकुल जैसा हो जाया करता है और मृत्यु भी उत्सव के समान प्रतीत होता है तथा आपत्ति भी सम्पत्ति के तुल्य ही भासित हुआ करती है । विद्वान् सत्पुरुषों की सङ्गति की ऐसी ही अद्भुत महिमा होती है ॥ ८० ॥ जो पुरुष शील अर्थात् समस्त सांसारिक सन्तापों का शमन करने वाली और सित अर्थात् अत्यन्त विशुद्ध सत्पुरुषों की सङ्गति स्वरूपिणी गङ्गा में स्नान कर चुका है उसको फिर दान—तीर्थाटन—तपश्चर्या और यज्ञादि के करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है अर्थात् दानादि से कहीं अधिक महत्त्व सत्पुरुषों के सङ्ग का हुआ करता है ।८१। जिन्होंने अहङ्कार की ग्रन्थि का भेदन कर दिया है और आत्म-ज्ञान के पूर्ण ज्ञाता हैं ऐसे सबके द्वारा सम्माननीय साधु पुरुषों का सभी प्रकार के उपायों से संसेवन करना चाहिए क्योंकि ये साधु पुरुष ही इस संसार-रूपी सागर के सन्तरण का अत्युत्तम उपाय एवं साधन है ॥ ८२ ॥ विवेकपूर्ण विचार—सन्तोष—शम और साधु सङ्गति—ये चार ही इस सांसारिक बन्धन से विमुक्ति पाने के परम विशुद्ध उपाय (साधन) हुआ करते हैं । जिन पुरुषों ने इन सत्साधनों का भली भाँति अभ्यास किया

है वे इस महामोह के संसार रूपी जल के सागर से समुत्तीर्ण हो गये हैं ॥ ८३ ॥ हे राम ! आप तो इस सम्पूर्ण गुणों की लक्ष्मी के द्वारा समाश्रित हैं अर्थात् आप में ये सभी गुण वर्तमान हैं। अब आप मन के मोह को हरण करने वाले मेरे द्वारा कहे जाने वाले वाक्य का श्रवण करिये ॥ ८४ ॥ हे शत्रुओं के मर्दन करने वाले श्रीराम ! इस मोक्ष प्राप्त करने के उपायों की कथा को जो श्रवण करने वाले पुरुष हैं उनकी चाहना न होने पर भी बलात् ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है ॥ ८५ ॥ जब मनुष्य को बोध हो जाया करता है तो उस पुरुष की बुद्धि में रहने वाले लोभ-मोह प्रभृति सभी दोष एकदम नष्ट हो जाया करते हैं और उसका मन शरत्काल में सरोवर के समान विमल होकर परम प्रसाद को प्राप्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

दैन्यदारिद्र्यदोषाढ्या दृष्टयो दर्शितान्तराः ।
न निकृन्तन्ति मर्माणि ससन्नाहमिवेषवः ॥८७
हृदयं नावलुम्पन्ति भीमाः संसृतिभीतयः ।
साम्यं परमुदेत्यन्तर्निर्मन्दर इवार्णवः ॥८८
समुद्रस्येव गाम्भीर्यं स्थैर्यं मेरोरिव स्थितिः ।
अन्तः शीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिणः ॥८९
सच्छास्त्रसाधुवृत्तीनामविरोधिनि कर्मणि ।
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तःपुराजिरे । ९०
सा जीवन्मुक्तिता तस्य शनैः परिणतिं गता ।
शान्ताशेषविशेषस्य भवत्यविषया गिराम् ॥९१

दीनता और दरिद्रता के दोषों से युक्त हेय और उपादेय विषयों के विकल्प जो मर्मभेदन करने के लिये प्रकट अवसर वाले हैं उस बोध-सम्पन्न पुरुष का (सुन्दर-सुदृढ़ कवच धारी का बाणों की भाँति छेदन नहीं किया करते हैं अर्थात् बोध वाले पुरुष के मन में दैन्यादि दोष प्रवेश नहीं पाया करते हैं ॥ ८७ ॥ ये अत्यन्त भीषण सांसारिक भीतियाँ

(संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण के भय) प्रबुद्ध व्यक्ति के हृदय का छेदन नहीं किया करती हैं; अपितु उसके हृदय में मन्दराचल से रहित सागर के समान परम साम्य (समता की भावना) का उदय हो जाता है ॥ ८८ ॥ जो विचारशील पुरुष है उसके अन्तःकरण में समुद्र के तुल्य गाम्भीर्य (गम्भीरता)—मेरु पर्वत के समान स्थिरता की स्थिति और चन्द्रमा की भाँति शीतलता हुआ करती है। विचारवान् विवेकी पुरुष सर्वदा परम गम्भीर–स्थिर और शीतल रहा करता है ॥ ८ ॥ सत् शास्त्र के आदेशानुसार साधु वृत्ति वाले पुरुषों के विरोध से रहित कर्म्म के यथा प्राप्त होने पर उनकी बुद्धि अन्तःपुर के प्राङ्गण में सती-साध्वी महिला के समान ही रमण किया करती है ॥ ६० ॥ शान्ति को प्राप्त हो गयी हैं समस्त विशेषता जिसकी ऐसे उस पुरुष की जीवन्मुक्तिता धीरे-धीरे परिणति (परिपाक) को प्राप्त होती हुई वाणियों का अविषय होती है अर्थात् उसकी स्थिति अनिर्वचनीय हो जाया करती है जो कि वचनों के द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सकती है ॥ ६१ ॥

दृश्यते लोकसामान्यो यथाप्राप्यानुवृत्तिमान् ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तौ हृदयेनापराजितः ॥६२
सुखासनोपविष्टेन यथासंभवमश्नता ।
भोगजालं सदाचारविरुद्धेषु न तिष्ठता ॥६३
यथाक्षणं यथादेशं प्रविचारयता सुखम् ।
यथासंभवसत्संगमिमं मोक्षकथाक्रमम् ॥६४
आसाद्यते महान्येन बोधः संसारशान्तिदः ।
न भूयो जायते येन योनियन्त्रप्रपीडनम् ॥६५
एतावत्यपि ये भीताः पापा भोगरसे स्थिताः ।
स्वमातृविष्ठाक्रिमयः कीर्तनीया न तेऽधमाः ॥६६
शास्त्रोपशमसौजन्यप्रज्ञातज्ञसमागमैः ।
अन्तरान्तरसंपन्नधर्मार्थोपार्जनक्रियः ॥६७

शास्त्र से और लोक से यथा प्राप्त अनुवर्त्तन वाला वह जीवन्मुक्त पुरुष लोक में सामान्य जैसा ही दिखलायी दिया करता है और अभीष्ट वस्तु एवं अनभीष्ट वस्तु के फल की प्राप्ति में वह हृदय से अपराजित हुआ करता है अर्थात् इष्टानिष्ट के होने वाले फल की प्राप्ति में उसके हृदय को कोई भी पराजित नहीं कर सकता है। ६१॥ सुखपूर्वक आसन बाँधकर बैठने वाले—जो भी सम्भव हो उसका अशन करने वाले-जो सदाचार के विरुद्ध हों उनमें भोगों के जाल में स्थित न होने वाले—देश और काल के अनुसार सुख एवं मोक्ष कथा के क्रम युक्त यथा सम्भव इस सत्सङ्ग का प्रकृष्ट रूप से विचार करने वाले पुरुष के द्वारा इस संसार में शान्ति प्रदान करने वाला महान् बोध प्राप्त किया जाया करता है जिसके होने से फिर माता की योनि से जन्म में होने वाली पीड़ा नहीं हुआ करती है॥ ६३, ६४॥ ऐसी पीड़ा में भी जो भयभीत प्राणी महापापी और भोगों के रसास्वादन में स्थित रहने वाले हैं वे अपनी माता की विष्ठा के कृमि और अधम कीर्त्तन करने के योग्य नहीं होते हैं॥ ६६॥ शान्ति और शास्त्र के ज्ञान से विभूषित विचार परायण पुरुष को उपशम—शास्त्रोपदेश—सौजन्य—उत्तम बुद्धि और शास्त्रीय ज्ञान वाले पुरुषों के समागम के द्वारा अन्तरान्तर में सुसम्पन्न धर्मार्थ के उपार्जन की क्रिया वाला होना चाहिए॥ ६७॥

तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावाद्विश्रान्तिमात्मनि।
संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्ति तुर्यपदाभिधाम्॥६८
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य प्रतीपस्य भवार्णवात्।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः॥६९
न कृतेनाकृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितम्॥१००
शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया।
राघव ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥१०१

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मयोनिना ॥१०२
यैर्यैः काकुत्स्थ दृष्टान्तैस्त्वं मयेहावबोध्यसे ।
सर्वे सकारणास्ते हि प्राप्यन्तु सदकारणम् ॥१०३
ब्रह्मोपदेशदृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते ।
एकदेशसधर्मित्वं तत्रान्तः परिगृह्यताम् ॥१०४

विद्वान् पुरुष को तब तक प्रबल प्रयत्न पूर्वक निरन्तर विचार करते रहना चाहिए जब तक पुनः नष्ट न होने वाली तुर्यपद नामक परम शान्तिमयी आत्मा की विश्रान्ति प्राप्त न हो जावे ॥ ९८ ॥ जो पुरुष तुर्यपद नामक शान्ति से युक्त होकर इस भव सागर से पार होगया है वह चाहे गृहस्थाश्रमी हो या संन्यासी होवे उसका जीवन रखने अथवा न जीने से या कर्म करने अथवा कर्म न करने से कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता है और न श्रुति-स्मृतियों के विभ्रमों से उसका कुछ प्रयोजन होता है। वह तो निर्मन्दर सागर के ही समान यथास्थित रहा करता है ॥ ९९ । १०० ॥ समस्त प्रमाणों की सत्ता का प्रमाण एक मात्र प्रत्यक्ष ही होता है। अतएव हे श्रीराम ! अब आप उसी के विषय में श्रवण करिये जो कि मेरे द्वारा कहा जाने वाला है। यह ज्ञान का विस्तार ऐसा है जिसके मध्य-मध्य में ज्ञान का पूर्ण सार भरा हुआ है ॥ १०१ ॥ किसी बालक का भी वचन यदि युक्तियों से सम्पन्न है तो उसे बालक से भी अवश्य ही ग्रहण कर लेना चाहिए। जो सार शून्य शब्दाडम्बर पूर्ण वचन हो वह भले ही ब्रह्माजी के द्वारा ही क्यों न कहा जावे परित्याग कर देना चाहिए। वचन का महत्त्व उसकी सारगर्भता में ही हुआ करता है ॥ १०२ ॥ हे काकुत्स्थ ! आप मेरे द्वारा कहे हुए जिन-जिन दृष्टान्तों से यहाँ पर अब बोध प्राप्त करते हैं वे सब कारण वाले हैं आप उस अकारण ब्रह्म को प्राप्त करें ॥ १०३ ॥ जो यहाँ पर आपसे ब्रह्म के उपदेश का दृष्टान्त कहा जाता है उसमें आप मध्य में एक देश धर्मित्व को ग्रहण करें ॥ १०४ ॥

एवं सति निराकारे ब्रह्मण्याकारवान्कथम्
दृष्टान्त इह चोद्यन्ति मूर्खं वैकल्पिकोक्तयः ॥१०५

ननु तार्किकतामेत्य नाशनीया प्रबुद्धता।
अनुभूत्यपलापान्तैरपवित्रैर्विकल्पितैः ॥१०६

गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता।
परस्परं विवर्धन्ते द्वे पद्मसरसी इव ॥१०७

न यावत्सुसभ्यस्तौ ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ।
एकोऽपि नोऽनयोस्यावत्पुरुषस्येह सिद्धिदः ॥१०८

इदं यशस्यमायुष्यं पुरुषार्थफलप्रदम्।
श्रुत्वा त्वं बुद्धिर्नैर्मल्याद्बलाद्यास्यसि तत्पदम् ॥१०९

विदितवेद्यमिदं हि मनो मुनेर्विवशमेव हि याति परंपदम्।
यदवबुद्धमखण्डितमक्रम तदवबोधदशां न जहाति हि ॥११०

ऐसा होने पर निराकार ब्रह्म के विषय में आकार वाला दृष्टान्त कैसे हो सकता है। यहाँ पर वैकल्पिक उक्तियाँ मूर्ख को प्रेरित किया करती हैं ॥ १०५ ॥ आपको कुतर्कों से उत्पन्न होने वाले मूर्खों के विकल्पों का कभी भी आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सब विज्ञान के विनाशक हुआ करते हैं। वे सब विकल्प पर्यवसान में अनुभूति के अपलाप करने वाले होते हैं और अपवित्र हुआ करते हैं। वे विकल्प इस प्रकार के हुआ करते हैं जैसे—वह ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय है? यदि सद्वितीय ब्रह्म को माना जाता है तो वह अपसिद्धान्त हो जाता है अर्थात् सत्सिद्धान्त के विपरीत हो जाया करता है और यदि ब्रह्म अद्वितीय है तो गुरु शास्त्रादि के अभाव से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। दूसरी तरह का विकल्प यह है कि वह ब्रह्म सप्रमाण है या बिना प्रमाणों वाला है? यदि वह सप्रमाण है तो उसके अद्वैत होने की क्षति होती है और यदि वह प्रमाण रहित है तो प्रमेय उसकी असिद्धि होती है। १०६ ॥ शमादिक गुण ज्ञान से समृद्ध हुआ करते हैं और शमादि गुणों से विज्ञता की उत्पत्ति होती है ये दोनों पद्म और सर की भाँति

अपरोक्ष चैतन्य ब्रह्म के नाम बतलाये गए हैं वही अपरोक्ष चैतन्य अनुभूति—वेदन और प्रतिपत्ति के द्वारा प्रत्यक्ष होता है तो हम औपनिषदों के यहाँ जीव कहा जाता है। वह जीव अपरोक्ष चैतन्यात्मा ब्रह्म ही है।२। वही संवित् चित्तगत चित्प्रतिविम्ब लक्षण वाला जीव पुमान् इस नाम से कहा जाता है। वही संविद रूप वाला परमात्मा अपनी अविद्या से चित्त की उपाधि वाला होकर पुमान् होता है और इसके पश्चात् अहन्ताके प्रत्यय होने से अहङ्कार के स्वरूप वाला हो जाता है। यहाँ पर यह उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य यह हैकि वही संवित् बुद्ध्यात्मक और मन आत्मक भी हो जाता है तथा वह ही बाह्य पदार्थों के रूप विवर्तमान होजाता है और सम्पूर्ण दृश्य जगत् उसी ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वरूप है ॥३॥ वह ही परमात्मा सङ्कल्प-विकल्प-भ्रम-संशय आदि के द्वारा अनेक अवस्थाओं के क्रम वाला हो जाता है। जिस तरह जल ही तरङ्गादि के रूप से स्फुरित हुआ करता है और तरङ्ग जल से कोई भिन्न वस्तु नहीं है वैसे ही वह अपरोक्ष चैतन्यात्मा ब्रह्म ही का यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् स्वरूप है उससे भिन्न कुछ भी अन्य नहीं है ॥४॥ इस दृश्य जगत् के स्वरूप में स्फुरित होते हुए भी जगत् के कारण रूप ब्रह्म से उसके विपरीत जीव के साथ ऐक्य में कुछ भी बाधा नहीं होती है—इस जगत् की सृष्टि के पहिले क्रिया के अभाव होने से यह ब्रह्म अकारण स्वरूप ही था और वही कारणभूत होगया है। जब मायामयी सर्गापेक्षण लीला से आत्मा में संस्कार रूप से विद्यमान इस जगत् का स्वयं ही कारणभूत होगया है। अर्थात् इस स्फुरित कार्य स्वरूप जगत् के अपने स्वरूप का स्वयं ही ब्रह्म कारण है जो कि अब जगत के रूप में प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है ॥५॥

रूपालोकमनस्कारपदार्थव्याकुलं जगत् ।
विद्यते वेदनस्यान्तर्वातान्तः स्पन्दनं यथा ॥६
सर्वात्मवेदनं शुद्धं यथोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतादिक्कालबाह्यान्तारूपदेहकम् ।७

लक्षण वाला बन्ध होता है। इस दृश्य के अभाव में बन्धन नहीं होता है। जिस प्रकार से यह दृश्य नहीं होता है वही बतलाया जाता है—इसका अब श्रवण करिये ॥१०॥ जो यह सभी कुछ स्थावर (अचल-जड़) और जङ्गम (चल-चेतन) स्वरूप जगत् दिखलाई देता है वह सम्पूर्ण विनाश शील है और सुषुप्ति दशा में होने वाले एक स्वप्न के ही तुल्य है। कल्प के अन्त में यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् विनष्ट हो जाया करता है ॥ ११ ॥

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥१२
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥१३
स तथाभूत एवात्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव भाविनामकदर्थिताम् ॥१४
ततः स जीवशब्दार्थः कलनाकुलतां गतः ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरीभवत् । १५
मनः संपद्यते नाम महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारं तरङ्ग इव वारिधेः ॥१६

जब यह दृश्य जगत् स्थावर–जङ्गमात्मक जगत् नष्ट हो जाता है तो उस समय में व्याप्त तेज और तम कुछ भी नहीं रहा करता है किन्तु स्तिमित–गम्भीर–निश्चल अपरिच्छेद्य–अभिधान से रहित और इन्द्रियों के द्वारा अगोचर होने से अनभिव्यक्त केवल सद् ब्रह्म ही अवशिष्ट रहा करता है जोकि निरूपण करने के अयोग्य होता है ॥१२॥ बुधजनों के द्वारा उस महान् आत्मा वाले की ऋत–आत्मा–पर-ब्रह्म और सत्य इत्यादिक संज्ञाऐं व्यवहार के लिये कल्पित की हैं ॥१३॥ वही स्तिमित गम्भीर रूप वाला परमात्मा स्वयं ही स्वच्छ जल में आकाश के समान अन्य जैसा समुल्लासित होता हुआ भावी जीवादि नामों से क

षीकृत जीवता को प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥ भूतों के कारण होने से भूतात्मा वह जीव शब्दार्थ संकल्प से क्षुब्धता को प्राप्त होता हुआ मनन अर्थात् सङ्कल्पों के करने से मन्थरीभूत होकर मन होता है ॥ १५ ॥ उस महान् परमात्मा का मन यह नाम होता है जिस प्रकार से सुस्थिर वारिधि को अस्थिर आकार वाली तरङ्ग हुआ करती है ॥ १६ ॥

तत्स्वय स्वैरमेवाशु संकल्पयति नित्यशः ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ॥१७
यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥१८
असतैव सती तापनद्येव लहरी चला ।
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ॥१९
अविद्यासंसृतिर्मोहो बन्धो माया मलं तमः ।
कल्पितानीति नामानि तस्याः सकलवेदिभिः ॥२०
बन्धस्य तावद्रूपं त्वं कथ्यमानमिदं शृणु ।
ततः स्वरूपं मोक्षस्य ज्ञास्यसीन्दुसमानन ॥२१
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते ।
द्रष्टा दृश्याशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ॥२२
जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥२३

वह स्वयं स्वच्छन्दता पूर्वक नित्य ही अति शीघ्र सङ्कल्प किया करता है और उस समष्टि मन के द्वारा शब्दादि पञ्च तन्मात्रा-आकाशादि पञ्च महाभूत और ब्रह्माण्डादि भौतिक लक्षण वाले इस जगत् के इन्द्रजाल की रचना की जाया करती है ॥१७॥ सुवर्ण में कटक की रचना होती है किन्तु वह कटक—इस नाम से कहे जाने वाला सुवर्ण से भिन्न नहीं होता है और हेम कटक से पृथक् कोई अन्य पदार्थ नहीं है ठीक इसी

भाँति परमात्मा में जगत् शब्दार्थता होती है ॥१८॥ इस संसार में मरीचियों की नदी की चञ्चल ऊर्मि की तरह से असत् मन से होने वाली जगत् में इन्द्रजाल की श्री का विस्तार किया जाया करता है ॥ १९ ॥ पूर्ण रूप से ज्ञान रखने वालों के द्वारा उस इन्द्रजाल की श्री के अविद्या—संसृति—मोह—बन्ध—माया—मल और तम इत्यादि नामों की कल्पना की गयी है ॥ २० ॥ हे चन्द्र के समान सुन्दर मुखाकृति वाले श्रीराम ! अब मेरे द्वारा कहे जाने वाले इस बन्ध के स्वरूप का आप श्रवण कीजिये । जब बन्ध के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा तो फिर आप मोक्ष के स्वरूप को जान जायेंगे ॥२१॥ इस दृश्य जगत् के सद्भाव की सत्ता के देखने वाले को बन्ध होता है और इसी को बन्ध नाम से कहा जाता है । दृश्य जगत् के सद्भाव के कारण से ही देखने वाला बन्धन से बद्ध हो जाता है । जब इस दृश्य जगत् का हे अङ्ग ! अभाव हो जाता है तो यह विमुक्त हो जाया करता है । द्वैत प्रपञ्च का ही नाम दृश्य जगत् है ॥२२॥ तू और मैं—इत्यादि के सर्ग स्वरूप वाला दृश्य जगत् कहा जाता है । जब तक इस प्रकार के दृश्य जगत् की भावना रहती है तब तक मोक्ष नहीं हुआ करता है ॥२३॥

आनीलवल्लरीरूपं यथा पद्माक्षकोटरे ।
आस्ते कमलिनीबीजं तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥२४
यथाङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
तनोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥२५
द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्यथा सदोदितास्त्यस्तमयोज्झितोदरे ।
द्रव्यस्य चिन्मात्रशरीरिणस्तथा स्वभावभूतास्त्युदरे जगत्स्थितिः ॥२
इदमाकाशजाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् :
उत्पत्त्याख्यं प्रकरण येन राघव बुध्यसे ॥२७
अस्तीहाकाशजो नाम द्विजः परमधार्मिकः ।
ध्यानैकनिष्ठः सततं प्रजानां च हिते रतः ॥२८

जिस प्रकार से गवाक्ष के कोटर में चारों ओर से नीली वल्लरी के स्वरूप वाली कमलिनी का बीज विद्यमान रहा करता है उसी भाँति द्रष्टा में इस दृश्य जगत् की बुद्धि रहती है ।।२४।। बीज के अन्दर संस्कार के रूप से अंकुर स्थिर रहा करता है और प्रतिनियत देश-काल के अनुसार प्रकाण्ड शाखा-पत्रादि के द्वारा भासनशील स्थूल रूप का विचार किया करता है इसी तरह से यह दृश्य जगत् की बुद्धि भी स्थूल भासुर स्वरूप को देश-काल के अनुरूप प्रसूत कर दिया करती है ।।२५।। जिस प्रकार से गवाक्षादि द्रव्य के विषय में हृदय में उदित होती हुई चमत्कृति (आश्चर्य) तत्सम भावि (होने वाले) द्रव्य की अत्यन्त सूक्ष्म दशा में अवस्थित संस्कार वाली असत्तामय एवं उज्झित होती हुई चमत्कृति उसके उदर में ही सदा रहा करती है उसी प्रकार से चित (ज्ञान) मात्र शरीरधारी चिन्मात्र स्वरूप वाले परमात्मा रूपी द्रव्य के उदर में अन्तः स्वभाव भूत उसके स्वरूप से अभिन्न जगत् की स्थिति रहा करती है ।।२६।। श्री वसिष्ठजी ने कहा—अब तक सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य जीव ब्रह्म की एकता का कथन कर आगे इन दोनों का एकत्व असम्भव है—ऐसी शङ्का के निराकरण करने के लिये श्रवण का भूषण इस आकाश से समुत्पन्न आख्यान को सुनिये। हे राघव ! यह उत्पत्ति नामक प्रकरण है जिससे आपको ज्ञान हो जायगा ।।२।। एक परम धार्मिक आकाशज नाम वाला द्विज था वह ध्यान — निष्ठा रखने वाला और प्रजाओं के हित में विरत रहा

त्यजन्त्युद्यममुद्युक्ता न स्वकर्मणि केचन ।।३१
ततस्तत्सदनं यावन्मृत्युः प्रविशति स्वयम् ।
तावदेनं दहत्यग्निः कल्पान्तदहनोपमः ।।३२
अग्निज्वालामहामालां विदार्यान्तर्गतो ह्यसौ ।
द्विजं दृष्ट्वा समादातुं हस्तेनैच्छत्प्रयत्नतः ।।३३

इस उपाख्यान में आकाशज द्विज का नाम आता है सो आकाश का अर्थ है ब्रह्म और उस ब्रह्म से समुत्पन्न होने वाला है ब्रह्मा । अतएव यह ब्रह्मा का ही उपाख्यान है । यहाँ पर द्विजत्व आदि की कल्पना कथा के सौन्दर्य के ही लिये की गयी है । जब वह ब्रह्मा चिरकाल तक जीवित रहता तो मृत्यु ने विचार किया था कि अव्यय मैं तो सभी भूतों का क्रम से अदन कर लिया करता हूँ तो इस आकाश से समुत्पन्न होने वाले विप्र को मैं क्यों नहीं खा जाऊँ । किन्तु इसके विषय में अर्थात् इसके भक्षण करने में मेरी सम्पूर्ण शक्ति कुण्ठित हो जाती है जिस तरह से पत्थर पर किया हुआ खड्ग की धारा का प्रभाव निष्फल हो जाया करता है ।। २९ । ३० ।। यही विचार स्थिर करके वह मृत्यु उसी समय में उस आकाशज द्विज का हनन करने के लिये उसके नगर में चला गया था । अपने कर्म में उद्युक्त हुए कोई भी उद्यम का त्याग नहीं किया करते हैं ।। ३१ ।। ज्योंही उस मृत्यु ने उसके सदन में स्वयं प्रवेश किया था वैसे ही कल्प के अन्त में होने वाली अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि के समान अग्नि ने इसको दग्ध करना आरम्भ कर दिया था ।। ३२ ।। इस मृत्यु ने उस अग्नि की ज्वालाओं की माला को विदीर्ण करके उसके सदन में अन्दर गमन किया था । फिर उसने वहाँ पर स्थित द्विज को प्रबल प्रयत्न के साथ हाथ से पकड़ने की इच्छा की थी ।। ३३ ।।

न चाशकत्पुरो दृष्टमपि हस्तशतैर्द्विजम् ।
बलवानप्यवष्टब्धुं संकल्पपुरुषं यथा ।।३४

अथागत्य स्वयं मृत्युरपृच्छत्संशयच्छिदम् ।
किमित्यहं न शक्नोमि भोक्तुमाकाशजं प्रभो ॥३५
मृत्यो न किंचिच्छक्तस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत् ॥३६
तस्मादेतस्य विप्रस्य मारणीयस्य यत्नतः ।
कर्माणि वीक्ष्य तेषां त्वं सहायेनैनमत्स्यसि ॥३७
ततः स मृत्युर्बभ्राम तत्कर्मान्वेषणाद्दृतः ।
मण्डलानि दिगन्तांश्च सरांसि सरितो दिशः ॥३८
एवं भूमण्डलं भ्रान्त्वा न कुतश्चित्स कानिचित् ।
तान्याकाशजकर्माणि लब्धावान्मृत्युरुद्धतः ॥३९

यह अत्यन्त बलवान् मृत्यु समक्ष में ही स्थित द्विज को देखकर भी सैंकड़ों हाथों से भी उसे अवष्टब्ध करने में समर्थ न हो सका था अर्थात् उसे ग्रहण न कर सका था जैसे मानसिक मनोरथों से निर्मित पुरुष (एक पुरुष के आभास वाला) किसी भी प्रकार से ग्रहण नहीं किया जा सकता है ॥ ३४ ॥ जब वहाँ पर उस द्विज को ग्रहण करने में विफल हो गया तो इसके पश्चात् उस मृत्यु ने संशयों के छेदन करने वाले यमराज के समीप में स्वयं समुपस्थित होकर उनसे पूछा था—हे प्रभो ! क्या कारण है कि मैं सभी का भक्षण करने वाला होते हुए भी आकाशज द्विज का भक्षण नहीं कर सकता हूँ ॥ ३५ ॥ यमराज ने उत्तर दिया—हे मृत्यो ! तू अकेला (एक ही) बलपूर्वक मारने के लिए कुछ भी शक्ति नहीं रखता है अर्थात् अकेला तू किसी को भी बलपूर्वक नहीं मार सकता है । जो मारणीय है अर्थात् मार देने के योग्य है उसके कर्म्म और उसके कर्त्ता ही उसे मार सकते हैं अन्य कोई नहीं ॥ ३६ ॥ इसलिये मोक्ष के योग्य इस विप्र के यत्नपूर्वक कर्मों को देखो और उन्हें देखकर उन्हीं की सहायता से इस द्विज को तुम प्राप्त कर सकोगे अन्यथा नहीं ॥ ३७ ॥ इसके पश्चात् उस द्विज के कर्म्मों के अन्वेषण करने में

समाहृत होकर ब्रह्म मृत्यु ने समस्त मण्डल—दिशाओं के छोर-नदियाँ-दिशाऐं और सम्पूर्ण भूमण्डल में भ्रमण किया था किन्तु उस समुद्धत मृत्यु ने उस आकाशज द्विज के कोई भी कर्म्म कहीं पर भी प्राप्त नहीं किये थे ॥ ३८ । ३९ ॥

समपृच्छदुपागत्य धर्मं सर्वार्थकोविदम् ।
परायण हि प्रभवः संदेहेष्वनुजीविनाम् ॥४०
आकाशजस्य कर्माणि क्व स्थितानि वद प्रभो ।
धर्मराजोऽथ संचिन्त्य सुचिरं प्रोक्तवानिदम् ॥४१
आकाशजस्य कर्माणि मृत्यो सन्ति न कानिचित् ।
एष ह्याकाशजो विप्रो जातः खादेव केवलात् ॥४२
आकाशादेव यो जातः स व्योमेवामलं भवेत् ।
सहकारीणि नो सन्ति कारणान्यस्य कानिचित् ॥४३
सहकारिकारणानामभावे यः प्रजायते ।
नासौ स्वकारणाद्भिन्नो भवतीत्यनुभूयते । ४४
एतदाक्रमणे मृत्यो तस्मान्मा यत्नवान्भव ।
श्रुत्वैतद्विस्मितो मृत्युर्जगाम निजमन्दिरम् ॥४५

फिर मृत्यु ने सबके अर्थों के महान् विद्वान् और अनुजीवियों के सन्देहों में परम परायण धर्मराज के समीप में उपस्थित होकर पूछा था—"हे प्रभो ! आप मुझे यह बतलाने की कृपा कीजिए कि इस आकाशज द्विज के कर्म्म कहाँ पर स्थित हैं ?" धर्मराज ने बहुत अधिक समय तक अच्छी तरह से सोचकर यह कहा था ॥ ४० । ४१ ॥ "हे मृत्यो ! इस आकाशज के कोई भी कर्म्म नहीं हैं । यह आकाशज विप्र केवल आकाश से ही समुत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥ वस्तुतः सहकारी कारण से रहित परमात्मा से जो प्रतिबिम्ब तथा अभिव्यक्ति अर्थात् समुत्पन्न हुआ है वह व्योम के ही समान कर्म्मादि के मल से रहित होता है । इसके कोई भी सहकारी कारण नहीं हैं ॥ ४३ ॥ जो भी कोई सहकारी

कारणों के न होने पर उत्पन्न होता है वह अपने कारण से भिन्न नहीं हुआ करता है—ऐसा जल में होने वाले चन्द्र विम्बादि के स्थलों में अनुभव किया जाता है ॥ ४४ ॥ हे मृत्यो ! इसी कारण से इस आकाशज द्विज के ग्रहण करने के आक्रमण में तुम यत्नशील मत होओ ।" यह उत्तर धर्मराज से श्रवण करके मृत्यु को बड़ा आश्चर्य हुआ था और फिर वह हताश होकर अपने स्थान को वापिस लौटकर चला गया था ॥ ४५ ॥

ब्रह्मर्षे कथितो देवस्त्वया मे प्रपितामहः ।
स्वयंभूरज एकात्मा विज्ञानात्मेति मे मतिः ॥४६
एवमेतन्महाबाहो ब्रह्मर्षे कथितस्तव ।
विवादमकरोन्मृत्युर्यमेनंतत्कृते पुरा ॥४७
मन्वन्तरे सर्वभक्षो यदा मृत्युरदन्प्रजाः ।
वलमेत्याब्जजाक्रान्तावारम्भमकरोत्स्वयम् ॥४८
तदैव धर्मराजेन यमेनाप्यनुशासितः ।
ब्रह्मा किल पराकाशवपुराक्रम्यते कथम् ॥४९
आकाशे स्फुरदाकारः संकल्पपुरुषो यथा ।
पृथ्व्यादिरहितो भाति स्वयंभूर्भासते तथा ॥५०

श्रीराम भद्र ने कहा—हे मुनिराज ! आपने मुझको यह बतलाया था कि यह देव ब्रह्मा थे जो सबके प्रपितामह हैं । यह तो पितामहों के भी पिता हैं अर्थात् प्रपितामह हैं—मेरा ऐसा विचार है कि यह तो स्वयम्भू हैं अर्थात् स्वयं ही जन्म ग्रहण करने वाले हैं और इनकी उत्पत्ति शुक्र-शोणित के बीज से साधारण प्राणी की भाँति नहीं हुआ करती है—यह अतएव अज अर्थात् अजन्मा कहे जाया करते हैं—यह सम्पूर्ण कार्य में एक ही व्याप्त रहने वाले एकात्मा हैं और विज्ञान (बुद्धि) के स्वरूप वाले हैं इसलिए ब्रह्म स्वरूप ही हैं ॥ ४६ ॥ श्री वसिष्ठजी ने — —हे महाबाहो ! यह ऐसा ही है । हमने आपको यही बतलाया था

कि यह ब्रह्मा हैं किन्तु प्राचीन समय में इनके ग्रहण करने के लिये मृत्यु ने यमराज के साथ बड़ा विवाद किया था ॥४७॥ मन्वन्तर में इस सब को भक्षण करने वाले मृत्यु ने जिस समय में समस्त प्रजा को भक्षण करते हुए कुछ बल प्राप्त कर लिया था तो फिर उसने कमल से समुत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी पर आक्रमण करने का आरम्भ स्वयं ही कर दिया था ॥४८॥ उस समय में ही धर्मराज यम ने इस मृत्यु को अनुशासित किया था कि यह ब्रह्मा निश्चिन्त रूप से परात्मा के ही स्वरूप वाले हैं क्योंकि इनकी पराकाश से समुत्पत्ति हुई है इन पर तुम्हारे द्वारा क्यों आक्रमण किया जारहा है ? ॥४६॥ मनोरथों के द्वारा रचित पुरुषाभास जिस प्रकार से स्फुरित आकार वाला दिखलाई दिया करता है उसी भाँति पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित यह स्वयम्भू ब्रह्मा भी चतुर्मुख आदि स्वरूप से युक्त भासित हुआ करते हैं। ब्रह्माजी का शरीर प्रतिभासित ही है ॥ ५० ॥

चिद्व्योम केवलमनन्तमनादिमध्यं
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात्स्वयंभूः ।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
वन्ध्यातनूज इव तस्य तु नास्ति देह ॥५१
आतिवाहिक एवासौ देहोऽस्त्यस्य स्वयंभुवः ।
नत्वाधिभौतिको राम देहोऽजस्योपपद्यते ॥५२
आतिवाहिक एवास्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः ।
सर्वासां भूतजातीनां ब्रह्मणोऽस्त्येक एव हि ॥५३
सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम् ।
अजस्य कारणासत्त्वादेक एवातिवाहिकः ॥५४
अन्येषां कारणं ब्रह्मप्रतिभासोत्थितं जगत् ।
अजस्य कारणं ब्रह्म तेनासावेकदेहवान् ॥५५

चित् (ज्ञान)—केवल व्योम जो अन्त से रहित है और आदि

एवं मध्य से भी रहित है वही निज चित्त के वश से स्वयम्भू ब्रह्मा—इस नाम से भासित होते हैं और आकार वाले के समान एक पुमान् की तरह दिखलाई दिया करते हैं किन्तु वास्तव में वन्ध्या पुत्र के ही तुल्य उसका कोई भी देह नहीं होता है ॥५१॥ हे राम ! इन स्वयम्भू का देह आतिवाहिक ही है अर्थात् परम सूक्ष्म शरीर है। जिसका देवों के द्वारा अति वाहन किया जाता है वह आतिवाहिक कहलाता है। इन का देह अन्य जीवों के समान आधिभौतिक नहीं है क्योंकि यह अज हैं और इनका स्थूल देह ही नहीं है ॥५२॥ श्रीराम ने कहा—हे मुनिवर ! इन समस्त मूल जातियों का देह देवताओं के द्वारा जो कि दोनों मार्गों में रहते हैं देशान्तरों का अतिवाहित किया जाता है अतएव वह अतिवाहिक होता है अर्थात् सूक्ष्म देह हुआ करता है तथा ब्रह्म भी जीव है किन्तु उसका एक ही अन्य जीवों के समान आधिभौतिक देह क्यों नहीं होता है उस ब्रह्म का एक ही तात्पर्य यह है कि स्थूल देह के आरम्भ करने वाले आकाशादि भूतों के होने और न होने से जीवों का स्थूल और सूक्ष्म दो देह हुआ करते हैं और हिरण्य गर्भ के स्थूल देह का अभाव होता है क्या कारण है ? ॥५३॥ श्री वसिष्ठजी ने कहा—समस्त भूतों के जो कि उपादान कारण के स्वरूप वाले हैं स्थूल और सूक्ष्म दो देह हुआ करते हैं और अज के स्थूल देह के आरम्भ करने वाले कारणों के न होने से एक ही सूक्ष्म देह हुआ करता है जिसको अतिवाहिक नाम से ही कहा जाया करता है ॥ ५४ ॥ अन्य जीवों के दो देहों के होने का कारण होता है क्योंकि हिरण्यगर्भ के सङ्कल्प से इस जगत् की उत्पत्ति हुआ करती है इसीलिये वे सब दो देहों वाले होते हैं और उस हिरण्य-गर्भ अज का केवल एक ब्रह्म ही कारण है इसी से यह अज एक सूक्ष्म) देह वाला हुआ करता है ॥५५॥

ब्रह्मा संकल्पपुरुषः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः ।
केवल चित्तमात्रात्मा कारणं त्रिजगत्स्थिते ॥५६

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥५७
भगवन्मनसो रूपं कीदृशं वद मे स्फुटम्।
यस्मात्तेनेयमखिला तन्यते दोषमञ्जरी ॥५८
रामास्य मनसो रूपं न किंचिदपि दृश्यते।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथा शून्यजडाकृतेः ॥५९
न वाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
सर्वत्रैव स्थितं ह्येतद्विद्धि राम यथा नभः ॥६०
साधो यथैतदर्थस्य प्रतिभानं प्रथां गतम्।
सतो वाप्यसतो वापि तन्मनो विद्धि नेतरत् ॥६१
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते।
अन्यत्र किंचिदप्यस्ति मनो नाम कदाचन ॥६२

ब्रह्म सङ्कल्प से निर्मित पुरुष के ही समान है अतएव स्थूल देह के आरम्भ करने वाले पृथ्वी आदि तत्त्वों से रहित आकार वाला होता है। केवल मनके ही स्वरूप वाला ब्रह्मा इस त्रिलोकी की स्थिति का कारण होता है। ब्रह्मा का शरीर मनोमात्र होने से यह जगत् भी मन का ही उससे उत्पन्न होने के कारण एक विकार मात्र है और मनोरज्य के ही तुल्य असत् है—यही इसका अभिप्राय है ॥५६॥ स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा इस सम्पूर्ण विश्व का विस्तार किया जाता है इसीलिये जो कुछ भी दिखलाई दिया करता है वह दृश्यमान जगत् मन का ही विकार मात्र है ॥ ५७ ॥ श्री रामचन्द्र जी ने कहा—हे भगवन्! आप कृपा करके मुझे यह स्पष्ट रूप से वतला दीजिए इस मन का स्वरूप किस प्रकार का होता है? इसके स्वरूप का ज्ञान करना इसीलिए आवश्यक है कि इसी के द्वारा इस सम्पूर्ण दोषों की मंजरी का विस्तार किया जाता है अर्थात् समस्त दोषों की पूर्ण परम्परा की उत्पत्ति इसी से हुआ करती है ॥५८॥ श्री महर्षिप्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम! इस मन का ऐसा ही

स्वरूप है जो कुछ भी दिखलाई नहीं दिया करता है जिस प्रकार शून्य एवं जड़ आकार वाले व्योम का केवल नाम ही होता है और इस नाम के अतिरिक्त दिखलाई कुछ भी नहीं दिया करता है ।।५९।। यह मन न तो बाहिर है और न यह सद्रूप मन हृदय में स्थित रहने वाला है । हे श्रीराम ! यह मन आकाश की ही भाँति सर्वत्र स्थित रहने वाला है ।६०। हे साधो ! जिस प्रकार से प्रसिद्ध को प्राप्त हुए इसके अर्थ का घट-पट इत्यादि स्वरूप से प्रतिभान होता है वह चाहे सत् हो अथवा असत् हो वही मन है अन्य कुछ भी नहीं है ।। ६१ ।। जो अर्थ का प्रतिभान होता है वही मन इस नाम से कहा जाता है अन्यत्र शायद कुछ मन नाम भी होता है ।।६२।।

संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पात्तन्न भिद्यते ।
यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ।।६३
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन के च न !
अविद्यासंसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मनस्तमः ॥६४
इति संकल्पजालस्य नामान्येतानि राघव ।
संकल्पजाले गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥६५
असंभवति सर्वस्मिन्दिग्भूम्याकाशरूपिणि ।
प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्यामलं भवेत् ।।६६
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्त्वमुपागते ।
द्रष्टः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ।।६७
अनाप्ताखिलशैलादिप्रतिबिम्बे हि यादृशी ।
स्याद्दर्पणे दर्पणता केवलात्मस्वरूपिणी ।।६८
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे । ६९

मन का कर्म सङ्कल्प करना होता है अतः जो सङ्कल्पन है वही मन जानलो । सङ्कल्प से उसका कुछ भी भेद नहीं होता है अर्थात् सङ्कल्प

का ही नाम मन है उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। जहाँ पर संकल्पन है वहाँ मन ही है ऐसा समझ लेना चाहिये ॥६ ॥ संकल्प और मन ये दोनों कोई भी भिन्न नहीं हैं। अविद्या (अज्ञान) की संसृति चित्त होता है और यह मन ही बन्धन है तथा मन ही तम होता है ॥६४॥ हे राघव ! संकल्पों के जाल के ही ये सब नाम हैं और यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पों का ही जाल स्वरूप है। इस संकल्पों के जाल स्वरूप वाले जगत् के गलित हो जाने पर अर्थात् ज्ञान के द्वारा जगत् के मूल स्वरूप मन की निवृत्ति होजाने पर केवल आत्मा का ही स्वरूप अवशिष्ट रह जाया करता है इसी का नाम कैवल्य है ॥६५॥ दिशा—भूमि—आकाश रूपों वाले सबके असम्भव हो जाने पर प्रकाश्य में जैसा रूप है वैसा ही प्रकाश का अमल रूप हो जाता है ॥६६॥ त्रिजगत्—तू—मैं—इस दृश्य जगत् के असत्त्व को प्राप्त हो जाने पर द्रष्टा विमलात्म का उसी प्रकार का केवली भाव होता है अर्थात् दिग्भूमि आदि सम्पूर्ण प्रकाश्य का निगम हो जाने पर यदि व्यापक और निश्चल द्रिवस्वान् का प्रकाश अवस्थित होवे तो उसका स्वरूप कैवल्यावस्था में आत्म-स्वरूप का दृष्टान्त होता है ॥ ६७ ॥ सम्पूर्ण शैल आदि के प्रतिविम्ब को न प्राप्त करने वाले दर्पण में जो दर्पणता होती है वह केवल दर्पण के ही स्वरूप वाली होती है ॥६८॥ मैं—तू और यह सम्पूर्ण जगत् इत्यादि में दृश्य सम्भ्रम के प्रशान्त हो जाने पर वीक्षण के अभाव होने से ही उस विषय के वीक्षण से रहित स्थित होने पर द्रष्टा (साक्षी) में उसी प्रकार की केवलता होती है ॥६९॥

मनो दृश्यमयं दोषं तनोतीम क्षयात्मकम् ।
असदेव सदाकारं स्वप्नः स्वप्नान्तरं यथा । ७०

स्फुरति वल्गति गच्छति याचते
भ्रमति मज्जति संहरति स्वयम् ।
अपरतामुपयात्यपि केवल

चलति चञ्चलशक्तितया मनः ।७१
महाप्रलयसंपत्तावसत्तां समुपागते ।
अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ॥७२
आस्तेऽनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मा महेश्वरः ॥७३
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः ॥७४
यः पुमान्सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवेदिनाम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥७५
यः शून्यवादिनां शून्यं भासको योऽर्कतेजसाम् ।
वक्ता मन्ता ऋतंभोक्ता द्रष्टा स्मर्ता सदैव यः ॥७६

इस तरह से कैवल्य की प्राप्ति में यह मन ही विरोधी हुआ करता है और यह मन ही इस क्षय स्वरूप वाले दृश्यमय दोष का विस्तार किया करता है। यह असत् ही होता है और जिस तरह से एक स्वप्न के अनन्तर दूसरा स्वप्न होता है यह मन भी सत् आकार वाला दिखलाई दिया करता है इसके विनाश करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए

करता है जो शान्त स्वरूप वाला है ।७२। उस समय में निरामय देव अज ही न अस्त को प्राप्त होने वाला भास्वान् होता है जोकि सर्वदा सब कुछ करने वाला सर्वस्वरूप महेश्वर परमात्मा है ॥७३॥ जिस परब्रह्म के विषय में वाणी की पहुँच नहीं होती है अर्थात वाणी का अगोचर विषय है और जिसका ज्ञान मुक्त पुरुषों के द्वाराही किया जा सकता है। जिसकी आत्मा आदि संज्ञायें भी कल्पित की हुई होती हैं स्वाभाविक नहीं हैं क्यों कि जो वाणी का भी अगोचर है उसकी स्वाभाविक आत्मादि संज्ञायें हो ही नहीं सकती हैं ॥ ७४ ॥ उसकी सकल शास्त्रगम्यता बतलाते हुए कहते हैं कि जो सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त से पुमान् अर्थात् पुरुष कहा जाता है और वेदान्त शास्त्र के ज्ञाताओं के मत से उसको ब्रह्म कहते हैं तथा योगाचार्य आदि विज्ञान के ज्ञाता हैं उनके मत में इसको निर्मल विज्ञान मात्र कहते हैं ॥ ७५ ॥ जो शून्यवादियों (शून्य को ही तत्त्व मानने वालों) के मत में शून्य है—अर्क तेज वालों के मत में जो भासक है और जो ऋत (कर्म फल) का वक्ता, भोक्ता, मन्ता, द्रष्टा और सदा ही स्मर्त्ता है ॥ ७६ ॥

सन्नप्यसञ्जगति यो यो देहस्थोऽपि दूरतः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥७७
प्रकृतिव्रततिर्व्योम्नि जाता ब्रह्माण्डसत्फला ।
चित्तमूलेन्द्रियदला येन नृत्यति वायुना ॥७८
यश्चिन्मणिः प्रकचति प्रतिदेहसमुद्गके ।
यः प्लावयति संरब्ध पूर्णष्टकमितस्ततः ॥७९
शुद्धैः संविन्मयत्वाद्यः ख भवेद्व्योमचिन्तया ।
पदार्थचिन्तयार्थत्वमिव गच्छत्यधिष्ठितः ॥८०
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्याततते यस्मिन्मराविव मरीचयः ॥८१

कुर्वन्नपीह जगतां महतामनन्तं
वृन्दं न किंचन करोति कदाचनापि ।
स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि निर्विकल्पे
त्यक्तोदयस्थितिमितिः स्थित एक एव ॥८२
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८३

जो जगत् में रहता हुआ भी न रहने वाला है जो देह में स्थित रहने वाला भी सहस्रों वर्षों में अप्राप्य होने से दूर में रहने वाले के समान ही होता है । भास्वान् के आलोक की तरह चिदात्मा जिससे यह घट स्फुरित होता है—इस प्रकार से अनुभूय मान होता हुआ चित्प्रकाश है ॥ ७७ ॥ यह प्रकृति व्योम में समुत्पन्न हुई लता के समान है और ब्रह्माण्ड ही इस लता का सुन्दर फल है । यह प्रकृति रूपिणी लता का मूल चित्त है तथा इन्द्रियाँ इसके दल हैं जो वायु के द्वारा नृत्य किया करती है ॥ ७८ ॥ जो चित् स्वरूप वाला मणि प्रत्येक देह के सम्पुटक में स्फुरित होता है—जो इधर-उधर संक्षुब्ध पुर्यष्टक को प्लावित करता है ॥ ७९ ॥ अविद्या और उसके कार्यों से रहित होने के कारण से शुद्ध सम्वित् से पूर्ण होने से व्योम की चिन्ता से आकाश रूप ही हो जाता है अर्थात् जीव भाव को प्राप्त हुआ परमात्मा ब्रह्म के चिन्तन से ब्रह्म ही हो जाया करता है । पदार्थों के चिन्तन से विषयी कृत होता हुआ पदार्थत्व को ही प्राप्त हो जाता है । अर्थात् जैसा भी चिन्तन करता है वैसा ही बन जाया करता है ॥ ८० ॥ मरुस्थल में मरीचियों की ही भाँति इस अतिशय स्वरूप से व्याप्त जिस अर्णव में आविर्भाव और तिरोभाव की प्रधानता वाले त्रिभुवन के तरङ्ग स्फुरित हुआ करते हैं ॥ ८१ ॥ इन महान् जगतों के समूह की रचना अपनी माया के द्वारा करता हुआ भी वह वास्तव में कुछ भी कभी नहीं किया करता है । वह नाश से रहित और अनस्तमित (अस्त एवं विनाश को न प्राप्त हुए) ज्ञान वाले तथा

निर्विकल्पक अपनी ही आत्मा में उदय और स्थिति की बुद्धि को त्याग देने वाला अकेला एक ही स्थित रहा करता है ॥ ८२ ॥ उत्कृष्ट और निकृष्ट रूप वाले उसके देखने पर अर्थात् उस महान् आत्मा के साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अहङ्कार विद्यमान हो जाया करता है और सम्पूर्ण संशय छिन्न हो जाया करते हैं तथा सदसत् समस्त कर्मों का भी क्षय हो जाया करता है । तात्पर्य यह है कि वह फिर पूर्णतया विशुद्ध हो जाता है ॥७३॥

इयतो दृश्यजातस्य ब्रह्माण्डस्य जगत्स्थितेः ।
मुने कथमसन्नास्ति क्व मेरुः सर्षपोदरे ॥८४
साधुसंगमसच्छास्त्रपरो भवसि राम चेत् ।
तद्दिनैरेव नो मासैः प्राप्नोषीमां परां धियम् ॥८५
सर्वेषामितिहासानामयं सार उदाहृतः ।
श्रुतेऽस्मिन्निर्मले यस्माज्जीवन्मुक्तत्वमव्ययम् ।८६
उदेति स्वयमेवान्तरिदमेव विचारय ।
स्थितमेवास्तमायाति जगद्दृश्यं विचारणात् ॥८७
नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥८८

श्रीराम ने कहा—हे मुनिवर ! इतने बड़े दृश्य और जात जगत् की स्थिति वाले ब्रह्माण्ड को असत् क्यों नहीं कहलाते हैं और सर्षप (सरसों का दाना) के उदर में सुमेरु कहाँ पर है ? ॥ ८४ ॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—हे राम ! यदि आप सत्पुरुषों की सङ्गति और सत् शास्त्रों में परायण हो जावें तो उसी दिन से मास भी नहीं लगेगा, इस पर बुद्धि अर्थात् अद्वैत ज्ञान को प्राप्त कर लेंगे ॥ ८५ ॥ समस्त भरत आदि के इतिहासों के मध्य में यही सार उदाहृत हुआ है। इस निर्मल इतिहास के सुन लेने पर इससे अव्यय अर्थात् विनाश हीन जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लिया करता है ॥ ८६ ॥ यह अद्वैत ज्ञान हृदय

अपने ही आप उदित हो जाया करता है। अतएव इसी का विचार करो। विचार के करने से यह दृश्य सम्पूर्ण जगत् छाया से समारोपित पिशाच की भाँति स्थित होता हुआ भी अस्त हो जाया करता है अर्थात् यह जगत् दृश्यमान होता हुआ भी बुद्धि में इसकी सत्ता नहीं रहा करती है॥ ८७॥ जो मनुष्य ज्ञान में ही एक निष्ठा रखने वाले हैं और आत्मज्ञान के विचार करने वाले हैं उनको वह जीवन्मुक्तता उत्पन्न हो जाया करती है जो कि विदेह होने से मुक्तता ही होती है॥ ८८॥

ब्रह्मन्विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।
ब्रूहि येन तथैवाहं यते शास्त्रगया दृशा॥८९
यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥९०
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥९१
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥९२
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥९३

श्री रामचन्द्र जी ने कहा—हे ब्रह्मन्! विदेह मुक्त जीवन्मुक्त का लक्षण बतलाइये जिससे शास्त्रों में होने वाली दृष्टि से मैं भी उसी प्रकार का यत्न करूँ अर्थात् मैं भी जीवन्मुक्त बन जाने की चेष्टा उसी प्रकार से करूँ जिसका शास्त्र प्रतिपादन करता है॥ ८९॥ श्री महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—प्रतिभास मात्र से अथवा परदृष्टि से व्यवहार वाले भी जिसका यथास्थित यह जगत् तात्त्विक दृष्टि से अस्तङ्गत होता है और वह ब्रह्मस्थित हुआ करता है। ऐसा जो होता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाया करता है॥ ९०॥ जिसके मुख की प्रभा सुख और दुःख में न तो उदित हुआ करती है और न अस्त को ही प्राप्त होती है। जैसा

भी कुछ कोई व्यवहार क्यों न हो उसकी स्थिति सदा एक सी ही रहा करती है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ।। ६१ ।। इसके भी आगे अपने अनुभव से प्राप्त होने वाला जीवन्मुक्त का लक्षण बतलाते हुए वसिष्ठ जी कहते हैं कि जो सुषुप्ति में स्थित रहता हुआ भी जो जागता रहता है और जिसको जाग्रत् नहीं होता है। जिसका निर्वासन (वासना से रहित) बोध होता है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त विषयों के सन्निधान होने पर भी निर्विकार होने से सुषुप्त रहा करता है और द्वैतामास के उपलब्ध होने से वह जागता है अथवा ब्रह्म का साक्षात् अनुभूप मान होने से वह जागता रहता है ।।६२।। प्रारब्ध कर्मों के वेग से प्राप्त राग, द्वेष भयाभास आदि के अनुगुण समाचरण करता हुआ भी जो व्योम के समान अन्दर में अत्यन्त निर्मल हुआ करता है वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त की राग द्वेष भयादि की सम्पूर्ण चेष्टाऐं ऊपरी ही व्यवहार के अनुरूप हुआ करती हैं वैसे अन्दर में वह बहुत ही स्वच्छ सबसे रहित रहा करता है ।। ६३ ।।

यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतोऽत्रापि स जीवन्मुक्त उच्यते ।।६४
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ।।६५
शान्तसंसारकल्लोलः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ।।६६
यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ।।६७
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ।।६८
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च वेतरः ।।६९

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ।।१००

जिस विद्वान् पुरुष को मैं करने वाला हूँ—इस प्रकार की अहङ्कार से पूर्ण भावना लेश मात्र भी नहीं हुआ करती है और वह यही समझता है कि ये इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में संलग्न रहा करती हैं मैं आत्मा) इन विषयों में निरत नहीं रहता हूँ । मैं तो केवल इन इन्द्रियों के विषयों में किये हुए व्यापारों का साक्षी (द्रष्टा) मात्र हूं । मैं स्वयं किसी के भी करने वाला नहीं हूँ । जिस विद्वान् पुरुष की बुद्धि लिप्त अर्थात् अनुशय वाली नहीं होती है । मैंने यह बुरा कर्म किया है और न्यायोचित कर्म नहीं किया है । अतएव मैं नरकगामी होऊंगा—इस प्रकार के विचारों से बुद्धि लिप्त नहीं हुआ करती है । ऐसा पुरुष चाहे जो भी करे या न करे वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।। ९४ ।। जिसके कर्मों से लोग उद्वेग को प्राप्त न होवें और जो स्वयं भी अन्यों के कर्मों से उद्विग्न न होवे तथा हर्ष-अमर्ष (क्रोध) और भय से जो रहित होता है वह पुरुष जीवन्मुक्त होता है ।। ९५ ।। जो कलावान् अर्थात् अविद्या से सावयव भी वास्तव में निष्कल अर्थात् बिना अवयवों वाला ही होता है । जो चिन्ता संयुक्त होता हुआ भी अर्थात् चिन्ताभास के साथ वर्तमान रहता हुआ भी वस्तुतः चिन्ता से रहित ही रहता है और जो इस संसार में विद्यमान पूर्णतया प्रशान्त तरङ्ग के ही समान हुआ करता है । वही पुरुष जीवन्मुक्त अर्थात् इस संसार में जीवित रहता हुआ भी विमुक्त जैसा ही हुआ करता है ।। ९६ ।। जो पदार्थों में अर्थात् उन वस्तुओं में जिनके स्वामी अन्य लोग होते एक व्यवहारी के तुल्य ताप एवं खेद से रहित रहा करता है और पदार्थों में पूर्णात्मा होता है वही जीवन्मुक्त होता है अभिप्राय यह है कि अभिमान से रहित होने के कारण जीवन्मुक्त पुरुष को किसी भी दशा में हर्ष एवं विषाद नहीं हुआ रता है ।। ९७ ।। जिस समय में यह पाञ्चभौतिक विनाशशील देह

काल का कवल बन जाता है तो उस समय में इस जीवन्मुक्त पद का परित्याग करके अस्पन्दता को पवन की ही भाँति यह अदेह मुक्त अवस्था में प्रवेश कर जाया करता है ॥ ९८ ॥ जब इस देह से रहित होने वाला मुक्त हो जाता है तब यह न उदित होता है, न अस्त को प्राप्त होता है और न शाम्य भाव को ही प्राप्त होता है। न यह कार्य्य ही होता है और न कारण ही रहता है। न यह दूर में ही स्थित रहता है—इसमें अहंभाव और इतर भाव भी उस समय में नहीं रहा करता है ॥ ९९ ॥ इस मुक्तावस्था में तो यह एकदम स्तिमित—गम्भीर स्वरूप वाला हो जाता है। न तो यह तेज रूप वाला होता है और फैला हुआ तम ही होता है। उस समय में यह बिना किसी नाम वाला—अप्रकट सत्स्वरूप कुछ अवशिष्ट रहा करता है ॥ १०० ॥

न शून्यं नापि चाकारं न दृश्यं नापि दर्शनम् ।
नच भूतपदार्थौघः सदनन्ततया स्थितम् ॥१०१
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः ।
न सन्नासन्न सदसन्नाभावो भावनं न वा ॥१०२
चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनाधि निरामयम् ॥१०३
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्थितम् ।
साधो तदवधानेन तदेतदवबुध्यसे ॥१०४
परमार्थस्य किं रूपं तस्यानन्दचिदाकृतेः ।
पुनरेतन्ममाचक्ष्व निपुणं बोधवृद्धये ॥१०५
महाप्रलयसंपत्तौ सर्वकारणकारणम् ।
शिष्यते तत्परं ब्रह्म तदिदं वर्ण्यते शृणु ॥१०६
नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥१०७

मुक्त होने वाला निराकार भी नहीं होता है और किसी आकार से भी युक्त नहीं होता है। न यह दृश्य (देखने के योग्य) है और न दर्शन ही होता है। यह भूत पदार्थों का समुदाय भी नहीं होता है अपितु अनन्तता की अवस्था में स्थित होता हुआ सत् होता है ॥ १०१ व्यपदेश से रहित अर्थात् नाम एवं स्वरूप आदि लौकिक व्यवहार से शून्य पूर्ण से भी अधिक पूर्ण आकृति वाला यह एक अद्भुत ही स्वरूप वाला होता है। न तो घटादि पदार्थ के समान यह सत् होता है और परमार्थ स्वरूप होने से यह असत् भी नहीं है। सदसद् के अभाव होने से यह भावन (चिन्तन) भी नहीं है ॥ १०२॥ दृश्य (देखने के योग्य) से रहित—अनन्त—जरा से (वार्द्धक्य से) रहित—मङ्गल स्वरूप—आदि, मध्य अन्त से हीन—मन की पीड़ा से शून्य और शारीरिक पीड़ा से भी रहित इस प्रकार का केवल ज्ञान स्वरूप विदेह हुआ करता है ॥ १०३ ॥ द्रष्टा (देखने वाला)—दृश्य (देखने के योग्य) और दर्शन (देखना) अर्थात् ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय इनके मध्य में जो दर्शन है अर्थात् साक्षी के रूप से स्थित है अर्थात् सबमें अनुगत होता हुआ भी इन द्रष्टादि से विलक्षण निर्विकल्पक प्रत्यक् चैतन्य स्थित है। हे साधो ! उसमें चित्त की एकाग्रता से अथवा उसके निश्चय से अर्थात् शोधित पदार्थ के साक्षात्कार से वह जाना जाता है। परमार्थ स्वरूप का अवगमन किया करता है ॥१०४॥ श्रीराम ने कहा—आनन्द और चित् (ज्ञान) की आकृति वाले उस परमार्थ का क्या रूप होता है ? हे भगवन् ! इसकी भली भाँति ज्ञान की वृद्धि के लिये पुनः मेरे सामने व्याख्या कीजिए ॥ १०५ ॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—महा प्रलय की प्राप्ति होने पर सभी का लय हो जाया करता है। उस समय में समस्त कारणों का भी कारण वही परमब्रह्म शेष रह जाया करता है। उसका वर्णन अब मेरे द्वारा किया जाता है उसका आप श्रवण करिए ॥ १०६ ॥ मन की वृत्तियों का संक्षय हो जाने पर अर्थात् शब्दादि आकार वाली वृत्तियों का क्षय हो जाने पर अभिमान

मात्र से प्राप्त स्थूल—लिंग और सूक्ष्म—इन तीनों से वर्तमान आत्मा की शरीर त्रयात्मकता समाधि में अभिमान के नाश होने पर नष्ट हो जाया करती है। अपने आत्मा का नाश करा कर अवस्थान अपनी आत्मा में जाति गुण और क्रिया आदि से रहित होने से अनाख्येय जो सद्रूप है वृत्ति के संक्षम में साक्षि रूप है वही उस ब्रह्म वस्तु का स्वरूप कहा जाता है ॥१०७॥

चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः ।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ।८
अङ्गलग्नेऽपि वातादौ स्पर्शाद्यनुभवं विना ।
जीवतश्चेतसो रूपं यत्तत्परमनात्मनः ।१०९
अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया महामते ।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तद्रूप परमात्मनः ॥११०
वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥१११
व्यवहारपरस्यापि यत्पाषाणवदासनम् ।
अव्योम्न एव व्योमत्वं तद्रूपं परमात्मनः ॥११२
वेद्यवेदनवेत्तृस्वरूपत्रयमिदं पुरः ।
यत्रोदेत्यस्तमायाति तद्रूपं परमात्मनः ॥११३
स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत् ।
मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते ।।११४

जीव के स्वभाव अर्थात् स्वरूप वाली चिति का विषयों की ओर उन्मुख न होने वाला जो वपु है वह चिन्मात्र—विमल शान्त है वही परमात्मा का स्वरूप होता है। अर्थात् निष्कलङ्क—चिदेकरूप—अनाद्यागन्तुक मलद्वय से रहित और निर्विकार वह परमात्मा का रूप होता है ॥ ८ ॥ वायु आदि के शरीरावयव में संलग्न होने पर भी स्पर्श आदि अनुभव के बिना चेत उपाधिक जीव का जो स्वरूप है वही आत्मा

का परम संसार से अतीत स्वरूप होता है ॥ ६ ॥ हे महामते ! स्वप्न जागरित से रहित और सुषुप्ति से रहित तथा अनन्त वस्तुओं का विषय होने से अनन्त जो चिरकाल पर्यन्त योग निद्रा का रूप होता है वह ही परमात्मा का स्वरूप होता है। तुरीय अवस्था के लक्षण वाली योग निद्रा में सन्निर्विकल्प चिद्रूप प्रतीत होता है वह परमात्मा का स्वरूप है ॥ ११० ॥ अन्तःकरण की वृत्ति के लक्षण वाला वेदन—आदित्यादि सम्बन्धी प्रकाश—शब्दादिवेद्य का तथा तम (अज्ञान) का जो वेदन साक्षिलक्षण वाला है और जो आदि-अन्त से रहित है वह परमात्मा स्वरूप है ॥ १११ ॥ व्यवहार परायण भी जीव का वस्तु वृत्ति से पाषाण के समान जो आसन है अर्थात् एक प्रौढ़ शिला के तुल्य निश्चल रूप से जो अवस्थान है। अव्योम का ही व्योमत्व है। वस्तुतः निष्क्रियत्व को व्योमत्व होता है वही परमात्मा का रूप है ॥ ११२ ॥ वेद्य (ज्ञान प्राप्त करने के योग्य)—वेदन (ज्ञान प्राप्त करना) नेतृत्व (ज्ञान प्राप्त करने वाले का धर्म)—इन वेद्य- वेदन और वेत्ता तीनों रूपों का प्रत्यक्ष होते हुए जहाँ अधिष्ठान में उदय—अस्त और नाश होता है वही परमात्मा का रूप है ॥ १३ । अचर आदि स्थावरों का स्वभाव से ही मन—बुद्धि आदि से निर्मुक्त जो रूप होता है वह कदाचित् बोध स्वरूप यदि हो जावे तो वह स्वरूप परमात्मा के साथ उपमा देने के योग्य होता है ॥ १४ ॥ ब्रह्मा—विष्णु—हर रजोगुण आदि उपाधि युक्त—सदाशिव (गुणों की समता का साक्षी)—आदि शब्द से महेश्वर आदि का ग्रहण किया जाता है। इन समस्त स्वरूपों की शान्ति होने पर ये सब परम मङ्गल स्वरूप यहाँ पर एक ही है। समस्त उपाधियों के नाश हो जाने से यह केवल सबका सङ्ग त्याग देने वाला चैतन्य स्वरूप से समन्वित है ॥ ११५ ॥

~~

द्वितीय सर्ग

अत्रेदं मण्डपाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
निःसंदेहो यथैषोऽर्थश्चित्तो विश्रान्तिमेति ते ।।१
आसीदस्मिन्महीपीठे कुलपद्मो विकासवान् ।
पद्मो नाम नृपः श्रीमान्बहुपुत्रो विवेकवान् ।।२
मर्यादापालनाम्भोधिर्द्विषत्तिमिरभास्करः ।
सरः सद्गुणहंसानां दोषतृण्याहुताशनः ।।३
तस्यासीत्सुभगा भार्या लीला नाम विलासिनी ।
सर्वसौभाग्यवलिता कमलेवोदितावनौ ।।४
उद्विग्ने प्रोदिना मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।
प्रतिविम्बसमाक्रान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ।।५
सैकदा चिन्तयामास शुभसंकल्पशालिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियो भर्ता ममैष जगतीपतिः ।।६
यौवनोल्लासवाञ्श्रीमान्कथं स्यादजरामरः ।
भर्त्रानेन कथं साकं रमे युगशतान्यहम् ।।७

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—अब तक आकाशज के आख्यान में चिन्मात्र परमात्मा की जो माया है वह मन होकर सृजन किया करती है—यह वर्णन किया गया है । अब श्रवण का भूषण मण्डप का आख्यान श्रवण करिये अर्थात् लीलाख्यान के द्वारा इस परमात्मा की माया की बहुत दुर्घट हेतुता का विस्तार बतलाया जाता है । यह अर्थ बिना किसी सन्देह के हे श्रीराम ! आपके चित्त में विश्रान्ति प्राप्त करेगा ।। १ ।। इस महापीठ पर विकास अर्थात् कीर्ति से सम्पन्न—अपने कुल का अलङ्कार स्वरूप पद्म नाम वाला नृप था जो श्री सम्पन्न, बहुत पुत्रों वाला और विवेक युक्त था ।। २ ।। यह नृप मर्यादा के पालन करने में समुद्र के ही

समान परम विशाल था। शत्रुओं के अन्धकार के विनाश करने में भास्कर के समान था – सद्गुण गणरूपी हंसों का सरोवर था और दोष-रूपी तृणों के समूह के लिये साक्षात् अग्नि के तुल्य था। समुद्र जिस तरह मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया करता है वैसे ही वह राजा भी वर्णों और आश्रमों की मर्यादा का पूर्ण पालक था ॥ ३ ॥ उसकी शोभन श्री वाली—विलास सम्पन्न लीला नाम वाली भार्या थी जो सभी प्रकार के सौभाग्य से समन्वित भूमि में उदित लक्ष्मी के ही तुल्य थी ॥ ४ ॥ वह भार्या ऐसी थी जो अपने स्वामी के उद्विग्न होने पर स्वयं उद्विग्न हो जाया करती थी—मुदित होने पर स्वयं मुदित और आकुलित होने पर समाकुलित हो जाया करती थी। यह पूर्णतया प्रतिबिम्ब के ही समान रहा करती थी किन्तु जब भर्त्ता संक्रुद्ध होते थे तो यह अत्यन्त भीत हो जाया करती थी ॥ ५ ॥ उसने एक बार अपने मन में विचार किया था जो कि सर्वदा शुभ संकल्पों के ही करने वाली थी। उसने विचार किया था कि यह समस्त जगत् का स्वामी ,मेरा भर्त्ता मेरे प्राणों से भी प्यारा है ॥ ६ ॥ ऐसा कौन सा साधन है जिसके द्वारा यह मेरा स्वामी श्री सम्पन्न और यौवन के उल्लास से युक्त अजर एव अमर हो जावे और मैं फिर सैकड़ों ही युगों तक इस अपने भर्त्ता के साथ रमण किया करूँ ? ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान्विद्यावृद्धानहं द्विजान् ।
पृच्छामि तावन्मरणं कथं न स्यान्नृणामिति ।।८
इत्यानीयाथ संपूज्य द्विजान्पप्रच्छ सा नता ।
अमरत्वं कथं विप्रा भवेदिति पुनःपुनः ।।९
तपोजपयमैर्देवि समस्ताः सिद्धसिद्धयः ।
संप्राप्यन्तेऽमरत्वं तु न कथंचन लभ्यते ।।१०
इत्याकर्ण्य द्विजमुखाच्चिन्तयामास सा पुनः ।
इदं स्वप्रज्ञयैवाशु भीता प्रियवियोगतः ।।११

मरणं भर्तुरग्रे मे यदि दैवाद्भविष्यति ।
तत्सर्वदुःखनिर्मुक्ता संस्थास्ये सुखमात्मनि । १२
अथ वर्षसहस्रेण भर्तादौ चेन्मरिष्यति ।
तत्करिष्ये यथा येन जीवो गेहान्न यास्यति ॥१३
तद्भ्रमद्भर्तृजीवेऽस्मिन्निजे शुद्धान्तमण्डपे ।
भर्त्रावलोकिता नित्यं निवत्स्यामि यथासुखम् ॥१४

अतएव जो ज्ञान में बहुत ही बड़े-बड़े, तपश्चर्या में परम महान् और विद्या में वृद्ध द्विज हैं उनसे मैं पूछूँ कि ऐसा कौन-सा साधन है जिसके द्वारा मनुष्यों की मृत्यु न होवे ॥ ८ ॥ यह विचार करके उसने योग्य वृद्ध ब्राह्मणों को बुलाकर उनका समर्चन किया और उसके अनन्तर उसने विनम्र होकर विप्रों से पूछा था—हे विप्रगण! मनुष्यों को बार-बार जो मृत्यु आया करती है उसका निवारण होकर इनको अमरता प्राप्त होने का क्या साधन है ? ॥ ९ ॥ विप्रों ने इसका उत्तर दिया था—हे देवि ! तप—जप और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि यमों के साधनों के करने से सिद्ध पुरुषों को अणिमा—महिमा आदि समस्त आठों सिद्धियाँ सम्प्राप्त की जाया करती हैं किन्तु ऐसा कोई भी साधन या उपाय नहीं है जो अमरत्व प्रदान करा देवे । अमरत्व तो किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं किया जाता है ॥ १० ॥ विप्रों के मुख से ऐसा अपने प्रश्न का उत्तर श्रवण करके उसने फिर बारम्बार सोचा था और अपने प्रिय के वियोग से डरी हुई उसने यह अपनी ही बुद्धि से विचार किया था ॥ ११ ॥ यदि भाग्यवश मेरे ही आगे मेरे भर्त्ता की मृत्यु हो गई तो समस्त दुःखों से विनिर्मुक्त होती हुई मैं अद्वितीयानन्द स्वरूप वाले आत्मा में भली भाँति स्थित रहूँगी ॥ १२ ॥ इसके अनन्तर एक सहस्र वर्ष में भी यदि पहिले आदि में मेरा स्वामी मर जायगा तो उस प्रकार का यत्न करूँगी कि जिससे यह जीवात्मा घर से बाहिर नहीं जायगा ॥ १३ ॥ मेरे इस अपने शुद्धान्त मण्डप में भ्रमण करते हुए

भर्त्ता के जीवात्मा के रहने पर मैं अपने भर्त्ता के द्वारा अवलोकित होती हुई नित्य सुखपूर्वक निवास किया करूँगी ॥१४॥

अद्यंवारभ्यैतदर्थं देवीं ज्ञप्तिं सरस्वतीम् ।
जपोपवासनियमैरातोषं पूजयाम्यहम् ॥१५
इति निश्चित्य सा नाथमनुक्त्वैव वराङ्गना ।
यथाशास्त्रं चकारोग्रं तपो नियममास्थिता ॥१६
त्रिरात्रस्य त्रिरात्रस्य पर्यन्ते कृतपारणा ।
देवद्विजगुरुप्राज्ञविद्वत्पूजापरायणा ॥१७
स्नानदानतपोध्याननित्योद्युक्तशरीरका ।
सर्वास्तिक्यसदाचारकारिणी क्लेशहारिणी ॥१८
त्रिरात्रशतमेवं सा वाला नियमशालिनी ।
अनारत तपोनिष्ठामतिष्ठत्कष्टचेष्टया ॥१९
त्रिरात्राणां शतेनाथ पूजिता प्रतिमानिता ।
तुष्टा भगवती गौरी वागीशा समुवाच ताम् ॥२०
निरन्तरेण तपसा भर्तृभक्त्यतिशायिना ।
परितुष्टास्मि ते वत्से गृहाण वरमीप्सितम् ॥२१

इसके लिये आज से ही आरम्भ करके जप—उपवास और नियमों के द्वारा तुष्टि पर्यन्त ज्ञप्ति सरस्वती देवी का मैं समर्चन करूँगी ॥ १५ ॥ ऐसा निश्चय करके उस वराङ्गना ने अपने स्वामी से इस विषय में कुछ भी न कहकर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नियमों में समास्थित होकर अत्यन्त उग्र तप किया था ॥ १६ ॥ तीन-तीन रात्रि का पारण करने वाली वह देवगण—विप्र—धर्म के ज्ञाता और विद्वान्—इन सबकी पूजा में परायण रहने लगी थी ॥ १७ ॥ सभी प्रकार के आस्तिक्य भाव से अर्थात् जो कुछ भी देव—मन्त्र—विप्र और विद्वानों के विषय शास्त्रों में कहा गया है वह सभी पूर्ण सत्य है—इस भावना से सदाचार के करने वाली तथा सबके क्लेशों को हरण करने वाली तथा स्नान—दान—तप

और ध्यान में नित्य ही उद्यत शरीर वाली होकर वह सर्वदा रहा करती थी ।१८। तीन रात्रियों के समाप्त होने पर अशन करते हुए उसने नियम-शालिनी अर्थात् सभी नियमों के पालन करने वाली बाला ने इस प्रकार से एकसौ त्रिरात्रों के पालन किया था और निरन्तर तपस्या की निष्ठा का अव-लम्बन लेकर अत्यन्त कष्टों के सहन करने की चेष्टा से स्थित रही थी।।१९। इस तरह से एकसौ त्रिरात्रों के व्रतों के द्वारा समर्चित तथा प्रतिमानित भगवती वागीशा गौरी परम सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होती हुई उससे बोली—॥२०॥ हे वत्से! अपने भर्त्ता की भक्ति के अतिशय से परिपूर्ण तेरे निरन्तर होने वाले तप से मैं बहुत ही परितुष्ट होगई हूं। अब तुम अपना अभीष्ट वर-दान मुझसे ग्रहण करलो ॥२१॥

जय जन्मजराज्वालादाहदोषशशिप्रभे ।
जय हार्दान्धकारौघनिवारणरविप्रभे ॥२२

अम्ब मातर्जगन्मातस्त्रायस्व कृपणामिमाम् ।
इदं वरद्वयं देहि यदिह प्रार्थ्यते मया ।।२३

एकं तावद्विदेहस्य भर्तुर्जीवो ममान्तिकात् ।
अस्मादेव हि मा यासीन्निजान्तःपुरमण्डपात् ।।२४

द्वितीयं तु महादेवि प्रार्थयेऽहं यदा यदा ।
दर्शनाय वरार्थेन तदा मे देहि दर्शनम् ।।२५

इत्याकर्ण्य जगन्माता तथास्त्वेवमिति स्वयम् ।
उक्त्वान्तर्धानमगमत्प्रोत्थायोर्मिरिवार्णवे ।२६

अथ सा राजमहिषी परितुष्टेष्टदेवता ।
पूर्णेवामृतवर्षेण बभूवानन्दधारिणी ।।२७
पक्षमासर्तुकटके दिनारे वर्षदण्डके ।
क्षणनाभौ स्पन्दमये कालचक्रे वहत्यथ ।
अन्तर्धिमाजगामास्याः पत्युस्तच्चेतनं तनौ ।।२८

रानी ने कहा--हे देवि ! इस संसार में जन्म ग्रहण करना और जरा को प्राप्त करना ही महान् भीषण ज्वालाएँ हैं उनसे होने वाले दाहरूपी दोषों के शमन करने के लिये आप शशि की प्रभा के समान है ऐसी आपकी सदा जय हो । हृदय में होने वाले अज्ञानान्धकार के समूह के निवारण करने में विशेष प्रभा रखने वाली हैं-ऐसी आपकी सर्वदा जय हो ।। २२ ।। हे अम्बा ! हे माता ! आप तो सम्पूर्ण जगत् की माता हैं । आप कृपा करके इस कृपण को रक्षा कीजिए । मुझे इस समय में ये दो वरदान दीजिए जिनकी याचना मेरे द्वारा आपसे की जा रही है । ।। २३ ।। उन दो वरदानों में एक तो यह है कि मेरे भर्त्ता का विदेह हुए का (मृत का) जीवात्मा मेरे समीप से अपने इस अन्तःपुर के मण्डप से न जावे ।। २४ ।। हे महादेवि ! मैं दूसरा वरदान यही माँगती हूँ कि जब कभी मैं आपके दर्शन करने की इच्छा करूँ तभी वरदान के प्रभाव से आप मुझे अपना दर्शन दे दिया करें ।। २५ ।। उस जगत् माता ने रानी के इस वचन को सुनकर तथाऽस्तु अर्थात् ऐसा ही होवे--यह स्वयं कहकर अर्णव में एक ऊर्मि (तरङ्ग) के समान उठकर वहीं पर अन्तर्ध्यान हो गई थी ।। २६ ।। इसके अनन्तर वह राजा की महिषी जिसने अपने इष्ट देवता को पूर्णतया परितुष्ट कर लिया था अमृत की वर्षा से परिपूर्ण के समान आनन्द के धारण करने वाली हो गई थी ।। २७ ।। इस स्पन्द स्वरूप वाले काल चक्र के घूमते रहने पर जिस काल चक्र के दिन ही अरा हैं – सम्वत्सर अक्ष है--पक्ष, मास और ऋतुएँ इस चक्र के चारों ओर घूमने वाले हैं तथा क्षण नाभि (पिण्डिका) हैं । सूर्य की गति काल का व्यञ्जिका होती है । इसी चक्र के वहन करते हुए उस रानी के पति का चेतन तनु में अन्तर्ध्यान को प्राप्त हो गया था ।।२८।।

मृते तस्मिन्महीपाले शोकसंतापपीडिता ।
निर्जला नलिनीवासौ परां म्लानिमुपाययौ ।।२९

क्षिप्रमाक्रन्दिनी क्षिप्रं मौनमूका वियोगिनी ।
बभूव चक्रवाकीव मानिनी मरणोन्मुखी ॥३०
अथ तामतिमात्रविह्वलां सकृपाकाशमवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविह्वलां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत। ३
किं स्मृतास्मि त्वया वत्से वत्से किमतिशोकताम् ।
इत्युपेत्य पुरो ज्ञप्तिस्तामुवाच सरस्वती ॥३२
शवीभूतमिमं वत्से भर्तारं पुष्पखण्डके ।
आच्छाद्य स्थापयैनं त्वं पुनर्भर्तारमाप्स्यसि ॥३३
पुष्पाणि म्लानिमेष्यन्ति नो न चैष विनङ्क्षयति ।
भूयश्च तव भर्तृत्वमचिरेण करिष्यति ॥३४
एतदीयश्च जीवोऽसावाकाशविशदस्तव ।
न निर्गमिष्यति क्षिप्रमितोऽन्तःपुरमण्डपात् ॥३५

उस नृप के मृत हो जाने पर यह राज्ञी शोक और सन्ताप से अत्यन्त पीड़ित होकर बिना जल वाली कमलिनी की भाँति ही परम म्लानता को प्राप्त होगयी थी ॥२६॥ बहुत ही अधिक वह क्रन्दन करती थी और शीघ्र ही वह मौन होकर मूक होजाया करती थी। वियोगिनी वह मान वाली चकवी के ही समान मरने को उन्मुख होगई थी ॥ ३० ॥ इसके अनन्तर आकाश से आविर्भूत हुई कृपा से युक्त देवी सरस्वती ने अत्यन्त विह्वल उस राज्ञी पर सरोवर के जल के शोषण होजाने पर परम विह्वल शफरी पर प्रथम वृष्टि के ही तुल्य अनुकम्पा की थी ॥३१॥ देवी सरस्वती ने कहा—हे वत्से ! तू ने मुझे कैसे अर्थात् किस प्रयोजन के लिए इस समय स्मरण किया है और इस समय में तू इतना अधिक शोकाकुल क्यों होरही है ? इस प्रकार उस राज्ञी के समक्ष में जाकर ज्ञप्ति सरस्वती देवी ने उससे कहा था ॥३२॥ हे वत्से ! शवीभूत अर्थात् मुर्दे के समान हुए इस अपने भर्त्ता को पुष्पों के समुदाय से ढक कर पुष्प खण्ड में ही इसको रखदे । तू फिर अपने भर्त्ता को प्राप्त कर लेगी ।३३।

पुष्प म्लानता को प्राप्त हो जाँयगे और यह नष्ट नहीं होगा। यह थोड़े ही समय के पश्चात् तेरे भर्त्ता होने को फिर प्राप्त कर लेगा अर्थात् पुनः यह तेरा भर्ता हो जायगा ॥ ३४ ॥ इसका यह जीव आकाश के तुल्य विशद है और तेरे इस अन्तःपुर के मण्डप से यह शीघ्र नहीं निकलेगा ॥३५॥

सा दिव्यां भारतीं श्रुत्वा स्थापयित्वा तथा पतिम् ।
दुःखादाह्वाययामास सोवाच समुपेत्य ताम् ॥३६
क्व ममावस्थितो भर्ता किं करोत्यथ कीदृशः ।
समीपं नय मां तस्य नैका शक्नोमि जीवितुम् ॥३७
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने ॥३८
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ॥३९
तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयम् ॥४०
अत्यन्ताभावसंपत्त्या जगतस्त्वेतदाप्यते ।
नान्यथा मद्वरेणाशु त्वं तु प्राप्स्यसि सुन्दरि ॥ ४१

उस रानी ने उस अत्यन्त दिव्य भारती का श्रवण करके तथा अपने पति को उसी प्रकार से पुष्पों में स्थापित कर दिया था। दुःख से समाहृत किया था और वह उस देवी के समीप में उपस्थित होकर उस से बोली ॥३६॥ लीला ने कहा—हे देवि ! इस समय में मेरा भर्ता कहाँ पर अवस्थित है—क्या वह कर रहे हैं और किस प्रकार के हैं ? उस मेरे स्वामी के पास ही मुझ को भी पहुँचादो । मैं अकेली जीवित नहीं रह सकती हूं ॥३७॥ ज्ञप्ति ने कहा—हे वरानने ! यह चित्त ही स्वच्छत्व सूक्ष्मत्वादि के होने से आकाश के ही सदृश है—चित्परमात्मा ही आकाश है और एक महाभूत संज्ञा वाला तीसरा आकाश है। इस तरह जगत् में

ये तीन आकाश प्रसिद्ध हैं उनमें जो चिदाकाश है वह इन दोनों से भी अधिक शून्यतर है ॥ ३८ ॥ हे वरवर्णिन ! इस चित्त की एक विषय से दूसरे विषय की प्राप्ति में अल्पकाल से प्रतीयमान जो मध्य है वह ही चिदाकाश है—ऐसा समझलो । अर्थात् चित्त की पूर्व में रहने वाली वृत्ति के नष्ट होजाने पर और होने वाली उत्तर वृत्तियें जो मध्य में निर्विषय सन्धि का साक्षिभूत चैतन्य स्वयं ही प्रकाश किया करता हैं क्यों कि वह दोनों वृत्तियों के मध्यवर्ती है और मध्य में ही प्रतीयमान होता है वही चिदाकाश है ॥३९॥ उसमें निरस्त करके निरवशेष करदिया है अनात्म प्रत्यय लक्षण वाला संकल्प जिसने ऐसी स्थिति को यदि प्राप्त कर लेगी तो बिना ही किसी संशय के उसी समय में परम शान्त सर्वात्मक पद को प्राप्त कर लेगी ॥ ४० ॥ जगत् के अत्यन्ताभाव सम्पत्ति से यह सर्वात्मक यह प्राप्त किया जाता है अन्यथा किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं किया जाता है । हे सुन्दरि ! तुम तो मेरे प्रदान किए हुए वरदान के प्रभाव से शीघ्र ही प्राप्त कर लोगी ॥४१॥

इत्युक्त्वा सा ययौ देवी दिव्यमात्मीयमास्पदम् ।
लीला तु लीलयैवासीन्निर्विकल्पसमाधिभाक् ॥४२
तत्याजाथ निमेषेण सान्तःकरणपञ्जरम् ।
स्वदेहं खमिवोड्डीना मुक्तनीडा विहङ्गमी ॥४३
ददर्श खस्थं भर्तारं तस्मिन्नेवाम्बरालये ।
संस्थितं पृथिवीपालभास्थाने बहुराजके ॥४४
सिंहासनसमारूढं जय जीवेति संस्तुतम् ।
पूर्वद्वारस्थितासंख्यमुनिविप्रर्षिमण्डलम् ॥४५
पश्चिमद्वारगाशेषराजराजेशमण्डलम् ।
उत्तरद्वारगासंख्यरथहस्त्यश्वसंकुलम् ॥४६
दक्षिणद्वारगासंख्यललनालोकसंकुलम् ।
पपाताथ महारम्भा सा तां नरपतेः सभाम् ॥४७

तद्देशांस्तत्समाचारांस्तथा तानेव तालकान् ।
अथान्यानप्यपूर्वांश्च पण्डितान्सुहृदस्तथा ॥४८

श्री महर्षिप्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—इतना कहकर वह देवी परम दिव्य अपने प्रासाद (निवास स्थान) को चली गई थी। लीला ने तो लीला ही से अर्थात् बहुत ही सुगमता से निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कर लिया था ॥४२॥ इसके अनन्तर उस लीला ने एक निमेष मात्र ही में इस अन्तःकरण पञ्जर का त्याग कर दिया था जिस प्रकार से अपने नीड (घौंसला) के त्याग देने वाली मादा पक्षी अपने देह को आकाश में लेकर उड़ जाया करती है ॥ ४३ ॥ फिर उस राज्ञी लीला ने उस अम्बर के आलय में आकाश में स्थित अपने भर्त्ता को देखा था। वहाँ पर बहुत से राजाओं से समन्वित आस्थान में उस राजा को संस्थिति करने वाला देखलिया था ॥ ४४ ॥ वहाँ पर वह नृप एक सिंहासन पर समारूढ़ था और "जय हो, जीवित रहो"—इत्यादि जयघोषों के द्वारा उसकी वहाँ पर संस्तुति की जा रही थी। वह जहाँ पर विराजमान था उस सभा-मण्डप के पूर्व दिशा वाले द्वार पर अगणित मुनिगण तथा विप्र एवं ऋषियों का समुदाय स्थित था ॥४५॥ उसके पश्चिम द्वार पर सम्पूर्ण राजा महाराजाओं का मण्डल उपस्थित था। उत्तर के द्वार पर असंख्य रथ-हाथी और अश्व आदि का समुदाय घिरा हुआ था ॥४६॥ उस सभा-मण्डप वाले भवन के दक्षिण दिशा वाले द्वार अगणित ललनाओं के समूह से संकुल हो रहा था महान् आरम्भ वाली वह राज्ञा नरपति की उस सभा में जाकर उतरी थी ॥४७॥ उस राज्ञी ने उन देशों को, वहाँ के समाचारों तथा उन्हीं तालकों को और इसके अनन्तर अन्य भी अति अपूर्व पण्डितों और सुहृदों को देखा था ॥४ ॥

महानदनदीशैलपुरपत्तनमण्डितान् ।
द्विरष्टवर्षं भूपालं प्राक्तन्या जरसोज्झितम् ॥४६
सर्वमालोक्य सा राज्ञी विस्मयं परमं ययौ ।

अथाभ्युत्थाय सा राज्ञी निजान्तःपुरमागता ॥५०
देवीं सस्मार विज्ञप्तिं ददर्श च पुरः स्थिताम् ।
भद्रासनगतां देवीं लीलापृच्छद्‌भुवि स्थिता ॥५१
यथा पत्युरमूर्तोऽस्मात्सर्गात्सर्गो भ्रमात्मकः ।
जातस्तथा कथय मे जगद्‌भ्रमनिवृत्तये ॥५२
प्राक्स्मृतेर्भ्रान्तिमात्रात्मा सर्गोऽयमुदितो यथा ।
तथा द्वितीयः पत्युस्ते यथैतत्कथ्यते शृणु ॥५३
अस्ति कश्चिच्चिदाकाशे क्वचित्संसारमण्डपः ।
आकाशविशदः काचदलसंछादिताकृतिः ॥५४
मेरुस्तम्भस्थलोकेशपुरन्ध्रीशालभञ्जिकः ।
कोणस्थभूतवल्मीकव्याप्तपर्वतलोष्टकः ॥५५

और उस राज्ञी ने उन स्थलों को महान् नद–नदी–शैल–नगर–पत्तन आदि से विभूषित देखा था। उसने वहाँ पर पहिली वृद्धता से रहित सोलह वर्ष की उम्र वाले भूपाल को देखा था और ऐसा अद्‌भुत राजा के स्वरूप को देखकर उस राज्ञी को अत्यन्त अधिक विस्मय होगया था। इसके पश्चात् उस राज्ञी ने उठकर समाधि भङ्ग की और वह पुनः अपने ही अन्तःपुर में समागत होगई थी ॥५०॥ उस देवी ने विज्ञप्ति का स्मरण किया था और उसी समय से अपने समक्ष में स्थित विज्ञप्ति का वर्णन किया था वह विज्ञप्ति देवी एक परम भद्र आसन पर विराजमान थी। उस समय में लीला ने भूमि में स्थित होकर उससे पूछा था ॥५१॥ जिस प्रकार से मेरे पतिदेव को इस सर्ग से अमूर्त भ्रमात्मक सर्ग की प्राप्ति होगयी है उस प्रकार को मेरे जगत् के भ्रम की निवृत्ति के लिये आप मुझे बतलाइये ॥५२॥ श्री देवी ने कहा—यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भ्रम स्वरूप ही होता है। पूर्व भ्रम से उत्तरोत्तर भ्रम की उत्पत्ति हुआ करती है—ऐसा सिद्धान्त है। तुम्हारे पति को भी पूर्व जन्म के सञ्चित कर्म के वश से समुत्पन्न भ्रम अर्थात् प्रपञ्च का भ्रम उत्पन्न होगया था

और मरण होने के पीछे भी पूर्व जन्म की कामना से ही आगे होने वाला प्रपञ्च भ्रम होगया है। जिस रीति से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जावे वह मेरे द्वारा कहा जाता है। उसका श्रवण करो ॥५३॥ इस चिदाकाश में किसी स्थल पर कोई एक संसार मण्डप है। काच के दलों से सच्छादित आकृति वाला आकाश में विशद वह मण्डप है। वहाँ पर सुमेरु पर्वत एक स्तम्भ के समान है। उसमें स्थित इन्द्राग्नि लोकपालों की कुटुम्बिनियाँ ही शाल भञ्जिकायें अर्थात् पुत्तलिकाओं के तुल्य हैं। यह मण्डप बहुत ही पुराने समय से स्थित है और वाल्मीकों के द्वारा व्याप्त लोष्टक है ठीक उसी प्रकार से यह संसार का मण्डप भी कोणस्थ भूत वल्मीकों से व्याप्त पर्वतों के लोष्टकों वाला है ॥५४।५५॥

अनेकपुत्रजरठप्रजेशब्राह्मणास्पदम् ।
वातमार्गमहावंशस्थितवैमानिकोटकः ॥५६
नभोनिवासिसिद्धौघमशकाहितघुंघमः ।
सुरासुरादिबाललीलाकलकलाकुलः ॥५७
तत्र कस्मिंश्चिदेकस्मिन्कोणापवरकोदरे ।
शैललोष्टतलेऽस्त्येको गिरिग्रामकगर्तकः ॥५८
तस्मिन्नदीशैलवनोगूढे साग्निः सदारः श्रुतवानरोगः ।
गोक्षीरवान् राजभयानभिज्ञः सर्वातिथिर्धर्मपरो द्विजोऽभत् ॥५९
वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
वसिष्ठस्येव सदृशो ननु वासिष्ठचेतनः । ६०
वसिष्ठ इति नाम्नासौ तस्याभूदिन्दुसुन्दरी ।
नाम्ना त्वरुन्धती भार्या भूमौ व्योमन्यरुन्धती ॥६१
वित्तवेषवयः कर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
समैव साप्यरुन्धत्या न तु चैतन्यवत्तया । ६२
स विप्रस्तस्य शैलस्य सानौ सरलशाद्वले ।
कदाचिदुपविष्टः सन्ददर्शाधो महीपतिम् ॥६३

मरीचि आदि अनेक पुत्रों वाले और जरा से मुक्त जो प्रजा का स्वामी ब्रह्मा है उसका वह प्रासाद है। जिस तरह से यह मण्डप ऊर्ध्व भाग में तिर्यकों से आयत महान् वंश में स्थित कीटकों वाला होता है ठीक उसी भाँति यह संसार का मण्डप भी है। मेघ मार्ग और सौर मार्ग —इन दोनों के मध्य में वातमार्ग प्रसिद्ध है यह वही वात मार्ग है जिसमें महाभारत के युद्धकाल में भीमसेन ने सहस्रों हाथियों को ऊपर की ओर फेंक चलाया था और वे अभी तक भी वहीं रहा करते हैं। विमानों से गमन करने वाले ही कीटक हैं और वही वातमार्ग महान् वांस जैसा है उसमें कीटकों के तुल्य विमानों से गमन करने वाले जिसमें स्थित रहते हैं ॥५६॥ नभोमण्डल में निवास करने वाले सिद्धों के समुदाय ही मशक हैं और उनके द्वारा घुंघुम ध्वनि जिसमें विद्यमान हैं। सुर और असुर ही दुष्ट बालक हैं उनके लीला से किए हुए कोलाहल से आकुल है ॥५७॥ वहाँ पर किसी एक कोने में—गर्भागार के उदर में—पर्वत लोष्ट के नीचे एक गिरि ग्राम गर्तक है अर्थात् 'गिरिग्राम' इस नाम वाला ग्राम है। वह पर्वत के निम्न देश में स्थित है अतएव गर्त शब्द से प्रकाशित किया गया है ॥५८॥ नदी—पर्वत और वनों से उपगूढ़ उस ग्राम में अग्नि के सहित—दारा से युक्त—श्रुतवान् (शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न)—अरोग (स्वस्थ)—गौ के क्षीर वाला—राजा से होने वाले भय से अपरिचित—सबका अतिथि और धर्म में परायण द्विज हुआ था ॥५९॥ वित्त-वेष-वय-कर्म-विद्या-विभव और चेष्टाओं से वसिष्ठ मुनि के ही तुल्य था किन्तु वसिष्ठ सम्बन्धी जीव नहीं था ॥ ६० ॥ यह "वसिष्ठ"—इसी नाम से लोक में विख्यात था। उसकी चन्द्र के समान अत्यन्त सुन्दरी अरुन्धती नाम वाली भार्या थी वह भूमि और व्योम में भी अरुन्धती थी ॥ ६१ ॥ वह भी वित्त—वेष—वय—कर्म—विद्या—विभव और चेष्टित से अरुन्धती के ही तुल्य थी किन्तु चैतन्यवत्ता से नहीं थी ॥ ६२ ॥ उस विप्र ने जब कि वह किसी समय में पूतिकाष्ठादि वृक्षों से शाद्वल अर्थात्

हरियाली में उस पर्वत की शिखर पर बैठा हुआ था तो उस समय में नीचे राजा को देखा था ।।६३।।

समग्रपरिवारेण यातमाखेटकेच्छया ।
तमालोक्य महीपालमिदं चिन्तितवानसौ ।।६४
अहो नु रम्या नृपता सर्वसौभाग्यलालिता ।
कदा स्यां दशदिकुञ्जपूरकोऽहं महीपतिः ।।६५
पदातिरथहस्त्यश्वपताकाछत्रचामरैः ।
कदा मे वायवः कुन्दमकरन्दसुगन्धयः ।।६६
यास्यन्त्यन्तःपुरस्त्रीणां सुरतश्रमशीकरान् ।
इत्थं ततःप्रभृत्येव विप्रः संकल्पवानभूत् ।।६७
स्वधर्मनिरतो नित्यं यावज्जीवमतन्द्रितः ।
हिमाशनिरिवाम्भोज जर्जरीकर्तु माहृतः ।।६८
तं तथा चिन्तयाविष्टं जरा द्विजमुपाययौ ।
आसन्नामरणस्यास्य भार्या म्लानिमुपागता ।।६९
मामप्याराधितवती सा ततस्त्वमिवाङ्गने ।
अमरत्वं सुदुष्प्राप्यं बुद्ध्वेमं सावृणोद्वरम् ।।७०

सम्पूर्ण परिवार के सहित आखेट की इच्छा से गमन करने वाले उस महीपाल को देखकर इस विप्र ने यह विचार किया था ।। ६४ ।। ओहो ! राजा का वैभव प्राप्त करना कितना अच्छा है जिसमें सभी प्रकार की सौभाग्य की सम्पन्नता रहा करती है । मैं दशों दिशाओं की कुञ्जों का पूरक राजा कब होऊंगा ? ।। ६५ ।। पैदल—रथ—हाथी—अश्व—पताका—छत्र और चमरों से युक्त होकर कौन सा ऐसा समय होगा जब कि मैं कुन्द पुष्पों के मकरन्द की सुगन्धि से समन्वित वायु का सेवन करूंगा ।। ६६ ।। जो सुगन्धित वायु अन्तःपुर में रहने वाली रमणियों के सुरत में समुत्पन्न श्रम की बिन्दुओं को शान्त करेगा । इस प्रकार से उसी समय से लेकर वह विप्र सङ्कल्प वाला होगया था ।।६७।।

वह विप्र नित्य ही अपने धर्म्म में निरत रहा करता था और जब तक भी उसका जीवन रहा था वह तन्द्रा से रहित ही रहा था। हिमरूपी अशनि अम्भोज को जिस प्रकार से म्लान कर देता है वैसे ही यह जर्जरी करण के लिये आहृत हो गया था ॥ ६८ ॥ इस प्रकार से चिन्ता से आविष्ट उस द्विज को जरावस्था प्राप्त हो गई थी और जब इसकी मृत्यु का समय सन्निकट आ गया था तो उस समय में इसकी भार्या अत्यन्त म्लानता को प्राप्त हो गयी थी ॥ ६९ ॥ हे अङ्गने ! तुम्हारी ही भाँति फिर उसने भी मेरी समाराधना की थी। अमरत्व को अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाला समझ कर उसने यह वरदान माँगा था—॥ ७० ॥

देवि स्वमण्डपादेव जीवो भर्तुर्मृतस्य मे ।
मा यासीदित्यतस्तस्याः स एवाङ्गीकृतो मया ॥७१
अथ कालवशाद्विप्रः स पञ्चत्वमुपाययौ ।
तस्मिन्नेव गृहाकाशे जीवाकाशतया स्थितः ॥७२
संपन्नः प्राक्तनानल्पसंकल्पवशतः स्वयम् ।
आकाशवतुरेवोर्वीपतिः परमशक्तिमान् ॥७३
तस्मिन्विप्रे शवीभूते शोकेनात्यन्तकर्शिता ।
सा तस्य ब्राह्मणी भार्या हृदयेन द्विधागमत् ॥७४
भर्त्रा सह शवीभूता देहमुत्सृज्य दूरतः ।
आतिवाहिकदेहेन सा भर्तारमुपाययौ ।७५
तत्रास्य विप्रस्यसुता गृहाणि भूस्थावरादीनि धनानिसन्ति ।
अद्याष्टमं वासरमाप्य मृत्योर्जीवो गिरिग्रामककन्दरस्थ. । ७६
स ते भर्ताद्य संपन्नो द्विजो भूपत्वमागतः ।
यासावरुन्धतीनाम्ना ब्राह्मणी सा त्वमङ्गने ॥७७

उसने कहा था—"हे देवि ! मृत्यु को प्राप्त हुए मेरे भर्ता का जीवात्मा अपने मण्डप से बाहिर न जावे।" इसीलिये उसका वही वर-

दान मैंने अङ्गीकार कर लिया था ॥ ७१ ॥ इसके अनन्तर काल चक्र के वशीभूत होकर वह विप्र पञ्चत्व को प्राप्त हो गया था अर्थात् मर गया था। फिर वह उस ही गृहाकाश में जीवाकाशता से स्थित होगया था। अर्थात् जीवाकाश के स्वरूप में अवस्थित हो गया था ॥ ७२ ॥ पुराने बहुत-से सङ्कल्पों के होने के कारण से वह स्वयं ही सम्पन्न था। अतएव आकाश के वपु वाला ही वह परम शक्तिशाली भूमिपति हो गया था ॥ ७३ ॥ उस विप्र के मृत्यु हो जाने से शवीभूत होने पर उसकी वह ब्राह्मणी शोक से अत्यन्त कार्शित हो गई थी और उसकी भार्या का हृदय दो टुकड़े हो गया था ॥ ७४ ॥ अपने भर्त्ता के साथ ही शवीभूत होकर (शव जैसी बनकर) दूर से ही देह का त्याग करके वह आतिवाहिक देह के द्वारा भर्त्ता के समीप में प्राप्त हो गयी थी ॥ ७५ ॥ वहाँ पर इस विप्र के सुत—गृह—भूमि स्थावर आदि सम्पूर्ण धन हैं। गिरि ग्राम की कन्दरा में स्थित रहने वाला जीव मृत्यु का आज आठवां दिन प्राप्त करके वहाँ पहुँच कर वैभव-सम्पन्न हो गया है ॥ ७६ ॥ वह तुम्हारा भर्त्ता द्विज आज भूपत्व को प्राप्त करने वाला सम्पन्न हो गया है। हे अङ्गने ! जो यह अरुन्धती नाम वाली है वह ब्राह्मणी है ॥ ७७ ॥

इहेमौ कुरुतो राज्यं तौ भवन्तौ सुदम्पती ।
चक्रवाकाविव नवौ भुवि जातौ शिवाविव ॥७८
एष ते कथितः सर्गः प्राक्तनः संसृतिभ्रमः ।
भ्रान्तिमात्रकमाशमेवं सर्गो हि भासते ॥७९
देवि त्वद्वचनं मिथ्या कथं संपन्नमीदृशम् ।
क्व विप्रजीवः स्वगृहे क्वामी वयमिह स्थिताः ॥८०
तादृग्लोकान्तरं सा भूःते शैलास्ता दिशो दश ।
कथं मान्ति गृहस्यान्तर्यत्रामी वयमास्महे ॥८१
मत्त ऐरावणो बद्धः सर्षपाकोणकोटरे ।

मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥८२
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
असमञ्जसमेवैतद्यथेदं देवि तादृशम् ॥८३
नाहं मिथ्या वदामीदं यथावच्छृणु सुन्दरि ।
भेदनं नियतीनां हि क्रियते नास्मदादिभिः ॥८४

यहाँ पर वे दोनों आप सुदम्पती राज्य करते हैं । नवीन चक्रवाकों के समान ही इस भू-मण्डल में पार्वती-परमेश्वर की भाँति उत्पन्न हुए हैं ॥ ७८ ॥ यह पुराना संसृति का भ्रम स्वरूप सर्ग तुम्हारे सामने वर्णन कर दिया है । यह आकाश भ्रान्ति मात्र ही है और इसी प्रकार से यह सर्ग भासमान होता है ॥ ७९ ॥ लीला ने कहा—इस प्रकार का आपका वचन मिथ्या कैसे होगया है । वह विप्र जीव अपने घर में कहाँ है ? और हम यहाँ पर स्थित रहते हुए कहाँ हैं ? ॥ ८० ॥ उस प्रकार का दूसरा लोक—वह भूमि—वे शैल और दशों दिशायें घर के अन्दर कैसे समाते हैं जहाँ पर ये हम हैं ॥८१॥ सर्षप के तुल्य कोटर के एक कोने में मस्त ऐरावत बद्ध कर दिया है और इस अणु कोटर में सिंहों के समुदाय के साथ एक मशक (मच्छर) ने युद्ध किया है ॥ ८२ ॥ पद्म के अक्ष में सुमेरु पर्वत को स्थापित कर दिया है जिसको भौंरे के बच्चे ने निगीर्ण कर लिया है । हे देवि ! जिस प्रकार का यह सब है वह सभी असमञ्जस ही है । अर्थात् समुचित नहीं है ॥ ८३ ॥ देवी ने कहा हे सुन्दरि ! मैं मिथ्या नहीं कहती हूँ । इसको यथावत् अब श्रवण करो । हम लोगों के द्वारा जगत् की मर्यादाओं का भेदन नहीं किया जाता है ॥ ८४ ॥

स ग्रामद्विजजीवात्मा तस्मिन्नेव स्वसद्मनि ।
व्योमैवेदं महो राष्ट्रं व्योमात्मैव प्रपश्यति ॥८५
प्राक्तनी सा स्मृतिर्लुप्ता युवयोरुदितान्यथा ।
स्वप्ने जाग्रत्स्मृतिर्यद्वदेतन्मरणमङ्गने ॥८६

इयमन्तःस्थिता भूमिः संकल्पादर्शयोरिव ।
तस्य सत्यावभासस्य चिव्द्योम्नः कोशकोटरे ॥८७

परमाणौ सन्ति वत्से जीवे प्रतिचिदात्मनि ।
अन्तरन्तर्जगन्तीति प्रतिभासात्मकान्युत ॥८८

अष्टमे दिवसे विप्रः स मृतः परमेश्वरि ।
गतो वर्षगणोऽस्माकं मातः कथमिदं भवेत् ॥८९

देशदैर्घ्यं यथा नास्ति कालदैर्घ्यं तथाङ्गने ।
प्रतिभामात्रकादन्यच्चिद्विलासंकरूविणः ॥९०

यथावत्प्रतिभासस्य वत्से क्रममिमं शृणु ।
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्या मरणमूर्च्छनाम् ॥९१

वह गाँव के रहने वाले द्विज का जीवात्मा उसी अपने घर में है । यह महीका राष्ट्र व्योम ही है और व्योमात्मा निराकार ही इस मही राष्ट्र को देखता है ॥ ८६ ॥ पुरानी अर्थात् पूर्वजन्म में अनुभव किए हुए पदार्थों के विषय वाली स्मृति इस जन्म में आप दोनों की लुप्त होगई है और इस समय में वह अन्य ही प्रकार की उदित होगई है । हे अङ्गने ! जिस तरह से जाग्रत अवस्था में अनुभव किये गये पदार्थों के विषय वाली स्मृति स्वप्नावस्था नहीं होती है ठीक उसी तरह से इस जन्म में पूर्व जन्म की स्मृति विलुप्त हो जाया करती है । यह माया ही उसमें कारण है ॥८६॥ सत्य स्वरूप से अवभासित चिदव्योम अर्थात् परमात्माकाश का कोश जीवत्व की उपाधि वाला अन्तःकरण है उसके अन्तर में शैल वन और कानन से युक्त भूमि स्थित है और मनोराज्य को करने वाले पुरुष का सङ्कल्प ग्रहण किया जाता है ॥८७॥ हे वत्से ! इस जीव को परम सूक्ष्म अन्तःकरण से उपहित होने के कारण से परमाणु कहा गया है । इस चिदात्मा ब्रह्म में परमाणु स्वरूप जीव में प्रतिभास मात्र कारण वाले जगत् इसके अन्तर में है । संसार के अनादि होने से ही इस प्रकार के जगत् हैं ॥८८॥ लीला ने कहा—हे परमेश्वरि ! वह विप्र आठवें दिन

में मृत होगया था। हे माता ! हमारा वर्षगण व्यतीत होगया है—यह कैसे हुआ ? ॥८९॥ देवी ने कहा—हे अङ्गने ! देश की दीर्घता उस प्रकार की नहीं होती है जैसे काल की दीर्घता हुआ करती है। चिद्विलास के एक रूप वाले का यह प्रतिभ मात्र से अन्य ही होता है ॥ ९० ॥ हे वत्से ! इस प्रतिभास का यथावत् जो क्रम है उसको अब श्रवण करो। यह जीवात्मा मिथ्यामरण की मच्छंना का अनुभव किया करता है ॥ ९१ ॥

विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रते ।
आधेयोऽहमिहाधारे स्थितोऽहमिति सुन्दरि ॥९२
हस्तपादादिमान्देहो ममायमिति पश्यति ।
एतस्याहं पितुः पुत्रो वर्षाण्येतानि सन्ति मे ॥९३
इमे मे बान्धवा रम्या ममेदं रम्यमास्पदम् ।
इति भ्रान्तिर्जगत्यत्र मृतिमोहादनन्तरम् ॥९४
अहो नु परमा दृष्टिर्दशिता देवि मे त्वया ।
इदानीमहमेतस्यां यावत्परिणता दृशि ॥९५
नाभ्यासेन विना तावद्भिन्धीदं देवि कौतुकम् ।
सर्गं ब्राह्मणदम्पत्योस्तं मां नय महेश्वरि ॥९६
अचेत्यचिद्रूपमयी परमां पावनीं दृशम् ।
अवलम्ब्येममाकारमवमुच्य भवामला । ९७
एवं स्थिते तं पश्याव: सह सर्गमनर्गलम् ।
अयं तद्दर्शनद्वारे देहस्तव महार्गल ॥९८

हे सुव्रते ! जब यह मृत्यु की मूर्च्छना का अनुभव करता है तो यह प्राक्तन भाव को एकदम विस्मृत करके अन्य ही देखा करता है। हे सुन्दरि ! वह यह देखता है कि मैं इसी आधार में आधेय हूँ। और यहाँ पर ही स्थित हूँ ॥९२॥ यह हाथ पैरों वाला देह मेरा है—यही वह समझता रहता है। मैं इस पिता का पुत्र हूँ और ये इतने मेरे वर्ष हैं ॥९३॥

ये मेरे बहुत ही अच्छे बान्धव हैं और यह परम सुन्दर घर है। इस प्रकार से यहाँ इस जगत् में मृत्यु के मोह के अनन्तर भ्रान्ति हुआ करती है। ॥ ९४॥ लीला ने कहा – हे देवि ! आपने मुझे परम दिव्य दृष्टि प्रदान की है। अब मैं इस दिव्य दृष्टि में जब तक पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त करलूं आप मुझे बारम्बार इसका सदुपदेश देती रहिये। ९५॥ अभ्यास के बिना दृष्टि में पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त नहीं हो सकती है अतएव हे देवि ! आप तब तक मेरे इस कुतूहल का विदारण करिये। हे महेश्वरि ! अब आप मुझको उस ब्राह्मण दम्पती के सर्ग को प्राप्त करादो ॥९६॥ शब्दादि दृश्य पदार्थों से रहित ज्ञानमयी परम पावन दृष्टि का अवलम्बन ग्रहण करो और भव से अमल होती हुई इस एक आकार का अवमोचन कर दो ॥९७॥ इस प्रकार की स्थिति में आजाने पर उस प्रतिबन्ध से रहित सर्ग को देखते हैं। यह तुम्हारा स्थूल देह उस दर्शन के द्वार में बड़ा भारी प्रतिबन्धक है ॥९८॥

जगन्तीमान्यमूर्तानि मूर्तिमन्ति मुधाग्रहान् ।
भवद्भिरदबुद्धा न हैमानोर्वोमिकाधिया ॥९९
तवाभ्यासं विना बाले नाकारो ब्रह्मतां गतः ।
स्थितः कलनरूपात्मा तेन त्वं नानुपश्यसि ॥१००
तत्र रूढिमुपायाता य इमे त्वस्मदादयः ।
अभ्यासाद्ब्रह्मसंवित्तेः पश्यामस्ते हि तत्पदम् ॥१०१
आतिवाहिक एवायं त्वादृशैश्चित्तदेहकः ।
आधिभौतिकया बुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात् ॥१०२
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति ।
तदातिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥१०३
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाम्बुताम् ॥१०४

वासनातानवे तस्मात्कुरु यत्नमनिन्दिते ।
तस्मिन्प्रौढिमुपायाते जीवन्मुक्ता भविष्यसि ॥१०५

ये सम्पूर्ण जगत् अमूर्त हैं किन्तु आप जैसे अज्ञ जीवों ने व्यर्थ के अभिनिवेश से इनको मूर्त स्वरूप वाले समझ रक्खा है जिस तरह से अंगुलीयक की बुद्धि से सुवर्ण को समझा करते हैं। आगे बताये जाने वाले ज्ञान के अभ्यास के बिना तुम्हारी आकृति अधिष्ठान भूत ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं हुई है। वह कल्पना के स्वरूप वाला स्थित है इसी से तुम नहीं देखते हो ॥९९॥१००॥ जो ये अस्मद् आदिक ब्रह्मज्ञान के अभ्यास में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे हम उस ज्ञेय पद का अनुभव किया करते हैं। यह अभिप्राय है कि ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के परिपाक से देहाद्यात्मत्व भ्रम के कारणभूत वासनालय में प्रतिबन्धक के अभाव होने से अस्मदादिक के द्वारा ब्रह्मात्म तत्त्व करामलक की भाँति अनुभव किया जाता है ॥१०१॥ अप्रतिहत गति से उस-उस देश को जो अप्रतिहत गति से लेजाया जाता है वह आतिवाहिक है अर्थात् सूक्ष्म है। किन्तु वह सूक्ष्म चित्त देह वाला उस प्रकार के अज्ञों के द्वारा चिरकाल तक विपरीत भावना से यह आधिभौतिक है इस तरह से ग्रहण किया गया है ॥१०२॥ ज्ञान के अभ्यास से जिस समय में वासना का तानव अर्थात् द्वैतवासना का अल्पत्व स्थिति को प्राप्त होगा उसी समय में चित्त देह में आतिवाहिक अर्थात् सूक्ष्मभाव पुनः आजायगा ॥१०३॥ विशुद्ध सत्त्व गुण से अनुपतित अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत चित्त ज्ञान के अभ्यास से वासना के तानव होने से शरीरादि रूप का त्याग कर प्रतिभासिक स्वरूपता वाली सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है जिस तरह से ताप प्राप्त करके हिम जल के स्वरूप को प्राप्त कर लिया करता है। इसीलिए जीवन्मुक्ति की अवस्था में इस जगत् को प्रातिभासिक कहते हैं ॥१०४॥ हे अनिन्दिते ! अतएव इस वासना को सूक्ष्मता करने के कार्य में तुमको विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए। इस कार्य में परिपक्व

प्रौढ़ता प्राप्त होजाने पर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे । इस वासना के तानव हो जाने पर चित्त की यह पीनता विलीन होजाया करती है। इसलिये उसकी सिद्धि के लिए प्रबल यत्न अवश्य करो । चित्त की पीनता के विलय हो जाने पर अनुभव पर्यन्त ज्ञानोदय के होने से सांसारिक बन्धन भी विलीन होजाया करता है । १०५॥

यावन्न पूरितस्त्वेष शीतलो बोधचन्द्रमाः ।
तावद्देहमवस्थाप्य सर्गान्तरमवेक्ष्यताम् ॥१०६
अत्रोपकुरुते ब्रूहि कोऽभ्यासः कीदृशोऽथवा ।
स कथं पोषमायाति पुष्टे तस्मिंश्च किं भवेत् ॥१०७
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधा ॥१०८
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी ।
आनन्दस्यन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥१०९
अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिराः ॥११०
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परे॥ १११
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥११२

जब तक यह शीतल बोध चन्द्रमा पूरित नहीं होता है तब तक इस स्थूल देह को यहीं पर संस्थापित कर इस प्रपञ्चान्तर को देखो । पूर्ण बोध के बिना आकाश गमनादि का उदय न होने से उसी शरीर से

किस प्रकार का अभ्यास है और उस अभ्यास की विशेष पुष्टि कैसे हुआ करती है ? उसके पूर्ण पोषण होजाने पर क्या होता है-यह सब अब आप बतलाइये ॥१०७॥ देवी ने कहा—अपने श्री गुरु चरण से श्रवण किये हुए उस ब्रह्म का चिन्तन करना-युक्ति पूर्वक उसका पर्यालोचन करना और उस ब्रह्म के विषय में अन्य गुण-गण से सुसम्पन्न शिष्य के लिये कथन करना इस प्रकार से उसी एक ब्रह्म में परायणता को ही बुधजन अभ्यास कहा करते हैं ॥१०८॥ उस पर ब्रह्म में अभ्यास करने वाले मनुष्य की मति आनन्द का स्पन्दन (वर्षण) करने वाली होती है। महत्व से उस मति का सौन्दर्य समुदित होजाया करता है और वैराग्य रस को गर्भ में रखने वाली मति हुआ करती है।।१०९॥ जो ज्ञेय वस्तु का अर्थात् दृश्य पदार्थ के ज्ञाता का अत्यन्ताभाव सम्पत्ति में युक्ति से और शास्त्रों से वरतते हैं वे स्थिर ब्रह्म के अभ्यास करने वाले होते हैं ॥११०॥ यह जगत्-मैं और दृश्य सृष्टि के आदि में वस्तुतः समुत्पन्न हुआ है इसी लिए वह दृश्य सदा नहीं रहता है—इस प्रकार के अभ्यास करने वाले होते हैं॥ ११० ॥ यह जगत् मैं और दृश्य सृष्टि के आदि में वस्तुतः समुत्पन्न हुआ है इसीलिये वह दृश्य सदा नहीं रहता है—इस प्रकार के अभ्यास को परमात्मा के विषय में जो किया जाता है उसी को बोधाभ्यास कहा जाता है ॥ १११ ॥ यहाँ पर अभ्यास करने वालों की तीन श्रेणियाँ बतलाई गयी हैं—दृढ़ता से इस प्रपञ्च को मिथ्या समझने वाले और निष्प्रपञ्च ब्रह्मानन्द में निमग्न चित्त वाले उत्तम होते हैं। इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् को मिथ्याभूत समझ कर उसकी दृढ़ता के लिये प्रयत्नशील अभ्यासी मध्यम श्रेणी के होते हैं। इन दृश्य जगत् के मिथ्यात्व के ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रों और युक्तियों से जो प्रयत्नमान रहा करते हैं वे अधम श्रेणी के अभ्यासी होते हैं। इसका पोषण किस प्रकार से होता है यह बतलाते हुए कहते हैं—द्रष्टा में दृश्य तीनों कालों में भी सम्भव नहीं होता है—इस बोध से राग, द्वेष,

लोभ आदि के कृश हो जाने पर बलपूर्वक समुदित अभ्यास के प्रभाव से जो ब्रह्मानन्द के लक्षण वाली रति होती है वही ब्रह्माभ्यास कहा जाता है ॥११२॥

दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥११३
इति संकथनं कृत्वा तस्यां निशि वराङ्गने ।
समाधिस्थानकं गत्वा तस्थतुर्निश्चलाङ्गके ॥११४
निर्विकल्पसमाधानाज्जहतुः पूर्वसंविदम् ।
तेनैव ज्ञानदेहेन चचार ज्ञप्तिदेवता ॥११५
मानुषी मानुषं देहं त्यक्त्वा बभ्राम सा तदा ।
देहान्तरं च प्रादेशमात्रमारुह्य संविदा ॥११६
बभूवतुश्चिदाकाशरूपिण्यौ व्योमगाकृती ॥११७
अथ ते ललने लीलालोके ललितलोचने ।
स्वभावाच्चेत्यसंविरोर्नभो दूरमितो गते ॥११८
दूराद्दूरमभिप्लुत्य यान्त्यौ ददृशतुर्नभः ।
एकार्णवमिवोच्छूनं गम्भीरं निर्मलान्तरम् ॥११९

इस दृश्य के असम्भव के ज्ञान के अभ्यास से अर्थात् इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान के अभ्यास के परिपाक से जो बोध है वही ज्ञान और ज्ञेय कहा जाता है । इसके अभ्यास से अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से निर्वाण (कैवल्य) होता है। ऐसे अभ्यास को महोदय कहते हैं क्योंकि ऐसे अभ्यास से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लक्षण वाला ऐश्वर्य का उदय होता है ॥११३॥ महर्षि प्रवर श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे वराङ्गने ! उस रात्रि में इस प्रकार से भली भाँति कथन करके फिर समाधि के स्थान पर जाकर निश्चल अङ्ग वाले होकर स्थित हो गये थे ॥११४॥ समाधि से पहिले होने वाले ज्ञान को (मैं इस प्रकार के आकार वाला हूँ) निर्विकल्पक समाधान से विसर्जित कर दिया था और उसी ज्ञान के देह

से ज्ञप्ति देवता ने सञ्चरण किया था ॥११५॥ उस समय में उस मानुषी ने इस मानुष देह का त्याग करके सङ्कल्प से प्रदिदेमात्र अन्य देह को प्राप्त करके चिदाकाश रूप वाले आकाश में गमन करने वाली आकृति से युक्त हो गये थे ॥ ११६-११७ ॥ इसके अनन्तर सुन्दर नेत्रों वाली और लीला से चञ्चल वे दोनों ललनाऐं चेत्यसंदिति के स्वभाव से अर्थात् चिद्दृष्ट के स्वभाव से समस्त व्यापारों के विमर्दन करने के कारण से यहाँ से दूर नभ में चली गयी थीं ॥ ११८ ॥ अधिक दूर से भी दूर अभिप्लुति करके गमन करती हुईं उन दोनों ने नभ को देखा था जो कि एक अर्णव के समान उच्छून—गम्भीर और निर्मल अन्तर वाला था ॥११९॥

कोमलं कोमलमरुदासङ्गसुखभोगदम् ।
मनो वेगमहासिद्धजितवातगमागतम् ॥१२०
पर्यन्तस्थितकूष्माण्डरक्ष पैशाचमण्डलम् ।
नृत्यद्भिर्डाकिनीसङ्घैस्तरङ्गितमिव क्वचित् ॥१२१
प्रवृत्तैर्योगिनीसंघैः श्वकाकोष्ट्रखराननैः ।
निरर्थं योजनशतं गत्वागच्छद्भिरावृतम् ॥१२२
वातस्कन्धनिखातान्तर्बहिस्त्रिपथगञ्जलम् ।
क्वचिन्निर्भित्ति सदनं गायन्नारदतुम्बुरु ॥१२३
चित्रन्यस्तसमाकारमूककल्पान्तवारिदम् ।
क्वचिन्निरन्तरोन्मत्तमातृमण्डलमालितम् ॥१२४
अपि योजनलक्षाणि क्वचिद्दुःप्रापभूतकम् ।
अविनाशितमःपुञ्जैर्दृपद्गर्भोपमं क्वचित् ॥१२५
अविनाशिबृहत्तेजः क्वचिदर्कानलोपमम् ॥१२६

उस नभ का वर्णन करते हुए कहते हैं वह कोमल था अर्थात् कर्कशता से रहित था और मन्द वायु के चारों ओर सम्पर्क से सुख के अनुभव कराने वाला था। मन के वेग से महासिद्धों के द्वारा वायु के

गमन-आगमन को जीत लिया है। नभो मण्डल में वायु के साथ गमन करने और आगमन करने में प्रवृत्त हुए सिद्ध गण मन के वेग से पहिले ही चले जाते हैं और आ जाया करते हैं॥ १२०॥ इसमें पर्यन्त भाग में कूष्माण्ड—राक्षस और पिशाचों का मण्डल स्थित है और किसी-किसी स्थल में नृत्य करने वाली डाकिनियों के समुदाय से तरङ्गों से युक्त की भाँति ही यह दिखलाई दिया करता है॥ १२१॥ प्रवृत्त हुए योगिनियों के संघों से और कुत्ता—कौआ—ऊँट—गधाओं से गमन करके आते हुओं से बिना ही किसी प्रयोजन के सौ योजन तक यह आवृत रहा करता है॥ २२॥ मेघ मार्ग और सोर मार्ग के मध्य में वात मार्ग जाया करता है। उनमें स्थित व ठों के ऊर्ध्व भाग हैं उनमें निर्णव त्रिपथगा के जल जिसमें विद्यमान हैं अर्थात् अधोमुख होकर गङ्गा के जल वहाँ पर प्रवह-मान रहते हैं। कहीं २ पर बिना ही भित्ति का सदन है जिसमें नारद तुम्बुरु का गायन हो रहा है॥ २१॥ चित्र में लिखित आकार वाले—मूक अर्थात् ध्वनि से रहित प्रलयकाल में होने वाले मेघ विद्यमान हैं। कहीं पर अत्यन्त निविड़ ब्राह्मी आदि उन्मत्त मातृगण के मण्डल से माला-कार जैसा बना हुआ है॥ १२४॥ कहीं-कहीं पर लाखों योजन तक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर प्राणियों का नाम निशान तक दिखलाई नहीं देता है। किसी स्थान पर पाषाण से मध्य के समान कभी विनष्ट न होने वाला महान् तेज वहाँ पर विद्यमान रहता है॥ १२५॥ कहीं पर अर्क और अनल के सदृश अविनाशी बहुत अधिक तेज रहता है॥ १२६॥

उदुम्बरोदरमशकक्रमभ्रम-
ज्जगत्त्रयान्तरगतभूतसचयम्।
विलङ्घ्य तद्वरललने समुच्चकै-
र्महीतलं पुनरपि गन्तुमुद्यते॥१२७

इति ते वरवर्णिन्यो ततो ब्रह्माण्डमण्डलात्।

निर्गत्यान्यदनुप्राप्तं यत्र तद्ब्राह्मणास्पदम् ॥१२८
ततो ददृशतुः सर्गे तत्र ते सिद्धयोषितौ ।
अदृश्ये एव लोकस्य मण्डलं ब्राह्मणास्पदम् ॥१२९
चिन्ताविधुरदासीकं बाष्पक्लिन्नाङ्गनामुखम् ।
विध्वस्तपूर्वसंस्थानं विद्युद्दग्धमिव द्रुमम् ॥१३०
अथ सा निर्मलज्ञानचिराभ्यासेन सुन्दरी ।
संपन्ना सत्यसंकल्पा सत्यकामा च देववत् ॥१३१
चिन्तयामास मामेते देवीं चेमां स्वबान्धवाः ।
पश्यन्तु तावत्सामान्यललनारूपधारिणीम् ॥१३२
ततो गृहजनस्तत्र संददर्शाङ्गनाद्वयम् ।
लक्ष्मीगौर्योर्युगमिव समुद्भासितमन्दिरम् ॥१३३

गूलर के मध्य में रहने वाले मशकों (छोटे कीटाणु) के क्रम से अर्थात् जिस तरह से गूलर के फल के अन्दर असंख्य मशक विद्यमान रहा करते हैं उसी भाँति इस जगत् वय के अन्दर प्राणियों का सञ्चय रहता है ऐसे उस नभोमण्डल को वे दोनों श्रेष्ठ ललनाऐं लांघकर फिर इस महीतल में गमन करने को समुद्यत हुई थीं ॥ १२७ ॥ महर्षिवर वसिष्ठ जी ने कहा—इस प्रकार से फिर वे दोनों उत्तम स्त्रियाँ ब्रह्माण्ड मण्डल से निकल कर अन्य स्थल पर प्राप्त हो गई थीं जहाँ पर ब्राह्मणास्पद था ॥ १२८ ॥ इसके अनन्तर उस सर्ग में उन दोनों सिद्ध योषितों ने देखा था उस ब्राह्मणास्पद को जो मण्डल लोक को अदृश्य था ॥१२९॥ वह मण्डप ऐसा था कि जिसमें अभीष्ट अर्थ से रहित चिन्ता से विधुर दासियाँ थीं जिसके अङ्गनाओं के मुख मण्डल बाष्प से आर्द्र थे। पूर्व-विन्यास जिसमें बिजली दग्ध वृक्ष के ही समान विध्वस्त हो गया था। ॥ १३० ॥ इसके अनन्तर वह सुन्दरी निर्मल ज्ञान के अत्यधिक समय पर्यन्त अभ्यास करने से देवता की भाँति ही सत्य सङ्कल्प वाली और सत्य काम वाली हो गई थी ॥ १३१ ॥ उसने विचार किया था कि ये

मेरे बान्धव गण मुझको यह देवी है ऐसा न देखकर एक साधारण ललना के रूप को धारण करने वाली देखें ।। १३१ ।। इसके अनन्तर वहाँ पर घर के मनुष्यों ने दो अङ्गनाओं को देखा था जो मन्दिर को दीप्ति से समुद्भासित करने वाला लक्ष्मी और गौरी के जोड़े के ही समान थीं ।। १३३ ।।

नमोऽस्तु वनदेवीभ्यामित्युक्त्वा कुसुमाञ्जलिम् ।
तत्याज ज्येष्ठशर्माथ सार्धं गृहजनेन सः ।।१३४
देव्यौ च जगतां श्रेष्ठाविह ब्राह्मणदम्पती ।
सर्वातिथी कुलकरौ स्तम्भभूतौ द्विजस्थितेः ।।१३५
तावेतौ गृहमुत्सृज्य सपुत्रपशुबान्धवम् ।
स्वर्गं गतौ नः पितरौ तेन शून्यं जगत्त्रयम् ।।१३६
तद्देव्यौ क्रियतां तावदस्माकं शोकनाशनम् ।
महतां दर्शनं नाम न कदाचन निष्फलम् ।।१३७
इत्युक्तवन्तं सा पुत्रं मूर्ध्नि पस्पर्श पाणिना ।
तस्याः स्पर्शेन तेनासौ दुःखदौर्भाग्यसङ्कटम् ।।१३८
जहौ प्रावृड्घनासङ्गाद्ग्रीष्मतापमिवाचलः ।
अथान्योऽपि जनस्तत्र जहौ शोकं सुदुष्करम् ।।१३९
तस्मिन्गिरितटे ग्रामे तस्मिन्मण्डपकोटरे ।
अन्तर्धिमापतुर्दृष्ट्वा ततस्ते सिद्धयोषितौ ।।१४०

इसके उपरान्त उस ज्येष्ठ शर्मा ने अपने सब गृह के जनों के साथ आप दोनों वन देवियों को मेरा नमस्कार है—यह कहकर पुष्पों की अञ्जलि उनके सामने छोड़ दी थी अर्थात् पुष्पाञ्जलि समर्पित की थी । हे देवियो ! यहाँ पर जगत् में परम श्रेष्ठ ब्राह्मण—दम्पत्ति जो कि सबका आतिथ्य करने वाले थे—कुल के वर्धक और द्विज की मर्यादा के आधारभूत थे । वे पशु–पुत्र और बान्धवों से भरे हुए इस गृह का त्याग करके हमारे माता–पिता वे दोनों स्वर्गलोक को चले गये हैं । इस कारण

से यह तीनों ही जगत् शून्य होगये हैं ॥१३४–१३६॥ अतएव हे देवियो! आप हमारे इस महान् शोक का नाश कर दीजिए क्योंकि महान् पुरुषों का दर्शन कभी भी निष्फल नहीं हुआ करता है ॥ १३७ ॥ इस प्रकार से प्रार्थना करने वाले पुत्र के मस्तक को उस देवी ने अपने हाथ से स्पर्श किया था। उस देवी के उस कर-स्पर्श से इसने दुःख और दौर्भाग्य का जो भी सङ्कट था उस सबका त्याग कर दिया था जिस तरह से वर्षा ऋतु में मेघों के सम्पर्क होने से पर्वत ग्रीष्म के ताप का त्याग कर दिया करता है। इसके अनन्तर अन्य जन ने भी वहाँ पर सुदुष्कर शोक का त्याग कर दिया था ॥ १३८–१३९ ॥ इसके अनन्तर उन सबने देखा था कि उस गिरि के प्रान्त में—ग्राम में और उस मण्डप कोटर में वे दो सिद्ध योषित् अन्तर्धि को प्राप्त हो गई थीं। अर्थात् अन्तर्धान हो गयी थीं ॥ १४० ॥

ज्ञेयं ज्ञातमशेषेण दृष्टा दृष्टान्तसंविदः।
ईदृशीयं ब्रह्मसत्ता किमन्यद्वद पृच्छसि ॥१४१
मृतस्य भर्तुर्जीवोऽसौ यत्र राज्यं करोति मे।
तत्राहं किं न तद्दृष्टा दृष्टास्मीह सुतेन किम् ॥१४२
अभ्यासेन विना वत्से तदा ते द्वैतनिश्चयः।
नूनमस्तं गतो नाभून्न शेषं वरवर्णिनि ॥१४३
लीलास्मीति विनाभ्यासं तव नास्तं गतोऽभवत्।
यद्वा भावस्तदा सत्यसंकल्पत्वमभून्न ते ॥१४४
अद्यासि सत्यसंकल्पा संपन्ना तेन मां सुतः।
संपश्यत्वित्यभिमतं फलितं तव सुन्दरि ॥१४५
इदानीं तस्य भर्तुस्त्वं समीपं यदि गच्छसि।
तत्तेन व्यवहारस्ते पूर्ववत्संप्रवर्तते ॥१४६
अहो हन्त जगन्मातर्मया स्मृतमिहाधुना।
ममेदं राजसं जन्म न तमो न च सात्त्विकम् ॥१४७

देवी ने कहा—जो भी जानने के योग्य है वह पूर्ण रूप से जान ली है और इस प्रपञ्च के मिथ्या होने में दृष्टान्त की स्मृतियाँ भी देखली है। यह ब्रह्म की सत्ता इसी प्रकार की होती है। अब अन्य तुम क्या पूछना चाहती हो उसे बतला दो ।। १४२ ।। लीला ने कहा—मेरे मृत हुए भर्त्ता का यह जीवात्मा जहाँ पर राज्य करता है क्या उनके द्वारा मैं नहीं देखी गई हूँ क्या सुत के द्वारा मैं देखी गयी हूँ ? ।। ४३ ।। देवी ने कहा—हे वत्से ! उस समय में बिना ही अभ्यास के तुमको द्वैत का निश्चय हो गया था। हे वरवर्णिनि ! निश्चय ही वह पूर्ण रूप से अस्तंगत नहीं हुआ था। ज्ञान के अभ्यास के बिना तेरा मैं लीला हूं—यह भाव अस्तंगत नहीं हुआ था और जब ऐसी भावना विद्यमान थी तो तुमको सत्यसङ्कल्पत्व भी नहीं हुआ था ॥ १४४ ॥ आज अद्वैत ब्रह्म में चित्त वृत्ति के निरोध करने वाले योग के प्रतिबन्धक स्वरूप द्वैत निश्चय के विलय हो जाने से तुम सत्य सङ्कल्प वाली हुई हो। इससे सुत मुझको देखे—यह तुम्हारा अभिमत है सुन्दरि ! अब फलित हो गया है।। ४५ ।। इस समय में यदि तुम उस भर्त्ता के समीप में जाना चाहती हो तो तुम्हारा व्यवहार पूर्व की ही भांति प्रवृत्त होता है ।। १४६ ।। लीला ने कहा—हे माता ! अब मुझे स्मरण हुआ है और बहुत ही खेद है कि यह मेरा जन्म राजस अर्थात् रजोगुण से निवृत्ति है इसमें तमोगुण और सात्विकता नहीं है ॥१४७॥

ब्रह्मणस्त्ववतीर्णाया अष्टौ जन्मशतानि मे ।
नानायोनीन्यतीतानि पश्यामीवाधुना पुनः ॥१४८
संसारमण्डले देवि कस्मिश्चिदभवं पुरा ।
लोकान्तराब्जभ्रमरी विद्याधरवराङ्गना ॥१४९
दुर्वासनाकलुषिता ततोऽहं मानुषी स्थिता ।
संसारमण्डलेऽन्यस्मिन्नश्वरकामिनीनी ।।१५०
करञ्जकुञ्जजम्बीरकदम्बवनवासिनी ।

पत्राम्बरवती श्यामा शवर्यहमथाभवम् ॥१५१
विहङ्गचा वैरिविन्यस्तवागुराविपिनावनौ ।
क्लेशेन महता छिन्ना अधमा वासना इव ॥१५२
कर्णिकाक्रोडशय्यासु विश्रान्तमलिना सह ।
पद्मकुड्मलकोशेषु भुक्तकिञ्जल्कया रहः ॥१५३
ततोऽस्त्रीफलदातृ्णां कर्मणां परिपाकतः ।
राजाहमभवं श्रीमान्सुराष्ट्रेषु समाः शतम् ॥१५४

कमलासन ब्रह्माजी से अवतीर्ण होने वाली मेरे आठ सौ जन्म नाना योनियों में व्यतीत हो गये थे। मैं अब उनको पुनः देख रही हूं ॥ १४८ ॥ हे देवि! मैं पहिले किसी संसार मण्डल में मनुष्य लोक की अपेक्षा अन्य लोक ही एक कमल के समान या उसके भ्रमरी के जैसी अर्थात् विद्याधर लोकवासिनी हुई थी ।१४९॥ इसके अनन्तर दुर्वासनाओं से कलुषित मैं मानुषी स्थित होती हुई अन्य संसार मण्डल में पन्नगेश्वर की कामिनी हुई थी ॥ १२० ॥ इसके उपरान्त करञ्ज वृक्षों की कुञ्ज में जम्बीरों और कदम्बों की वनी के वास करने वाली पत्राम्बरवती श्यामा शवरी हुई थी ॥ १५१ ॥ एक विहङ्गी होती हुई मैंने लुम्भक के द्वारा विन्यस्त जाल को अधम वन भूमि में वासना की भांति बड़े भारी क्लेश से छिन्न कर दिया था ॥ १५२ ॥ कमल के मध्यवर्त्ती वीजकोशों के मध्य-प्रदेश रूपी शय्याओं में पद्म के कुम्भन कोणों में भ्रमर के साथ एकान्त में किञ्जल्क को खाने वाली मैंने विश्राम किया था ॥ ५३ ॥ इसके अनन्तर पुंस्त्व फल के देने वाले कर्म्मों के परिपाक से सुराष्ट्रों में सौ वर्ष तक मैं श्रीमान्न राजा हुआ था ॥५४॥

शाद्वलीदलदोलायामान्दोलनदरिद्रताम् ।
मशकस्य मया सद्यः स्थितं मशकया सह ।१५५
योनिष्वनेकविधदुःखशतान्वितासु
भ्रान्तं मया बहुविमर्दसमाकुलासु ।

संसारदीर्घसरितश्चलया लहर्या
दुर्वारवाततरणीसरणक्रमेण ।।५६

एवमाकथयन्त्यौ ते ललने ललिताकृती ।
उत्पेततुर्नभो दूरं योगचङ्क्रमणक्रमैः ।।१५७

विनिर्गत्य ततः सर्गादाप्य सर्गं द्वितीयकम् ।
अन्तःपुरे ददृशतुर्झटितीव विनिर्गते ।।१५८

स्थितं पुष्पभराकीर्णं महाराज महाशवम् ।
ततः पुनर्विनिर्गत्य योगस्था दिव्ययोगिनी ।।१५९

विवेश भर्तृसंसारं लीला ज्ञप्तिसमन्विता ।
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिन्मण्डले मण्डितावनौ ।।१६०

शाद्वल वाली भूमि की दोला में आन्दोलन की दरिद्रता को प्राप्त करके मशक की मशका के साथ मैं तुरन्त ही स्थित रही थी ।। ५५ ।। अनेक प्रकार के सैंकड़ों दुःखों से समन्वित और बहुत प्रकार के विमर्दों से समाकुल योनियों में इस संसार रूपी विशाल नदी के चञ्चल लहरों से दुर्वार वात वाली नौका के सरण के क्रम से मैंने भ्रमण किया था । ।। १५६ ।। वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार से सुन्दर आकृति वाली वे दोनों ललनाऐं बातचीत करती हुईं योग के चङ्क्रमण के क्रम से नभोमण्डल में ब्राह्मण मण्डप से ऊपर की ओर अत्यन्त दूर चली गयी थीं ।। १५७ ।। इसके अनन्तर उस सर्ग से निकाल कर दूसरे सर्ग में अर्थात् पद्म नृप सम्बन्धी सर्ग में प्राप्त होकर तुरन्त ही विनिर्गत होकर उन्होंने अन्तःपुर में देखा था ।। १५८ ।। अन्तःपुर में पुष्पों के भार से समाकीर्ण महाराज के महान् शव को स्थित देखा था । इसके अनन्तर वहाँ से वह योग में स्थित दिव्य योगिनी विनिर्गत होकर ज्ञप्ति से समन्वित लीला ने भर्ता के संसार में प्रवेश किया था । इसी बीच में उस मण्डल में मण्डित भूमि में किसी राजा ने जो कि बड़े-बड़े सामन्तों से अभिवृद्ध था अवस्कन्दन

अर्थात् आगमन द्वितीयाकाश के तुल्य महान् भीषण किसी विशाल अरण्य में हुआ था ॥१५६॥१६०

चक्रेऽवस्कदनं कश्चित्सामन्तोद्रिक्तभूमिपः ।
कस्मिंश्चिद्विततारण्ये द्वितीयाकाशभीषणे ॥१६१
सेनाद्वितयमक्षुब्ध सौम्याब्धिद्वितयोपमम् ।
महारम्भघनं मध्यस्थितराजद्वयान्वितम् ॥१६२
युद्धसज्जं समुन्नद्धमिद्धमग्निमिवाद्भुतम् ।
लीला च ज्ञप्तिदेवी च संददर्श नभःस्थिता ।१६३
अथ प्रवृत्तः प्रसभं प्रलयार्णवरंहसा ।
सेनयोः शस्त्रसंपातः किरन्ननलविद्युतः ॥१६४
पतत्समदमातङ्गकम्पितोर्वीचलज्जलः ।
यन्त्रपाषाथचक्रौघदूरविद्रुतखेचरः ॥१६५
दूरोड्डीनकचत्खड्गखण्डतारकिताम्बरः ।
वज्रमुष्टिविनिष्पेषपिष्टसद्भटकङ्कटः ॥१६६
नाराचवर्षवरवारिदवीरपूर-
मत्ताभ्रसंभ्रमविनृत्तकबन्धबर्हो ।
कल्पान्तकाल इव वेगविवर्तमान-
मातङ्गशैलवलितो रणसंभ्रमोऽभूत् ॥१६७
एवमत्याकुले युद्धे सास्फोटभटसङ्कटे ।
अष्टभागदशाशेषप्रतापमधुराकृतिः ।
शस्त्रघातहतो वीर इवार्कस्तनुतां ययौ ॥१६८

वहां पर उन दोनों सेनाओं का समागम ऐसा था जिस तरह से बिना क्षोभ वाले सुन्दर दो समुद्रों का ही समागम हो गया हो। महान् युद्ध के समारम्भ के कारण से अत्यन्त निविड़ वह था जिसके मध्य में दो राजा थे ॥२६१॥१६२॥ प्रज्वलित अग्नि के ही समान अद्भुत वह युद्ध की समुन्नद्ध सज्जा (तैयारी) थी। इस युद्ध को ज्ञप्ति के साथ

में लीला ने नभ में स्थित होकर भली भांति से देखा था ॥१६३॥ इसके अनन्तर वह युद्ध प्रलयकाल के महान् प्रवृद्ध एवं भीषण समुद्र के समान वेग से बलपूर्वक आरम्भ होगया था और दोनों ओर की सेनाओं में शस्त्रों के संघट्ट से समुत्पन्न विद्युत् की अग्नि को निक्षिप्त करता हुआ शस्त्रों का समागत हो रहा था ।।१६४॥ उस महान् भीषण युद्ध में बड़े २ मदमत्त हाथियों के गिरने से भूमि कम्पित हो गई थी और उस कम्पायमान भूमि में जल चलायमान हो गया जा तथा यन्त्रों के द्वारा प्रेरित पाषाणों तथा चक्रों के समूह से आकाशगामी देवगण भी इधर-उधर भागने लगे थे ॥ १६५ ॥ बहुत दूर तक उड़कर जाने वाले चमकते हुए खड्गों के टुकड़ों से सम्पूर्ण नभ मण्डल ऐसा दिखलाई दे रहा था मानों उसमें तारे चमक रहे हों । वज्र-मुष्टि के प्रहारों से बड़े-बड़े योद्धाओं के कवचों का चूर्ण हो गया था ॥ १६६ ॥ उस युद्ध में वीरगण लोहमय बाणों की जलवृष्टि के समान वर्षा करते हुए विशाल मेघों के ही तुल्य दिखलाई दे रहे थे । जो उस संग्राम भूमि में सुभटों के कबन्ध (धड़) कटकर गिरते-थिरकते से दिखाई दे रहे थे वे ही ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों वृष्टिकाल को उपस्थित देखकर मयूर नृत्य कर रहे हों । कल्प के अन्तकाल के समान ही वेग से घूमते हुए हाथियों के समूह पर्वत जैसे दिखाई दे रहे थे । इनसे सम्बद्ध वह युद्ध का सम्भ्रम था ॥ १६७ ॥ इस प्रकार से आस्फोट से युक्त भटों के सङ्कट वाला वह अत्यन्त समाकुल युद्ध था जिसमें अष्टभाग शेष वाले तथा प्रकृष्ट प्रताप से मधुर आकृति से युक्त सूर्य के समान मरण दशा को प्राप्त होने वाला मधुर आकार से समन्वित वीर शस्त्रों के आघातों से हत होकर तनुता को प्राप्त हो गया था ॥ १६८ ॥

अथ सेनाधिनाथाभ्यां विचार्य सह मंत्रिभिः ।
दूताः परस्परं दत्ता युद्धं संह्रियतामिति ॥१६९
ततो दुन्दुभयः शेमुः प्रतिध्वनितदिङ्मुखाः ।

विनिर्गन्तुं प्रववृते रणारण्याद्बलद्वयम् ॥१७०
अथ वीर इवारक्तः कालेनास्तमितो रविः ।
ततो ध्वान्तौघनानीरे निशीथे समुपस्थिते ॥१७१
लीलापतिरुदारात्मा किंचित्खिन्नमना इव ।
प्रातःकार्यं विचार्याशु मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।।१७२
निद्रां मुहूर्तमारेभे गृहे शशिकरामले ।
ततस्ते दिव्ययोगिन्यौ राज्ञो विविशतुर्गृहम् । १७३
कोमलामलसौगन्ध्यमृदुमन्दारमारुतम् ।
तत्प्रभावेण निद्राणं नृपतेरन्तराङ्गनम् ।।१७४
तयोर्देहप्रभापूरैः शशिनिष्पन्दशीतलैः ।
आह्लादितोऽसौ बुबुधे राजोक्षित इवामृतैः ।।१७५

इसके अनन्तर दोनों सेनाओं के सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करके परस्पर में दोनों ओर से दूत प्रेषित किये गये थे कि युद्ध को बन्द कर दिया जावे ।। १६९ ।। इसके अनन्तर दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली दुन्दुभियाँ शान्त हो गयीं थीं और उस रणभूमि के अरण्य से दोनों ओर की सेनाओं ने वहाँ से निकलना आरम्भ कर दिया था ।। १७० ।। इसके अनन्तर एक वीर के ही सदृश रक्त वर्ण वाला सूर्य भी अस्ताचल को चला गया था और इसके पश्चात् अत्यन्त घना अन्धकार का समूह ही जिसकी सेना का अगला भाग था ऐसा निशीथ-रूपी राजा वहाँ पर उपस्थित हो गया था ।। १७१।। उदार आत्मा वाला लीला देवी का स्वामी कुछ खिन्न मन वाला-सा होता हुआ मन्त्रणा करने में बहुत ही कुशल मन्त्रियों के साथ शीघ्र ही प्रातःकाल के कार्य का विचार करने लगा था ।। १७२ ।। चन्द्रमा की किरणों से अत्यन्त विमल गृह में मुहूर्त भर के लिये उस लीला के भर्त्ता ने निद्रा लेने का आरम्भ कर दिया था । इसके अनन्तर उन दोनों दिव्य योगिनियों ने उस राजा के गृह में प्रवेश किया था ।। १७३ ।। कोमल एवं अमल सौरभ

तथा मन्दार वृक्षों की वायु वाले अन्दर आँगन में उसके प्रभाव से जड़ नृपति निद्रा कर रहे थे उसी घर में उन दोनों ने प्रवेश किया था ॥१७४॥ चन्द्रमा के निष्यन्द से शीतल उन दोनों योगिनियों के देहों की प्रभा के समुदाय से परम आह्लाद को प्राप्त हुए उस राजा ने अमृत से उक्षित के समान जाग्रति की अर्थात् वह निद्रा त्याग कर जाग गये थे ॥ १७५ ॥

आसनद्वयविश्रान्तं स ददर्शाङ्गनाद्वयम् ।
स भूपालोऽथ सचिन्त्य सुविस्मितमनाः क्षणात् ।।१७६
उत्तस्थौ शयनाच्छेषादिव चक्रगदाधरः ।
पुष्पहार इवोत्फुल्लं जग्राह कुसुमाञ्जलिम् ।।१७७
भूमौ विवसने शुद्धे बद्धपद्मासनो नृपः ।
जयतां जनदोस्थित्यदाहदोषशशिप्रभे ॥१७८
देव्यौ बाह्यान्तरतमोविद्रावणरविप्रभे ।
तयोरुक्त्वेति तत्याज पादयोः कुसुमाञ्जलिम् ॥१७९
लीलाग्रे भूपजन्माथ वक्तुं मन्त्रिणमीश्वरी ।
बोधयामास पार्श्वस्थं संकल्पेन सरस्वती ॥१८०
योगिन्यौ स तु ते दृष्ट्वा प्रणम्य कुसुमाञ्जलिम् ।
तयोः पादेषु संत्यज्य विवेश पुरतो नतः ।।१८१
उवाच देवी हे राजन्कथं कस्य सुतः कदा ।
इह जात इति श्रुत्वा स मन्त्री वाक्यमब्रवीत् ॥१८२

दो पृथक् २ आसनों पर विश्राम करने वाली उन दोनों अङ्गनाओं को उस राजा ने देखा था । वह राजा भलीभाँति चिन्तन करके क्षण भर के लिये विस्मित मन वाला होगया था ।।१६७।। जिस प्रकार से चक्र और गदा के धारण करने वाले भगवान् विष्णु शेष की शय्या से उठते हैं उसी भाँति वह नृपति भी अपनी शय्या से उठे और पुष्पों के हार के ही समान उत्फुल्ल कुसुमों की अञ्जलि ग्रहण की थी ॥१८७॥ भूमि में बिना ही वस्त्र

वाले शुद्ध स्थल पर वह नृप पद्मासन बाँधकर स्थित होगया था। राजा ने उनसे कहा—जनों के दोषों से दुष्ट चित्त के दाह करने वाली शशि की प्रभा से युक्त आप दोनों की जय हो। हे देवयो ! आप दोनों वाह्य और आन्तरिक अन्धकार के विदारण करने में आदित्य के समान प्रभा वाली हैं—यह कहकर उन दोनों के चरणों में राजा ने पुष्पों की अंजलि को समर्पित कर दिया था ॥१७९॥ ईश्वरी सरस्वती ने लीला को भूप का जन्म कहने के लिये सङ्कल्प से पार्श्व भाग में स्थित मन्त्री बोधित किया था ॥ १८० ॥ उस राजा ने उन दोनों योगिनियों का दर्शन करके और प्रणाम करके उन दोनों के चरणों में कुसुमों की अञ्जलि का त्याग करके पुर से विनत होकर प्रवेश किया था ॥१८१॥ देवी ने कहा—हे राजन् ! किस समय में किस प्रकार से किसके पुत्र तुम यहाँ पर उत्पन्न हुए थे ? यह सुनकर उस मन्त्री ने वाक्य बोला था ॥१८२॥

देव्यौ युष्मत्प्रसादोऽयं भवत्योरपि यत्पुरः ।
वक्तुं शक्नोमि तदिदं श्रूयतां जन्म मत्प्रभोः । १८३
आसीदिक्ष्वाकुवंशस्थो राजा राजीवलोचनः ।
श्रीमान्कुन्दरथो नाम दोश्छायाच्छादितावनिः ॥१८४
तस्याभूदिन्दुविम्बाभः पुत्रो भद्ररथाभिधः ।
तस्य विश्वरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो मनोरथः ॥१८५
तस्य विष्णुरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो बृहद्रथः ।
तस्य सिन्धुरथः पुत्रस्तस्य शैलरथः सुतः ॥१८६
तस्य कामरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो महारथः ।
अयमस्मत्प्रभुस्तस्य पुत्रः पूर्णामलाकृतिः ॥१८७
महद्भिः पुण्यसंभारैर्विदूरथ इति श्रुतः ।
जातो मातुः सुमित्राया गौर्या इव गुहोऽपरः ॥१८८
पितास्य दशवर्षस्य दत्त्वा राज्यं वनं ययौ ।
पालयामास भूपीठं ततः प्रभृति धर्मतः ॥१८९

हे देवियो ! यह आपका ही प्रसाद है कि आपके ही समक्ष में मैं कह सकता हूं सो यह मेरे स्वामी का जन्म अब आप श्रवण करिये ।१८३। महाराज इक्ष्वाकु के वंश में स्थित कमल के समान परम सुन्दर लोचनों वाला एक राजा हुआ था जिसका शुभ नाम श्री कुन्दरथ था और जिसने अपनी बाहुओं के बल से सम्पूर्ण भूमि की सुरक्षा की थी ।।१८४।। उस राजा के चन्द्रमा के बिम्ब के तुल्य प्रभा वाला पुत्र हुआ था जिसका शुभ नाम भद्ररथ था। इस भद्ररथ का पुत्र विश्वरथ हुआ था और विश्वरथ का सुत मनोरथ नामधारी राजा हुआ था। इस मनोरथ के पुत्र का नाम विष्णुरथ था और फिर इसका पुत्र बृहद्रथ समुत्पन्न हुआ था। इस बृहद्रथ के यहाँ सिन्धुरथ नामक पुत्र ने जन्म ग्रहण किया था। इस सिन्धुरथ का सुत शैलरथ उत्पन्न हुआ था। इसका पुत्र कामरथ हुआ और कामरथ का पुत्र महारथ उत्पन्न हुआ था। इस महारथ राजा का पुत्र पूर्ण अमल आकृति वाला यह हमारे प्रभु हैं।। ८५।१८६।१८७।। महान् पुण्यों के सम्भारों से यह विदूरथ इस परम शुभ नाम से विश्रुत हुए हैं और गौरी देवी के पुत्र दूसरे गुह के ही समान यह अपनी माता सुमित्रा की कुक्षि से समुत्पन्न हुए हैं।। १८८ ।। इन मेरे प्रभु के पिता जिस समय में यह दश वर्ष की अवस्था वाले थे इनको अपने राज्य का उत्तराधिकारी बना कर वन को चले गये थे। तभी से यह महाराज धर्म पूर्वक इस भूमि के पीठ का पालन करते थे ।।१८९।।

इत्युक्त्वा संस्थिते तूर्ष्णीं मन्त्रिण्यथ नृपे तथा ।
कृताञ्जलौ नतमुखे बद्धपद्मासने स्थिते ॥१९०

राजन्स्मर विवेकेन पूर्वंजातिमिति स्वयम् ।
वदन्ती मूर्ध्नि पस्पर्श त करेण सरस्वती । १९१

अथ हार्दं तमो माया राज्ञोऽस्य क्षयमाययौ ।
सस्मार पूर्ववृत्तान्तमन्तः स्फुरदिव स्थितम् ।।१९२

अन्यदेहैकराजत्वं लीलाविलसितान्वितम् ।
उपाचात्मनि संसारो बत मायेयमातता ॥१६३
परिज्ञाता प्रसादेन देव्योरिह मयाधुना ।
हे देव्यौ किमिदं नाम दिनमेकं मृतस्य मे ॥१६४
गतमद्येह जातानि मम वर्षाणि सप्ततिः ।
स्मराम्यनेककर्माणि मित्रबन्धुपरिच्छदान् ॥१६५

इतना सब कहकर मन्त्रीके चुप हो जाने पर राजा के नीचे की ओर मुख करके पद्मासन बांधकर बैठे हुए होने पर सरस्वती देवी ने कहा—हे राजन् विवेक से स्वयं ही अपना पूर्व जाति का स्मरण करो–यह कहते हुए सरस्वती ने अपने हाथ से उसके मस्तक पर स्पर्श किया था ॥१६१॥ इसके अनन्तर इस राजा के हृदय में रहने वाला तम और माया सब क्षय को प्राप्त होगये थे। फिर अन्धकार के नाश हो जाने पर अन्तःकरण में स्थित स्फुरित-सा होता हुआ पूर्व सम्पूर्ण वृतान्त उस राजा ने स्मरण कर लिया था ॥१६२॥ उस राजा की स्मृति में आगया था कि मैं अन्य देह में राजा था और मेरा जीवन लीला नामधारिणी भार्या के विलासों से समन्वित था। आत्मा में ही यह संसार है किन्तु बहुत ही खेद का विषय यह है कि यह माया फैली हुई है। राजा ने कहा—इस समय में मैंने देवियों के प्रसाद से ही इसको परिज्ञान कर लिया है। उसने कहा—हे देवियो ! क्या मेरे मृत होने का यह एक ही दिन हुआ है ? अब यहाँ पर पैदा हुए मेरे सत्तर वर्ष व्यतीत होगये हैं। मैं अनेक कर्मों का इस समय में स्मरण कर रहा हूँ तथा मित्रों-बन्धुओं के परिच्छदों को भी याद करता हूँ। १६.।१६४।१६५॥

राजन्मृतमहामोहमूर्च्छायाः समनन्तरम् ।
तस्मिंल्लोके तवातीते तस्मिन्नेव मुहूर्तके ॥१६६
तस्मिन्नेव गृहे जातः सर्गः स्फारोघविभ्रमः ।
तदेव चेतसि तव निर्मलाकाशनिर्मले ॥१६७

प्रतिभानमिदं जातं व्यवहारक्रमाततम् ।
वयसः समतीतानि मम वर्षाणि सप्ततिः ॥१९८
यथा स्वप्नमुहूर्ते तु संवत्सरशतभ्रमः ।
तव मायाविलासेन तथायं जगति भ्रमः ॥१९९
वस्तुतस्तु न जातोऽसि न मृतोऽसि कदाचन ।
शुद्धविज्ञानरूपस्त्वं शान्त आत्मनि तिष्ठसि ॥२००
पश्यस्यशेतदखिलं न च पश्यसि किंचन ।
सर्वात्मकतया नित्यं प्रकचस्यात्मनात्मनि ॥२०१
यस्त्वशुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे ।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत् ॥२०२
यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः ।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥२०३

वसिष्ठ ने कहा—हे राजन्! मृत्यु के महान् मोह की मूर्छा के ही अनन्तर तुम्हारे अतीत उस देह में उसी मुहूर्त में उसी घर में स्फार ओप विभ्रम वाला सर्ग समुत्पन्न हुआ था। उसी समय में निर्मल आकाश के समान तुम्हारे चित्त में व्यवहार के क्रमों से व्याप्त यह प्रतिभान हो गया था कि मेरी अवस्था के सत्तर वर्ष अतीत हो गये हैं ॥१९६।१९७।१९८॥ जिस प्रकार से स्वप्न के मुहूर्त मात्र समय में सौ वर्षों का भ्रम हो जाया करता है उसी प्रकार से आपकी माया के विलास से इस जगत् में यह भ्रम हो जाया करता है ॥१९९॥ वस्तु तस्तु तुम न कभी समुत्पन्न हुए हो और न कभी मृत हुए हो। तुम वास्तव में शुद्ध विज्ञान के स्वरूप वाले हो और परम शान्त हो तथा आत्मा में स्थित रहा करते हो॥२००॥ इसके अनन्तर इसे पूर्ण रूप से देखते हो किन्तु कुछ भी नहीं देख रहे हो। यह समस्त जैसा रूप है—यह सो नित्य ही सर्वात्मकता से आत्मा के ही द्वारा आत्मा में प्रकुञ्चन किया करते हैं ॥२०१॥ जो अविशुद्ध बुद्धि वाला मूढ होता है और संस्थापक रहा में रूढ नहीं होता है उसको यह

वास्तव में असत् जगत् भी परमार्थ सत् वज्र सार ही होता है । अर्थात् वज्र के सार की भाँति सार वाला प्रतीत होता है ॥२०२॥ जिस प्रकार से वेताल बालक के द्वारा अपनी छाया में आरोपित हुआ मृत्यु पर्यन्त दुःखदायी हुआ करता है ठीक उसी भाँति यह असत् ही जगत् मूढ़ मति वाले पुरुष सर्वदा सत् आकार वाला प्रतीत हुआ करता है ॥ २०३ ॥

ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमतो भवेत् ।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत् ॥२०४
अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा ।
कटकज्ञप्तिरेवास्ति न मनागपि हेमधीः ॥२०५
तथा ज्ञस्य तुरागारनगनागेन्द्रभासुरा ।
इयं दृश्यदृगेवास्ति न चान्या परमार्थदृक ॥२०६
दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं चित्ताहन्तादिसंयुतम् ।
अत्रान्ये स्वप्नपुरुषा यथामी जाग्रतः स्थिताः ॥२०७
अस्ति सर्वगतं शान्तं परमार्थघनं शुचि ।
अचेत्यचिन्मात्रवपुः परमाकाशमाततम् ॥२०८
तत्सर्वगं सर्वशक्ति सर्वं सर्वात्मकं स्वयम् ।
यत्र यत्र यथोदेति तथास्ते तत्र तत्र वै ॥२०९
तदेवमेव राजंस्त्वं लीलार्थमुपवर्णितः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यावो दृष्टादृष्टान्तसंविदः ॥२१०

मृग तृष्णा में मृगों को बालू रेती में पड़ा हुआ सूर्य की किरणों का ताप ही भ्रम वश जल-सा प्रतीत हुआ करता है उसी तरह से वस्तुतः यह जगत् असत् है किन्तु मूढ़ मति वाले पुरुष को भ्रम वश सत्याभा वाला प्रतीत हुआ करता है ॥ २०४ ॥ जिसको विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है उस अव्युत्पन्न पुरुष की दृष्टि में सुवर्ण से निर्मित कड़े में कटक (कड़े) की ही बुद्धि होजाया करती है अर्थात् उसे वह सुवर्ण न समझकर कटक

ही समझना है और उसको यह सुवर्ण ही है जो कि कटक की आकृति में परिवर्तित हो गया है—ऐसा ज्ञान सर्वथा होता ही नहीं है ॥१०५॥ ठीक उसी भाँति अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से जो अनभिज्ञ होता है उसको इस दृश्य जगत् की भ्रान्ति हुआ करती है पुर–गृह–नग और नगेन्द्र के स्वरूप में दिखलाई दिया करती है। उसको अन्य परमार्थ दृष्टि होती ही नहीं है अर्थात् यह दृश्य कुछ नहीं है किन्तु यह सभी कुछ ब्रह्म ही है—ऐसी प्रमिति उसको कभी नहीं होती है ॥२०६॥ यह सम्पूर्ण विश्व भी एक लम्बा स्वप्न जैसा ही है जो चित्त और अहन्ता आदि से युक्त है। स्वप्न में देखे हुए दृश्य एवं पुरुष जिस तरह से सब मिथ्या होते हैं उसी भाँति जाग्रत दशा में ये सब दृश्य और पुरुष दिखलाई देते हैं वे सभी मिथ्या हैं। धन-दौलत और कुटुम्ब परिवार सभी एक स्वप्न के ही समान मिथ्या हैं। इनमें वास्तविकता लेश मात्र को भी नहीं है। वह सोने की दशा में स्वप्न है और जागने की दशा का स्वप्न जैसा ही है ॥ २०७ ॥ सबमें गमन करने वाला–शान्त–शुचि और परमार्थ एवं निरन्तर रहने वाला–अविषय चित् (ज्ञान) मात्र शरीर वाला परमाकाश परब्रह्म है जो कि निरकुश है ॥२०८॥ वह सबमें रहने वाला अर्थात् सर्वत्र गमन शील—सब प्रकार की शक्ति से सम्पन्न सभी में आत्म स्वरूप से अनुस्यूत है अर्थात् वही स्वयं विभिन्न स्वरूपों में स्थित रहने वाला है। जहाँ जहाँ पर भी जिस रूप में जो कुछ भी उदित होता है वहाँ-कहाँ पर वह ही स्थित रहा करता है ॥२०९॥ सो हे राजन् ! यह आपका उपवर्णन दृष्टान्त की सिद्धि के लिए ही है जो लीला के प्रपंच मिथ्यात्व में है। तुम्हारा कल्याण होवे। इस प्रपंच के मिथ्यात्व में दृष्टान्त निश्चय वाले प्राप्त कर लिये हैं। अब हम जायेंगे ॥२१०॥

ममापि दर्शनं देवि मोघं भवति नार्थिषु।
महाफलप्रदायास्तु कथं तव भविष्यति ॥२११
अहं देहमिमं त्यक्त्वा तं देह पद्मनामकम्।

कदा यास्यामि वरदे तन्मे कथय तत्त्वतः ॥२१२
अस्मिन्नणवरे राजन्मर्तव्यं भवताधुना ।
प्राप्तव्यं प्राक्तनं राज्यमेतत्प्रत्यक्षमेव ते ॥२१३
प्रस्तुतेतिकथा यावन्मिथो मधुरभाषिणोः ।
तावत्प्रविश्य संभ्रान्तमुवाचोर्ध्वस्थितो नरः ॥२१४
देव पट्टिशचक्रासिगदापरिघवृष्टिमत् ।
महत्त्वरिबलं प्राप्तमेकार्णव इवोद्धतः ॥२१५
नगरे नगसंकाशे लग्नोऽग्निर्व्याप्तदिक्तटः ।
दहंश्चटचटास्फोटैः पातयत्युत्तमान्गृहान् ॥२१६
कल्पाम्बुदघटातुल्या व्योम्नि धूममहाद्रयः ।
बलोत्प्रोड्डीयनं कर्तुं प्रवृत्ता गरुडा इव ॥२१७

विदूरथ ने कहा—हे देवि ! मुझे भी आपका यह दर्शन अर्थियों में मोघन होता है और यह महान् फल के प्रदान के लिये ही होवे। फिर यह आपका दर्शन कैसे होगा? मुझे इस देह का त्याग करके हे वरदे! उस पद्म नामक देह कब प्राप्त होगा—यह मुझे आप तात्विक रूप से बतलाइये ॥ २११।२१२ ॥ देवी ने कहा—हे राजन् ! इस युद्ध में अब आपको मृत्यु प्राप्त करना चाहिए और यह प्रत्यक्ष ही है कि आपको पुराना अपना राज्य प्राप्त करना चाहिए ॥ २१३ ॥ महर्षि प्रवर श्री वसिष्ठ जी ने कहा—परम मधुर भाषण करने वाले उन दोनों की परस्पर में यह कथा जब तक प्रस्तुत हुई थी तब तक प्रवेश करके ऊर्ध्व भाग में स्थित मनुष्य सम्भ्रान्त वाला था ॥ २१४ ॥ हे देव ! पट्टिश—चक्र—असि—गदा—परिघ आदि की वृष्टि करने वाली बहुत बड़ी शत्रु की सेना प्राप्त हो गई है और वह सैन्य इस प्रकार का महान् विशाल है जैसे उद्धत सागर ही चढ़ आया हो ॥ २१५ ॥ नगर में और नगर के समीप में चारों ओर आग लग गई है जिस अग्नि ने सभी दिशाओं को व्याप्त कर लिया है। चट-चट की ध्वनि के साथ वह अग्नि दाह करता

हुआ बड़े-बड़े उत्तम घरों को गिरा रहा है ॥२१६॥ कल्प के अन्त में क्षय करने वाले प्रलयकारी महान् भीषण मेघों की घटा की प्रभा के तुल्य ही आकाश में धूँए के महान् पहाड़ छा गये हैं और वे बलपूर्वक प्रकर्ष के साथ ऊपर को गमन करने के लिये गरुड के समान ही वेग वाले हो रहे हैं ॥२१७॥

ससंभ्रमं वदत्येवं पुरुषे परुषारवः ।
उदभूत्पूरयन्नाशा बहिः कोलाहलो महान् ॥२१८
बलादाकर्णकृष्टानां धनुषां शरवर्षिणाम् ।
बृंहतामतिमत्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥२१९
पुरे चटचटास्फोटैर्ज्वलतां जातवेदसाम् ।
पौराणां दग्धदाराणां महाहलहलारवैः ॥२२०
अथ वातायनद्देव्यौ मन्त्री राजा विदूरथः ।
ददृशुः प्रोल्लसन्नादं महानिशि महापुरम् ॥२२१
प्रलयानिलसंक्षुब्धसप्तैकार्णवरंहसा ।
पूर्णं परबलेनोग्रकल्पमेघतरङ्गिणा ॥२२२
कल्पान्तवह्निविगलन्मेरुमन्दरभासुरम् ।
दह्यमानं महाज्वालाजालैरम्बरपूरकैः । २२३
मुष्टिग्राह्यमहामेघगजसंतर्जनोर्जितैः ।
घोर कलकलारावैर्मांसलं स्युजल्पितैः ॥२२४

इस प्रकार से सम्भ्रम के सहित उस पुरुष के कहने पर बहुत ही कर्कश ध्वनि सब दिशाओं को भरती उत्पन्न हुई थी और बड़ा भारी कोलाहल बाहिर की ओर हो गया था ॥ २१८ ॥ यह कोलाहल बलपूर्वक खींचे हुए और बाणों की वर्षा करने वाले धनुषों का था तथा गर्जना करने वाले मदमत्त हाथियों का था। नगर में 'चट-चट' इस प्रकार के शब्दों को करती हुई जलने वाली अग्नि के शब्दों से और जिनकी स्त्रियाँ जल गयी है उन पुरवासियों के महान् 'हल-हल' इस प्रकार के शब्दों से

बहुत अधिक चारों ओर कोलाहल हो गया था ॥ २१६—२२० ॥ इसके अनन्तर उस महा निशा में वातायन से दोनों देवियों ने—राजा विदूरथ ने और मन्त्री ने उठते हुए अत्यन्त घोरनाद वाले उस महान् पुर को देखा था ॥ २२१ ॥ प्रलय काल में चलने वाली वायु से अत्यन्त संक्षोभ को प्राप्त हुए सातों समुद्रों का मिलकर एक हो जाने वाले अर्णव के वेग के समान वेग वाले तथा अत्यन्त उग्र प्रलय कालीन मेघों के आकार वाले शत्रु की सेना के समुदाय से पूर्ण वह नगर था ॥ २२२ ॥ कल्प के अन्त समय में महान् भीषण वह्नि से दग्ध होकर पिघलते हुए सुमेरु और मन्दर पर्वतों के समान भासुर और आकाश मण्डल को पूरित करने वाली महान् ज्वालाओं के जाल से दग्ध होते हुए नगर को देखा था ॥ २२३ ॥ मुष्टि ग्राह्य महान् मेघों के गर्जनों और उसी के तुल्य तर्जनों से अत्यन्त अभिवृद्ध तथा मनुष्यों के सान्द्र कल-कल शब्दों से तथा दस्युओं के द्वारा कथित शब्दों से वह नगर अत्यन्त घोर था—ऐसा देखा था ॥ २२४ ॥

तरदुल्मुकखण्डोग्रतारातरलिताम्बरम् ।
अङ्गारराशिनिपतन्नरनार्युग्ररोदनम् ॥२२५
एतस्मिन्नन्तरे राजमहिषी मत्तयौवना ।
अनुयाता वयस्याभिर्विवेश भयविह्वला ॥२२६
अथ तस्या वयस्यैका राजानं तं व्यजिज्ञपत् ।
देव देवी समायाता पलाय्यान्तःपुरान्तरात् ॥२२७
राजद्वाराहृतास्त्वेते बलवद्भिरुदायुधैः ।
अन्तःपुराधिपाः सर्वे पिष्टाः शत्रुभिरुद्धतः ॥२२८
दूरेणाशङ्कमायातैः परैनः पुरमाहृतम् ।
इत्याकर्ण्य विलोक्यासौ देव्यौ युद्धाय यास्यतः ॥२२९
रक्षतां मम भार्येयं युष्मत्पादाब्जषट्पदी ।
इत्युक्त्वा निर्ययौ राजा कोपाकुलितलोचनः ॥२३०

मत्तेभनिर्भिन्नवनकन्दरादिव केसरी ।
लीला लीलां ददर्शाथ स्वाकारसदृशाकृतिम् ।।२३१
प्रतिबिम्बमिवायातामादर्शे चारुदर्शनाम् ।।२३२

लङ्घन करने वाले उल्मुक खण्ड ही उग्र नक्षत्र थे उनसे तरलित आकाश वाले तथा अङ्गारों के समुदाय में गिरते हुए नर-नारियों के अत्यन्त उग्र रोदन वाले उस नगर को देखा था ।। २२५ ।। इसी बीच में यौवन के मद से उन्मत्त राजा की महिषी ने (पट्टाभिषिक्ता राज्ञी) भय से अत्यन्त विह्वल होती हुई अपनी सहेलियों के साथ में आकर प्रवेश किया था ।। २२६ ।। इसके उपरान्त उस महिषी की एक सहेली ने राजा को विज्ञापित किया था—हे देव ! अन्तःपुर के अन्दर भागकर देवी समागत हो गई हैं ।। २२७ ।। उद्यत आयुधों वाले —अत्यन्त—उद्धत—बलवान्—शत्रुओं के द्वारा ये समस्त अन्तःपुर के अधिप राजद्वारा पर ले आये गये हैं और सबको चूर्णित कर दिया गया है ।। २२८ ।। दूर से निःशङ्क होकर आये हुए शत्रुओं ने हमारे इस पुर का आहरण कर लिया है—इस राजा ने यह देखकर तथा उस राज्ञी के वचनों को सुनकर कहा था—हे देवियो ! युद्ध करने के लिए गमन करने वाले मेरी इस भार्या की आप रक्षा कीजिए क्योंकि यह आपके ही चरण कमलों की भ्रमरी है अर्थात् आपके चरणों की शरण में समागत हो गयी है । इतना उन देवियों से निवेदन करके क्रोध से समाकुलित नेत्रों वाला राजा वहाँ से निकल कर चला गया था ।। २२९ । २३० ।। वह राजा जिस समय में वहाँ से निकल कर क्रोधावेश में चला था उस समय में ऐसा प्रतीत होता था मानों मदमत्त गजों का विदारण करके वन की कन्दरा से सिंह निकल कर जा रहा हो । इसके अनन्तर उस लीला ने अपने आकार के सदृश आकृति से समन्वित उस लीला को देखा था जैसे आदर्श में (दर्पण में) चारु दर्शन वाली आयी हुई का प्रतिबिम्ब हो । २३१—२३२।।

किमिदं देवि मे ब्रूहि कस्मादियमहं स्थिता ।
या साहमभवं पूर्वं कथं सेयमहं स्थिता । २३३
यादृग्भावो मृतो भर्ता तव तस्मिंस्तदा पुरे ।
तादृग्भावस्तमेवार्थं तथेवायं हि दृष्टवान् । २३४
अविसंवादिसर्वार्थरूपं यत्तस्य बिम्बितम् ।
तदेव तादृशं चित्तदर्पणे प्रतिबिम्बति ॥२३५
स्वप्नो जाग्रत्यसद्रूपः स्वप्ने जाग्रदसद्वपुः ।
मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माप्यसन्मयम् ॥२३६
एवं न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विजृम्भते ।
अनुभूतय एतास्तु काश्चित्पूर्वानुभूतितः ।२३७
अपूर्वानुभवाः काश्चित्समाश्चैवासमास्तथा ।
त्वच्छीला त्वत्समाचारा त्वत्कुला त्वद्वपुः सती ॥२३८
इति लीलेयमाभाति प्रतिभा प्रतिबिम्बजा ।
विदूरथस्तु भर्तैष तनुं त्यक्त्वा तवाङ्गने ॥२३९
तदेवान्तःपुरं प्राप्य तादृगात्मा भविष्यति ॥२४०

प्रबुद्ध (ज्ञान सम्पन्न) लीला ने कहा—हे देवि ! यह क्या है ? और मैं किस कारण से यह यहाँ पर स्थित हूँ अर्थात् यह मेरे ही समान कैसे यहाँ पर स्थित हो गयी है ? जैसी मैं पहिले थी वैसी ही मैं यहाँ पर भी हूँ ॥२३३॥ श्री ज्ञप्ति देवी ने कहा—उस समय में पुर में तुम्हारा भर्त्ता जिस प्रकार का भाव वाला मृत हुआ था उसी प्रकार के भाव वाला होकर इसने उसी अर्थ को उसी भाँति से देखा था ॥ २३४ ॥ निःसम्वाद शब्द बाधा का ही दूसरा पर्यायवाचक शब्द है अतएव व्यवहार की दशा में विसम्वाद अर्थात् बाधा से रहित समस्त पदार्थों का स्वरूप उस तुम्हारे भर्त्ता के मन में बिम्बित हो गया था । वही उसी प्रकार का अविसम्वादि अर्थात् बाधा रहित होता हुआ चित्तरूपी दर्पण में कालान्तर में भी स्फुरित (प्रतिबिम्बित) होता है । जो पहिले अनुभव किया है

वही संस्कार के स्वरूप से अन्य काल में चित्त में स्फुरित हुआ करता है ॥ २३५ ॥ जाग्रत दशा में होने पर स्वप्न असद्रूप वाला प्रतीत होता है और स्वप्न की दशा में जाग्रत् अवस्था असत् मालुम हुआ करती है। जन्म में मृत्यु असत् स्वरूप वाली और मृत्यु में जन्म भी असन्मय प्रतीत हुआ करता है अर्थात् जिस दशा में भी यह जीवात्मा रहता है और जो कुछ भी अनुभव किया करता है उस समय में वही सत् प्रतीत होता है शेष सब असत् समझता है ॥ २३६ ॥ इस प्रकार से यह सभी कुछ न सत् है और न असत् ही है केवल भ्रान्ति मात्र ही है जो कि पूर्व की अनुभूति से संस्कारों के द्वारा ही हुआ करती हैं ॥ ३७ ॥ कुछ इनमें ऐसी भी होती हैं जिनका पूर्व में अनुभव नहीं किया है—कुछ पूर्वानुभव के ही समान हुआ करती हैं जो तुम्हारे शील के समान हैं तथा तुम्हारे कुल के समान हैं एवं तुम्हारे समान आचार और वपु के समान होती हुई प्रतीत हुआ करती हैं। प्रतिविम्बित्व से समुत्पन्न हुई तुम्हारे भर्त्ता की प्रतिमा ही यह लीला इस रूप से भासित हो रही है। हे अङ्गने ! तुम्हारा भर्त्ता विदूरथ शरीर को त्याग कर उसी अन्तःपुर को प्राप्त करके उसी प्रकार के स्वरूप वाला हो जायगा ।.२३८—२४०॥

इत्याकर्ण्य वचो देव्या लीला सा तत्पुरास्पदा।
पुरः प्रह्वा स्थितोवाच वचनं विहिताञ्जलिः ॥२४१
देवी भगवती ज्ञप्तिर्नित्यमेवार्चिता मया।
सा यादृश्येव देवेशि तादृश्येव त्वमम्बिके ॥२४२
तन्मे कृपणकारुण्याद्वरं देहि वरानने।
रणे देहं परित्यज्य यत्र तिष्ठति मे पतिः ॥२४३
अनेनैव शरीरेण तत्रस्थाहं तदङ्गना।
एतदस्त्विति देव्योक्ते पूर्वलीलाब्रवीदथ ॥२४४
पूर्वेणैव शरीरेण किमर्थं नाहमीश्वरि।
लोकान्तरमिदं नीता तं गिरिग्रामकं वद ॥२४५

वशिष्ठ जी ने कहा—विदूरथ के पुर में स्थान वाली उस लीला ने देवी के इस वचन का श्रवण करके उसके ही समक्ष में स्थित होती हुई बहुत ही विनम्र होकर हाथ जोड़कर यह वचन बोली ॥२४१॥ भगवती ज्ञप्ति देवी का मैंने भली भाँति अर्चन किया है। हे देवेशि! जो जिस प्रकार की थीं हे अम्बिके! आप उसी प्रकार की हैं ॥२४२॥ हे वरानने! सो इस कारण पर करुणा करके मुझे आप वरदान प्रदान कीजिए। इस रण में देह का त्याग करके मेरे पतिदेव जहाँ पर भी स्थित होवें मैं भी इसी शरीर से उनकी अङ्गना होती हुई वहीं पर स्थित रहूँ। देवी के द्वारा ऐसा ही होवे—यह कहने पर पूर्व लीला ने इसके उपरान्त यह वचन कहा था ॥ २४३-२४४ ॥ पूर्व लीला बोली—हे ईश्वरि! पूर्व शरीर ही से अन्य लोक गिरिग्राम में मैं किसलिये नहीं लायी गई हूं—यह मुझे बतलाइये? ॥ ४५ ॥

न किंचित्कस्यचिदहं करोमि वरवर्णिनि।
सर्वं संपादयत्याशु संकल्पः प्राणिनां स्वतः ॥२४६
मां समाराधयन्त्यास्तु संकल्पोऽभूत्तवेदृशः।
मुक्ता स्यामिति तेन त्वं तैः प्रकारैः प्रबोधिता ॥२४७
अनया त्विममेवार्थं याचिता दत्तवत्यहम्।
एवं फलति संकल्पो नृणामस्मत्प्रसादतः ॥२४८
विदूरथस्तु सदनान्निर्गतः परिवारितः।
परिवारेण महता महारत्नविभूषितः ॥२४९
आलोकयन्वीरगणानारुरोह रथोत्तमम्।
कूटागारसमाकारं मुक्तामाणिक्यमण्डितम् ॥२५०
अथोदपतदुद्दामनानाभ्ररवनिर्भरः।
शैलभित्तिप्रतिध्वानैर्दारुणो दुन्दुभिध्वनिः ॥२५१

देवी ने कहा—हे वरवर्णिनि! मैं किसी के लिये भी कुछ भी नहीं किया करती हूं। प्राणियों का स्वतः जो सङ्कल्प होता है वही बहुत

शीघ्र सभी कुछ सम्पादन किया करता है ।। २४६ ।। मेरा समाराधन करती हुई तेरा इसी प्रकार का सङ्कल्प हुआ था कि मैं मुक्त हो जाऊँ इसी कारण से उन्हीं प्रकारों से तुझे प्रतिबोधित किया था ।। २४७ ।। इसने इसी अर्थ की याचना की थी और मैंने उसकी पूर्त्ति करदी थी। इसी रीति से मनुष्यों का सङ्कल्प मेरे प्रसाद से लोक में फल वाला हुआ करता है। २४८ ।। महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—वह राजा विदूरथ सबसे परिवारित होता हुआ अपने सदन से निकल कर गया था। उस समय में एक परम महान् अपने परिवार से युक्त और महान् रत्नों से समलकृत था ।।२४६।। अपने सदन से बाहिर निकल कर उस राजा ने अपने सब वीरगणों को देखा था और कूटागार अर्थात् पर्वत के शिखर के सदृश अथवा लोहशृङ्ग के समान मुक्ता और मणियों से विभूषित उस अत्यन्त उत्तम रथ पर उसने समारोहण किया था ।। २५० ।। इसके अनन्तर उद्दाम अनेक मेघों के गर्जन के समान घोष वाले और पर्वतों की पार्श्ववर्त्तिनी भित्तियों में प्रतिध्वनियों के कारण परम दारुण दुन्दुभियों की भीषण ध्वनि उत्थित हुई थी ।।२५१।।

किङ्किणीजालनिध्वानैर्हेतिसंघट्टटंकृतैः ।
धनुश्चटचटाशब्दैः शरसीत्कारगीतिभिः ।।२५२
परस्परं भटाह्वानैर्वन्दीविक्षुब्धरोदनैः ।
शिलाघनकृताशेपब्रह्माण्डकुहरध्वनिः ।।२५३
हस्तग्राह्योऽभवेद्भीमो दशाशाकुञ्जपूरकः ।
अथोत्थितेन रजसा पीनेनाम्बररोधिना ।।२५४
मूर्खत्वं यौवनेनेव घनतामाययौ तमः ।
विवेशाखिल राजा क्षीराब्धिमिव मन्दरः ।।२५५
जज्वलुः शस्त्रसंघट्टज्वलना उल्मुका इव ।
जगर्जुः शरधारौघान्वर्षन्तो वीरवारिदाः ।।२५६
निपेतुः कङ्कवत्क्रूरा वीराङ्गेषु च हेतयः ।

पेतुः पटपटारावं हेतिनिष्पिष्टयोऽम्बरे ॥२५७
उत्तस्थुर्यमयात्रायां कवन्धनरपङ्क्तयः ।
प्रशेमुः पांसवो रक्तैस्तमांस्यायुधवह्निभिः ॥२५८
युद्धैकध्यानतः शब्दमयानि मृतिनिश्चयैः ।
अभवत्केवलं युद्धमपशब्दमसंभ्रमम् ॥२५९

रथों में संलग्न किङ्किणियों के समुदाय से होने वाली ध्वनि से समुत्पन्न टङ्कारों से—धनुषों के 'चट-चट' इस प्रकार के होने वाले शब्दों से—बाणों के सर्राटे से चलने की गतियों अर्थात् शब्दों से—परस्पर में 'हमारे समक्ष में आकर संग्राम करो'—इस तरह के आह्वानों से और बलपूर्वक अपहृत की हुई नारियों के विक्षोभ पूर्वक क्रन्दन की ध्वनियों से दशों दिशाओं की कुञ्जों को भर देने वाला शिला घन से पूरित की भाँति समस्त ब्रह्माण्ड के विवर को भर देने वाला हस्तग्राह्य महान् भीषण घोष उस समय में होगया था। इसके अनन्तर अत्यधिक विशाल आकाश का अवरोध करने वाले रज से यौवन के मद से होने वाली मूर्ख की भाँति अन्धकार अधिक घना हो गया था। जिस प्रकार से मन्दराचल ने क्षीर सागर में प्रवेश किया था उसी भाँति उस राजा ने शत्रु सेना के अन्दर प्रवेश किया था ॥२५२—२५५॥ वीरों के शस्त्रों के संघट्ट से अग्नियाँ उल्मुकों (मशालों) के समान जलने लग गयी थीं और वीर रूपी वारिद (मेघ) बाणों की धाराओं के समूहों को बरसाते हुए गर्जना कर रहे थे ॥२५६॥ वीरों के अङ्गों में क्रूर देवियाँ कङ्क पक्षियों की भाँति गिरती थीं। हेतिकी निष्पष्ट अम्बर में "पट-पट" इस प्रकार की ध्वनि करते हुए पतन कर रहे थे ॥ २५७ ॥ यम यात्रा में कवन्धों की नरों की पंक्तियाँ उठकर खड़ी हो गयीं थीं। वीरों के रक्त से युद्ध भूमि में उड़ी हुई धूलि शान्त हो गई थी तथा आयुधों की रगड़ से उत्पन्न अग्नि से संग्राम स्थल में अन्धकार प्रशान्त हो गया था ॥२५८॥ शब्दों से समुत्थित भय युद्ध के ही करने में एकतानता होने से तथा मृत्यु के निश्चय होने से

शान्त हो गया था। शब्द रहित केवल असम्भ्रम युद्ध ही उस समय में हुआ था ॥ २५६ ॥

रमसमरवसंवहच्छरौघं टक्टिटकितारवसंपतद्भुशुण्डि ।
कणकणरवसमिलन्महास्त्रं तिमिनिधिवद्रणमासदुस्तरं तत् ॥२६०
एतस्मिन्वर्तमाने तु घोरे समरसंभ्रमे ।
लीलाद्वयमुवाचेदं देवीं भगवतीं प्रति ॥२६१
देवि कस्मादकस्मान्नो भर्ता जयति नो रणे ।
वद त्वय्यपि तुष्टायामस्मिन्विद्रुतवारणे ॥२६२
चिरमाराधिता तेन विदूरथनृपारिणा ।
अहं पुत्र्यो जयार्थेन न विदूरथभूभृता ॥२६३
तेनासावेव जयति जीयते न विदूरथः ।
अनेन मत्त एव स्यामहमित्यस्मि भाविता ॥२६४
प्रतिभारूपिणी तेन वाले मुक्तिर्भविष्यति ।
एतदीयस्त्वयं शत्रुर्जयी राज्यं करिष्यति ॥२६५
एवं देव्यां वदत्यां तु वलयोर्युद्ध्यमानयोः ।
रविर्द्रष्टुमिवाश्चर्यमाजगामोदयाचलात् ॥२६६

'सम-सम' इस प्रकार के शब्द को संवहन करने वाले वाणों का समुदाय जिसमें हो रहा था—'टक टकित'' इस प्रकार की ध्वनि के साथ गिरने वाली भुशुण्डि का पतन जिसमें हो रहा था—''कण-कण'' इस तरह के शब्द के साथ महान् अस्त्र जिसमें मिल रहे थे इस प्रकार से समुद्र के समान महान् दुस्तर वह रण हो रहा था ॥ २६० ॥ महामहर्षि श्री वसिष्ठजी ने कहा—इस महान् घोर समर सम्भ्रम के वर्त्तमान होने पर उन दोनों लीलाओं ने भगवती देवी से यह कहा था—हे देवि ! किस कारण से हमारा स्वामी अकस्मात् रण में जय प्राप्त नहीं करता है ? इस विद्रुत है वारण (गज) जिसमें ऐसे युद्ध में आपके परम प्रसन्न होते हुए भी यह विजय हमारे स्वामी की क्यों नहीं हो रही है—यह

कृपया आप हमको बतलाइये ।।२६१–२६२।। देवी ने कहा—हे पुत्रियो ! इस विदूरथ राजा के शत्रु के द्वारा मेरा चिरकाल तक समाराधन किया गया था और इस विदूरथ राजा ने जय प्राप्त करने के लिये मेरी आराधना नहीं की थी ।। २६३ ।। इस कारण से यह शत्रु ही की विजय होगी और विदूरथ नहीं जीतेगा । मैं इसके साथ मुक्त होने पर ही होऊँगी—ऐसी ही मैं भाषित हूँ । हे बाले ! इस कारण से तेरी प्रतिभा रूपिणी (मनोमयी) मुक्ति हो जायगी । और इसका यह शत्रु जय प्राप्त करने वाला राज्य करेगा ।।२६४–२६५।। महर्षि वशिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार से देवी के कहने पर युद्ध करते हुए दोनों बलों के आश्चर्य को मानों देखने के लिये ही सूर्य उदयाचल से आ गये थे ।।२६६।।

भुवनं कज्जलाम्भोधेरिवोद्वृत्तमराजत ।
पेतुः कनकनिष्पन्दसुन्दरा रविरश्मयः ।।२६७
एतस्मिन्नन्तरे सेनाः सर्वाः संक्षयतामयुः ।
आसीद्रणाङ्गणं शून्यमिवाल्पोभयसैनिकम् ।।२६८
प्राप्य राजा पुरः शत्रुं सिन्धुमुद्धरकन्धरम् ।
धनुरास्फालयामास परिवादितदिङ्मुखम् ।।२६९
कल्पान्तपवनास्फोट इवामरगिरेस्तटम् ।
विससर्जोर्जितो राजा प्रातरर्ककरानिव ।।२७०
तीक्ष्णाः परमदुस्पर्शाः शिलीमुखपरम्पराः ।
सिन्धोरपि तथैवासीन्मुक्तिलाघवमेव च ।।२७१
एवं सिन्धुर्महाबाहुश्चिरं समरमूर्धनि ।
क्रीडित्वा पीडयामास शरवर्षैर्विदूरथम् ।।२७२
छिन्नध्वजं छिन्नरथं भिन्नाश्वं भिन्नसारथिम् ।
छिन्नकार्मुकवर्माणं छिन्नसर्वाङ्गमाकुलम् ।।२७३
हृदि स्फारशिलापट्टदृढग्रीवरमूर्धनि ।
भित्वा वज्रसमैर्बाणैः पातयामास भूतले ।।२७४

यह सम्पूर्ण भुवन कज्जल के सागर की भाँति उवृत हो गया था और शोभा दे रहा था। उस पर सूर्यदेव के उदित होने पर सुवर्ण के निष्पन्द (शलाका) के समान परम सुन्दर रश्मियाँ गिर रही थीं। ॥२६७॥ इसी बीच में समस्त सेनाऐं संक्षय को प्राप्त हो गई थीं। वह रण का आँगन उस समय में जब कि दोनों ओर के बहुत ही थोड़े से सैनिक शेष रह गये थे सूना=सा हो गया था ॥ २६८ ॥ उसी समय में राजा ने उद्धर कन्धरा वाले शत्रु सिन्धु को सामने प्राप्त करके समस्त दिशाओं के मुखों को परिलादित (ध्वनित) करते हुए अपने धनुष को आस्फालित किया था ॥ २६९ ॥ कल्प के अन्त में पवन से आस्फोट (अभिहृति) की भाँति ऊर्जित राजा ने प्रातःकाल में सुमेरु पर्वत के तट को सूर्य की किरणों के समान त्याग दिया था ॥ २७० ॥ सिन्धु राजा के भी अत्यन्त तीक्ष्ण-परम दुःस्पर्श बाणों की परम्परा उसी भाँति की ओर मुक्ति लाघव भी था ॥२७१॥ इस प्रकार से महान् बाहुओं वाले सिन्धु ने समर क्षेत्र में सबसे आगे चिरकाल तक युद्ध क्रीड़ा करके बाणों की घोर वर्षा से राजा विदूरथ को पीड़ित किया था ॥ २७२ ॥ कटी हुई ध्वजा वाले—टूटे हुए रथ से युक्त—भिदे हुए अश्वों वाले—मृत्यु को प्राप्त सारथि से संयुत—छिन्न हुए धनुष और वर्म वाले तथा भिदे हुए समस्त अङ्गों वाले अत्यन्त आकुल—विपुल शिला पट्ट, सुदृढ़ एवं पीन मूर्धा में और हृदय में वज्र के समान बाणों से भेदन करके राजा विदूरथ को भूतल में गिरा दिया था ॥२७३-२७४॥

हतो राजा हतो राजा प्रतिराजेन सयुगे ।
इति शब्दे समुद्भूते राष्ट्रमासीत्समाकुलम् ॥२७५
भाण्डोपस्करभारौघविद्रवच्छकटव्रजम् ।
आक्रन्दार्तकलत्रौघविद्रवन्नागरोत्करम् ॥२७६
एतस्मिन्नन्तरे लीला तामुवाच सरस्वतीम् ।
श्वासावशेषमालोक्य मूढं भर्तारमग्रतः ॥२७७

प्रवृत्तो देहमुत्स्रष्टुं मद्भर्तायमिहाम्बिके ।
भर्तारमनु यास्यामि दयां कुरु महेश्वरि । २७८
इत्युक्त्वा ज्ञप्त्यनुध्यानात्सा सामर्थ्यवती क्षणात् ।
पुप्लुवे पेलवाकारा पक्षिणीव नभस्तले ।।२७९

प्रतिराजा (सिन्धु) ने युद्ध में राजा को मार गिराया है और वह हत हो गया है—इस प्रकार के शब्दों के समुद्भूत होने पर सम्पूर्ण राष्ट्र एकदम आकुल हो गया था अर्थात् सर्वत्र बड़ी भारी घबराहट व्याप्त हो गयी थी। भाण्ड और समस्त उपकरणों के भारों के समूहों से युक्त राष्ट्र के रथ भाग रहे थे और चारों ओर बड़ा भारी क्रन्दन हो रहा था जिससे नारियों का समुदाय अत्यन्त वेदनाग्रस्त हो गया था तथा नागरिक लोगों के झुंड के झुण्ड इधर-उधर भाग रहे थे। सम्पूर्ण राष्ट्र में ऐसी भगदड़ और बेचैनी व्याप्त हो गयी थी ।। २७५–२७६ ।। इसी बीच में लीला ने उस देवी सरस्वती से कहा था जब कि केवल कुछ श्वास ही जिसके शेष रह गये थे ऐसे अपने भर्ता को उसने अपने आगे देखा था—हे अम्बिके! यह मेरा मूढ़ स्वामी यहाँ पर ही इस देह को त्यागने के लिये प्रवृत्त हो गया है। हे महेश्वरि! मैं अपने स्वामी का ही अनुगमन करूँगी—ऐसी ही दया अब आप मेरे ऊपर कीजिए ।।२७७–२७८।। इतना कहकर ज्ञप्ति देवी के ध्यान से शक्तिशालिनी वह पक्षिणी की भाँति नभस्तल में तनु आकार वाली प्लवन कर गयी थी ।।२७९।।

मेघमार्गानथोल्लङ्घ्य वातस्कन्धानथो पुनः ।
सूर्यमार्गाद्विनिर्गत्य तारामार्गमतीत्य च ।।२८०
ब्रह्मादिस्थानमाम्य प्राप्य ब्रह्माण्डखर्परे ।
ब्रह्माण्डखर्परं भित्त्वा जलाद्यावरणांस्ततः ।।२८१
समुल्लङ्घ्य पुरः प्राप महाचिद्गगनान्तरम् ।
अदृष्टापारपर्यन्तमतिवेगेन धावता ।।२८२
सर्वतो गरुडेनापि कल्पकोटिशतैरपि ।

तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः । २८३
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने ।
तत्रैकस्मिन्पुरः संस्थे विततावरणान्विते ॥२८४
वेधयित्वा विवेशान्तः प्रापयत्पद्मपत्तनम् ।
तत्र तन्मण्डपं प्राप्य देवी शक्त्युपबृंहिता ॥२८५
प्रविश्य पुष्पगुप्तस्य शवस्य निकटे स्थिता ।
तं दृष्ट्वा चिन्तयामास चेतसा स्फुरितात्मना ॥२८६
एष मे भविता भर्ता नूनं वीरवराग्रणीः ।
अहं देव्याः प्रसादेन ततः प्रथममागता ॥२८७

इसके अनन्तर मेघों के मार्ग का उसने उल्लंघन किया था और फिर वात स्कन्धों का उल्लंघन किया । इसके उपरान्त सूर्यदेव के मार्ग को पार करके ताराओं के मार्ग से निकल कर ब्रह्मादि के स्थान समाक्रमण करके ब्रह्माण्ड खर्पर वह प्राप्त होगयी थी । ब्रह्माण्ड खर्पर का भी भेदन करके जलादि का आवरणों का उसने भेदन करदिया था अर्थात् वहाँ से आगे चली गई थी ॥२८०।२८१॥ जलाद्यावरणों का समुल्लंघन करके फिर वह महान् चित् स्वरूप अन्य गगन में जाकर प्राप्त हो गयी थी । यह महान् चित् नाम वाला परमात्मा के नाम का गगन था । न देखे जाने वाले पार तक अत्यन्त वेग के साथ दौड़ लगाने वाले गरुण के द्वारा भी सैकड़ों करोड़ कल्पों में भी जो प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं वहाँ यह पहुँच गई थी । वहाँ पर लाखों एवं असंख्य बहुत से ब्रह्माण्ड हैं ॥२८२॥ २८३॥ वे सब अन्योन्य के न देखे हुए हैं जैसे किसी महान् विशाल वन में फल हुआ करते हैं । अर्थात् एक ने दूसरे को आपस में नहीं देखा है । वहाँ पर एक पुर में संस्थित जोकि एक वितत आवरण से युक्त था उसका वेधन करके वह प्रविष्ट हुई थी और वहाँ अन्दर पद्म पत्तन में प्राप्त होगयी थी । वहाँ पर वह परम शक्ति से युक्त देवी उस मण्डप में पहुँची थी । २८४।२८५॥ वहाँ पर प्रवेश करके वह पुष्पों से सुरक्षित उस रवि के

निकट में स्थित हो गयी थी। उस अपने स्वामी के शव को देखकर विस्मय से उत्फुल्ल स्वरूप वाले चित्त से उसने सोचा था ॥ २८६ ॥ यह मेरा स्वामी है और निश्चय ही वीरों में शिरोमणि यह वही है। मैं देवी के प्रसाद से उससे भी पहिले यहाँ पर प्राप्त हो गयी हूँ ॥ २८७ ॥

इति संचिन्त्य सा हस्ते गृहीत्वा चारु चामरम् ।
वीजयामास राजेन्द्रं लीला ललितयौवना । २८८
एतस्मिन्नन्तरे राज्ञः पतितस्य महीतले ।
जीवं ददृशतुर्देव्यौ दिव्यदृष्ट्या नभोगतम् ॥२८९
अथ जीवकला लीला ज्ञप्तिश्चेति त्रय ततः ।
पुप्लुवे जीवलेखा तु योगिन्यौ ते न पश्यति ॥२९०
तमेवानुसरन्त्यौ ते सर्गात्सर्गान्तरं गते ।
पद्मराजपुरं प्राप्य लीलान्तःपुरमण्डपम् ॥२९१
क्षणाद्विशितुः स्वैरं जीवलेखाप्ययाग्रगा ।
ततो ददृशतुर्देव्यौ शवशय्यैकपार्श्वगाम् ॥२९२
लीलां विदूरथस्याग्रे प्रस्थितां प्रथमागताम् ।
एतस्मिन्नन्तरे ज्ञप्तिर्जीवं वैदूरथं पुनः ॥२९३
संकल्पेन करोधाथ मनसः स्पन्दनं यथा ।
ततो भगवतीमाह लीला ललितलोचना ॥२९४
देवि स प्राक्तनो देहः कथं मम न दृश्यते ॥२९५

यह विचार करके उसने एक सुन्दर चमर हाथ में ग्रहण कर लिया था और परम मनोहर यौवन वाली उस लीला ने उस राजेन्द्र पर चमर डुराना आरम्भ कर दिया था ॥२८८॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—इस बीच में संग्राम भूमि के मही तल पर पड़े हुए राजा विदूरथ के जीव को उन दोनों देवियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से नभोमण्डल में गया हुआ देखा था ॥२८९॥ इसके उपरान्त उस राजा की जीवकला—लीला और

एवं कुड्य के ही समान होगया था ॥२९६।२९७॥ इसके पश्चात् मन्त्रियों ने आकर यह निश्चय कर लिया था कि यह तो मृत होगया है। फिर उन्होंने अपना निर्णय करके उसे चिता पर रखकर घृत के साथ सुन्दर चन्दन की लकड़ियों से दग्ध कर दिया था ॥२९८॥ इस समय में शरीर के सहित उपागत हुई तुमको देखकर परलोक से यह समागत हुई है—इससे महान् अद्भुत घटना होगी ॥२९९॥ प्रतिभा मात्र रूप वाले आतिवाहिक देह से अर्थात् लिङ्ग शरीर से योग की ऋद्धि के बल से युक्त हुई तुम इस समय में दिखाई दे रही हो ॥३००॥

विस्मृतस्तव देहोऽसौ वासनायाः परिक्षयात् ।
रूढातिवाहिकदृशा प्रशाम्यत्याधिभौतिकः ॥३०१

तदेहि यावल्लीलायै लीले संकल्पलीलया ।
आत्मानं दर्शयावोऽस्यं व्यवहारः प्रवर्तताम् ॥३०२

आवां तावदिमे लीला पश्यत्वित्येव चिन्तिते ।
ज्ञप्तिदेव्या ततस्तत्र लीला चलविलोचना ॥३०३

गृहमालोकयामास तत्तेजःपुञ्जभासुरम् ।
गृहमालोक्य पुरतो लीलां ज्ञप्तिं विलोक्य च । ३०४

उत्थाय संभ्रमवती तयोः पादेषु सापतत् ।
उपाविशद्विष्टरेषु ज्ञप्तिलीले च ते ततः ॥३०५

हे हंसहारिगामिन्यौ लीले ललितलोचने ।
उत्थापयावो नृपतिं शवतल्पादिमं पुनः ॥३०६

इत्युक्त्वा मुमुचे जीवमामोदमिव पद्मिनी ।
स समीरलवाकारस्तन्नासानिकटं ययौ ॥३०७

घ्राणाकाशं विवेशाशु वंशरन्ध्रमिवानिलः ।
अन्तस्थजीववदनं तस्य तत्कान्तिमाययौ ॥३०८

स्थूल देह की वासना के परिक्षय होने से यह देह तुम्हें विस्मृत होगया है। सुदृढ़ लिङ्ग शरीर की प्रभा से अर्थात् स्वप्नदेह की भाँति

मन से अतिरिक्त कोई आधिभौतिक देह नहीं है—ऐसी दृढ़ प्रमा से आधिभौतिक देह प्रशान्त ही होजाया करता है ॥३०१॥ हे लीले ! सो आओ जब तक लीला के लिए संकल्प की लीला से आत्मा को दिखलाते हैं। इसके लिए तब तक व्यवहार में प्रवृत्त होइये ॥३०२॥ जब तक इन हम दोनों को लीला देखे—इस प्रकार से ज्ञप्ति देवी के द्वारा चिन्तन करने पर वहाँ लीला चल नेत्रों वाली होगयी थी ॥३०३॥ उसके तेज के पुञ्ज से भासुर (दीप्तियुक्त) गृह को देखा था। गृह को देखकर सामने लीला और ज्ञप्ति को देखकर सम्भ्रम से समन्वित होती हुई उठकर वह उन दोनों के चरणों में गिर गयी थी। इसके अनन्तर उन दोनों ज्ञप्ति और लीला ने उसको विष्टरों पर बिठलाया था ॥३०४।३०५॥ ज्ञप्ति देवी ने कहा—हे हंस के समान मनोहर गमन करने वाली ! ललित लोचनों से समन्वित दोनों लीलाओ ! इस राजा को शवतल्प से उठाओ। यह कहकर पद्मिनी ने आमोद की भाँति ही जीव को छोड़ दिया था। वह वायु के कण के समान आकार वाला जीव उसकी नासिका के समीप में प्राप्त हुआ था ॥३०६॥३०७॥ बाँस के छिद्र में वायु के ही समान उसने शीघ्र ही घ्राण के आकाश में प्रवेश किया था। अन्दर स्थित जीव वदन उसकी कान्ति को प्राप्त होगया था ॥३०८॥

क्रमादङ्गानि सर्वाणि सरसानि चकाशिरे।
स्फारयामास सोऽङ्गानि रसवन्ति मृदूनि च ॥३०९

उन्मीलयामास दृशौ विमलालोककारिणी।
उत्तस्थौ प्रोल्लसत्कायो विन्ध्याद्रिरिव जङ्गमः ॥३१०

उवाच कः स्थित इति घनगम्भीरनिस्वनम्।
लीलाद्वयमथास्याग्रे प्रोवाचादिश्यतामिति ॥३११

का त्वं केयं कुतश्चेयमित्याह स विलोकयन्।
तस्मै लीलाह हे देव श्रूयतां यद्वदाम्यहम् ॥३१२

महिला तव लीलाहं प्राक्तनी सहवर्तिनी ।
इयं ते महिला ललीहं द्वितीय लीलया मया ॥३१३
उपार्जिता त्वदर्थेन प्रतिविम्बमयी शुभा ।
शिरोभागोपविष्टेयं येयं हैममहासने ॥३१४
एषा सरस्वतीदेवी त्रैलोक्यजननी शुभा ।
इत्याकर्ण्य समुत्थाय राजा ज्ञप्तिपदाब्जयोः ॥३१५
पपात प्रयतो भूत्वा सरस्वति नमोऽस्तु ते ।
इत्युक्तवन्तं हस्तेन स्पृष्ट्वोवाच सरस्वती ॥३१६
सर्वापदः सकलदुष्कृतदृष्टयश्च
गच्छन्तु वः शिवमनन्तसुखानि सम्यक् ।
आयान्तु नित्यमुदिता जनता भवन्तु
राष्ट्रे स्थिराश्च विलसन्तु सदा महान्तः ॥३१७

क्रमशः फिर उसके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सरस एवं सुन्दर होगये थे और दीप्ति प्रकट करने लगे थे । वह रस वाले और कोमल अङ्गों को अत्यधिक करने लगा था ॥३०९॥ फिर तो उस नृपति ने विमल आलोक करने वाले दोनों नेत्रों को खोला था । वह प्रोल्लास संयुत शरीर वाला जङ्गम (चलने वाले) विन्ध्याचल के समान ही उठकर खड़ा होगया था ॥ ३१० ॥ मेघ के समान गम्भीर नाद वाले वचन वह बोला—कौन स्थित है ? इसके पश्चात् उन दोनों लीलाओं के आगे बोला—आदेश दीजिये ॥३११॥ तुम कौन हो और यह कौन है और कहाँ से कैसे आगमन हुआ है—वह देखता हुआ यह बोला लीला ने उससे कहा—हे देव ! आप श्रवण कीजिये जो कुछ भी मैं कहती हूँ ॥३१२॥ मैं आपकी पुरानी महिला लीला हूँ जो कि आपकी सहचारिणी थी और यह आपकी दूसरी महिला लीला है जो कि आपके लिये प्रतिविम्ब वाली परम शुभ मुझ लीला के ही द्वारा उपार्जित की गई है । जो यह शिरोभाग मे सुवर्ण के सिंहासन पर उपविष्ट है यह त्रैलोक्य की जननी जग-

दम्बा माँ सरस्वती परम शुभ देवी हैं। यह श्रवण करके राजा उठकर खड़ा होगया था ज्ञप्ति देवी के दोनों चरण कमलों में गिर गया था। कुछ समय के पश्चात् प्रसन्न होकर उसने कहा—हे सरस्वति ! हे देवि ! आपकी चरण सेवा में मेरा प्रणाम समर्पित है। इस प्रकार से कहने वाले उस नृपति को सरस्वती देवी ने हाथ में स्पर्श करके कहा—हे राजन्! आपको समस्त आपदायें और सम्पूर्ण दुष्कृतों की दृष्टियाँ चली जावें और परमशिव मङ्गलमय अनन्त सुख भली भाँति से सब प्राप्त हो जावें। आपके सम्पूर्ण जन समुदाय नित्य ही मुदित एवं परम प्रसन्न होवें और आपके राष्ट्र में सदा महान् पुरुष स्थिर होते हुए सुखोपभोग करें ॥३१६—३१७॥

सरस्वती तथेत्युक्त्वा तत्रवान्तर्धिमाययौ ।
जयमङ्गलपुण्याहघोषघुंघुमघर्घरः ॥३१८
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं ततोऽभून्नृपमन्दिरम् ।
ततोऽभिषिषिचुर्विप्रा मन्त्रिणो भूभुजश्च तम् ॥३१६
लीला लीला च राजा च जीवन्मुक्ता महाधियः ।
रेमिरे पूर्ववृत्तान्तकथनैः सुरतैरिव ॥३२०
स ज्ञप्तिज्ञानसंबुद्धो राजा लीलाद्वयान्वितः ।
चक्रे वर्षायुतान्यष्टौ तत्र राज्यमनिन्दितम् ॥३२१
जीवन्मुक्तास्त इत्येवं राज्यं निहतकण्टकम् ।
कृत्वा विदेहमुक्तत्वमासेदुः शुद्धसंविदः ॥३२२

महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस प्रकार से कहकर वह देवी सरस्वती वहीं पर अन्तर्धान को प्राप्त होगयी थी और उस समय में जय हो-मङ्गल हो—इस तरह पुण्याह ध्वनियों की घुंघुमता वाला घोष होगया था ॥३१८॥ इसके उपरान्त वह नृपति का मन्दिर हृष्ट-पुष्ट जनों से समाकीर्ण होगया था। फिर मन्त्रों के ज्ञाता विप्रों ने और राजाओं ने उस नृपति का अभिषेक किया था ॥ ३१६ ॥ महा बुद्धिमान

लीला और दूसरी लीला तथा राजा सब जीवन्मुक्त होकर सुरत की भाँति पूर्व वृत्तान्तों के कथनोपकथन के द्वारा रमण करने लगे थे।।३२०।। वह ज्ञप्ति देवी के द्वारा सम्बुद्ध ज्ञान वाला दोनों लीलाओं से समन्वित होकर वहाँ पर परम सुन्दर राज्य के सुखोपभोगों को प्राप्त कर आठ वर्ष तक उसने राज्य का शासन किया था ।।३२१।। वे जीवन्मुक्त थे अर्थात् जीवित दशा में रहते हुए भी मुक्त थे । इस प्रकार से निष्कण्टक राज्य करके शुद्ध संविद वाले विदेह मुक्तत्व को प्राप्त हो गये थे ।। ३२२ ।।



तृतीय सर्ग

एतत्ते कथितं राम दृश्यदोषनिवृत्तये ।
लीलोपाख्यानमनघं घनतां जगतस्त्यज ।।१
असदाभासमच्छात्म ब्रह्मास्तीह प्रबृंहितम् ।
बृहच्चिद्भैरववपुरानन्दाभिधमव्ययम् ।।२
तस्य यत्सममापूर्णं शुद्धसत्त्वमचिह्नितम् ।
तद्विदामप्यनिर्देश्यं तच्छान्तं परमं पदम् ।।३
ब्रह्मणः स्फुरणं किञ्चिद्यदवाताम्बुधेरिव ।
दीपस्याथाप्यवातस्य तं जीवं विद्धि राघव ।।४
तदेव घनसंवित्या यात्यहन्तामनुक्रमात् ।
वह्नन्यणुस्त्विन्धनाधिक्यात्स्वां प्रकाशकतामिव ।।५
संकल्पोन्मुखतां यातस्त्वहंकारो भवत्युत ।
चित्तं चेतो मनो माया प्रकृतिश्चेति नामभिः ।।६
परस्मात्कारणादेवं मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तेनेदं तन्यते जगत् ।।७

महामहर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम ! यह दृश्य जगत्

ही सत्य स्वरूप वाला प्रतीत हुआ करता है यही एक महान् दोष है इसकी निवृत्ति के लिये यह अनघ लीला का उपाख्यान मैंने आपके समक्ष में वर्णित किया है। अतएव अब आप इस दृश्य जगत् के विषय में जो सत्यता की प्रतीति मिथ्याभूत हो रही है उसका त्याग कर दीजिये ॥१॥ इस ब्रह्म शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक तो मायिक प्रपञ्च से उपचित ब्रह्म है जिसको प्रबृंहित ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है। दूसरा वह स्वच्छ स्वरूप वाला ब्रह्म है जिसमें इस अनिर्वचनीय प्रपञ्च का आभास होता है जो कि सर्वथा असत् है। अथवा अविद्यमान दृश्य का आभास जिसमें होता है। बृहत् का अर्थ निरंकुश महत्व से सम्पन्न होता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जावे तो बृहत्व और प्रबृंहित इन दोनों के एक ही स्थल पर रहने से कोई विरोध नहीं होता है। चित् ज्ञप्ति के स्वरूप वाला है। वह भयङ्कर शरीर वाला है। जो अविनाशी एवं आनन्द नाम वाला है ॥ २ ॥ उस ब्रह्म की दृश्य की उत्पत्ति और विनाश में एकरूपता होती है अथवा वह समस्त भूतों में सम है। वह सब प्रकार के चिह्नों से रहित है अर्थात् अलाञ्छित है। वह शुद्ध सत्त्व वाला है। वह ऐसा है ज्ञानियों के द्वारा भी न कहने के योग्य है। जिस प्रकार से क्षीर का यथार्थ माधुर्य नहीं बतलाया जाता है। जो रसनेन्द्रिय उस मिठास का उपभोग करती है वह तो अन्ध है और वाणी कहने वाली है उसको वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं होता है। वह ब्रह्म परम शान्त है अर्थात् विकारों से रहित है। ऐसे ही वह परम पद होता है ॥ ३ ॥ वात रहित सागर के समान अथवा वायु से रहित दीपक के तुल्य जो एकदम परम प्रशान्त ब्रह्म है उसका ही कुछ थोड़ा सा जो स्फुरण अर्थात् चलन होता है हे राघवेन्द्र ! उसी को जीव समझ लो। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म तो पूर्णतया प्रशान्त स्वरूप वाला होता है और जीव उसका ही एक छोटा-सा वह स्वरूप है जिसमें कुछ स्फुरण हुआ करता है। यही दोनों का भेद है ॥ ४ ॥ वही स्फुरण अत्यन्त घन सङ्कल्प के कारण से क्रमशः

अहंभावना को प्राप्त हो जाया करता है जिस प्रकार से एक छोटा सा अग्नि का अणु अर्थात् कण ईंधन की अधिकता के होने से अपनी प्रकाशता को प्राप्त हो जाया करता है ठीक उसी भांति से यह जीव सङ्कल्पों की सघनता होने से अहङ्कार की भावना को प्राप्त कर प्रकट रूपता को ग्रहण कर लिया करता है ॥ ५ ॥ जब यह सङ्कल्पों की अभिमुखता को प्राप्त करके अहङ्कार को ग्रहण कर लेता है तो फिर उसी को चित्त—चेत—मन—माया और प्रकृति—इन नामों के द्वारा कहा जाया करता है ॥ ६ ॥ सबसे पर कारण ब्रह्म से सर्व प्रथम मन की उत्पत्ति हुआ करती है। यह मन मनन स्वरूप वाला अर्थात् सङ्कल्पात्मक ही होता है तथा आभोग अर्थात् परिपूर्णता से युक्त होता है और उसी के द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया जाया करता है ॥ ७ ॥

अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः।
चिदेकार्णव एवायं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥८
दीर्घस्वप्नस्थितिं यातः संसाराख्यो मनोवशात्।
असम्यग्दर्शनात्स्थाणाविव पुंप्रत्ययो दृढः ॥९
द्वैतं यथा नास्ति चिदात्मजीवयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न चित्तसर्गयोः ॥१०
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
राक्षस्योक्तं महाप्रश्नजालमावलिताखिलम् ॥११
अस्ति कज्जलपङ्काद्रेरिवोग्रा शालभञ्जिका।
हिमाद्रेरुत्तरे पार्श्वे कर्कटीनाम राक्षसी ॥१२
स्थिरविद्युल्लतानेत्रा खर्जूरतरुजानुका।
वैदूर्यमूर्धाग्रनखा स्नायवस्थिग्रन्थिदेहिनी ॥१३

तस्या विपुलकासारस्याद्दुर्लभत्वान्निजान्धसः ।
अतृप्तोऽर्णवलेखाया इवाभूज्जाठरोऽनलः ॥१४

पार और अवार पर तथा अर्वाक् (उरले) तीर को कहा जा है । जिसमें इन पर–अवर दोनों ही तीरों का अभाव दिखलाई दि करता है वह अपारावार होता है । इस प्रकार का अपारावार जिन विस्तार होता है वे संविद ही अर्थात् सङ्कल्प ही उसके (सागर के) स्वरूप हैं उनसे चिदेक गुंज ही यह आत्मा मन का स्वरूप धारण स्वयं इस दृश्य जगत् के स्वरूप में प्रकट हुआ करता है ॥ ८ ॥ इ सङ्कल्पात्मक मन के ही कारण से यह संसार नाम वाला एक लम्बे स्वप्न की स्थिति को प्राप्त हो गया है अर्थात् यह संसार एक लम्बे–चौड़े स्वप्न के ही समान और वास्तविकता इसमें लेश मात्र भी नहीं है और सङ्कल्पों की अधिकता होने से बहुभाव को प्राप्त होकर ही इसकी उत्पत्ति हो जाया करती है । जिस तरह से भली भांति स्पष्टतया न दिखलाई देने के कारण से ही एक स्थाणु (लकड़ी ठूंठ) में दृढ़ रूप से पुरुष का विश्वास हो जाया करता है । वस्तुतः वह पुरुष न होकर एक ठूंठ ही होता है । उसी भांति यह दृश्य जगत् एक अपने सङ्कल्पों का ही समुदाय है और इसको ही सत्य समझ लिया जाता है किन्तु वास्तविकता इसमें किञ्चित् मात्र भी नहीं है । स्वप्न के ही समान यह ऐसा दीर्घ स्वप्न ही है जीवन काल में बिल्कुल सत्य जैसा प्रतीत हुआ करता है ॥ ६ ॥ ब्रह्म कारण है और यह जीवात्मा उसका कार्य है अर्थात् उसी पूर्ण ब्रह्म का यह एक अंग है । अतएव इन दोनों में चिदात्मा (ज्ञान स्वरूप) ब्रह्म और जीव में कुछ भी द्वैत भाव अर्थात् भेद नहीं है । उसी भांति मन का कारण यह जीवात्मा है क्योंकि सङ्कल्पों की सघनता के कारण इसी जीव से मन की उत्पत्ति हुआ करती है अतएव इन दोनों का भी कार्य कारण भाव होता है ; यह जीव ही जब सङ्कल्पात्मक स्वरूप धारण करता है तो मन का सृजन हो जाता है । अतएव जीव और चित्त में

भी कोई भेद नहीं है। इस मन से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। इन दोनों का भी कार्य कारण भाव है ॥१०॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस विषय में एक परम पुरातन ऐतिहासिक उपाख्यान का उदाहरण दिया जाता है और यह उपाख्यान यही दिखलाने के लिये प्रस्तुत किया जाता है कि कहीं पर तामस हिंसा विहारों का भी किसी प्रकार से हिंसा के अनभि सम्बन्धी पूर्व प्रयत्नों के अतिशय से अपवर्ग के मार्ग का समुदाय हो जाया करता है। इस उपाख्यान में राक्षसी के द्वारा कहे गये महान् प्रश्नों का ऐसा जाल है जिसमें सभी कुछ अन्दर आ गया है ॥ ११ ॥ हिमालय महागिरि के उत्तर भाग में जो कि कज्जल पङ्क नमक गिरि वर्तमान है वहाँ पर एक अत्यन्त उग्र पुत्तलिका के समान प्रतीत होने वाली कर्कटी—इस नाम वाली राक्षसी थी ॥ १२ ॥ उस राक्षसी के नेत्र स्थिर विद्युल्लता के समान थे और खजूर के वृक्ष के समान अतिदीर्घ एवं दर्दुर उसकी जङ्घाएं अर्थात् दोनों जानु थे जिस वृक्ष में तृण और काष्ठ की ही प्रधानता हुआ करती है। वैदूर्य रत्न से किये हुए सूर्य के समान ही उसके अग्र नाखून थे और स्नायु तथा अस्थियों के ग्रन्थियों से युक्त उसका सम्पूर्ण देह था। ऐसे भीषण आकार प्रकार वाली वह राक्षसी थी ॥ १३॥ उस राक्षसी की उदर में होने वाली अग्नि अर्णवलेखा के बड़वानल के ही समान नर मांस आदि के स्वरूप वाले अपने अन्न से अतृप्त हो गया था अर्थात् नर मांस से उसका कभी भी तृप्त नहीं हुआ था ॥ १४ ॥

न कदाचन सा तृप्तिमुपयाति महोदरी।
वडावानलजिह्वेव चिन्तयामास चैकदा ॥१५
जम्बुद्वीपगतान्सर्वान्निगिरामि जनानपि।
अनारतमनुच्छ्वासं जलराशिमिवार्णवः ॥१६
मेघेन मृगतृष्णेव तन्मे क्षुदुपशाम्यति।
तपः करोमि परममखिन्नेनैव चेतसा।

इति संचिन्त्य सा सर्वजन्तुजातजिघांसया ॥१७
तपोऽर्थमथ सस्मार पर्वतं भूतदुर्गमम् ।
तत्र गत्वाथ सा स्नात्वा तपः कर्तुं व्यवस्थिता ॥१८
अतिष्ठदेकपादेन चन्द्रार्कस्पन्दलोचना ।
क्रमेण दिवसाः पक्षास्तस्या मासास्ततो ययुः ॥१९
शीतातपेष्वलीनायाः कृताया इव शैलतः ।
अष्टवर्षसहस्रेण तां पितामह आययौ ॥२०
दारुणं हि तपः सिद्ध्यै नीचानामपि जायते ।
मनसैव प्रणम्यैनं सा तथैव स्थिता सती ॥२१

वह महान् उदर वाली राक्षसी किसी भी समय में तृप्ति को प्राप्त नहीं होती थी। वड़वानल की जिह्वा के समान उसने एक बार सोचा था ॥ १५ ॥ उसने मन में विचार किया था कि जम्बूद्वीप में निवास करने वाले समस्त जनों को मैं ग्रस लूँ अर्थात् निरन्तर सब जनों का भक्षण करने से सम्भव है अनुच्छ्वास जल के समुदाय को सागर की भाँति निगलने पर मेरी तृप्ति हो जायगी ॥ १६ ॥ मेघों के द्वारा सञ्चन करने से जिस तरह मरुदेश में होने वाली मृगतृष्णा उपशम को प्राप्त हो जाया करती है उसी तरह मेरी भी क्षुधा शान्त हो जायगी। अतएव मैं इस समस्त जन्तुओं के मार देने की इच्छा की पूर्त्ति के लिये अत्यन्त खेद रहित चित्त से तपश्चर्या करूँ। तप के द्वारा ही इस विशाल शक्ति का सञ्चय कर मैं अपनी क्षुधा की शान्ति कर सकती हूँ ॥ १७ ॥ इस प्रकार के विचार के स्थिर हो जाने पर उस राक्षसी ने तपश्चर्या करने के लिये किसी प्राणियों के गमन न करने के योग्य पर्वत का स्मरण किया था और वहाँ पहुँच कर उसने स्नान किया था और फिर तपस्या करने के लिये व्यवस्थित हो गयी थी ॥ १८ ॥ वह राक्षसी चन्द्र और सूर्य की गति में अपने नेत्रों को स्थिर करके एक चरण से स्थित हो गयी थी। उसको तपश्चर्या करते हुए क्रम से दिन—पक्ष और

मास व्यतीत होने लग गये थे। शीत-आतप (धूप-गर्मी) में अलीन अर्थात् जाड़े-गर्मी आदि की कुछ भी परवाह न करती हुई जो कि ऐसी प्रतीत होती थी मानों शैल से ही निर्मित हुई हो, आठ सहस्र वर्ष तक परम घोर तपश्चर्या करती रही थी। इसके उपरान्त पितामह ब्रह्माजी उसके समीप में समागत हुए थे अर्थात् उसके परमोग्र तप से सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी उसे वरदान प्रदान करने के लिए उसके समीप में आये थे ॥ २० ॥ नीच कर्म करने वाले और नीच जाति में समुत्पन्न लोग भी यदि दारुण तपश्चर्या करते हैं और सिद्धि की प्राप्ति करने की इच्छा रखते हैं तो उनको भी तप से अवश्य ही सिद्धि हो जाया करती है। जिस समय में पितामह वहाँ पर आये तो तप में विघ्न न करती हुई सती उस राक्षसी ने उनको मन में ही प्रणाम करके वैसी ही वह स्थित रही थी ॥२१॥

को वरः क्षुच्छमायालमिति चिन्तापराभवत् ।
आ स्मृतं प्रार्थयिष्येऽहं वरमेकमिमं विभु ॥२२
अनायसीवायसीव स्यामहं जीवसूचिका ।
यथाभिमतमेतेन ग्रसेयं सकलं जनम् ॥२३
क्रमेण क्षुद्विनाशाय क्षुद्विनाशः परं सुखम् ।
प्राणिनामिह सर्वेषां हृदयं प्रविशाम्यहम् ।
इति संचिन्तयन्तीं तामुवाच कमलालयः ॥२४
पुत्रि कर्कटिके रक्षःकुलशैलाभ्रमालिके ।
उत्तिष्ठ तव तुष्टोऽस्मि गृहाणाभिमतं वरम् ॥२५
भगवन्भूतभव्येश स्यामहं जीवसूचिका ।
अनायसीवायसीव विधे दास्यसि चेद्वरम् ॥२६
एवमस्त्विति तामुक्त्वा पुनराह पितामहः ।
सूचिका सोपसर्गा त्वं भविष्यसि विषूचिका ॥२७

अपनी क्षुधा की शान्ति के लिये कौन-सा वरदान पर्याप्त है—इस चिन्ता से व्याप्त हो गयी थी। आ! स्मरण हो गया—मैं एक व्यापक वरदान इनसे मांगूंगी - ऐसा उसने अपने मन में विचार किया था और उसने सोचा था कि मैं लोहमयी न होती हुई भी लोहमयी की भांति जीवों की सूचिका (सीवनी-सुई) हो जाऊँ। इस वरदान से यथाभिमत अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार क्रम से सम्पूर्ण जगत् को अपनी भूख की शान्ति के लिये ग्रस डलूंगी क्योंकि क्षुधा की शान्ति या विनाश ही इस जगत् में सर्वोपरि परम सुख होता है। यही पर मैं सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश कर लूंगी—इस प्रकार से वह राक्षसी अपने मन में चिन्तन कर ही रही थी कि कमल में निवास करने वाले पितामह ब्रह्माजी ने उससे कहा था ॥ २२—२४ ॥ ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्रि! कर्कटिके! हे राक्षसों के कुल रूपी शैल की मेघ मालिके! अर्थात् राक्षसों के कुल में सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या करने वाली! अब तुम तप करने से उठ खड़ी होओ। मैं तुम्हारे इस उग्र तप से परम प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होकर यहाँ पर समागत हुआ हूँ। अब तुम अपना अभीष्ट जो भी हो वरदान प्राप्त करलो ॥२५॥ कर्कटी ने कहा—हे भगवान्! आप तो भूत और भव्य के स्वामी हैं। मैं जीवों की सूचिका हो जाऊँ। यद्यपि मैं अलोहमयी हूँ तो भी लोहमयी के समान बन जाऊँ। हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वरदान देना चाहेंगे तो यही मेरा अभिमत वरदान है ॥ २६ ॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—उस समय में उससे यही कहा था कि 'ऐसा ही होगा'—इसके अनन्तर पुनः ब्रह्माजी ने उससे कहा - तू 'वि' इस उपसर्ग से युक्त सूचिका अर्थात् विषूचिका हो जायगी। ब्रह्माजी ने मन में यह विचार करते हुए कि यदि ऐसा सूचिका बन जाने का वरदान प्राप्त हो गया तो समस्त मनुष्यों का अपूर्व दुःख के सागर में निमज्जन हो जायगा। अतएव उसकी याचना के क्रम का उल्लङ्घन न करते हुए ही विषूचिका (हैजा) की व्याधि के भाव को इसे दे दिया जावे—यही विचार कर

उपसर्ग 'वि' संयुक्त सूचिका अर्थात् विषूचिका होने का वर दिया था ॥ २७ ॥

दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ।
दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यसि ॥२८
प्रविश्य हृदयं प्राणैः पद्मल्पोहादिवाधनात् ।
वातलेखात्मिका व्याधिर्भविष्यसि विषूचिका ॥२९
सगुणं निर्गुणं चैव जनमासादयिष्यसि ।
सगुणानां चिकित्सार्थं मन्त्रोऽयं तु मयोच्यते ॥३०
ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं रां विष्णुशक्तये नमो भगवति विष्णुशक्ति एहि एनां हरहर दहदह हनहन पचपच मथमथ उत्सादय उत्सादय दूरे कुरुकुरुस्वाहा । विषूचिके त्वं हिमवन्तं गच्छगच्छ जीवसारचन्द्रमण्डलं गतोऽसिस्वाहा ।

इति मन्त्री महामन्त्रं न्यस्य वामकरोदरे ।
मार्जयेच्चातुराकारं तेन हस्तेन संयतः ॥३१
हिमशैलाभिमुख्येन विधृतां तां विचिन्तयेत् ।
कर्कटीं कर्कशां क्रुद्धां मन्त्रमुद्गमर्दिताम् ॥३२
आतुरं चिन्तयेच्चन्द्रे रसायनहृदि स्थितम् ।
अजरामरणं मुक्तं सर्वाधिव्याधिविभ्रमैः ॥३३
साधको हि शुचिर्भूत्वा स्वाचान्तः सुसमाहितः ।
क्रमेणानेन सकलाः प्रोच्छिनत्ति विषूचिकाः ॥३४

ब्रह्माजी ने कहा था कि जो बुरा दूषित और पर्युषित भोजन करने वाले—बुरे कार्य को करने वाले—बुरी कुत्सित स्थिति में रहने वाले—बुरे देश या स्थान में निवास करने वाले—दुष्ट तथा मूर्ख मनुष्य हैं उनकी विषूचिका व्याधि बनकर तू हिंसा करेगी । पद्म नामक रोग—प्लीहा—गुल्म आदि रोगों के व.धन होने से वात लेखात्मिका विषूचिका

अपनी क्षुधा की शान्ति के लिये कौन-सा वरदान पर्याप्त है—इस चिन्ता से व्याप्त हो गयी थी। आ! स्मरण हो गया—मैं एक व्यापक वरदान इनसे माँगूँगी—ऐसा उसने अपने मन में विचार किया था और उसने सोचा था कि मैं लोहमयी न होती हुई भी लोहमयी की भाँति जीवों को सूचिका (सीवनी-सुई) हो जाऊँ। इस वरदान से यथाभिमत अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार क्रम से सम्पूर्ण जगत् को अपनी भूख की शान्ति के लिये ग्रस डलूँगी क्योंकि क्षुधा की शान्ति या विनाश ही इस जगत् में सर्वोपरि परम सुख होता है। यहाँ पर मैं सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश कर लूँगी—इस प्रकार से वह राक्षसी अपने मन में चिन्तन कर ही रही थी कि कमल में निवास करने वाले पितामह ब्रह्माजी ने उससे कहा था ॥ २२—२४ ॥ ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्रि! कर्कटिके! हे राक्षसों के कुल रूपी शैल की मेघ मालिके! अर्थात् राक्षसों के कुल में सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या करने वाली! अब तुम तप करने से उठ खड़ी होओ। मैं तुम्हारे इस उग्र तप से परम प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होकर यहाँ पर समागत हुआ हूँ। अब तुम अपना अभीष्ट जो भी हो वरदान प्राप्त करलो ॥२५॥ कर्कटी ने कहा—हे भगवान्! आप तो भूत और भव्य के स्वामी हैं। मैं जीवों की सूचिका हो जाऊँ। यद्यपि मैं अलोहमयी हूँ तो भी लोहमयी के समान बन जाऊँ। हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वरदान देना चाहेंगे तो यही मेरा अभिमत वरदान है ॥ २६ ॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—उस समय में उससे यही कहा था कि 'ऐसा ही होगा'—इसके अनन्तर पुनः ब्रह्माजी ने उससे कहा—तू 'वि' इस उपसर्ग से युक्त सूचिका अर्थात् विसूचिका हो जायगी। ब्रह्माजी ने मन में यह विचार करते हुए कि यदि ऐसा सूचिका बन जाने का वरदान प्राप्त हो गया तो समस्त मनुष्यों का सम्पूर्ण दुःख के सागर में निमज्जन हो जायगा। अतएव उसकी याचना के क्रम का उल्लङ्घन न करते हुए ही विसूचिका (हैजा) की व्याधि के भाव को इसे दे दिया जावे—यही विचार कर

उपसर्ग 'वि' संयुक्त सूचिका अर्थात् विपूचिका होने का वर दिया था ॥ २७ ॥

दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ।
दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यसि ॥२८
प्रविश्य हृदयं प्राणैः पद्मल्पोहादिबाधनात् ।
वातलेखात्मिका व्याधिर्भविष्यसि विषूचिका ॥२९
सगुणं निर्गुणं चैव जनमासादयिष्यसि ।
सगुणानां चिकित्सार्थं मन्त्रोऽयं तु मयोच्यते ॥३०
ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं रां विष्णुशक्तये नमो भगवति विष्णुशक्ति एहि एनां हरहर दहदह हनहन पचपच मथमथ उत्सादयउत्सादय दूरे कुरुकुरुस्वाहा । विषूचिके त्वं हिमवन्तं गच्छगच्छ जीवसारचन्द्रमण्डलं गतोऽसिस्वाहा ।

इति मन्त्री महामन्त्रं न्यस्य वामकरोदरे ।
मार्जयेच्चातुराकारं तेन हस्तेन संयतः ॥३१
हिमशैलाभिमुख्येन विधृतां तां विचिन्तयेत् ।
कर्कटीं कर्कशां क्रुद्धां मन्त्रमुद्गमर्दिताम् ॥३२
आतुरं चिन्तयेच्चन्द्रे रसायनहृदि स्थितम् ।
अजरामरणं मुक्तं सर्वाधिव्याधिविभ्रमैः ॥३३
साधको हि शुचिर्भूत्वा स्वाचान्तः सुसमाहितः ।
क्रमेणानेन सकलाः प्रोच्छिनत्ति विषूचिकाः ॥३४

ब्रह्माजी ने कहा था कि जो बुरा दूषित और पर्युषित भोजन करने वाले—बुरे कार्य को करने वाले—बुरी कुत्सित स्थिति में रहने वाले—बुरे देश या स्थान में निवास करने वाले—दुष्ट तथा मूर्ख मनुष्य हैं उनकी विषूचिका व्याधि बनकर तू हिंसा करेगी । पद्म नामक रोग—प्लीहा—गुल्म आदि रोगों के बाधन होने से वात लेखात्मिका विषूचिका

अपनी क्षुधा की शान्ति के लिये कौन-सा वरदान पर्याप्त है—इस चिन्ता से व्याप्त हो गयी थी। आ! स्मरण हो गया—मैं एक व्यापक वरदान इनसे माँगूँगी - ऐसा उसने अपने मन में विचार किया था और उसने सोचा था कि मैं लोहमयी न होती हुई भी लोहमयी की भाँति जीवों की सूचिका (सीवनी-सुई) हो जाऊँ। इस वरदान से यथाभिमत अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार क्रम से सम्पूर्ण जगत् को अपनी भूख की शान्ति के लिये ग्रस डलूँगी क्योंकि क्षुधा की शान्ति या विनाश ही इस जगत् में सर्वोपरि परम सुख होता है। यहाँ पर मैं सब प्राणियों के हृदय में प्रवेश कर लूँगी—इस प्रकार से वह राक्षसी अपने मन में चिन्तन कर ही रही थी कि कमल में निवास करने वाले पितामह ब्रह्माजी ने उससे कहा था ॥ २२—२४ ॥ ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्रि! कर्कटिके! हे राक्षसों के कुल रूपी शैल की मेघ मालिके! अर्थात् राक्षसों के कुल में सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या करने वाली! अब तुम तप करने से उठ खड़ी होओ। मैं तुम्हारे इस उग्र तप से परम प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होकर यहाँ पर समागत हुआ हूँ। अब तुम अपना अभीष्ट जो भी हो वरदान प्राप्त करलो ॥२५॥ कर्कटी ने कहा—हे भगवान्! आप तो भूत और भव्य के स्वामी हैं। मैं जीवों की सूचिका हो जाऊँ। यद्यपि मैं अलोहमयी हूँ तो भी लोहमयी के समान बन जाऊँ। हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वरदान देना चाहेंगे तो यही मेरा अभिमत वरदान है ॥ २६ ॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—उस समय में उससे यही कहा था कि 'ऐसा ही होगा'—इसके अनन्तर पुनः ब्रह्माजी ने उससे कहा - तू 'वि' इस उपसर्ग से युक्त सूचिका अर्थात् विषूचिका हो जायगी। ब्रह्माजी ने मन में यह विचार करते हुए कि यदि ऐसा सूचिका बन जाने का वरदान प्राप्त हो गया तो समस्त मनुष्यों का अपूर्व दुःख के सागर में निमज्जन हो जायगा। अतएव उसकी याचना के क्रम का उल्लङ्घन न करते हुए ही विषूचिका (हैजा) की व्याधि के भाव को इसे दे दिया जावे—यही विचार कर

उपसर्ग 'वि' संयुक्त सूचिका अर्थात् विपूचिका होने का वर दिया था ॥ २७ ॥

दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ।
दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यसि ॥२८
प्रविश्य हृदयं प्राणैः पद्मप्लीहादिबाधनात् ।
वातलेखात्मिका व्याधिर्भविष्यसि विषूचिका ॥२६
सगुणं निर्गुणं चैव जनमासादयिष्यसि ।
सगुणानां चिकित्सार्थं मन्त्रोऽयं तु मयोच्यते ॥३०
ॐ ह्रां ह्रीं श्रीं रां विष्णुशक्तये नमो भगवति विष्णुशक्ति एहि एनां हरहर दहदह हनहन पचपच मथमथ उत्सादयउत्सादय दूरे कुरुकुरुस्वाहा । विषूचिके त्वं हिमवन्तं गच्छगच्छ जीवसारचन्द्रमण्डलं गतोऽसिस्वाहा ।

इति मन्त्रो महामन्त्रं न्यस्य वामकरोदरे ।
मार्जयेच्चातुराकारं तेन हस्तेन संयतः ॥३१
हिमशैलाभिमुख्येन विधृतां तां विचिन्तयेत् ।
कर्कटीं कर्कशां क्रुद्धां मन्त्रमुद्गरमर्दिताम् ॥३२
आतुरं चिन्तयेच्चन्द्रे रसायनहृदि स्थितम् ।
अजरामरणं मुक्तं सर्वाधिव्याधिविभ्रमैः । ३३
साधको हि शुचिर्भूत्वा स्वाचान्तः सुसमाहितः ।
क्रमेणानेन सकलाः प्रोच्छिनत्ति विषूचिकाः ॥३४

ब्रह्माजी ने कहा था कि जो बुरा दूषित और पर्युषित भोजन करने वाले—बुरे कार्य को करने वाले—बुरी कुत्सित स्थिति में रहने वाले—बुरे देश या स्थान में निवास करने वाले—दुष्ट तथा मूर्ख मनुष्य हैं उनको विषूचिका व्याधि बनकर तू हिंसा करेगी । पद्म नामक रोग—प्लीहा—गुल्म आदि रोगों के बाधन होने से वात लेखात्मिका विषूचिका

व्याधि होगी ॥ २८, २९ ॥ चाहे कोई गुण सम्पन्न हो या निर्गुण अर्थात् गुणों से हीन हो तुम सभी जन को प्राप्त हो जाओगी। जो सगुण पुरुष हैं—उनकी चिकित्सा करने के लिए मेरे द्वारा यह मन्त्र बतलाया जाता है ॥३०॥ इस मन्त्र में आरम्भ में एक प्रणव (ओङ्कार) है। इसके अनन्तर फिर 'ह्रां, ह्रीं, श्रीं, रां"—ये चार बीज हैं जिनके परम गहन कामनाओं की पूर्ति के लिये विभिन्न अर्थ होते हैं। हे भगवति ! विष्णु भगवान् की शक्ति यहाँ पर आओ—आओ, इस व्याधि का हरण करो—हरण करो, इस रोग का दहन करो—दहन करो, इस रोग का हनन करो—हनन करो, इस व्याधि का पाचन करो—पाचन करो, इस रोग का मन्थन करो—मन्थन करो, इस कष्ट का उत्सादन करो—उत्सादन करो अर्थात् निकाल कर दूर कर दो, इस व्याधि को दूर करदो—करदो, स्वाहा। 'स्वाहा'—यह शब्द देवों को समर्पित करने के लिये कहा जाता है। हे विषूचिके ! तुम यहाँ से हिमालय को चली जाओ—चली जाओ। हे जीव ! स्वयं यहाँ आओ मेरे द्वारा हूयमान यह जीवात्मक हवि चन्द्रमण्डल को स्वयं गमन करें। इस महामन्त्र को मन्त्री बाँये हाथ के तले में न्यस्त करे अर्थात् यान्त्रिक (मन्त्र का ज्ञाता) दाहिने हाथ से अपने बाँये हाथ की हथेली में उपर्युक्त मन्त्र के अक्षरों को लिखकर संयत होता हुआ व्याधियुक्त पुरुष की आकृति का मार्जन करे ॥ ३१ ॥ जिस समय में उक्त मन्त्र के द्वारा व्याधियुक्त मनुष्य का मार्जन किया जावे इस अत्यन्त कर्कश एवं क्रुद्ध कर्कटी को मन्त्र रूपी मुद्गर से मर्दित होती हुई हिम शैल की ओर मुख वाली होकर जाने वाली का ध्यान करे और जो व्याधि युक्त पुरुष है वह चन्द्र के अमृत के अन्दर स्थित हो रहा है—ऐसा ध्यान करे जो कि जरामरण से रहित होकर सभी व्याधियों की वेदना से मुक्त हो गया है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ जो साधना करने वाला है वह पवित्र होकर आचमन करके अत्यधिक सावधान होता हुआ इस विधि

से क्रमपूर्वक करे तो वह सम्पूर्ण विषूचिका को उच्छिन्न कर दिया करता है ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा भगवान्वेधास्तत्रैवान्तरधीयत ।
अथ प्रादेशमात्राभा ततोऽप्यङ्गुलरूपिणी ॥३५
ततो माषशमीतुल्या ततः सूची बभूव सा ।
कस्यचिद्विवशाङ्गस्य क्षीणस्य विकलस्य च ॥३६
प्रविश्यान्तर्वातिसूची भवत्यतिविषूचिका ।
कस्यचित्तनुदेहस्य दुःस्थस्य विकलस्य च ॥३७
प्रविश्य जीवसूचित्वे भवत्यन्तर्विषूचिका ॥३८
एवं वहूनि वर्षाणि प्राणिप्राणैकघातिनी ।
देहद्वयेन बभ्राम व्योम्नि भूमितले तथा ॥३९
अथ कालेन महता कर्कटी वनराक्षसी ।
निर्वेदमन्तरगमद्धिक्कष्टं किमिदं कृतम् ॥४०
किमहं सूचिका जाता सूच्यां किमिव यास्यति ।
सूचीयं रक्तमांसानां कणमात्रेण पूर्यते ॥४१
ममान्तरनिशं हन्त तृष्णासूची सुदुर्भरा ।
क्व मे तानि विशालानि गतान्यङ्गानि दुर्धियः ॥४२

इतना कहकर भगवान् ब्रह्माजी वहीं पर अन्तर्धान होगये थे । इसके अनन्तर माष के बीजकोश के समान प्रादेश मात्र आभा वाली अंगुल रूपिणी वह सूची होगयी थी । किसी विवश अङ्ग वाले—क्षीण और विकल पुरुष के अन्दर वायुस्वरूप वाली सूची होती हुई प्रवेश करके उस अत्यन्त कृश शरीर वाले अस्वस्थ एवं दुःस्थ पुरुष को जीव सूचित्व में प्रविष्ट होकर अन्तर्विसूचिका होती है । यह अतिविसूचिका नामक व्याधि हुआ करती है ॥ ३५ ॥—॥ ३८ ॥ इस प्रकार से प्राणियों के प्राणों का घात करने वाली बहुत वर्षों तक व्योम में और वसुधातल में दो देहों से अर्थात् राक्षसी रूप के नष्ट होने से सूची रूप वाले दो शरीरों से भ्रमण

किया करती थी ॥३९॥ इसके अनन्तर बहुत काल के व्यतीत होजाने पर उस वन राक्षसी कर्कटी के हृदय में वैराग्य होगया था और उसने मन में विचार किया था कि बहुत ही धिक्कार की बात है। मैंने यह क्या किया है अर्थात् मैंने ऐसा अनर्थकारी कृत्य क्यों कर डाला है ॥ ४० ॥ मैं यह सूची बन गई हूं। इस सूची में क्या आयेगा ? यह सूची तो रक्त और माँस के एक कण मात्र से ही पूर्ण होजाया करती है ॥ ४१ ॥ बहुत ही खेद की बात है कि मेरे अन्दर रात दिन सुदुर्भर तृष्णा रूपिण सूची रहा करती है। दुष्ट बुद्धि वाली मेरे वे कैसे विशाल अङ्ग थे जो कि इस समय में सब नष्ट होगये हैं ॥४२॥

कालमेघविशालानि सुविशीर्णानि पर्णवत् ।
सूच्यामपि हताशायां मनागपि न मान्ति हि ॥४३
स्वादुमांसरसग्रासो वसा वा रक्तमेव च ।
इति संचिन्त्य चित्तस्थं संहृत्य जनमारणम् :
तदेव हिमवच्छृङ्गं जगाम तपसे पुनः ॥४४
सर्वतश्चित्तमाहृत्य निर्वेदरसगर्भिणी ।
सूचीदेहेन सोद्विग्ना तेपेऽतिकठिनं तपः ॥४५
निःसंकल्पा निराहारा निस्तरङ्गमनोमयी ।
अथ वर्षसहस्रान्ते सा प्राप परमां दशाम् ॥४६
बभूव निर्मला सूची तपसा क्षीणकल्मषा ।
जाता विदितवेद्या सा स्वयमेव तया धिया ॥४७
ततो वर्षसहस्राणि निःसंकल्पतया तया ।
तस्थौ निखिलसंसारहेयतां हृदि कुर्वती ॥४८

काल मेघों के तुल्य महान् विशाल वे अङ्ग पर्ण की भांति विशीर्ण होगये हैं। इस हताशा सूची में भी वे थोड़े से भी नहीं समाते हैं। स्वाद युक्त रस से उपेत माँस का ग्रास-वसा अथवा रुधिर इस छोटी सी सूची में कुछ भी तो नहीं समाते हैं। इस प्रकार से चिन्तन करके जनों के मारने

के कार्य को उसने रोक दिया था और उसी समय में वह फिर तप करने के लिए हिमालय की चोटी पर चली गई थी ।। ४३।।४४ ।। उसने फिर सभी ओर से अपने चित्त को हटाकर निर्वेद (वैराग्य) के रस को गर्भ में धारण करती हुई इस सूची के स्वरूप वाले देह से उद्विग्न होकर उसने अत्यन्त कठिन तपस्या की थी ।। ४५ । तरङ्गों से अर्थात् विकारों से रहित मन वाली—समस्त सङ्कल्पों से शून्य और आहार का त्याग कर देने वाली उसने इसके एक सहस्र वर्षों के अन्त में तपश्चर्या करते हुए परम दशा को प्राप्त किया था ।। ४६ ।। इस परमोग्र तपस्या से वह सूची कल्मषों को क्षीण करके अतीव निर्मल रागों से रहित होगयी थी । जब वह एक दम विशुद्ध अन्तःकरण वाली होगयी तो उसने स्वयं ही अपनी विशुद्ध बुद्धि से वेद्य (जानने के योग्य) ब्रह्मात्मा की एकता को जान लिया था ।।४७।। इसके अनन्तर एक सहस्र वर्ष तक वह सभी संकल्पों से रहित होकर इस संम्पूर्ण संसार को हेय समझकर जगत् की तुच्छता का हृदय में ध्यान करती हुई स्थित रही थी ।।४८।।

तां वेधास्तादृशीं ज्ञात्वा पदं परममास्थिताम् ।
उपेत्योवाच भगवान्पुत्रि कर्कटिराक्षसि ।।४९
तामेव तनुमासाद्य सुखिनी भुवने चर ।
जीवन्मुक्तासि हे वत्से हार्दं ते गलितं तमः ।।५०
ये मूढा ये दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये ।
दुर्देशवासिनो ये च ते ते ग्रासाय सुस्थिताः ।।५१
इत्युक्त्वान्तर्दधे वेधाः साभूत्तदनु राक्षसी ।
अन्तः संचिन्मयी जाता बाह्यकल्लोलवर्जिता ।
चिरं तदनु सा तस्थौ निर्विकल्पसमाधिना । ५२
अथ कालेन महता चित्तस्पन्दनमेत्य सा ।
वहिर्वृत्तिमयी जाता तां सस्मार पुनः क्षुधाम् ।।५३
यावत्सत्त्वं हि देहस्य स्वभावो नापवर्तते ।

तत्र सा चिन्तयामास ग्रासो जात्युचितो मम ॥५४
वेधसा कल्पितो मूढो जनस्तान्विचिनोम्यहम् ।
इति संचिन्त्य सा तस्मादुत्थाय गिरिशृङ्गतः ॥५५
विवेश शैलपादस्थं किरातजनमण्डलम् ।
तत्र क्वापि महाटव्यां निवासनकरोत्तदा ॥५६

भगवान ब्रह्माजी ने उसको उस प्रकार की परम पद में समास्थित जान लिया था और फिर उसके समीप में आकर उन्होंने उससे कहा था—हे पुत्रि ! कर्कटि ! राक्षसि ! ॥४६॥ अब तू उसी शरीर को प्राप्त करके सुखी होती हुई इस भुवन में विचरण कर । हे वत्से ! अब तू जीवन्मुक्त होगयी है क्योंकि तेरे हृदय में जो तम था वह गलित होगया है ॥ ५० ॥ जो भी इस संसार में ब्रह्म का ज्ञान न रखने वाले मूढ़ हैं अर्थात् अपने वास्तविक हित तथा अहित के विवेक से रहित हैं—बुरे कर्मों के आरम्भ करने में प्रवृत्त हैं और बहुत ही बुरी स्थित में रहने वाले हैं तथा दुर्देश वासी हैं वे सब तेरे ग्रास के लिये सुस्थित हैं ॥५१॥ इतना भर कहकर ब्रह्माजी अन्तर्हित होगये थे और इसके पश्चात् राक्षसी होगयी थी । वह बाहिरी तरङ्गों से रहित होती हुई अन्तःकरण में भली-भांति के ज्ञान से परिपूर्ण होगयी थी । फिर भी चिरकाल तक इसके पश्चात् निर्विकल्पक समाधि से युक्त होकर स्थित होगयी थी ॥ ५२ ॥ इसके अनन्तर जब अत्यधिक समय व्यतीत होजाने पर उसके चित्त में एक स्पन्दन हुआ और वह बहिर्वृत्ति वाली होगयी थी तथा उसने पुनः उस क्षुधा का स्मरण किया था ॥५३। जब तक इस देह में प्राण हैं तब तक इस देह का स्वभाव अपवर्तित नहीं हुआ करता है । उस समय में मेरी जाति का उचित ग्रास क्या है—ऐसा चिन्तन किया था ॥५४॥ भगवान ब्रह्मा ने मेरी क्षुधा की शान्ति के लिये मूढ़ जन को ग्रास बतलाया था सो अब मैं वैसी ही मूढ़ जनों की खोज करूँ । ऐसा चिन्तन करके वह उस अपने निवास स्थल पर्वत के शिखर से उठकर खड़ी होगयी थी

॥ ५५ ॥ फिर उसने उस पर्वत के पाद में स्थित जो किरात जनों का मण्डल था उसमें प्रवेश किया था। उस समय में वहीं पर किसी स्थान में अपना निवास कर लिया था ॥५६॥

एतस्मिन्नन्तरे तत्र किरातजनमण्डले।
हस्तहार्यतमःपिण्डा बभूत्रासितयामिनी ॥५७
तस्यां राजन्यां भीमायां मन्त्रिणा सह भूपतिः।
अटवीं विक्रमोदारः प्राविशद्वीरचर्यया ॥५८
अटव्यां कर्कटी सा तौ चरन्तौ राजमन्त्रिणौ।
अपश्यद्धृतधैर्याथ वेतालालोकनोन्मुखौ ॥५९
अथ सा चिन्तयामास लब्धो भक्ष्यो ह्यहो मया।
मूढावेतावनात्मज्ञौ भारो देहः किलानयो ॥६०
इहामुत्र च नाशाय मूढो दुःखाय जीवति।
तस्माद्विनाशनीयोऽसौ पापसंपत्तिहेतुतः ॥६१
आदिसर्गे च नियमः कृतः पङ्कजजन्मना।
हिंस्राणां भोजनाद्यास्तु मूढात्मा नात्मवानिति ॥६२
तस्मादेतौ मयैवाद्य भोक्तव्यौ भोज्यतां गतौ।
अभव्य एव निर्दोषं प्राप्तमर्थमुपेक्षते ॥६३

इसी बीच में वहाँ पर किरात जनों के मण्डल में हाथों हार्य तम के पिण्ड वाली कालरात्रि होगयी थी ॥ ५७ ॥ उस भीषण रजनी में एक उदार विक्रम वाला भूपति मन्त्रियों के साथ वीर चर्या के लिये उस अटवी में प्रविष्ट हुआ था ॥५८॥ उस वनी में उस कर्कटी ने वेतालों के आलोकन करने के लिये संचरण करते हुए उन्मुख उन दोनों राजा और मन्त्री को धैर्य धारण करके देखा था ॥५९॥ इसके पश्चात् उन दोनों को देख कर उस कर्कटी ने अपने मन में विचार किया था कि अहो! आज मैंने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। ये दोनों ही महा मूढ़ हैं और आत्मज्ञान से रहित हैं। ये इस नश्वर देह को ही आत्मा समझकर इसकी रक्षा

करने में प्रयत्न शील हैं। इन दोनों का यह देह भार रूप सा होरहा है क्योंकि सोपद्रव होने से इसकी रक्षा करना महान् दुष्कर है अतएव एक भार के ही समान यह दुःखप्रद हो रहा है। ६०॥ इस लोक में और पर-लोक में यह मूढ़ विनाश करने के लिए और दुःख के लिये ही जीवित रहता है। इस कारण से पापों की सम्पत्ति का हेतु होने से इसका विनाश ही कर देना चाहिये क्योंकि जब तक यह जीवित रहेगा पाप कर्मों की वृद्धि ही करेगा ।।६१।। सृष्टि के आदिकाल में पङ्कज से उत्पत्ति प्राप्त करने वाले विधाता ने ऐसा नियम बनादिया था कि हिंसा करने वाले प्राणियों के लिये जो मूढ़ आत्मा वाला है वह भोजन बनेगा किन्तु जो आत्मा के जानने वाला है वह उसका खाद्य नहीं होगा ।। २।। इससे मेरे द्वारा आज ही इन दोनों को खा लेना चाहिये और ये दोनों मेरे भोज्य होने को प्राप्त होगये हैं। निदेपि प्राप्त अर्थ की जो उपेक्षा कर देता है यह उत्तम बात नहीं हुआ करती है ।।६३।।

न कदाचिदिमौ स्यातां गुणयुक्तौ महाशयौ।
तादृग्रूपविनाशो हि स्वभावान्मे न रोचते ।६४
तदेतौ संपरीक्ष्येऽहं यदि तादृग्गुणान्वितौ।
तद्भक्ष्यं न करोम्येतौ न हिंस्ये गुणिनः क्वचित् ।।६५
अकृत्रिमं सुखं कीर्तिमायुश्चैवाभिवाञ्छता।
स्वाभिमतदानेन पूजनीया गुणान्विताः ।।६६
अपि नङ्क्ष्यामि देहेन नैव भोक्ष्ये गुणान्वितम्।
सुखयन्ति हि चेतांसि जीवितादपि साधवः। ६७
अपि जीवितदानेन गुणिनं परिपालयेत्।
गुणवत्संगमोपध्या मृत्युरप्येति मित्रताम् ।।६८
यत्राहमपि रक्षामि राक्षसी गुणशालिनम्।
समाश्यः को न कुर्यात्तं हृदि हारमिवामलम् ।६९

उदारगुणयुक्ता ये विहरन्तीह देहिनः ।
धरातलेन्दवः सङ्गाद्भृशं शीतलयन्ति ते ।।७०

ये दोनों कदाचित् गुण युक्त महान् आशय वाले होवें तो उस रूप वाला विनाश करना मुझे पसन्द नहीं होता है क्योंकि वह मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं होता है ।। ६४ ।। इसलिये प्रथम मुझे इन दोनों की परीक्षा करनी चाहिए यदि ये दोनों उस प्रकार के गुणों से युक्त हुए तो मेरे द्वारा ये भक्षण करने के योग्य नहीं होंगे अर्थात् मैं इनका भक्षण नहीं करूंगी क्योंकि गुणियों की कभी भी मैं हिंसा नहीं करती हूं ।। ६५ ।। अकृत्रिम सुख अर्थात् वास्तविक सच्चा सुख—कीर्ति और आयु की इच्छा रखने वाले पुरुष को सब प्रकार के अभिमतों का दान के द्वारा गुणों से समन्वित पुरुषों की पूजा करनी चाहिये ।। ६६ ।। देह से भी विनष्ट हो जाऊँगी किन्तु गुणों से युक्त को कभी भी नहीं खाऊंगी । साधु पुरुष जीवन से भी मनों को सुख प्रदान किया करते हैं ।।६७।। अपना जीवन का दान करके भी गुणी पुरुष का परिपालन करना चाहिए । गुणवान् पुरुष का सङ्गम ही एक ऐसी दिव्य औषधि के समान है कि उससे मनुष्य मृत्यु को भी अपना मित्र बना लिया करता है ।। ६८।। जहां पर मैं राक्षसी होती हुई भी गुणशाली पुरुष की रक्षा करती हूं वहां पर कोई दूसरा ऐसा कौन है जो उस गुणी पुरुष को अपने हृदय का विमल हार न बना लेगा । तात्पर्य यह है कि क्रूर वृत्ति वाली मुझ राक्षसी के हृदय में भी गुणवान् का ऐसा समादर है तो दूसरे तो सभी उसका परम आदर करेंगे ही ।।६९।। इस संसार में उदार गुणों से युक्त जो प्राणी विहार किया करते हैं वे इस धरातल के साक्षात् चन्द्रमा के ही समान हुआ करते हैं और वे सङ्गम प्राप्त होने पर सबको शीतल कर दिया करते हैं ।। ७० ।।

मृतिर्गुणितिरस्काराे जीवितं गुणसंश्रयः ।
फलं स्वर्गापवर्गादि जीविताद्गुणसंश्रयात् ।।७१

तस्मादिमौ परीक्ष्येऽहं कयाचित्प्रश्नलीलया ।
किमात्रज्ञानकावेताविति तामरसेक्षणौ ॥७२
अथ सा राक्षसी रक्षःकुलकाननमञ्जरी ।
तमस्येवाभ्रलेखेव गम्भीरं विननाद ह ॥७३
नादान्ते समुवाचेदं हुंकारतुरुषं वचः ।
गर्जितानन्तरं जातकरकाशनिशब्दवत् ॥७४
भोभो घोराटवीव्योमपदवीशशिभास्करौ ।
महामायातमःपीठशिलाकोटरकीटकौ ॥७५
कौ भवन्तौ महाबुद्धी दुर्बुद्धी वा समागतौ ।
मद्ग्रासपदमापन्नौ क्षणान्मरणकाङ्क्षितौ ॥७६
भोभो भूनक किं स्यास्त्वं क्व तिष्ठसि च देहकम् ।
दर्शयास्यास्तव गिरः को बिभेत्यलिनीध्वनेः ॥७७
राक्षस्युक्ते रम्यमुक्तमिति संचिन्त्य सा तयोः ।
प्रकाशाग्राप्यधैर्याय ननाद सुजहास च ॥७८

यह मृत्यु (मरण) गुणियों का तिरस्कार के ही समान है उनको जीवित रखना गुणवानों का संश्रय होता है क्योंकि मृत्यु होने पर जीवन के फल का विनाश होजाया करता है। स्वर्ग और अपवर्ग आदि फल हैं। जीवन ही समस्त पुरुषार्थों का मूल होता है अतः गुणियों का जीवित रहना परमावश्यक है ॥७१॥ अतएव इन दोनों की किसी भी प्रश्न की लीला के द्वारा मैं पहिले परीक्षा करूँगी कि इन दोनों में कितना ज्ञान है और वे तामरस के ईक्षण वाले हैं ॥ ७२ ॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इसके उपरान्त राक्षसों के कुल रूपी कानन की मञ्जरी स्वरूपिणी वह राक्षसी तम की अभ्र रेखा के समान गम्भीर नाद करने वाली होगई थी अर्थात् उसने परम घोर घोष किया था ॥७२॥ परम घोर गर्जन-ध्वनि के अनन्तर हुङ्कार से अत्यन्त कठोर यह वचन वह बोली थी। वह ठोर वचन उस गर्जना के अनन्तर करकाशनि के ही समान था अर्थात्

जिस तरह से मेघ की गर्जना के पश्चात् ओलों और वज्र की गड़गड़ाहट की ध्वनि हुआ करती है वैसे ही वह उसकी वचनशक्ति थी ॥७४॥ हे-हे घोर अटवी रूपी व्योम पहरी के चन्द्र सूर्यो ! हे महामाया रूपी अन्धकार में स्थित पीठ शिला के छिद्र के कीटको ! आप दोनों महती बुद्धि वाले अथवा दुर्बुद्धि वाले कौन हैं जोकि यहाँ पर समागत हुए हो ? आपको ज्ञात नहीं है कि यह स्थान मेरे ग्रास कर जाने का है और दोनों इस समय मेरे ग्रास को प्राप्त होगये हैं जोकि एक ही क्षण में मृत्यु को प्राप्त होने के लायक बन गये हो ॥ ७५।७६ ॥ राजा ने कहा—हे-हे भूतक ! आप कौन हैं ? आपका शरीर कहाँ पर स्थित है ? उसको दिखलाओ । भ्रमरी के समान आपकी यह ध्वनि ही केवल कर्णगोचर हो रही है आप कौन हैं जो डरा रही हैं ? इस तरह से कौन डरता है ! ॥७७॥ राजा के द्वारा इस प्रकार से कहने पर उसने उन दोहों के कथन को सोच कर प्रकाश के लिये और अधैर्य के लिए उसने नाद किया था और हास्य भी किया था ॥७८॥

ततो ददृशतुस्तां तौ शब्दपूरितदिङ्मुखीम् ।
तादृग्घासप्रभापूरदूरप्रकटिताकृतिम् ॥७९
कल्पान्ताशनिकाशेन घण्टामद्रितटीमिव ।
तामवेक्ष्य महावीरो तथैवाक्षुभितो स्थितौ ।८०
महाराक्षसि संरम्भः किमयं तव निष्फलः ।
लाघवं ह्यथवा कार्यं लाघवेऽप्यतिसंभ्रमः ॥८१
त्यज संरम्भमारम्भो नायं तव विराजते ।
विषये हि प्रवर्तन्ते धीमन्तः स्वार्थसाधकः ॥८२
त्वादृशीनां सहस्राणि मशकानामिवाचले ।
अस्माकं धीरताधात्याव्यूढानि तृणपर्णवत् ।८३
संरम्भज्वरमुत्सृज्य समया स्वच्छया धिया ।
पुरस्या च व्यवहारिण्या स्वार्थः प्राज्ञेन साध्यते ८४

कथयाभिमतं किं ते किमर्थयसि चार्थिनी ।
अर्थी स्वप्नेऽपि नास्माकमप्राप्तार्थः पुरो गतः ॥८५

इसके अनन्तर उन दोनों ने ध्वनि से दिशाओं के मुख पूरित करने वाली उसको देखा था जोकि उस प्रकार के प्रचंड हास की प्रभा के समुदाय से दूर ही से आकृति को प्रकट कर रही थी। प्रलयकालीन वन के समान घुष्ट (शब्दायमान) पर्वत की तटी के तुल्य उसको देखकर वे दोनों महान् वीर उसी प्रकार से क्षोभ से रहित होते हुए स्थित होगये थे ॥ ७९॥८० ॥ मन्त्री ने कहा—हे महाराक्षसि ! यह आपका महान् संरम्भ निष्फल क्यों हो रहा है ? अथवा लाघव करना चाहिए और लाघव में भी अत्यन्त सम्भ्रम है ॥ ८१ ॥ आपको यह संरम्भ त्याग देना चाहिए। यह इस प्रकार से आपका आरम्भ शोभा नहीं देता है। स्वार्थ के साधन करने वाले धीमान् लोग योग्य अर्थ में ही प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥८२॥ हे अवले ! आप जैसी सहस्रों ही मशकों की ही भाँति हमारी धीरता रूपी वायु से तृणों और पर्णों की तरह कम्पित होगयी हैं ॥८३॥ इस संरम्भ रूपी ज्वर का त्याग करके सम और परम स्वच्छ बुद्धि से और व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली युक्ति से बुद्धिमान् के द्वारा अपने अर्थ को सिद्ध किया जाया करता है ॥ ८४ ॥ अब तुम शान्ति से अपना जो भी अभिमत हो उसे बतलाओ अर्थ की पूर्ति चाहने वाली तुम क्या चाहती हो ? कोई भी अर्थी (याचना करने वाला) हमारे समक्ष में आगे आकर कभी भी असफल होता हुआ नहीं गया है अर्थात् जिस किसी ने भी आकर हमसे कोई अपनी कामना प्रकट की है वह उसे पूरी करा कर ही यहाँ से गया है विफल कभी कोई नहीं गया है ॥८५॥

इत्युक्ता सा तदा तेन चिन्तयामास राक्षसी ।
अहो नु विमलाचारं सत्त्वं पुरुषसिंहयोः ॥८६
न सामान्याविमौ मन्ये विचित्रेय चमत्कृतिः ।
वचोवक्त्रेक्षणान्येव वदन्त्यन्तर्विनिश्चयम् ॥८७

एकोपायेन मत्पार्श्वाद्विबालकावुत्तरिष्यथः ।
मत्प्रश्नपञ्जरं सारं चेद्धि धारयथा धिया ॥६६

इत्युक्त्वा राक्षसी प्रश्नान्सा वक्तुमुपचक्रमे ।
कथ्यतामिति राज्ञोक्ते तानिमाञ्शृणु राघव ॥१००

एकस्यानेकसंख्यस्य कस्याणोरम्बुधेरिव ।
अन्तर्ब्रह्माण्डलक्षाणि लीयन्ते बुद्बुदा इव ॥१०१

किमाकाशमनाकाशं न किंचित्किंचिदेव किम् ।
गच्छन्न गच्छति च कः कोऽतिष्ठतिष्ठन्नेव तिष्ठति ॥१०२

कश्चेतनोऽपि पाषाणः कश्च व्योमनि चित्रकृत् ।
अणौ जगन्ति तिष्ठन्ति कस्मिन्बीज इव द्रुमः ॥१०३

कस्मान्न किंचिच्च पृथक्कम्पादीव महाम्भसः ।
द्वैतमप्यपृथक्कस्माद्वर्तते च महाम्भसः ॥१०४

यद्येतान्सपदि धिया विचारयन्तौ
मत्प्रश्नान्न खलु विगाहितुं समर्थौ ।
तद्रूक्षो जठरहुताशनेन्धनत्वं
निर्विघ्नं झटिति गमिष्यथः क्षणेन ॥१०५

हे बालको ! मेरे समीप से एक ही उपाय से तर जाओगे यदि आप दोनों साररूप मेरे प्रश्नों के पञ्जर को बुद्धि से धारण कर लेते हो ॥९९॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—यह कह कर उस राक्षसी ने प्रश्नों का कथन करना आरम्भ कर दिया था जब कि राजा के द्वारा "कहिए"

चेतनोऽसौ प्रकाशात्मा वेद्याभावाच्छिलोपमः ।
आत्मनि व्योमनि स्वच्छे जगदुन्मेषचित्रकृत् ।।१११
तद्भावमात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक् ।
जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥११२

महर्षि प्रवर श्री वसिष्ठजी ने कहा—उस महा निशा में—महान् विशाल अरण्य में उस महा राक्षसी कन्या के द्वारा इस प्रकार के महान् जटिल एवं गूढ़ प्रश्नों के करने पर उस समय मे महान् बुद्धिमान मन्त्री ने इनका उत्तर देने के लिये अपनी वाणी निकाली थी ।। १०६ ।। मन्त्री ने कहा—मैं सभी आपके द्वारा किये गये प्रश्नों का सामान्य रूप से उत्तर देता हूँ यह कहते हुए उसने कहा—हे कमल के समान नेत्रों वाली ! आपने जो भी कुछ प्रश्नों का समुदाय किया है इनके द्वारा यह परमात्मा ही कहा है और ब्रह्म के ज्ञाता पुरुष के बोध के योग्य यह आपकी वाणी है जो इस प्रकार से वचनों की विच्छित्ति से परिपूर्ण है वचनों के द्वारा न कहे जाने के योग्य होने से और अगम्य अर्थात् बुद्धि की पहुँच के परे होने से जिनमें छटी इन्द्रिय मन है ऐसे श्रोत्रादि इन्द्रियों की मर्यादा का साङ्कर्य दोष से रहित होते हुए पदार्थों के प्रकाशन करने में समर्थ आकाश से भी सूक्ष्म इस प्रकार का चिन्मात्र यह आत्मा अणु स्वरूप वाला है ।। १०८ ।। जो परम चित् अणु है उसके ही अन्दर में करोड़ों ब्रह्माण्डों के बुदबुदे हैं। स्थिति की शक्ति के अतिक्रम होने से ये प्रकट होकर स्थिति प्राप्त किया करते हैं और इसके अनन्तर उसी में लय को प्राप्त हो जाया करते हैं ।। १०९ ।। वहिर्भूत वस्तुओं के शून्य होने से चिद्रूप होने से ही भूताकाश नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म वस्तु अनिर्देश्य नहीं है अर्थात् निर्देश करने के अयोग्य है इसी कारण से वह अकिञ्चित् है और किञ्चित् नहीं होता है। उसकी कुछ भी वस्तु सत्ता नही है ।।११०।। यह चैतन्य प्रकाश स्वरूप परमात्मा है अतएव यह चेतन है किन्तु वस्तुतः यह ज्ञेय (जानने के योग्य) न होने से कल्पित वेद्य की सन्निधि में भी

और सृजन हुआ करता है। वेदान्त के वाक्यों की निष्ठा है अर्थात् लक्षण वृत्ति से पद वेदान्त वाक्यों की पर्यवसान भूमि है। शब्द प्रवृत्ति के हेतु स्वरूप जात्यादि के अभाव होने से वाणी के वह अगोचर होता है ॥११७॥ द्वैत और अद्वैत—इन दो कोटियों के अन्तराल में ब्रह्म स्थित है क्योंकि ये दोनों ही कोटियाँ अर्थात् द्वैत-अद्वैत के सिद्धान्त परस्पर में अपेक्षा होने से सिद्ध होते हैं। इन कल्पित कोटियों से विलक्षण एवं दोनों का अधिष्ठान होने से उन दोनों के मध्य में स्थित है। अथवा सत्-असत् इन दोनों कोटियों के मध्य में ब्रह्म स्थित है। यद्वा कार्यकारण की दो कोटियों या द्रष्टा-दृश्य की दो कोटियों अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब की दो कोटियों—या बन्ध और मुक्ति एवं नियम्य और नियामक की दो कोटियों के मध्य में स्थित ब्रह्म होता है। ये सभी कोटियाँ कल्पित होती हैं और इन सभी से विलक्षण है इसलिये ही इन सबके मध्य में उसकी स्थिति उपपन्न होती है। माया से कथित इन दोनों कोटियों से वह ब्रह्म परिपूर्ण है अर्थात् तन्मय ही है। इसका भावार्थ यह है कि वह इन दोनों ही कोटियों के स्वरूप वाला है। यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान स्वरूप जिसकी (ब्रह्म की) विवर्त भूतमयी लीला मात्र है अर्थात् विभिन्न रूपों में परिणत होने वाली लीला मात्र है अन्य कुछ भी नहीं है ॥११८॥ यह सम्पूर्ण विश्व उसी का एक दृश्य स्वरूप है। अतएव वह विश्वात्मक होते हुए भी अर्थात् सबका स्वरूप होकर भी उसकी एक स्वरूपता का खण्डन नहीं किया जाता है। सब अनेक रसों में उसका मायिक तादात्म्य है तथापि अर्थात् ऐसा होने पर भी उसका वास्तविक एक रसत्व निहत नहीं होता है। हे भद्रे! तूने उसी ब्रह्म को सन्मात्र एवं शाश्वत कहा है ॥ ११९ ॥

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा कर्कटी वनकर्कटी ।
अवबुद्धपदा तस्थौ जहौ मत्सरचापलम् । १२०
अन्तःशीतलतामेत्य सा विश्रान्तिमवाप ताम् ।

प्राप्ता प्रावृण्मयूरीव सज्योत्स्नेव कुमुद्वती ॥१२१
अहो बत पवित्रेयं भवतोर्भाति शेमुषी ।
अनस्तमितसारेण प्रबोधार्केण भासिता । १२२
विवेकिनो जगत्पूज्याः सेव्या मन्ये भवादृशाः ।
महतामेव संसर्गात्पुनर्दुःखं न बाधते ॥१२३
को हि दीपशिखाहस्तस्तमसा परिभूयते ।
मयैतो जाङ्गलं प्राप्तौ भवन्तौ भूमिभास्करौ ॥१२४
पूजनीयावतः शीघ्रमीहितं कथ्यतां शुभौ । १२५
प्रार्थये त्वामहं रक्षःकुलकाननमञ्जरि ।
भूयो भवत्या यत्प्राणा हिंसनीया न कस्यचित् ॥१२६

श्री वसिष्ठजी ने कहा—उस वन की मर्कटी कर्कटी ने राजा के मुख से इस प्रकार से ब्रह्म की व्याख्या का श्रवण किया था और अपनी मत्सरता से पूर्ण चपलता का उसने त्याग कर दिया था वह फिर अवरुद्ध पद वाली होकर स्थित हो गयी थी ॥ १२० ॥ उसने अपने अन्तःकरण में परम शीतलता को प्राप्त किया था और उसने उस प्रकार की विश्रान्ति प्राप्त की थी जैसी वर्षा ऋतु में मयूरी प्राप्त किया करती है और ज्योत्स्ना युक्त रात्रि में कुमुद्वती को प्राप्त हुआ करती है ॥ १२१ ॥ राक्षसी ने कहा—अहो ! बड़ी प्रसन्नता की बात है यह आप दोनों की बुद्धि परम पवित्र है—ऐसा प्रतीत होता है । वह आपकी बुद्धि कभी भी अस्त को न प्राप्त होने वाले सार से युक्त प्रबोध रूपी सूर्य से भासित हो रही है ॥ १२२ ॥ मैं ऐसा मानती हूँ कि आपके सदृश विवेक सम्पन्न पुरुष परम सेव्य एवं जगत् के परम पूज्य हुआ करते हैं । महान् पुरुषों के संसर्ग का बड़ा महत्व होता है क्योंकि महान् पुरुषों की सङ्गति प्राप्त होने से फिर कोई भी दुःख बाधा नहीं दिया करता है ॥ १२३ ॥ जिसके हाथ में दीपक की शिखा होती है वह कौन है जो कि अन्धकार से परिभव प्राप्त करे अर्थात् ऐसा कोई भी नहीं हुआ करता है । अपने हाथ में

दुष्कृत कर्म कार्य करने वाले और सैकड़ों तथा सहस्रों चोरों का वध करके मण्डलों से ला-लाकर के तुम्हारे लिये अर्थात् तुम्हारे राक्षस स्वरूप के भोजन के लिए मैं सुन्दर भोजन दिया करूँगा ॥१४०॥

> कान्तारूपं परित्यज्य गृहीत्वा तानशेषतः ।
> नयस्व हिमवच्छृङ्गं तत्र भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥१४१
> महाशनानामेकान्ते भोजनं हि सुखायते ।
> तृप्ति निद्रां मनाक्कृत्वा भव भूयः समाधिभाक् ॥१ २
> समाधिविरता भूयोऽप्यागत्य पुनरन्यदा ।
> नयस्वान्यान्वध्यतरान्हिंसा नैषां हि धर्मतः ॥१४३
> स्वधर्मेण च हिंसैव महाकरुणया समा ।
> त्वं समेष्यसि वावश्यं मां समाधिविरागिणी ।
> असतामपि संरूढं सौहार्दं न निवर्तते ॥१४४
> युक्तमुक्तं त्वया राजन्करोम्येवमहं सखे ।
> सौहार्देन प्रवृत्तस्य को वाक्यं नाभिनन्दति ॥१४५
> इत्युक्त्वा राक्षसी तत्र संपन्ना सा विलासिनी ।
> राजन्नागच्छ गच्छाम इत्युक्त्वा नृपमन्त्रिणौ ॥१४७

उस समय में आप सुन्दरी कान्ता के स्वरूप का परित्याग करके उन वध्य दुष्टों को ग्रहण करके इसी हिमवान् पर्वतके शिखरपर ले जाना और वहां सुखपूर्वक उनका भक्षण करना ।४१। जो इस प्रकार का महान् अशन करने वाले होते हैं उनका भोजन एकान्त स्थल में ही सुख दिया करता है वहांपर अपनी भोजन के द्वारा पूर्ण तृप्ति करके और थोड़ी-सी निद्रा करके फिर समाधि धारण करने वाली हो जाना ॥१४२॥ फिर समाधि से विरत होकर अन्य समय में यहीं पर आजाना और दूसरे वध के योग्य दुष्टों को ले जाना । धर्म की नीति से यह हिंसा नहीं हुआ करती है क्योंकि दुष्ट-जन तो वध करने के भागी धार्मिक दृष्टि से हुआ ही करते हैं ॥१४३॥ अपने धर्म का परिपालन करते हुए जो हिंसा भी होती है वह भी महती

करुणा के ही समान हुआ करती है। समाधि से जब भी विराग वाली तुष्ट हो जाओ मेरे पास अवश्य ही आया करोगी। सत्पुरुषों की तो बात ही क्या है जो असत्पुरुष हुआ करते हैं उनका भी संरूढ़ अर्थात् अच्छी तरह से बढ़कर दृढ़ हो जाने वाला सौहार्द (मित्रता का भाव) कभी निवृत्त नहीं हुआ करता है ॥१४४॥ राक्षसी ने कहा—हे राजन्! आप ने बहुत ही समुचित कहा है। हे सखे! मैं ऐसा ही करूँगी। सौहार्द से जो प्रवृत्त हो उसका वचन कौन अभिनन्दित नहीं करेगा अर्थात् मित्रों के वचनों का तो सभी अभिनन्दन किया करते हैं ॥१४५॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—यह कहकर वह राक्षसी वहाँ पर ही परम सुन्दरी विलास करने वाली बन गयी थी और उसने कहा था—हे राजन्! आओ, चलें। यह कह कर वह नृप और मन्त्री दोनों अपने आश्रम की ओर चलने को प्रवृत्त हो गये थे और उस रात्रि में उस निशाचरी ने भी उनका अनुसरण किया था। इसके अनन्तर वे सब परस्पर में मिलकर उसी रात में राजा के गृह में प्राप्त हो गये थे। ॥१४६-१४७॥

कथयैव गृहे रम्ये क्षपयामासुराहृताः।
प्रभातेऽन्तःपुरे तस्थौ पुरन्ध्रीजनलीलया ॥१४८
राक्षसी मन्त्रिराजानौ स्वव्यापारौ बभूवतुः।
ततो दिवसषट्केन सञ्चितानि महीभृता ॥१४९
नृपान्तरपुरेभ्योऽपि स्वमण्डलगणात्तदा।
त्रीणि वध्यसहस्राणि तानि तस्यै तदा ददौ ॥१५०
सा बभूव निशाकाले सैवोग्रा कृष्णराक्षसी।
तानि वध्यसहस्राणि जग्राह भुजमण्डले ॥१५१
ययौ राजानमापृच्छ्य तदैव हिमवच्छिरः।
ततःप्रभृति साद्यापि किरातजनमण्डले ॥१५२
वध्यानागत्य गृह्णाति समाधेर्व्युत्थिता सती ॥१५३

अत्यधिक आदर को प्राप्त करते हुए उन सबने कथा वार्ता से उस सुन्दर घर में उस रात्रि को व्यतीत किया था। प्रातःकाल होने पर राजा के अन्तःपुर में पुरन्ध्री जनों के साथ क्रीड़ा करते हुए स्थिति की थी ॥ १४८ ॥ वह राक्षसी नृप और मन्त्री के यहाँ अन्तःपुर में स्थित हो गयी थी और राजा-मन्त्री अपने व्यापार में व्यस्त हो गये थे। इसके पश्चात् छै दिन में उस नृप ने उस समय में अपने मण्डल गणों से और नृप के अन्तःपुरों से भी वध करने के योग्य तीन सहस्र व्यक्तियों को सञ्चित कर लिया था और फिर उन सबको उस निशाचरी को दे दिया था ॥ १४९, १५० ॥ वह राक्षसी निशा के समय में वैसी ही अत्यन्त उग्र काले रङ्ग की राक्षसी हो गयी थी और उसने उन तीन हजार वध करने के योग्य व्यक्तियों को अपने भुजाओं के समुदाय में ग्रहण कर लिया था ॥ १५१ ॥ फिर उस राजा से आदेश प्राप्त करके वह निशाचरी उसी समय में हिमालय पर्वत की शिखर पर चली गयी थी। उसी समय से लेकर अब तक भी किरात जन मण्डल में आकर वध के योग्य व्यक्तियों को वह ग्रहण कर लिया करती है और अपनी समाधि से उठकर वह आ जाया करती है ॥१५२-१५३॥



चतुर्थ सर्ग

एतत्ते सर्वमाख्यातं सूचीवृत्तान्तकीर्तनात् ।
आत्मैवास्ति परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः ॥१

सर्वं हि मन एवेदमित्थं स्फुरति सृष्टिषु ।
अत्रेदमैन्दवाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ॥२

राम ते कथयिष्यामि तदाख्यानमनिन्दितम् ।
चितिशक्तिसमुल्लासं निश्चिनोषि जगद्यतः ॥३

यदि उन राग-द्वेष आदि से विमुक्ति पाने वाला वही चित्त इस संसार का अन्त अर्थात् संसार की समाप्ति का साधन है। ऐसा ही कहा जाता है ॥ ५ ॥ किसी समय में समस्त सर्ग का दिवस के क्षय हो जाने पर संहार करके एकाग्र अर्थात् एकनिष्ठ चित्त वाले होते हुए भगवान् वेधा सुप्त होकर उस निशा को ले आये थे अर्थात् वेधा के शयन करने पर निशा आ गयी थी ॥ ६ ॥ निशा की समाप्ति होने पर संप्रबुद्ध आत्मा वाले होकर उन्होंने विधिपूर्वक सन्ध्योपासना की और फिर प्रजा का सृजन करने के लिये उन्होंने इस विशाल व्योम में भगवान् अज ने दोनों नेत्रों को योजित किया था ॥ ७ ॥

अथासौ दृष्टवांस्तत्र मनसा विततेऽम्बरे ।
पृथक्स्थितान्महारम्भान्सर्गान्स्थितिनिर्गलान् ॥ ८
तानालोक्य विशुद्धेन परेण स्वेन तेजसा ।
भृशं विस्मयमापन्नः किमेतत्कथमित्युत ॥ ९
अथालोक्य चिरं कालं मनसं तदाम्बवरे ।
सूर्यं तस्माज्जगज्जालादेकमानीय पृष्टवान् ॥ १०
कस्त्वं कथमिदं जातं जगज्जालं महाद्युते ।
यदि जानासि भगवंस्तदेतत्कथयानघ ॥ ११
इत्युक्तो वेधसा भानुर्भक्तिप्रह्वेण चेतसा ।
नमस्कृत्वाभ्युवाचेदमनिन्द्यपदया गिरा ॥ १२
अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य नित्यं कारणतामसि ।
गतस्तस्मान्न जानीषे किं मामीश्वर पृच्छसि ॥ १३
अथ मद्वाक्यसंदर्भैर्लीला चेत्तव सर्वग ।
अचिन्तितां मदुत्पत्तिं तच्छृणु त्वं वदाम्यहम् ॥ १४

इसके अनन्तर उनने इस महान् विस्तृत अम्बर में वहाँ पर मन से महान् आरम्भ वाले पृथक् स्थित बाधा से रहित स्थिति वाले इन सर्गों को देखा था ॥ ८ ॥ उन समस्त प्रपञ्चों के स्वरूप वाले सर्गों को देख

कर परम विशुद्ध अपने तेज से भगवान् वेधा परम विस्मय को प्राप्त हो गये थे कि यह क्या है और कैसे हो गया है ।। ६ ।। इसके अनन्तर चिर-काल तक उस समय में देखकर मन से ही उस अम्बर में उस जगत् के जल से एक सूर्य्य को लाकर उन्होंने उससे पूछा था—तुम कौन हो ? हे महान् द्युति वाले ! यह इस जगत् का जल कैसे समुत्पन्न हुआ है । हे भगवन् ! यदि आप जानते हैं तो हे अनघ ! मुझे यह सब बतलाइये ! ।। १०, ११ ।। भगवान् वेधा के द्वारा इस प्रकार से पूछे हुए सूर्य्यदेव ने भक्तिभाव से विनम्र चित्त से उनको प्रणाम करके अनिन्द्य पदों वाली अर्थात् परम सुन्दर वाणी से यह कहा था ।। १२ ।। हे ईश्वर ! यह आप मुझसे क्या पूछते हैं । इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के आप ही स्वयं नित्य कारणता को प्राप्त हुए हैं इसी से आप क्या इसको नहीं जानते हैं ।।१३।। हे सर्वत्र गमन करने वाले भगवन् ! यदि मेरे ही वचनों के सन्दर्भ से यह सब श्रवण करने की आपकी लीला ही है तो आप अचिन्तित मेरी उत्पत्ति को सुनिये । मैं उसे बतलाता हूं ।।१४।।

तले कैलासशैलस्य जम्बुद्वीपैककोणके ।
सुवर्णतटनाम्नाथ त्वत्पुत्रैर्जनितप्रभैः । १५
मण्डलं कल्पितं श्रीमदनल्पसुखसुन्दरम् ।
तत्राभूदतिधर्मात्मा ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।।१६
इन्दुनामातिशान्तात्मा कश्यपस्य कुलोद्भवः ।
तस्य प्राणसमा भार्या काचित्तस्या महात्मनः ।।१७
न बभूवात्मजस्तस्य मरुभूमौ तरुर्यथा ।
तौ ततो दम्पती खिन्नौ पुत्रार्थं तपसे गिरेः ।।१८
कैलासस्य समारूढौ शुचिव्रतपरायणौ ।
भूतैरनावृते शून्ये तस्मिन्कैलासकुञ्जके ।।१९
तेपतुस्तौ तपो घोरं जलाहारौ तरुस्थितौ ।
ततस्तुष्टोऽभवद्देवस्तयोः शशिकलाधरः ।।२०

आजगामाथ तं देशं यत्र तौ विप्रदम्पती ।
वरं विप्र गृहाणाशु तुष्टोऽस्मि तमुवाच ह ॥२१

कैलाश पर्वत के तल में जम्बूद्वीप के एक कोने में समुत्पादित प्रभाव वाले आपके ही मरीचि आदि पुत्रों ने सुवर्ण तट नाम से यह श्री सम्पन्न अत्यधिक सुख एवं सौन्दर्य से सम्वलित इस मण्डल की कल्पना की थी। वहाँ पर अत्यन्त ही धर्मात्मा ब्रह्म का पूर्णवेत्ता—अत्यन्त शान्त आत्मा वाला—कश्यप के कुल में समुत्पन्न इन्दु नाम वाला ब्राह्मण हुआ था। उसकी प्राणों के समान अत्यधिक प्यारी भार्या थी किन्तु उस भार्या में कोई भी पुत्र समुत्पन्न नहीं हुआ था जिस तरह से मरु (रेगिस्तान) भूमि में कोई भी वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ करता है। इनके अभाव में अत्यन्त वे दोनों स्त्री-पुरुष बहुत ही खिन्न हो गये थे और गिरि पर जाकर तपश्चर्या करने का विचार उन्होंने किया था॥ १.–१८॥ परम पवित्र व्रत और नियम में परायण होकर वे दोनों ही कैलास पर्वत पर तप करने के लिये समारूढ़ हो गये थे। वह स्थल ऐसा एकान्त था कि वहाँ पर कोई प्राणी नहीं था तथा वह कैलास गिरि की कुञ्ज नितान्त शून्य थी॥ १९॥ वहाँ पर उन दोनों दम्पती ने एक तरु के समान स्थिति करके केवल जल का आहार करने वाले होते हुए परम घोर तप किया था। इस उग्र तप के करने से चन्द्रमा की कला को धारण करने वाले भगवान् शिव उन दोनों पर परम प्रसन्न हो गये थे॥ २०॥ फिर भगवान् शङ्कर उसी स्थल पर स्वयं पधारे थे जहाँ पर ये दोनों विप्र दम्पत्ति तप में संलग्न थे। शम्भु ने कहा—हे विप्र! शीघ्र ही वरदान माँगलो, मैं प्रसन्न होगया हूँ॥२१॥

भगवन्देवदेवेश दश पुत्रा महाधियः ।
भव्या भवन्तु मे भूयः शोको येन न बाधते ॥२२
अथैवमस्त्विति प्रोच्य जगामान्तर्धिमीश्वरः ।
ततस्तौ दम्पती तुष्टौ वरं लब्ध्वा गृहं गतौ ॥२३

तत: कालेन सुषुवे दशपुत्रानिन्दितान् ।
ब्राह्मणी दश ते बाला: क्रमेण प्रौढिमाययु: ॥२४
अथ कालेन महता तेषां तौ पितरौ तदा ।
सजग्मतुस्तनुं त्यक्त्वा स्वां गतिं गतिकोविदौ ।
मातापितृभ्यां रहितास्ततस्ते ब्राह्मणा दश ॥२५
ययु: कैलासशिखरं गृहं संत्यज्य खेदिन: ।
तत्र संचिन्तयामासुरुद्विग्नास्ते विबान्धवा: ॥२६
किं स्यादिह परं श्रेय: किमिह स्याददु:खदम् ।
कियदेतज्जनैश्वर्यं सामन्तो हि महेश्वर: ॥२७
सामन्तसंपत्किनाम राजानो हि महेश्वरा: ।
का नाम संपद्भूपानां संम्राडिह महेश्वर: ॥२८

उस विप्र ने कहा—हे देवों के भी देवेश्वर भगवन् ! मेरे महान् बुद्धि सम्पन्न और अतीव उत्तम दश पुत्र होवें, जिससे मुझे पुन: यह शोक बाधा न देवे जो कि पुत्रों के अभाव में इस समय हो रहा है ॥२१॥ इसके अनन्तर भगवान् शम्भु इसी प्रकार से होवें—यह वर देकर वहीं पर अन्तर्हित हो गये थे। इसके उपरान्त वे दोनों दम्पत्ति परम सन्तुष्ट होकर वरदान प्राप्त कर अपने गृह को चले गये थे ॥ २३ ॥ इसके पश्चात् समय सम्प्राप्त होने पर उस ब्राह्मणी ने परम सुन्दर एवं निर्दोष दश पुत्रों का प्रसव किया था और वे दशों बालक क्रम से प्रौढ़ता को प्राप्त हो गये थे अर्थात् बड़े हो गये थे ॥ २४ ॥ इसके उपरान्त बहुत-सा समय व्यतीत हो जाने पर उन बालकों के वे दोनों माता-पिता जो कि गति के ज्ञाता थे। इस पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग करके अपनी गति को प्राप्त हो गये थे। फिर माता-पिता से रहित वे दश ब्राह्मण पुत्र बहुत ही खेद वाले होते हुए अपने गृह का त्याग करके कैलास पर्वत की शिखर पर चले गये थे। वहाँ पर बहुत ही उद्विग्न वे विप्र के विगत बान्धव बालक सोचने लगे थे ॥ २५ ॥ २६ ॥ यहाँ परम श्रेय क्या हो

सकता है और कौन-सी वस्तु दुःख न देने वाली हो सकती है। जनों का ऐश्वर्य कितना है। भगवान् महेश्वर तो समस्त ऐश्वर्यों के सामन्त हैं। ७। सामन्त की सम्पत्ति क्या होती है? राजा लोग ही महेश्वर हुआ करते हैं। इन भूपों की भी सम्पत्ति क्या है जो राजाओं का शासन करता है वह सम्राट कहा जाया करता है। ८॥

किं नाम संपत्साम्राज्यमिन्द्रस्तेषां महेश्वरः।
किं नाम तन्महेन्द्रत्वं यन्मुहूर्तं प्रजापतेः ॥२६
विनश्यति च यत्कल्पे किं तत्स्यादिह शोभनम् ॥३०
ऐश्वर्याणां हि सर्वेषामाकल्पान्ताविनाशि यत्।
रोचते भ्रातरस्तन्मे ब्रह्मत्वमिह नेतरत् ॥३१
युक्तमुक्तं त्वया तात सर्वदुःखापमार्जनम्।
शाधि तत्त्वं गतिर्नोऽद्य विरिञ्चित्वमवाप्तुमः ॥३२
पद्मासनगतो भास्वान्ब्रह्माहमिति तेजसा।
सृजामि संहरामीति ध्यानमस्तु चिराय वः ॥३३
अग्रजेनेति कथिता वाढं कृत्वा त उत्तमाः।
ध्यानाध्यीऽधियस्तत्र लिपिकर्मार्पितोपमाः ॥३४
अन्तःस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुराहृताः।
ब्रह्माहं जगतः स्रष्टा कर्ता भोक्ता महेश्वरः ॥३५

सम्राट का साम्राज्य वैभव भी क्या है अर्थात् यह भी कोई सर्व शिरोभूषण इतना विशाल वैभव प्राप्त करके नहीं होता है क्योंकि इनसे भी सम्पत्तिशाली महेश्वर इन्द्र होता है जो इनके भी ऊपर विराजमान हैं। वह महेन्द्र पद का वैभव भी तो कोई स्थायी ऐश्वर्य नहीं है क्योंकि यह महेन्द्र पद भी प्रजापति के एक ही मुहूर्त में विनष्ट हो जाया करता है क्योंकि प्रजापति के एक दिन में चौदह इन्द्र हो जाया करते हैं और यह इन्द्र केवल एक ही मुहूर्त मात्र तक इस त्रैलोक्य का शासन किया करता है तो फिर यहाँ पर परम शोभन क्या हो सकता है क्योंकि यह

सभी विशाल वैभवशालिता विनाशशील ही दिखलाई देती हैं ।२९, ३०। उन दशों में जो सबसे ज्येष्ठ भाई था वह बोला—हे भाइयो ! सभी ऐश्वर्य चाहे कोई कितना ही बड़े से भी बड़ा क्यों न हो कल्प के अन्त में विनष्ट हो जाने वाले हैं । अतएव मुझे तो परम कल्याणप्रद केवल एक ब्रह्मत्व ही सुहाता है अन्य इनके अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता है ।। ३१ ।। दूसरे भाइयों ने कहा—हे तात ! आपने समस्त दुःखों का अपमार्जन करने वाला ब्रह्मत्व बहुत ही युक्त बतलाया है । सो अब आप हमको अनुशासित कीजिए । अब तो आप ही हम सबकी गति हैं अर्थात् उद्धारक हैं । अब हम सब विरञ्चित्व के पद को प्राप्त करें ।३२। ज्येष्ठ भाई ने कहा—पद्मासन में स्थित होकर दीप्तिमान् मैं तेज से युक्त साक्षात् ब्रह्मा हूं और मैं ही इस सम्पूर्ण सर्ग का सृजन करता हूं तथा संहार भी किया करता हूं—इसी प्रकार का आप सबका ध्यान होना चाहिए अर्थात् ऐसा ही तुम सब चिरकाल तक ध्यान करो ।। ३३ ।। इस रीति से बड़े भाई के द्वारा कहे गये उन सबने 'बहुत अच्छा'—यह कहते हुए इस आदेश को स्वीकार कर लिया था और उत्तम सब भाइयों ने वहीं पर ध्यानावस्थित बुद्धि वाले हो गये थे जिस तरह चित्र में लिखित हों ऐसे ही एकदम ध्यान मग्न हो गये थे ।। ३४ ।। अन्तःस्थ मन से ही बहुत ही समाहित होकर उन सबने चिन्तन किया था कि मैं इस जगत् का सृजन करने वाला ब्रह्मा हूं और कर्त्ता एवं भोक्ता महेश्वर ही हूं ।। ३५ ।।

लोकपालपुरैः सार्धं भुवनानि चतुर्दश ।
निर्मितानि मयैतानि तेषामन्तरहं स्थितः ।।३६
अथ ते ब्राह्मणा एवं बद्धब्रह्मात्मभावनाः ।
देहान्विसस्मरुः पूर्वान्पूर्वभावनयार्पितान् ।।३७
अथ ते देहकाः सर्वे पवनैरातपेन च ।
कालेन शोषमभ्येत्य गलिताः शीर्णपर्णवत् ।।३८

स तेषां दशधा सर्गप्रतिभासोऽयमुत्थितः ।
भावनापरिपाकेन दश ते ब्रह्मतां गताः ॥३८

त एते दश संस्कारा मनोव्योमनि संस्थिता. ।
एषामन्यतमस्याहं भास्करोऽहर्निशाकरः ॥४०

इत्युक्त्वा वेधसं भानुर्जगाम निजमन्दिरम् ।
विरञ्चिरपि देवेशः स्वव्यापाररोऽभवत् ॥४१

इन सम त लोकों के पालकों के पुरों के साथ इन चौदह भुवनों को मैंने ही निर्मित किया है और उन सबके अन्तर में मैं स्थित रहता हूँ ॥ ३६ ॥ इसके अनन्तर इस तरह से ब्रह्मा के स्वरूप को अपने आप में भावना को बद्ध करके वे सब ब्राह्मण पूर्व भावना से युक्त अपने देहों को भी एकदम भूल गये थे ॥ ३७ ॥ उसके पश्चात् उन सबने अपने देहों को पवन से और आतप से अधिक समय में शोषित करके शीर्ण पत्तों की ही भाँति गला दिया था अर्थात् विनष्ट कर दिया था ॥ ३८ ॥ उनका ही दश प्रकार से यह सर्ग का प्रतिभास समुत्थित हुआ था । भावना के परिपक्व हो जाने पर वे दशों ब्रह्मता को प्राप्त हो गये थे । सुदृढ़ भावना का ऐसा ही महत्व होता है जो कि मन से ही की जाती है । अतएव मन को ही सबका कारण माना जाता है । इस मन पर पूर्ण नियन्त्रण होने पर सभी कुछ हो सकता है ॥ ३९ ॥ वे ही ये दश संस्कार मनरूपी व्योम में संस्थित हैं । उन्हीं में से मैं भी एक हूँ जो भास्कर नाम वाला दिन-रात्रि के बनाने वाला हूँ ॥ ४० ॥ इस प्रकार भगवान् वेधा से उस सूर्य ने कहा था और फिर वह अपने मन्दिर में चला गया था । देवों के स्वामी विरञ्चि भी अपने व्यापार में तत्पर होगये थे अर्थात् अपने कार्य में संलग्न होगये ॥४१॥



पञ्चम सर्ग

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः ।
मनःकृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ॥१
सामान्या ब्राह्मणा भूत्वा मनोभावनया किल ।
ऐन्दवा ब्रह्मतां याता मनसः पश्य शक्तिताम् ॥२
मनसा भाव्यमानो हि देहितां याति देहकः ।
देहभावनया मुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥३
नान्तर्मुखतया योगी देहे वेत्ति प्रियाप्रिये ।
इन्द्रस्याहल्यया सार्धमुदन्तोऽत्र निदर्शनम् ॥४
काहल्या भगवन्निन्द्रस्तव को वात्र संमतः ।
ययोरुदन्तश्रवणे पावनी दृष्टिरेति माम् ॥५
श्रूयते हि पुरा राम मागधेषु महीपतिः ।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यात इन्द्रद्युम्न इवापरः ॥६
तस्येन्दुबिम्बप्रतिमा भार्या कमललोचना ।
अहल्या नाम तत्रासीच्छशाङ्कस्येव रोहिणी ॥७

महा महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—इस कथित उपाख्यान का तात्पर्य दिखाते हुए महर्षि ने कहा था कि यह मन ही इन सम्पूर्ण जगतों का करने वाला है। इन जगतों को रचना करने वाला मन ही है और यह मन ही परपुरुष है। लोक में मन के द्वारा किया हुआ भली भांति किया हुआ होता है अर्थात् मन द्वारा किया हुआ ही सार्थक जाना जाता है। जो शरीर के द्वारा किया गया है वह कुछ भी किया हुआ नहीं है अर्थात् शरीर से किये हुए का कुछ भी सफल परिणाम नहीं होता है ॥१॥ साधारण ब्राह्मण होकर सामान्य ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करके ये दशों पुत्र मन की भावना से ही ऐन्दव (इन्दु के पुत्र) ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होगये थे। देखो, इस मन की कैसी विलक्षण शक्ति होती है

॥२॥ शरीर के द्वारा किये हुए कर्मों की फलवत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होने से शरीर से किया हुआ कर्म सार्थक नहीं होता है—यही सिद्धान्त तभी सार्थक होता है जब मन की भावना के बिना शरीरधारी होता है और जब देह के मन से भाव्य मान होता हुआ देहिता को प्राप्त होता है तो वह देहोचित कार्य करने वाला हुआ करता है। जो देह की भावना से विमुक्त होता है वह देह के धर्मों से (शीतोष्ण मानावमान आदि से) बाधित नहीं हुआ करता है ।३। योगी की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है अतएव अन्तर्मुखता से वह देह में जो प्रिय और अप्रिय है उसको नहीं जानता है। इसमें इन्द्र का अहिल्या के साथ जो उदन्त (वृतान्त) है वही निदर्शन है तात्पर्य यह है कि मनोभावना के होने पर शरीर में फल के पर्यवसान करने वाले भोजनादि कार्य के दर्शन से उसके न होने पर निर्विकल्पक समाधिक दशा में उसके न देखने से और स्वप्नावस्था में मनोमात्र स्वरूप वाले शरीर के द्वारा किये गये तृप्ति आदि के फल के पर्यवसान वाले भोजनादि के देखने से प्राप्त-अप्राप्त के विवेक से शरीर से किये हुए होने से उपलभ्यमान फल वाला कार्य स्वप्न में शरीर के द्वारा किए हुए कार्य की ही भांति मन के द्वारा किया हुआ ही होता है। मन ही प्रिय और अप्रिय के करने वाला है यह देह नहीं होता है। अतएव इस मन के निग्रह करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इसी की पुष्टि के लिये अन्य इन्द्र अहल्या का उपाख्यान दिया जाता है ॥४॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! यह अहल्या कौन है और इन्द्र कौन है जोकि यहाँ पर आपको सम्मत है ? जिन दोनों के वृतान्त के श्रवण करने से पावनी दृष्टि मुझको प्राप्त होगी ॥ ५ ॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम ! ऐसा श्रवण किया जाता है कि पुराने समय में मागध देशों में एक राजा हुआ था जोकि 'इन्द्रद्युम्न'—इस नाम से प्रसिद्ध था और वह दूसरा इन्द्रद्युम्न ही था अर्थात् इन्द्रद्युम्न के ही तुल्य था ॥६॥ उस इन्द्रद्युम्न राजा की भार्या कमलदल के समान सुन्दर नेत्रों वाली इन्दु के बिम्ब के ही समान

अहल्या नाम वाली हुई थी। वह चन्द्रमा की भार्या रोहिणी के ही तुल्य थी ॥ ७ ॥

तस्मिन्नेव पुरे पिङ्गः पिङ्गप्रकरशेखरः।
इन्द्रनामाऽपरः कश्चिन्नागरीणां प्रियोऽत्रसत् ॥८
साहल्याहल्यया सार्धमिन्द्रस्य यदभूत्पुरा ।
तदाकर्ण्येतिहासेभ्यस्तस्मिन्निन्द्रेऽन्वरज्यत ॥९
तयोर्घनतरस्नेहनिरावरणचेष्टयोः ।
स दुर्विनयवृत्तान्तो राजान्तिकमुपाययौ ॥१०
एवमन्योन्यमासक्तं भावमालोक्य भूपतिः ।
चकार बहुभिर्भेदैः स तयोरनुशासनम् ॥११
तावुभावपि संत्युक्तौ दुर्मतौ सलिलाशये ।
तुष्टौ जहसतुस्तत्र न खेदमुपजग्मतुः ॥१२
ग्रथितौ गजपादेषु न तौ श्रममुपागतौ ।
कशाभिस्ताड्यमानाङ्गौ नापतुः कामपि व्यथाम् ॥१३
ज्वालानिर्दह्यमानौ तौ स्थितौ हिमशिलास्विव ।
अपृच्छत ततो राजा खिन्नौ स्थो न तु दुर्मतौ ॥१४

पुराणों में प्रसिद्ध विष्णु व्रत परायण इन्द्रद्युम्न एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ उसी के तुल्य यह भी था—यह तात्पर्य है। उसी राजा के नगर में विटों के समुदाय में शिरोमणि एक विट था जिसका नाम इन्द्र था और यह भी दूसरा इन्द्र जैसा ही था जोकि नगर की रहने वाली नारियों का परम प्रिय था और वहाँ पर ही रहा करता था ॥८॥ उस राजा की भार्या अहल्या ने अहल्या (मुनि पत्नी) का इन्द्र (देवराज) के साथ पहिले अनुराग हुआ था—यह श्रवण करके अर्थात् इतिहासों से ज्ञान प्राप्त करके उस इन्द्र में अनुराग करने लगी थी ॥९॥ अत्यन्त गहरा स्नेह होजाने से निरावरण चेष्टा वाले उन दोनों का यह दुर्विनय का वृत्तान्त राजा के समीप में प्राप्त होगया था। उन दोनों की पारस्परिक

चेष्टायें आवरण शून्य अर्थात् स्पष्ट प्रकट थीं ॥१०॥ उस राजा ने उन दोनों की आपस में आसक्ति युक्त भावना को देखकर बहुत प्रकार के भेदों से उन दोनों का अनुशासन किया था ॥ ११ ॥ वे दोनों ही दुष्ट बुद्धि वाले जलाशय में संत्यक्त कर दिये गये थे किन्तु फिर भी वे दोनों बहुत प्रसन्न थे और वहाँ पर भी थोड़ा सा भी खेद उन्हें नहीं हुआ था और वे हँसते रहे थे ॥१२॥ हाथी के पैर में उन दोनों को बद्ध कर दिया गया था तो उन्हें कुछ भी श्रम या वेदना नहीं हुई थी। उनके शरीरों पर कोड़ों से प्रहार किया गया था तो भी ताड़ित अङ्गों वाले होते हुए भी उनको कुछ भी व्यथा प्राप्त नहीं हुई थी ॥ १३ ॥ अग्नि की ज्वाला से जलाये जाने पर भी वे दोनों हिम की शिला के समान ही दह्यमान होते हुए भी स्थित बने रहे थे। जब देखा कि वे दोनों दुष्ट बुद्धि वाले खिन्न नहीं होते हैं और वैसे ही स्थित बने रहते हैं तो फिर राजा ने उनसे पूछा था कि इसका क्या कारण है कि उन्हें कुछ भी वेदना का अनुभव कठिन से भी कठिन पीड़ा देने पर नहीं होता है ॥१४॥

अथ तौ धरणीपालमूचतुर्मुदिताशयौ ।
संस्मृत्यावामिहान्योन्यं मुखकान्तिमनिन्दिताम् ॥१५
आत्मानं न विजानीवो जातावन्योन्यतन्मयौ ।
मुह्यावो न महीपाल स्वाङ्गैरपि विकर्तितैः ॥१६
इष्टेऽर्थे चिरमाविष्टं क्वापि धीरं मनःकृतम् ।
भावं भावाः शरीरोत्था नृप शक्ता न बाधितुम् ॥ १७
आवां तन्न विजानीवो जातावन्योन्यतन्मयौ ।
भावितं तीव्रवेगेन मनसा यन्महीपते ॥१८
तदेव पश्यत्यखिलं न शरीरविचेष्टितम् ।
न काश्चन क्रिया राजन्मुनिशापादिका अपि ॥१९
तीव्रवेगेन सम्पन्नं शक्ताश्चालयितुं मनः ।
एककार्ये निविष्टं हि मनो धीरस्य भूपते ॥२०

न चाल्यते मेरुरिव प्रतिघातशतैरपि ॥२१

इसके अनन्तर मुदित आशय वाले उन दोनों (अहल्या और विटशिरोमणि इन्द्र) ने उस राजा से कहा था—हम दोनों ही यहाँ पर एक दूसरे प्रेमी का परस्पर में स्मरण करके अर्थात् अनिन्दित परम सुन्दर निर्दोष परस्पर में मुख की कान्तिका स्मरण करके हम दोनों प्रेमी-प्रेमिका अपने आपको नहीं जानते हैं और अन्योन्य तन्मय होजाया करते हैं अर्थात् एक दूसरे के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। हे महीपाल ! हम दोनों को अपने अङ्गों के विशेष रूप से काटे जाने पर भी कोई उस परम गहन प्रेम की तन्मयता में कोई मोह नहीं होता है इसलिये वेदना का कुछ भी अनुभव ही नहीं होता है ॥१५ १ ॥ अपने परम अभीष्ट अर्थ में चिरकाल तक आविष्ट मन के द्वारा किया हुआ धीर भाव को हे नृप ! शरीर से उठने वाले भाव कहीं भी बाधा देने में समर्थ नहीं होते हैं। हम दोनों ही अन्योन्य अर्थात् एक दूसरे में तन्मय हो जाते हैं और हमको अन्य कोई भी ज्ञान नहीं रहता है। अतएव हे महीपते ! तीव्र वेग वाले मन के द्वारा जो भावित है उसी को सर्वत्र सबमें यह मन देखा करता है और शरीर की विशेष चेष्टायें नहीं दिखलाई देती हैं। हे राजन् ! मुनि आदि की शाप आदि की भी कोई क्रियाएँ तीव्र वेग से सम्पन्न मन को विचलित करने में समर्थ नहीं हुआ करती हैं। हे भूपते ! धीर पुरुष के एक कार्य में निविष्ट मन को सैकड़ों ही प्रतिघातों के द्वारा भी मेरु पर्वत की भाँति चालित नहीं किया जाता है ॥१७—२१॥

राजञ्शरीरकलनानि वृथोत्थितानि
चेतो हि कारणममीषु शरीरकेषु।
वारीव सर्ववनखण्डलतारसेषु
मुख्यं शरीरमिह विद्धि मनो महात्मन् ॥२२
देहेऽक्षते विविधदेहगणं करोति
स्वप्नावनाविव नवं नवमाशु चेतः।

चित्तेऽक्षते तु न करोति हि किंचिदेव
देहस्ततः समनुपालय चित्तरत्नम् ॥२३
ताभ्यां तथैवमुक्तोऽसौ राजा राजीवलोचनः।
मुनि भरतनामानं पार्श्वस्थं समुवाच ह ॥२४
भगवन्सर्वधर्मज्ञ परमार्थरसस्पृशः।
रमयन्त्येव चेतांसि गिरः कामान्धयोरपि। २५
शासितौ च यथाशास्त्रमेनौ निर्वासयाम्यहम्।
इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तावुभौ निरवासयत्। २६

हे राजन्! ये समुत्थित शरीर की कल्पनाऐं व्यर्थ ही हैं क्योंकि इन शरीरों में चित्त ही प्रमुख कारण होता है। सभी वन की लताओं में रस के रूप में जिस तरह से जल ही हुआ करता है वैसे ही हे महात्मन्! यहाँ पर मन को ही मुख्य शरीर जानना चाहिये ॥२२॥ स्वप्न की भूमि में देह के अक्षत होने पर जिस तरह से यह मन शीघ्र ही नयानया विविध देहों के गण को किया करता है वैसे चित्त के अक्षत होने पर यह देह कुछ भी नहीं किया करता है। अतएव चित्त रत्न का ही समनुपालन करो। यही परम मुख्य है ॥२ ॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—उन दोनों (अपनी पत्नी और उसका प्रेमी) के द्वारा इस प्रकार से कहे जाने पर राजीव लोचन उस राजा ने पास में स्थित भरत नाम वाले मुनि से कहा था हे भगवन्! आप तो परम सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता हैं। परमार्थ रस विषया इन दोनों कामान्धों की वाणियाँ इनके चित्तों को रमण ही कराती हैं। मैंने इन दोनों को शास्त्रानुसार शासित किया है। अब मैं इन दोनों को देश से निर्वासित कर देता हूँ। इतना कहकर उस राजा शार्दूल ने उन दोनों को अपने देश से बाहर निकाल दिया था ॥२४॥—॥२६॥



सष्ठ सर्ग

एतत्ते कथितं राम मयाख्यानकलीलया ।
सर्व एव जगत्यस्मिन्द्विशरीराः शरीरिणः ॥१
एकं मनःशरीरं तु क्षिप्रकारि चलं सदा ।
अकिंचित्करमन्यच्च शरीरं मांसनिर्मितम् ॥२
विस्तरेण मम ब्रह्मञ्जडस्यास्य निराकृतेः ।
रूपमारूढसंकल्पं मनसो वक्तुमर्हसि । ३
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
संकल्पशक्तिखचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥४
भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः ।
कलनोन्मुखतां यातस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥५
यतःकुतश्चिदुत्पन्नं चित्तं यत्किंचिदेव हि ।
नित्यमात्मविमोक्षाय योजयेन्मुक्तियुक्तिषु ॥६
अत्रेदं चित्तमाख्यानं कथयामि तवानघ ।
यदाख्यातं भगवता पुरा पङ्कजजन्मना ॥७

महर्षि प्रवर श्री वसिष्ठजी ने कहा—अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थ को जो एक आख्यान के रूप में विस्तार से बताया गया था अब उसी को संक्षेप में समझाते हुए कहते हैं—हे श्रीराम ! मैंने एक उपाख्यान की लोला से आपको यह सब बतलाया है जिसका सार यही है कि इस जगत् में सभी शरीरधारी दो शरीरों वाले हुआ करते हैं ॥ १ ॥ एक यह मन रूपी शरीर है जो बहुत ही शीघ्र कार्य करने वाला और सदा चल रहता है । जो दूसरा हाड़-मांस का बना हुआ शरीर है वह तो कुछ भी करने वाला नहीं है ॥२॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस बिना आकार वाले-जड़ मन का विषय में जो समारूढ़ संकल्प वाला पूर्णतया इसका रूप क्या है—यह आप बतलाने के योग्य हैं ॥३॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—इस सम्पूर्ण शक्ति वाले महात्मा औप अनन्त आत्मतत्व का जो सङ्कल्पों से खचित स्वरूप होता है वही मन समझ लेना चाहिये ॥ ४ ॥ जो आत्मा समस्त पदार्थों में रहती हुई प्रतीत होती है और जिसकी माया सबकी कारणभूत है उसी आत्मा का सङ्कल्पों की शक्ति से संश्लिष्ट जो कल्पित स्वरूप होता है वही मन होता है—यह स्पष्ट आशय है। स्वभाव से ही चञ्चल मनुष्यों का जो भाव है वही सङ्कल्पोन्मुख जब होता है तो सत् और असत् के मध्य में चलायमान हुआ करता है ॥५॥ जिस किसी अविचारित रमणीय कारण से उत्पन्न जो कुछ भी अविचारित रमणीय ही होता है वह जब भलीभाँति विचार का विषय होता है तो छाया से कल्पित वेताल की तरह ही विशीर्ण हो जाया करता है। अतएव आत्मा की विमुक्ति के लिये नित्य ही उसके ही चिन्तन आदि लक्षण वाले मोक्ष के उपायों में उसको योजित करना चाहिए। अविचारित रमणीय और विचार से विशरारु मन ही संसार का कारण है। इसलिये इस संसार की निवृत्ति के लिये उसी मन को योजित करे ॥ ६ ॥ हे अनघ! यहाँ पर इसी विषय में मैं इस चित्त का एक आख्यान आपको बतलाता हूँ जिसको पहिले भगवान कमल से समुत्पन्न ब्रह्माजी ने स्वयं ही कहा था ॥७॥

अस्ति रामाटवी स्फारा शून्याऽशान्तातिभीषणा।
योजनानि शतं यस्यां यक्ष्यते कोणमात्रकम् ॥८
अस्यामेको हि पुरुषः सहस्रकरलोचनः।
पर्याकुलमतिर्भीमः संस्थितो विकृताकृति ॥९
स सहस्रेण बाहूनामादाय परिघान्बहून्।
प्रहरन्नात्मनः पृष्ठे स्वात्मनैव पलायते। १०
दृढप्रहारैः प्रहरन्स्वयमेवात्मनात्मनि।
प्रविद्रवति भीमात्मा स योजनशतान्यपि। ११
क्रन्दन्पलायमानोऽसौ गत्वा दूरमितस्ततः।
श्रमवान्विवशाकारो विशीर्णचरणाङ्गकः ॥१२

पतितोऽवश एवाशु महत्यन्धोऽन्धकूपके ।
कृष्णरात्रितमोभीमे नभोगम्भीरकोटरे ॥१३
ततः कालेन बहुना सोऽन्धकूपात्समुत्थितः ।
पुनः प्रहारैः प्रहरन्विद्रवत्यात्मनात्मनि ॥१४
पुनर्दूरतरं गत्वा करञ्जवनगुल्मकम् ।
प्रविष्टः कण्टकव्याप्तं शलभः पावकं यथा ॥१५

हे राम ! यह एक अटवी है अर्थात् जिसमें जीव अटन किया करते हैं वह अटवी संसार पदवी है। और यह संसार रूपिणी अटवी बहुत विस्तार वाली है—यह शून्य भी है क्योंकि समस्त पदार्थों से रहित है। सभी पदार्थ जो दिखलाई देते हैं वे सभी मायिक हैं इसीलिये सार॰ वत्ता न होने से शून्य है। यह अशान्त है। इसमें शान्ति का एक दम अभाव है। यह भीषण है अर्थात् इसमें फंसे रहने से पतन ही इसका परि- णाम हुआ करता है। यहीं पर शान्त–भीषण और शून्य कहकर तीनों सत्त्व–रज और तम इन गुणों से परिपूर्ण संसार पदवी को बतलाया है। जिसमें सैकड़ों ही योजन के कोणमात्र दिखलाई दिया करते हैं ॥ ८ ॥ इसमें एक पुरुष जो सहस्रों करों और लोचनों वाला है रहता है जिसकी मति पर्याकुल है—भीम एवं वितत् आकृति से युक्त है। यहाँ पर 'पू' का अर्थ शरीर है उसमें शयन करने वाला पुरुष है। अथवा बहुत अवसन्न रहता है इसलिये पुरुष है। वह मन ही है। इसमें अनन्त जो विषयाकार वृत्तियाँ हैं उन्हीं को कर और लोचनों के रूप में बतलाया गया है क्योंकि यह चित्त अनन्त आकृतियों वाला होता ही है ॥ ९ ॥ यह पुरुष अपनी सहस्रों बाहुओं से बहुत से परिघों को ग्रहण करके आत्मा के अर्थात् अपने ही पृष्ठ पर प्रहार करता हुआ अपने ही स्वरूप से पलायित हो जाता है। मन में जो बुरी २ कल्पनायें उठती रहा करती हैं उनको ही ही बाहु बतलाया है। जो अनेक योनियों से वाहन किया करती हैं अत- एव ये कुकल्पनाऐं ही सहस्रों बाहुऐं हैं। सब ओर से हनन करने वाले परिघ हैं जो आध्यात्मिक दुःखों के हेतुओं के लेकर आत्मा को क्लेशित

किया करता है। कुकल्पनाओं से प्राप्त दुःखों के हेतुओं से डरता है। यह डरना ही इसका पलायन है ॥१०॥ यह मन स्वयं ही विभिन्न कुकल्पनाओं के द्वारा विषयासक्त होकर दृढ़ प्रहारों से अपने ही आप में प्रहत करता हुआ भीम (भीषण) स्वरूप वाला होता हुआ सैकड़ों योजनों तक दौड़ लगाया करता है अर्थात् सैकड़ों निकृष्ट योनियों में जन्म लेता रहता है ।११। यह इधर—उधर रुदन करता हुआ अर्थात् विभिन्न योनियों में जाकर सांसारिक यातनाओं से रोता हुआ दूर तक जाता है और श्रान्त होकर विवश आकार वाला हो जाया करता है तथा इसके समस्त अङ्ग और चरण विशीर्ण होजाते हैं ॥१२॥ अपने दुष्कर्मों के द्वारा जो स्वयं ही सङ्कल्पों से किये हैं अवश होकर यह अन्धा अर्थात् विवेक से रहित गहन नरक में शीघ्र ही गिर जाया करता है। वह नरक काली रात्रि के घोर अन्धकार से युक्त एवं भीषण है। कुत्सित दुःख जिसमें प्राप्त होते हैं इसलिये अन्धकूप कहा गया है। यह नभोमण्डल के तुल्य अपरिच्छेद्य अभ्यान्तर अवकाश वाला है ॥१३॥ बहुत समय तक नरकों में यातनाऐं भोगकर फिर वहाँ से अर्थात् अन्धकूप से वह उठता है तथापि इसे ऐसी असह्य यातना भोग कर भी विवेक नहीं होने के कारण से पुनः यह प्रहारों से अपने ही आप अपने आपको प्रहत करता हुआ दौड़ लगाया करता है। कुत्सित सङ्कल्पों से कृत दुष्कृतों के परिणाम स्वरूप विविध योनियों में दूर—दूर तक जन्म ग्रहण करता रहता है। जिस तरह शलभ स्वयं ही अग्नि में गिरकर भस्मसात् होजाता है वैसे ही यह आप ही स्वयं ही स्वकर्मकृत परिपाकों से करञ्ज के वनों में काँटेदार झाड़ियों में प्रविष्ट होजाया करता है अर्थात् अनेक कंटकवत् दुःखद योनियों में पड़ा रहा करता है ।।१०।१५।।

तस्मात्करञ्जगहनाद्विनिष्क्रम्य क्षणादिव ।
पुनः प्रहारैः प्रहरन्विद्रवत्यात्मनात्मनि ॥१६
पुनर्दूरतरं गत्वा शशाङ्ककरशीतलम् ॥१७

कदलीकाननं कान्तं संप्रविष्टो हसन्निव ।
कदलीखण्डकात्तस्माद्विनिष्क्रम्य क्षणात्पुनः ॥१८
स्वयं प्रहारैः प्रहरन्विद्रवत्यात्मनात्मनि ।
पुनर्दूरतरं गत्वा तमेवान्धोऽन्धकूपकम् ॥१९
स संप्रविष्टस्त्वरया विशीर्णावयवाकृतिः ।
अन्धकूपात्समुत्थाय प्रविष्टः कदलीवनम् ॥२०
कदलीकाननाच्छुभ्रं करञ्जवनगुल्मकम् ।
करञ्जकाननात्कूपं कूपाद्रम्भावनान्तरम् ।२१
प्रविष्टः प्रहरं स्वयमेवात्मनि स्थितः ।
एवंरूपनिजाचारं समालोक्य चिरं मया ॥२२

फिर उस कंजों की कण्टकावृत झाड़ियों से अर्थात् दुःखाकीर्ण स्थलों से निकल कर फिर भी अपने ही आप प्रहार करके विद्रुत हुआ करता है और चन्द्रमा की किरणों से शीतल दूर देशस्थ स्थल मे गमन किया करता है अर्थात् कभी कभी सद्योनि में जन्म ग्रहण करता है जहाँ पर कुछ सुख-शान्ति इसे प्राप्त होती है। कभी यह कदली के वन में प्रवेश करता है जो परम सुन्दर है और उसमें प्रसन्न होते हुए प्रवेश करता है किन्तु कुछ ही क्षणों में उस कदली खण्ड के समान सुखद योनि से निकल कर फिर स्वयं ऐसे प्रहार अपने आप पर ताड़ना करता हुआ प्रताड़ित होकर इधर-उधर भागता है और पुनः अधिक दूर जाकर वह अन्धा (विवेक हीन) उसी अन्धकूप नरक में प्रवेश किया करता है ॥१८॥—॥१९॥ बड़ी तेजी के साथ उस अन्धकार में प्रविष्ट होकर विशीर्ण अवयवों और अङ्गों वाला होजाया करता है अर्थात् नारकीय यातनाओं के भोगने से उसके समस्त अङ्ग विशीर्ण हो जाते हैं। उस कदलियों के वन में अन्धकूप से समुत्थित होकर प्रवेश किया करता है उस कदली कानन से शुभ्र करञ्जों की कण्टकित झाड़ियों के वन में प्रविष्ट होता है और वहाँ से भी फिर अन्धकूप में और कूप से कदली वन में प्रविष्ट होता हुआ स्वयमेव प्रहार करता हुआ आत्मा में ही

स्थित रहा करता है। इस प्रकार के अपने आचार को मैंने चिरकाल तक देखा था ॥२०—२२॥

अवष्टभ्य बलादेव मुहूर्तं प्रतिबोधितः।
पृष्टश्च कस्त्वं किमिदं केनार्थेन करोषि च ॥२३
किं च वाभिमतं ते स्यात्किं मुधा परिधावसि।
इति पृष्टेन कथितं तेन मे रघुनन्दन ॥२४
नाहं कश्चिन्न चैवेदं मुने किंचित्करोम्यहम्।
त्वयाहमवमग्नोऽस्मि त्वं मे शत्रुरहो बत ॥२५
त्वया दृष्टोऽस्मि नष्टोऽस्मि दुःखाय च सुखाय च।
इत्युक्त्वा विक्लवान्यङ्गान्यालोक्य स्वान्यतुष्टिमान् ॥२
रुरोदार्तिरवं दीनो मेघो वर्षन्निवारवी।
क्षणमात्रेण तत्रासावुपसंहृत्य रोदनम्।
स्वान्यङ्गानि समालोक्य जहास प्रसभं चिरम् ॥२७
अथाट्टहासपर्यन्ते संभ्रमात्पुरतो मम।
क्रमेण तानि तत्याज स्वान्यङ्गानि समन्ततः ॥२८

विवेक के द्वारा तुरन्त ही बलपूर्वक चित्त को आक्रान्त किया था और मुहूर्तमात्र में प्रतिबोधित हो गया था। वसिष्ठ शब्द से तेज कहा गया है। इस तरह से वसिष्ठ शब्द की व्युत्पत्ति से वसिष्ठ का वाचक मैंने ही अपना आचार देखा था—ऐसा वसिष्ठ जी ने कहा था। हे रघुनन्दन! मैंने अर्थात् तेज स्वरूप ने उस मन से पूछा था—तू कौन है-यह क्या है और इसको किस प्रयोजन से करता है? तेरा अभिमत क्या है और तू व्यर्थ ही क्यों सब ओर दौड़ लगा रहा है? जब मैंने अर्थात् तेज स्वरूप ने उससे पूछा तो उसने मुझसे कहा था। हे विवेक मुने! (यह चित्त अविचारित रमणीय होता है अतः उसके कार्यादिक भी विवेक द्वारा मृदित होने पर असत् ही होते हैं) तूने मुझे अवमग्न कर दिया है अतएव बहुत खेद है कि तुम मेरे शत्रु ही हो ।२३॥—॥२५॥ तुम विवेक ने मुझे वश में कर लिया है और सुख तथा दुःख के लिये मैं

तेरे द्वारा नष्ट कर दिया गया हूँ। चित्त ने यह कहकर अपने विक्लव अङ्गों को देखकर बहुत ही अतुष्टि प्रकट की थी ॥२६॥ वह आधा विवेक प्राप्त करने से भोगों को त्यागने में असमर्थ होता हुआ चित्त अत्यन्त सन्ताप करने लगा था और वह दीन होकर बड़ी ऊँची आवाज से रोया था जैसे बहुत गर्जन की ध्वनि करने वाला मेघ मानो बरष रहा हो। क्षणमात्र में ही वहाँ पर इस चित्त ने अपना रुदन समाप्त किया था। फिर वहाँ पर यह क्षणमात्र के समय में ही अपने अङ्गों को भलीभाँति देखकर अर्थात् अहङ्कार लक्षण वाले अङ्गों को देखकर परमानन्द प्राप्त होने से चिरकाल तक बलात् हँसा था अर्थात् उसको परम सन्तोष हुआ था ॥२७॥ इसके अनन्तर मेरे (विवेक के) आगे सम्भ्रम से अट्टहास पर्यन्त में चारों ओर से उसने अपने अङ्गों का त्याग कर दिया था ॥२८॥

प्रथमं पतितं तस्य शिरः परमदारुणम् ।
ततस्ते बाहवः पश्चाद्वक्षस्तदनु चोदरम् ॥२९
अथ क्षणेन स पुमान्स्वान्यङ्गानि यथायथम् ।
संत्यज्य नियतेः शक्त्या क्वापि गन्तुमुपस्थितः ॥३०
दृष्टवानहमेकान्ते पुनरन्यं तथा नरम् ।
प्रहरं तं भ्रमन्तं च पर्याकुलतरान्तरम् ॥३१
स मया संमुखीकृत्य परिपृष्टस्तथैव हि ।
तेनैवासौ क्रमेणैव रुदित्वा संप्रहस्य च ॥३२
अङ्गं विशीर्णतामेत्य ययावलतलक्ष्यताम् ।
दृष्टवानहमेकान्ते तथैवान्यः क्वचिन्नरः ॥३३
पलायमानः पतितो ह्यत्यन्तान्धोऽन्धकूपके ।
तत्राहं सुचिरं कालमवसंस्तत्प्रतीक्षकः ॥३४
अथासौ सुचिरेणापि कूपान्नाभ्युत्थितः शठः ।
दृष्टवान्पुनरन्यं च प्रपतन्तमितस्ततः ॥३५

सबसे प्रथम उस चित्त का अहङ्कार के लक्षण वाला परम भीषण

शिर पतित हुआ था। इसके पश्चात् कुकल्पना लक्षण वाली वाहुऐं गिरीं फिर अर्थ की आशा रखने के स्वरूप वाला वक्षःस्थल पतित हुआ और इसके उपरान्त उदर का पतन हुआ था ॥२६॥ इसके पश्चात् उस पुमान् ने क्षणमात्र में ही नियति की शक्ति से अपने अङ्गों को यथातथ भली-भांति से त्याग करके कहीं पर भी गमन करने को उद्यत होगया था ॥३०॥ मैंने पुनः एकान्त में उसी प्रकार के एक अन्य नर को देखा था जिसका अन्तर भयाकुलित था और प्रहार करता हुआ भ्रमण करता था ॥ ३१ ॥ मेरे द्वारा वह मनुष्य सामने होने पर पूछा गया था और उसी भांति से उस क्रम से ही उसने भी रुदन करके और हँसकर समस्त अपने अङ्गों से विशीर्णता प्राप्त की थी और फिर वह अलक्ष्य हो गया था। इसके उपरान्त कहीं पर उसी प्रकार से एकान्त में एक अन्य नर देखा था जो पलायन करता हुआ अन्धा (विवेक शून्य) अन्धकूप में गिर गया था। वहाँ पर मैं चिरकाल पर्यंन्त उसकी प्रतीक्षा करता हुआ स्थित रहा था अर्थात् मैंने निवास किया था ॥३२–३४॥ इसके अनन्तर देखा कि बहुत समय तक भी वह शठ कूप से नहीं उठा था। फिर एक दूसरे को इधर-उधर गिरते हुए देखा था ॥३५॥

अवष्टभ्य तथैवाशु तस्य प्रोक्तं चिरं मया।
दुर्मतिर्मामसौ मूढ नैव जानासि किंचन।
अपेहि दुर्मतेऽत्युक्त्वा स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥३६
एवं तस्मिन्महारण्ये बहवस्तादृशा नराः।
परिभ्रमन्तस्तिष्ठन्ति विद्यतेऽद्यापि साटवी ॥३७
सा भीषणा विविधकण्टकसङ्कटाङ्गी
घोराटवी घनतमोगहनापि लोकैः।
आगत्य नित्यमनिशं निजाववोधै-
रासेव्यते कुसुमगुल्मकवाटिकेव ॥३८
कासौ महाटवी ब्रह्मन्कुत्र वा दृश्यतेऽनघ।
के च ते पुरुषास्तत्र किं वा कर्तुं कृतोद्यमाः। ३९

रघुनाथ महाबाहो शृणु वक्ष्यामि तेऽखिलम् ।
न सा महाटवी राम दूरे नैव च ते नराः ॥४०
सेयं संसारपदवी गम्भीरापारकोटरा ।
तां त्वं शून्यविकाराढ्यां विद्धि राम महाटवीम् ॥४१
तत्र ते तु महाकाराः पुरुषाः प्रभ्रमन्ति हि ।
मनांसि तानि विद्धि त्वं दुःखे निपतितान्यलम् ॥४२

तात्पर्य यह है कि महान् पातकों से युक्त मन अन्धकूप नामक नामक नरक में गिरा था और अत्यन्त दीर्घकाल में भी वह नहीं निकला था। मैंने अवष्टम्भ करके उसी भाँति से शीघ्र ही चिरकाल तक उससे कहा था—हे मूढ़ ! तू बड़ा ही दुर्मति है मुझको कुछ भी नहीं जानता है। अर्थात् शुद्धि के लेश से रहित आत्मा को न जानने वाले अन्य मन ने अपने विवेक का तिरस्कार कर दिया था। वह दुर्मति मुझसे यह कह कर अपने व्यापार में तत्पर हो गया था। उसने मुझसे कह दिया था—हे मूढ़ ! कुछ भी नहीं जानते हो, मेरे पास से हट जाओ ॥ ३६ ॥ इस रीति से उस महान् विशाल अरण्य में उस प्रकार के बहुत से मनुष्य हैं। इधर–उधर भ्रमते हुए वहाँ पर ही स्थित हैं। वह अटवी आज तक भी विद्यमान है ॥ ३७ ॥ वह महाटवी बहुत ही अधिक भीषण है। वह अनेक दुःखों के स्वरूप वाले काँटों से सबाध वाले अङ्गों से युक्त है घने अज्ञान से परम गहन अर्थात् दुष्प्रवेग वाली है। वह अत्यन्त गहनतम से गहन भी है तो भी जिन्होंने आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं किया है ऐसे प्राणियों के द्वारा सुख प्राप्त करके चारों ओर से सेवन की जाया करती है। जिस तरह से कोई कुसुमों से युक्त झाड़ियों की वाटिका के ही समान सेवित होती है ॥ ३८ ॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह महाटवी कहाँ पर है और हे अनघ ! यह कहाँ पर दिखलाई दिया करती है ? वे पुरुष कौन हैं और क्या करने के लिये वे उद्यम वाले हैं ? ॥ ३९ ॥ महामहर्षि वसिष्ठजी ने कहा—हे रघुनाथ ! हे महान् बाहुओं वाले ! मैं आपको यह सभी बतलाऊँगा। आप श्रवण कीजिए। हे राम ! वह महाटवी और वे नर कहीं दूर नहीं हैं ॥ ४० ॥ यह वही

सम्भारों की पदवी परम गम्भीर और अपार कोटरों वाली है। असत्-कार्यों से समन्वित हे राम! आप उसी को महाटवी समझ लीजिए। ॥ ४१ ॥ उस महाटवी में वे पुरुष जो महान् आकार वाले भ्रमण किया करते हैं और अत्यधिक दुःखों में पड़े हुए हैं आप उनको मन ही समझ लो ॥४२॥

द्रष्टा योऽयमहं तेषां साविवेको महामते।
मया तान्यवबोध्यन्ते विवेकेन मनांसि हि ।४३
परं बोधं समासाद्य मत्प्रसादान्महामते।
मनांसि कानिचित्तानि गतान्युपशमं परम् ॥४४
कानिचिन्नाभिनन्दन्ति मां विवेकं विमोहिताः।
मत्तिरस्कारवशतः कूपेष्वेव पतन्त्यधः ॥४५
ये तेऽन्धकूपा गहना नरकास्ते रघूद्वह।
कदलीकाननं स्वर्गः करञ्जो मर्त्यमण्डलम् ॥४६
प्रविष्टान्यन्धकूपान्तर्निर्गतानि भयानि तु।
महापातकयुक्तानि नरके तानि सर्वदा ॥४७
यत्तत्करञ्जगहनं तत्कलत्ररसाविलम्।
दुःखं कण्टकसम्बाधं मानुष्यं विविधंपराम् ।४८
यैरहं पुंभिरबुधैर्दुर्विजेति तिरस्कृतः।
तैर्मनोभिरनात्मज्ञैः स्वविवेकस्तिरस्कृतः ॥४६

हे महामते! जो यह उनका द्रष्टा है अर्थात् मैं हूँ वह विवेक ही है। मुझ विवेक के द्वारा वे मन अवबुद्ध किये जाया करते हैं ॥४२-४३॥ हे महामते! मेरे ही प्रसाद से परम बोध प्राप्त करके कुछ मन और वे चित्त परम उपशम को प्राप्त हो गये हैं ॥ ४४ ॥ कुछ विशेष मोह से युक्त हुए मुझ विवेक को अभिनन्दित नहीं किया करते हैं और मेरे तिरस्कार करने के कारण ही कूपों में अधःपात को प्राप्त हुआ करते हैं ।४५। हे रघूद्वह! जो पतन प्राप्त करने के अन्धकूप बतलाये हैं वे महान् गहन नरक ही हैं। कदली का कानन जो बतलाया है वह स्वर्ग है और करञ्ज

वन यह मर्त्यों का मण्डल अर्थात् मृत्युलोक है जिसमें अनेक कष्टरूपी कांटे विद्यमान हैं। अन्धकूप से निर्गत भय प्रविष्ट होते हैं। जो महा पातकों से युक्त होते हैं वे तो हमेशा ही नरक में निवास कर नारकीय यातनायें सहन किया करते हैं। उनका कभी भी नरकों से छुटकारा नहीं होता है ॥ ४७ ॥ जो करञ्जों से गहनता बतलाई है वह कलत्र और स्त्री के राग से कलुषित है। यह मनुष्य जीवन विविध ऐषणाएँ रखने वाला है और ये ही अनेक प्रकार के कण्टक हैं जिनसे यह मनुष्य का जीवन घिरा हुआ एवं परम दुःखमय है ॥ ४८ ॥ जिन अबुध मनुष्यों ने 'हे द्विज'—यह कहकर तिरस्कार किया है वे आत्मज्ञान से शून्य मन ही हैं। और उन्होंने अपने ही विवेक का तिरस्कार किया है ॥ ४९ ॥

त्वया दृष्टोऽस्मि नष्टोऽस्मि शत्रुर्मे त्वमिति द्रुतम् ।
यदुक्तं तद्विचित्तेन ममतापरिदेवितम् ॥५०
रुदितं यन्महाक्रन्दं नराणां तत्र राघव ।
तद्भोगजालं त्यजता मनसा रोदनं कृतम् ॥५१
अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्यामलं पदम् ।
मनसस्त्यजतो भोगान्परितापो हि जायते ॥५२
हसितं तु यदानन्दि पुंसां तदवबोधतः ।
परिप्राप्तविवेकेन संतोषश्चेतसा कृतः ॥५३
परिप्राप्तविवेकस्य त्यक्तसंसारसंस्थितेः ।
चेतसस्त्यजतो रूपमानन्दो हि विवर्धते ॥५४
यद्दासौ समवष्टभ्य मया दृष्टः प्रयत्नतः ।
तद्विवेको बलाच्चित्तमादत्त इति दर्शितम् ॥५५
यदात्मनि प्रहारौघैः पुमान्प्रहरति स्वयम् ।
तत्र तत्कलनाघातैः प्रहरत्यात्मना मनः ॥५६

तेरे द्वारा मैं देख लिया गया हूं और मैं नष्ट हो गया हूं—तू मेरा शत्रु है—यह जो द्रुत कथन कहा गया है वह विपरामवक्त चित्त के द्वारा ही रुदन है जो ममता के कारण से होता है ॥ ५० ॥ मनुष्यों का जो

महान् आक्रन्दन युक्त रुदन है वह इस भोगों के जाल को परित्याग करने वाले मन के ही द्वारा रोदन किया गया है ॥ ५१ ॥ आत्मा विवेक प्राप्त करने वाले और अमल पद को न प्राप्त करने वाले भोगों का त्यागने वाले मन को परिताप होता है बिना विवेक के अवश भोगों के त्यागने पर मन को महान् परिताप उत्पन्न हुआ करता है ॥ ५२ ॥ उसके ज्ञान से जो पुरुषों को आनन्द प्रदान करने वाला हास्य है। परिप्राप्त विवेक वाले चित्त ने सन्तोष किया है ॥ ५३ ॥ जिसने अच्छी तरह से विवेक की प्राप्ति करली है और संसार की संस्थिति का त्याग कर दिया है ऐसे रूप का त्याग करने वाले चित्त का आनन्द बढ़ता है ॥५४॥ जिस समय में यह अवष्टम्भ करके अर्थात् सभी ओर से रोककर मेरे द्वारा प्रयत्नपूर्वक देखा गया तो उसके विवेक ने बलपूर्वक चित्त में स्थान प्राप्त किया था—यह दिखलाया गया है ॥ ५५ ॥ जिस समय में पुमान् आत्मा में प्रहारों के समुदायों से स्वयं ही प्रहार किया करता है वहीं पर उस समय में उसकी विविध कल्पनाओं के आघातों से अर्थात् अनेक प्रकार के जो सङ्कल्प हैं वे ही प्रहार हैं उनसे मन अपने ही आप प्रहार किया करता है ॥ ५६ ॥

पलायते यत्पुरुषः स्वात्मानं प्रहरन्स्वयम् ।
स्ववासनाप्रहारेभ्यस्तत्र तत्र मनः स्वयम् ॥५७
संकल्पवासनाजालैः स्वैरेवायाति बन्धनम् ।
मनो लीलामयैर्बन्धैः कोशकारकृमिर्यथा ॥५८
एतत कथितं राम चित्तोपाख्यानमुत्तमम् ।
चिरोनैवेदमालोक्य चित्तत्यागे स्थिरो भव ॥५९

यह पुरुष स्वयं ही अपने आप पर प्रहार करता हुआ अपनी वासनाओं के प्रहारों से वहाँ-वहाँ पर मन स्वयं पलायन किया करता है अर्थात् दौड़ता रहता है ॥ ५७ ॥ सङ्कल्पों के द्वारा अपनी असत् विषयों के भोग की जो वासनायें हैं उनके जालों से अपनी ही लीला से परिपूर्ण स्वकीय बन्धनों से स्वयं बन्धन को प्राप्त हो जाया करता है जिस तरह

से कपित्थ (कैथ) के वृक्षादि में लगा हुआ कृमि अपने रहने के लिये उसमें एक कोश का निर्माण कर निकलने के द्वार को भी बन्द कर देता है और उस बन्धन में स्वयं ही बँध जाता है वही इस मन की दशा है यह भी अपने ही कृत्यों से बद्ध होता है ॥ ५८ ॥ हे राम ! यह आपके आगे हमने चित्त का उत्तम उपाख्यान कह दिया है। अपने चित्त से इस का अवलोकन करके चित्त के त्याग में अस्थिर होइये। अर्थात् सङ्कल्पात्मक चञ्चल चित्त की क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण करके स्थिरता प्राप्त करो ॥ ५९ ॥



सप्तम सर्ग

प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेदं हि नेतरत् ।
सर्वशक्ति परंब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम् ॥१

न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि ।
ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशं सोऽधिगच्छति ॥२

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दाढर्यं शक्तिस्तथोपले ॥३

द्रवशक्तिस्थोऽम्भःसु दाहशक्तिस्तथानले ।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ॥४

यथाण्डान्तर्जले बहिः सर्वोऽस्तीदं तथात्मनि ।
फलपल्लवलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ।
वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥५

क्वचित्कच्चित्कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तत: ।
देशकालविचित्रत्वात्क्ष्मातलानिव शालयः ॥६

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः ।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥७

महर्षि प्रवर श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम ! जो ब्रह्म के ज्ञान रखने वाले प्रबुद्ध पुरुष होते हैं उनका यह जगत् के आकार में प्रकट होकर विलसित होने वाला मन ही ब्रह्म है। उस ब्रह्म से अन्य कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि मन आदि सबमें कार्य जगत में उसी ब्रह्म की *माया नाम वाली शक्ति विद्यमान है। अतएव सभी कुछ नित्य पूर्ण* और क्षय से रहित परब्रह्म ही है ॥ १ ॥ परन्तु विस्तृत स्वरूप वाले उस अधिष्ठान में जो कोई कार्य न हो ऐसा नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण शक्तियाँ ब्रह्मनिष्ठ हैं। अतएव वे सब उसके कार्यों में उपलब्ध होती हैं। इसीलिये यह परमात्मा अपने आश्रय में रहने वाली अनेक शक्तियों के मध्य में जिस शक्ति से प्रकट होता है उसी से वह जाना जाता है ॥ २ ॥ हे श्रीराम ! प्राणियों के शरीरों में ब्रह्म की चित् शक्ति उपलब्ध होती ही है। वायु में स्पन्दन करने की शक्ति है और पाषाणों में दृढ़ता की शक्ति विद्यमान है ॥ ३ ॥ जल में द्रव शक्ति तथा अग्नि में दाह शक्ति—आकाश में शून्य शक्ति अर्थात् अमर्त्त निष्पादन शक्ति और विनाशी में नाश की शक्ति स्पष्ट उपलब्ध होती है ॥ ४ ॥ यह सम्पूर्ण द्वैतजात जो है वह प्रलय काल में नाम और रूप के अभिव्यक्त न होने से उसी ब्रह्म में वर्त्तमान रहा करता है। सृजन के समय में अण्ड के अन्तर्जल से बर्हि के समान ही उसी महामाया धारी ब्रह्म से यह क्रम से विजृम्भित हुआ करता है। उसी प्रकार से यह सब आत्मा में हैं। फल—पत्र—पुष्प—लता—शाखा और विटपों तथा मूल वाला पूरा वृक्ष उसके छोटे से बीज में शक्ति स्वरूप से विद्यमान रहा करता है ठीक उसी भाँति से यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ब्रह्म में स्थित है ॥ ५ ॥ किसी समय में कहीं से ये समस्त शक्तियाँ उसी ब्रह्म से कार्यों के स्वरूप में देश और काल के विचित्र होने से भूमि तल में शान्ति की फसल के समान ही ये प्रकट हुआ करती हैं ॥ ६ ॥ हे श्रीराम ! यह आत्मा सर्वत्र गमन करने वाला अर्थात् सबमें रहने वाला व्यापक है। यह स्वयं ही सर्वदा दीप्तिमान् होता है और इसका महान् विशाल वपु है। जिस समय में यह थोड़ी सी

मनन करने वाली शक्ति धारण किया करता है तो इसको 'मन'—इस नाम से कहा जाया करता है ॥ ७ ॥

आदौ मनस्तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात्प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभगबालजनोदितेव ॥८
किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ बालकाख्यायिकाक्रमः ।
क्रमेण कथयंतन्मे मनोवर्णनकारणम् ॥९
कोऽपि मुग्धमतिर्बालो धात्रीं पृच्छति राघव ।
कांचिद्विनोदिनीं वार्तां धात्रि संकथयाशुमे ॥१०
सा बालस्य विनोदाय तस्य धात्री महामते ।
अख्यायिकां कथयति प्रसन्नमधुराक्षराम् ॥११
क्वचित्सन्ति महात्मानो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ।
धार्मिकाः शौर्यमुदिता अत्यन्तासति पत्तने ॥१२
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव हि न स्थितः ।
अथाप्युत्तमलाभार्थमेकदा ते शुभास्त्रयः ॥१३
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गता विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥१४

आदि में तो समष्टि रूप से मन कहा गया है । इसके अनन्तर बन्धन और विमोक्षण की दृष्टियाँ समुत्पन्न होती हैं । इसके पश्चात् इस सम्पूर्ण प्रपञ्च (माया स्वरूप जगत्) की रचना होती है जिनको भुवन नाम से कहा जाया करता है । इसी प्रकार से द्वैत आदि की प्रतिष्ठा अचनता अर्थात् अविचार होने के कारण से सुदृढ़ सत्य बुद्धि की विषयता को प्राप्त हो जाया करता है अर्थात् पूर्णतया यह सत्य सा ही प्रतीत होने लगता है क्योंकि विवेक का तो अभाव ही होता है जैसे सुन्दर छोटे बच्चों के विनोद के लिये कही हुई कहानी उन्हें सत्य मालूम हुआ करती है ॥८॥ श्रीराम भद्र ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! यह बालक को आख्यायिका

का क्रम आपके द्वारा बताया हुआ क्या कहा जाता है ? हे भगवन् ! इस मन के वर्णन का कारण आप क्रम से मुझे बतलाइये। यह विलास पूर्ण मन बहुत ही तुच्छ है किन्तु जिनके विवेक नहीं होता है ऐसे चित्त वालों को यह सत्य की ही भाँति प्रतीत हुआ करता है—यही मन के स्वरूप के बोधन का कारण होता है ॥ ९ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्री राघव ! कोई मुग्ध बुद्धि वाला बालक अपनी धात्री (माता) से पूछता है कि हे माँ ! कोई मन को बहलाने वाली बात मुझसे कहिए ॥ १० ॥ हे महामति वाले ! वह उसकी धात्री (जननी) अपने बालक के विनोद के लिये प्रसन्न और मधुर अक्षरों वाली कोई आख्यायिका (कहानी) कहा करती है। धात्री उस उपमाता को कहा जाता है जो अपने उदर से तो बालक को उत्पन्न नहीं किया करती है किन्तु शेष उसका पूरा पोषण करती है ।।११।। अब कहानी का स्वरूप कहा जाता है जो धात्री ने कहा था—हे वत्स ! कहीं पर महान् आत्मा वाले परम शुभ तीन राजपुत्र थे। ये बहुत ही धार्मिक—उदित शौर्य वाले थे और अत्यन्त तुच्छ नगर में रहा करते थे। वे दोनों उत्पन्न ही नहीं हुए थे और एक तो गर्भ में भी स्थित नहीं हुआ था। इसके अनन्तर वे परम शुभ तीनों विमल आशय वाले उत्तम लाभ की प्राप्ति के लिये एक बार अपने शून्य नगर से निकल गये थे। जब वे गमन कर रहे थे तो गगन में उन्होंने फलों वाले वृक्षों को देखा था ।।१२-१४।।

तेषु विश्रम्य विश्रम्य भुक्त्वा स्वादु च तत्फलम् ।
ययुः सुखं विलासेन ते त्रयो राजसूनवः ।।१५
सरित्त्रितयमासेदुस्ततः कल्लोलमालितम् ।
तत्रैका परिशुष्कैव मनागप्यम्बु न द्वयोः ।।१६
परिशुष्का भृशं यासौ तस्यां ते सस्नुरादृताः ।
चिरं कृत्वा जलक्रीडां पीत्वा क्षीरोपमं पयः ।।१७
अथासेदुर्दिनस्यान्ते भविष्यन्नगरं त्रयः ।
दूरस्थं तसमुल्लापं खेलन्नागरमण्डलम् ।।१८

ददृशुस्तत्र रम्याणि त्रीण्यथो भवनानि ते ।
एकं निर्भित्ति निस्तम्भमनुत्पन्नं गृहद्वयम् ॥१९
अभित्ति मन्दिरं चारु प्रविष्टास्ते नृपात्मजाः ।
प्रापुः स्थालीत्रयं तत्र तप्तकाञ्चनकल्पितम् ॥२०
तत्र खर्परतां याते द्वे एका चूर्णतां गता ।
जगृहुश्चूर्णतां यातां स्थालीं ते शुद्धबुद्धयः ॥२१

उन फलों वाले वृक्षों में जहाँ-तहाँ विश्राम कर-करके और अत्यन्त स्वाद वाले फलों को खाकर सुखपूर्वक वे तीनों राजपुत्र विलास के साथ गये थे ॥ १५ ॥ इसके उपरान्त उन तीनों ने माला के आकार वाली तीन नदियाँ प्राप्त की थीं । उनमें एक सरिता तो बिल्कुल शुष्क थी । उसमें थोड़ा सा भी जल नहीं था । उन दोनों में जो एक बहुत ही शुष्क थी उसमें वे बड़े ही आदर वाले होकर स्नान करने लगे थे । चिरकाल तक जल में क्रीड़ा की और उसका क्षीर के समान मधुर पय पीया था ॥ १६-१७ ॥ इसके उपरान्त दिन के अन्त में दूर से ही समुल्लास सुनाई देने वाले और क्रीड़ा करने वाले नागरिकों के मण्डल से युक्त एक नगर में वे तीनों ही प्राप्त हुए थे ॥ १८ ॥ वहाँ पर उन्होंने परम रम्य तीन भवनों को देखा था । उनमें एक बिना भीत वाला स्तम्भों से रहित अनुपम भवन था और दो घर भित्ति रहित चारुतम मन्दिर से युक्त थे । वहाँ पर उन राजपुत्रों ने प्रवेश किया था । उन्होंने वहाँ तप्त काञ्चन (सुवर्ण) से कल्पित तीन स्थाली प्राप्त की थीं ॥ १९, २० ॥ वहाँ पर दो तो कपाल हो गयी थी और एक चूर्णता को प्राप्त हो गयी थी । उन शुद्धबुद्धि वालों ने जो चूर्ण हो गयी थी उसी स्थाली को ग्रहण किया था ॥२१॥

तस्यां द्रोणत्रयं पक्वं न्यूनं द्रोणत्रयेण तु ।
अन्धस्ततो विजेभुं क्तं निर्मुखैर्बहुभोजिभिः ॥२२
त्रिप्रभुक्तावशेषं तु भक्तमन्धो नृपात्मजैः ।
भविष्यन्नगरे तस्मिन्राजपुत्रास्त्रयो हि ते ॥२३

सुखमेव स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः ।
धात्र्येति कथिता राम बालकाख्यायिका शुभा ॥२४
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ।
एषा हि कथिता राम बालकाख्यायिका तव ॥२५
इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिका चेत्थमवस्थितिमुपागता । २६
संकल्पजालकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पजालकलनात्तु मनोविलासः ।
संकल्पमात्रमलमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥२७

उस स्थाली में तीन द्रोण से न्यून पक्व द्रोणत्रय था जो कि अन्ध द्विजों के द्वारा युक्त था । वे द्विज बिना मुख वाले और अधिक भोजन करने वाले थे अर्थात् वह विप्रों के द्वारा खाया हुआ था । उन विप्रों के खाने से बचा हुआ जो अन्न था उसको उन राजपुत्रों ने खाया था। उस भविष्यत् नगर में वे तीनों ही राजपुत्र हे पुत्र ! सुखपूर्वक मृगया (शिकार) का व्यवहार करते हुए स्थित रहे थे। हे श्रीराम ! उस धात्री (धाय) अर्थात् उपमाता के द्वारा यह बालकों की शुभ आख्यायिका (कहानी) कही गयी थी ॥ २२-२४ ॥ बिना विचार वाली बुद्धि से उस बालक ने निश्चय कर लिया था अर्थात उसने इस आख्यायिका को बिल्कुल ठीक मान लिया था। हे श्रीराम ! मैंने यह बाल-आख्यायिका तुमको कहकर बतलादी है ॥ २५ । यह संसार की रचना जो विचार (विवेक) रहित चित्त वाले पुरुष हैं उनको इसी रीति से है और बालाख्यायिका अवस्थिति को प्राप्त हुई है ॥ २६ ॥ यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः कुछ भी नहीं है केवल सङ्कल्पों के समूह की एक भ्रान्ति मात्र ही है। इन्हीं सङ्कल्पों के समूह की भ्रान्ति से मन का विलास इसमें हुआ करता है। केवल इन संकल्पों के मल का त्याग करदो और निर्विकल्पक ब्रह्मात्म विषय का समाश्रय करो तो निश्चय ही हे श्री

राम! शान्ति को प्राप्त कर लोगे। अर्थात् संकल्पों के अभाव होने से इस संसार से उपरति प्राप्त हो जायगी ॥ २७ ॥

~~~

अष्टम सर्ग

स्वसंकल्पवशान्मूढो मोहमेति न पण्डितः।
धिया विचारधर्मिण्या मोहसंरम्भहीनया।
विचारय धिया सत्यमसत्यं हि परित्यज ॥१
अबद्धो बद्ध इत्युक्त्वा किं मुधा परिशोचसि।
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य किं कथं केन बध्यते ॥२
अनन्ते चिद्घनानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि।
स्थिते द्वितीयस्याभावात्को बद्धः कश्च मुच्यते ॥३
तस्मादुल्लासमात्रं तु मनसो बन्धनं गतम्।
मनःप्रशमने राम मोक्ष एवावशिष्यते ॥४
गोष्पदं योजनव्यूहः स्वासु लीलासु चेतसः।
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् ॥५
अत्र ते शृणु वक्ष्यामि वृत्तान्तमिममुत्तमम्।
जागती हीन्द्रजालश्रीश्चित्तस्यान्तः स्थिता यथा ॥६
अस्त्यस्मिन्वसुधापीठे नानावनसमाकुलः।
उत्तरपाण्डवो नाम स्फीतो जनपदो महान् ॥७

महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—अपने सङ्कल्पों के वश होने से ही मूढ़ पुरुष मोह को प्राप्त होता है पण्डित अर्थात् सत्–असत् की विवेकिनी बुद्धि वाला पुरुष मोह को नहीं प्राप्त हुआ करता है क्योंकि उसकी बुद्धि विचार धर्म्म वाली होती है। विचार ही को धर्म की भाँति जिसने अनुष्ठित किया है और मोह के आडम्बर से रहित बुद्धि से पण्डित को
~~~

मोह नहीं होती है। अतएव जो सत्य है उसी का बुद्धि से विचार करो और असत्य का त्याग करदो ॥ १ ॥ यह आत्मा अनन्त है अतएव इस अनन्त आत्मा के तत्त्व को किसके द्वारा कैसे बांधा जा सकता है ? अतएव यह अबद्ध है इसको अबद्ध को बद्ध हूँ—ऐसा कहकर अर्थात् समझ कर व्यर्थ ही चिन्ता मत करो ॥ २ ॥ ऐसे अनन्त और ज्ञान-सत्य और आनन्द स्वरूप वाले निर्विकल्पक रूप से युक्त आत्मा के स्थित होने पर तथा अन्य किसी दूसरे के अभाव होने से कौन तो बद्ध है और कौन मुक्त किया जाता है ? तात्पर्य यह है कि निर्विकल्प स्वरूप वाले ज्ञानानन्दमय एवं अनन्त आत्मा का न तो बन्धन सम्भव है और न उसकी मुक्ति की ही आवश्यकता है ॥३॥ इसीलिए यह केवल मन का उल्लास (विजृम्भण) मात्र ही बन्धन को प्राप्त हुआ है। इस मन की संकल्पात्मक चेष्टाओं के अशम हो जाने पर हे श्रीराम ! मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात् फिर मोक्ष स्वतः प्राप्त होने वाली वस्तु रह जाती है। आत्मा के बन्धन बद्ध होने का तो कोई अवसर ही नहीं होता है ॥ ४ ॥ अपनी लीलाओं में प्रवर्त्तमान हुए मन को योजनों का समूह एक गाय के खुर के समान तुच्छ है और यह ही एक छोटी सी वस्तु को अपने ही संकल्पों से बहुत बड़ा बना लिया करता है। कल्प जैसे विस्तृत काल को क्षण के समान और क्षण मात्र समय को कल्प के तुल्य बना लिया करता है। यह सब इस मन की ही अपनी लीलाएँ हैं। स्वप्न आदि बहुत दीर्घकाल का और देश का विभ्रम दिखलाई दिया करता है। जहाँ कि वास्तविकता का लेश भी नहीं होता है ॥ ५ ॥ यह मायामय मन जो अघटमान है उसको भी घटित करा दिया करता है इसी सिद्धान्त को विशद करते हुए कहते हैं कि इस विषय में मैं एक अत्युत्तम वृतान्त आपको बतलाऊँगा कि यह जगत् से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रजाल की श्री जिस प्रकार से इस चित्त के अन्दर स्थित हो रही है उसको आप सुनिये जिससे आप जान लेंगे।६। इस वसुधा के पीठ पर अनेक वनों से समाकुल अर्थात् घिरा हुआ उत्तर पाण्डव नाम वाला एक महान् जनपद है ॥ ७ ॥

तत्रास्ति लवणो नाम राजा परमधार्मिकः ।
हरिश्चन्द्रकुलोद्भूतो भूमाविव दिवाकरः ॥८
यद्यश कुसुमोत्तसपाण्डुरस्कन्धमण्डलाः ।
सर्वे शैला विराजन्ते हाराः प्रोद्धूलिता इव ॥९
जिह्मतां यो न जानाति न दृष्टा येन गृध्नुता ।
उदारता येन धृता वाचकेन यथाभिधा ॥१०
स कदाचित्सभास्थाने सिंहासनगतोऽभवत् ।
सुखोपविष्टे तत्रास्मिन्राजनीतिविदांवरे ॥११
सभां विवेश स टोपं कश्चिन्नामेन्द्रजालिक ।
स ननाम महीपालं शिखरोदारकन्धरम् ॥१२
उवाचोत्कन्धरं भूपं स पद्ममिव षट्पदः ।
विलोकय विभो तावदेकामिह खरोलिकाम् ।
पीठस्थ एव साश्चर्यं चन्द्रोदयमिवावनौ ॥१३
इत्युक्त्वा पिच्छिका तेन भ्रामिता भ्रमदायिनी ।
नानाविरचनाबीजं मायेव परमात्मनः ॥१४

उस विशाल जनपद में परम धर्म की आस्था रखने वाला एक लवण नाम वाला राजा है जो हरिश्चन्द्र के कुल में समुत्पन्न होने वाला इस भूमि में सूर्य के ही तुल्य था ॥ ८ ॥ जिस राजा के यश रूपी कुसुमों के पुराग से समस्त स्कन्ध मण्डल पाण्डुर हो गये थे और सब शैल प्रोद्धूलित हारों के ही समान विराजमान होते थे। अभिप्राय है कि उसकी कीर्त्ति दिगन्तों में व्याप्त होरही थी ॥९॥ यह राजा कपट को ही बिल्कुल जानता ही नहीं था अर्थात् कपट की भावना तो इसके फटकी नहीं थी। अभिकांक्षा करने की शीलता (स्वभाव का होना) जिसने कभी देखी तक नहीं थी। जिस तरह से वाचक पद या वक्ता अभिधा अर्थात् अभिधा शक्ति को धारण किया करता है उसी भाँति उदारता इस राजा ने धारण कर रक्खी थी ॥ १० ॥ वह राजा किसी समय में अपनी सभा के स्थान में राज्य सिंहासन पर स्थित था। राजनीति के ज्ञाताओं में

परम श्रेष्ठ वह राजा वहाँ पर सुखपूर्वक समवस्थित थे ॥ ११ ॥ उसी अवसर पर एक कोई ऐन्द्रजालिक अर्थात् जादूगर बड़े ही आज्ञेय (आडम्बर) के सहित उस सभा में प्रविष्ट हुआ था। उस जादूगर ने गिरि शिखर के तुल्य ऊपर की ओर कन्धार वाले उस राजा से कमल से भ्रमर की भाँति ही कहा था—हे राजन्! हे विभो! मेरा एक यहाँ पर जादू का खेल आप देखिए। पीठ पर स्थित होते हुए ही बहुत आश्चर्य के साथ भूमि में चन्द्रोदय के समान उसने भ्रम समुत्पन्न करने वाली एक पिच्छिका (मयूर पत्र भार) भ्रमित की थी। जो अनेक निर्माणों के करने का कारण स्वरूप परमात्मा की माया के ही समान थी ॥ १२-१४॥

तां ददर्श महोपालस्तेजोरेणुविराजिताम् ।
सभां सैन्धवसामन्तो विवेशास्मिन्क्षणे ततः ॥१५
तं खेनानुजगामाश्वः सौम्यः परमवेगवान् ।
सामन्तोऽश्वमुपादाय पार्थिवं समुवाच ह ॥१६
इदमुच्चैश्श्रवप्रख्यं हयरत्न महीपते ।
प्रभुणा मम भूचक्रविभोः संप्रहितं तव ॥१७
राजते हि पदार्थश्रीर्महतामर्पणाच्छुभा ।
इत्युक्तवति तस्मिन्स प्रत्युवाचेन्द्रजालिकः ॥१८
सदश्वमेनमारुह्य भुवनं विहर प्रभो ।
अश्वमालोकयामास तेनोक्त इति भूपतिः ॥१९
अथानिमेषया दृष्ट्या राजा चित्रोपमाकृतिः ।
बभूवालोकयन्नश्वं लिपिकर्मार्पितो यथा ॥२०
तस्थौ मुहूर्तयुग्मं तु ध्यानासक्त इवात्मनि ।
ततस्ते विस्मयापन्ना ययुश्चिन्तां सभासदः ॥२१

तेज के रेणुओं से विराजमान उसको उस राजा ने देखा था। इसी क्षण में एक सिन्धु देश के सामन्त ने उस सभा में प्रवेश किया था ॥ १५ ॥ उस सिन्धु देश के सामन्त के पीछे एक परम सौम्य वेग से

युक्त अश्व था जो कि वहाँ पर आया था। उस सामन्त ने अश्व को लाकर राजा से कहा था—हे महीपते! यह उच्चैश्रवा नामक अश्व है जो कि अश्वों में एक रत्न के ही समान है। मेरे स्वामी ने इस भूमि मण्डल के स्वामी आपके लिये भेजा है ॥ १६, १७ ॥ महान् पुरुषों की सेवा में समर्पण करने से पदार्थ की श्री शुभ हुआ करती है। उसके इतना कहने पर उस ऐन्द्रजालिक ने कहा था—॥ १८ ॥ हे विभो! इस सुन्दर अश्व पर समारोहण करके हे विभो! आप भुवन में विहार करिए! उसके द्वारा कहने पर राजा ने अश्व को देखा था ॥ १९ ॥ चित्र के समान आकृति वाले राजा ने अपलक दृष्टि से उसको देखते हुए वह स्वयं लिपि-कर्म में अर्पित के ही समान हो गया ॥ २० ॥ दो मुहूर्त के समय पर्यन्त आत्मा में ध्यान से समासक्त की ही भाँति स्थित रहा था। इसके पश्चात् समस्त सभासद लोग विस्मित होते हुए चिन्ता को प्राप्त हो गये थे ॥ २१ ॥

संदेहसागरे मग्नाः स्थितास्तत्र च मन्त्रिणः।
प्रशशाम सभास्थाने जनकोलाहलो महान् ॥२२

विततविस्मितजिह्मितया तया
जनतया भयमोहविषण्णया।
स्तिमितचक्षुषि भूमिपतौ स्थिते
मुकुलिताब्जवनस्य धृता द्युतिः ॥२३

मुहूर्तद्वितयेनाथ प्रबुबोध महीपतिः।
बभूवाथ प्रबुद्धोऽसावासनोपरि कम्पितः ॥२४
पुरांगैर्धार्यमाणोऽथ पर्याकुलमतिर्नृपः।
अथैनं परिपप्रच्छुः सदस्या मन्त्रिणस्तदा ॥२५
सम्यक्प्राप्तप्रबोधं तु सादरं विनयान्विताः।
मनस्ते निर्मलं कस्मात्संभ्रमेषु निमज्जति ॥२६
मनो मोहमुपागतं न महत्त्वविजृम्भितम्।
अथ राजाह साश्चर्यमुन्मीलितविलोचनः ॥२७

इदमाश्चर्यमाख्यानं शृणुताद्य सभासदः।
पिच्छिकामहमालोक्य जालमेन भ्रामितामिमाम् ॥२८

और वहाँ पर सभी मन्त्रिगण सन्देह के सागर में मग्न हो गये थे। उस समय में सभा के स्थान में जो महान् जनों का कोलाहल हो रहा था वह भी एकदम शान्त हो गया था। अर्थात् पूर्णतया स्तब्धता-सी छा गयी थी ॥ २२ ॥ जो उस ऐन्द्रजालिक की कुटिलता से अत्यधिक विस्मय से युक्त हो गयी थी तथा भय और मोह से विषाद समन्वित थी ऐसी जनता ने उस समय में राजा के स्थित चक्षु करके स्थित हो जाने पर मुकुलित (अविकसित) कमलों के वन की द्युति को धारण किया था ॥ २३ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—दो मुहूर्त के समय के पश्चात् वह राजा प्रबुद्ध हुए और आसन के ऊपर कम्पित होते हुए प्रबुद्ध हुए थे ॥ २४ ॥ जो राजा के पुरोवर्ती थे उनके द्वारा उसे पकड़ कर सहारा दिया गया था और वह राजा पर्याकुल (विकलता से परिपूर्ण) मति वाला था। इसके अनन्तर उस समय में उस राजा से सदस्य और मन्त्रियों ने पूछा था। जब राजा ने भलीभाँति प्रबोध प्राप्त कर लिया था तभी विनय से समन्वित होते हुए सबने आदर के साथ कहा था—हे राजन् ! आपका मन तो एकदम निर्मल है वह ऐसे सम्भ्रमों में कैसे निमग्न हो गया है ॥ २५, २६ ॥ जो महत्त्व के विजृम्भित वाला मन है वह कभी भी मोह को प्राप्त नहीं हुआ करता है। इसके पश्चात् उस राजा ने कहा और आश्चर्य के साथ उसने अपने नेत्रों को खोला था—हे सभासदो ! आज आप लोग इस आश्चर्य से परिपूर्ण इस आख्यान का श्रवण कीजिए इस असमीक्ष्यकारी जालम के द्वारा भ्रमित की हुई पिच्छिका का मैंने अवलोकन किया था ॥२७—२८॥

जङ्गमारूढमानेनमात्मना भ्रान्तचेतसा।
गन्तुं प्रवृत्तो मृगयामेकोऽहमतिरहसा ॥२९
अनेनातिविलोलेन दूरे नीतोऽस्मि वाजिना।
भोगाभ्यासजडेनाज्ञो मुग्धः स्वमनसा यथा ॥३०

ततः प्रलयनिर्दग्धजगदास्पन्दभीषणम् ।
निःपक्षि स्फारनीहारं निर्वृक्षमजलं महत् ।
संप्राप्तोऽहमपर्यन्तमरण्यं श्रान्तवाहनः ॥३१
तदरण्यमथासाद्य मतिर्मे खेदमागता ।
आसूर्यान्तं दिनं तत्र प्रक्रान्तं सोऽवता मया ॥३२
तदरण्यमथातीतमतिकृच्छ्रेण खेदिना ।
विवेकिनेव संसारं प्राप्तवानथ जाङ्गलम् ॥३३
जम्बूकदम्बप्रायेषु कलालापाः पतत्रिणः ।
यत्र स्फुरन्ति खण्डेषु पान्थानामिव बान्धवाः ॥३४
तत्र जम्बीरखण्डस्य तलं संप्राप्तवानहम् ।
आलम्बिता मया तत्र स्कन्धसंसर्गिणी लता ॥३५

जिसके चित्त में भ्रान्ति हो ऐसे मैंने इस अश्व पर समारोहण किया था और अत्यन्त वेग से मैंने अकेले ही शिकार खेलने को जाने के लिये प्रवृत्ति की थी ॥ २९ ॥ इस अत्यन्त चञ्चल अश्व ने मुझे बहुत दूर पहुँचा दिया था । जैसे कोई भोगों के अभ्यास से अन्वित जड़ अपने मन के द्वारा मुग्ध अज्ञ पुरुष कहीं से कहीं पहुँच जाया करता है ॥ ३० ॥ इसके पश्चात् प्रलय से निर्दग्ध जगत् के आस्पद से महान् भीषण—पक्षियों से रहित—बहुत फैले हुए नीहार वाले—वृक्षों से हीन—बिना जल वाले महान् स्थल पर सम्प्राप्त हो गया था जो कि वन ऐसा था कि जिसका कहीं ओर-छोर नहीं था । मेरा वाहन भी थक गया था ॥ ३१ ॥ उस विशाल अरण्य में पहुँच कर मेरी मति खिन्नता को प्राप्त हो गयी थी । वहाँ पर सूर्यास्त होने के समय तक बहुत ही दुःखित मैंने वह पूरा दिन वहाँ पर व्यतीत किया था ॥ ३२ ॥ बहुत ही कठिनता से खेद युक्त मैंने उस अरण्य को प्राप्त करके बहुत ही बुद्धि में खिन्नता प्राप्त की थी । मैंने विवेक से संसार को जङ्गल की ही भाँति उस अरण्य को प्राप्त किया था ॥ ३३ ॥ जिन जम्बू-कदम्बों की अधिकता वाले वनखण्डों में मधुर आलाप करने वाले पक्षीगण राहगीरों के बान्धवों के ही समान स्फुरण

वह रात व्यतीत हुई थी ॥ ३८ ॥ शीत से आर्त मेरी दाँतों की पंक्ति के टङ्कार के सीत्कारों के साथ अन्धकार के संघातों के सहित वह रात्रि व्यतीत हुई थी ॥ ३९ ॥ मैं उस स्फार रात्रि में प्रवृत हुआ था और इसके पश्चात् उस स्थली में प्रवृत्त हुआ था। उस जीर्ण वन में कोई प्राणी मात्र वहाँ पर दिखलाई नहीं देता था ॥४०॥ जिस तरह से मूर्ख के शरीर में गुगुत्व उत्पन्न हो गया था। केवल विगत आशङ्क होते हुए एक खण्ड में भ्रमण करने से चञ्चल। 'चीची' शब्द करते हुए पक्षीगण विहार करते हैं। इसके पश्चात् दिवस नायक (सूर्य) नभ के आठवें भाग में समापन्न होने पर मैंने भ्रमण करते हुए एक ओदन धारिणी चञ्चल कनीनिका वाले नेत्रों से युक्त-अधवल वस्त्रों वाली श्यामा दारिका देखी थी ॥४१—४३॥

अहमभ्यागनस्तत्र शर्वरीमिव चन्द्रमाः ।
मह्यमोदनमाश्वेतद्बाले बलवदापदि ॥४४
देहि दीनार्तिहारिण्यः स्फारितां यान्ति संपदः ।
क्षुदन्तर्महतीयं मे बाले वृद्धिमुपेयुषी ॥४५
याञ्चयापि तया मह्यमित्थं दत्तं न किंचन ।
यत्नप्रार्थितया लक्ष्म्या यथा दुष्कृतिने धनम् ॥४६
केवलं चिरकालेन मह्यात्यन्तानुगामिनी ।
खण्डात्खण्डे निरतति छायाभूते पुरः स्थिते ॥४७
तयोक्त हारकेयूरीं चण्डालीं विद्धि मामिति ।
राजन्याचनमात्रेण मत्तो नाप्नोषि भोजनम् ॥४८
इत्युक्तवत्वा गच्छन्त्या चलन्त्या च पदे पदे ।
कुञ्जकेषु निपज्जन्त्या लीलावनितयोदितम् ॥४९

मैं शर्वरी में चन्द्रमा के समान वहाँ पर आ गया था मैंने उससे कहा था—हे बाले ! इस महान् बलवान् आपत्ति में मुझे बहुत ही शीघ्र यह ओदन दो। दीनार्तिहारिणी सम्पदायें स्फारिता को प्राप्त हुआ करती हैं। हे बाले ! यह मुझे बहुत अधिक क्षुधा वृद्धि को प्राप्त होगयी है

अर्थात् मेरी भूल बहुत ज्यादा होगयी है ।।४४।४५।। इस तरह से याचना करने पर भी उसने मुझको कुछ भी नहीं दिया था । जिस प्रकार से प्रबल प्रयत्न पूर्वक प्रार्थना की हुई लक्ष्मी के द्वारा दुष्कर्म करने वाले पापी को धन नहीं दिया जाता है ।। ४६ ।। अधिक समय तक केवल वह मेरे पीछे गमन करने वाली हो रही थी जबकि मैं वृक्षों के खण्ड से अन्य वृक्षखण्ड में निपातित होरहा था और छायाभूत होता हुआ आगे स्थित था ।।४७।। उसने मुझसे कहा था कि मुझको हारकेयूरी चण्डाली समझलो । हे राजन् ! केवल याचना से तुम मुझसे भोजन नहीं प्राप्त करोगे ।।४८।। इस प्रकार से कहने वाली—गमन करती हुए और पद-पद में चलती हुई तथा कुञ्जों में फलादि के खाने की इच्छा से निरन्तर सङ्ग करती हुई उस लोला वनिता ने मुझसे कहा था—।।४९।।

ददामि भोजनमिदं भर्ता भवसि चेन्मम ।
वाहयस्यत्र मे दान्तावुद्दाले पुक्कसः पिता ।।५०
तस्येदमन्नं भवति भर्तृत्वे दीयते स्थिते ।
प्राणैरपि हि सम्पूज्या वल्लभाः पुरुषा यतः ।।५१
अथोक्ता सा मया भर्ता भवामि तव सुव्रते ।
केनापदि विचार्यन्ते वर्णजातिकुलक्रमाः ।।५२
ततस्तयोदनादर्धं मह्यमेकं समर्पितम् ।
जम्बूफलरसः पीतः स भुक्तः पक्वणोदनः ।।५३
विश्रान्तं च मया तत्र मोहापहृतचेतसा ।
मां हस्तेनाथ सादाय प्रागं वहिरिव स्थितम् ।।५४
दुराकृति दुराचारमसशाद भयप्रदम् ।
पितरं पीवराकारमर्चाचिमिव यातनाम् ।।५५
तामहमनुपङ्क्तिण्या मातङ्गाय निवेदितः ।
अयं मम भवेद्भर्ता तात हे तव रोचनाम् ।।५६

उस हार केयूरी ने कहा—हे राजन् ! यदि आप मेरे भर्ता हो जाओगे तो मैं यह भोजन तुमको दे दूँगी । यहीं पर मेरा पुक्कस पिता दो

में दमयुक्त शिक्षित बैलों को चलाते हैं ॥ ५० ॥ उसी मेरे पिता का यह अन्न है । आपके मेरे भर्तृत्व पद पर स्थित होने पर ही दिया जा सकता है । क्योंकि वल्लभ पुरुष तो प्राणों के द्वारा भी भलीभाँति पूजा करने के योग्य हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥ इसके अनन्तर मैंने उससे कहा था कि हे सुव्रते ! मैं तेरा भर्ता होता हूं । आपत्तिकाल में किसके द्वारा वर्ण-जाति-कुल आदि का क्या विचारा जाता है अर्थात् कोई भी इसका मुसीबत समय में विचार नहीं किया करता है ॥ ५२ ॥ इसके पश्चात् उसने उस ओदन का आधा भाग करके एक भाग मुझे दे दिया था । वह पक्कण (शबर के आलय) का ओदन मैंने खाया और जम्बू फलों का रस पीया था ॥ ५३ ॥ मैंने मोह से अपहृत चित्त वाला होते हुए वहाँ पर विश्राम किया था । उसने फिर मुझको हाथ से पकड़कर बाहिर प्राण की भाँति स्थित—बहुत बुरी आकृति वाले—बुरे आचार से युक्त और भयप्रद के पास वह प्राप्त हुई थी वह पीवर आकार वाला उसका पिता था जो कि साक्षात् अवीचि नामक नाटक की यातना के तुल्य स्थित था ॥५४॥ उस मेरी अनुषङ्गिनी ने मातङ्ग (चण्डाल) से मुझे निवेदित करके कहा—यह मेरा भर्ता होगा । हे पिताजी ! आप इसे पसन्द करते है ॥ ५६ ॥

स तस्या बाढमित्युक्त्वा दिनान्ते समुपस्थिते ।
मुमोच दान्तावावद्धौ कृतान्तः किंकराविव । ५७
नीहाराभ्रकडारासु दिक्षु प्रोद्धूलितास्विव ।
वेतालबन्धनात्तस्माद्दिनान्ते चलिता वयम् ॥५८
क्षणेन पक्कणं प्राप्ताः संध्यायां दीर्घजङ्गलात् ।
विकर्तितवराहाश्वकपिकुक्कुटवायसम् ।
शोषार्थंप्रसृताद्रान्त्रतन्त्रीजालपतत्खगम् ॥५९
बालहस्तस्थितक्रव्यपिण्डव्रणितमक्षिकम् ।
संभ्रमोपहितानल्पकदलीदलखण्डकम् । ६०
अहमास्थितवांस्तत्र नवे श्वशुरमन्दिरे ।

श्वश्र्वा मे केकराक्ष्या तु तेनासृङ्मयचक्षुषा ॥६१
जामाताऽयमिति प्रोक्तं तया तदभिनन्दितम् ।
बहुनात्र किमुक्तेन कस्मिंश्चिद्दिवसे ततः ॥६२
दत्ता च तेन सा मह्यं कुमारी भयदायिनी ।
सुकृष्णा कृष्णवर्णेन दुष्कृतेनेव यातना ॥६३

उसने बहुत अच्छा—यह उस अपनी पुत्री से कहकर दिन का अन्त हो जाने पर वे दोनों दमनशील आबद्ध बैल थे उनको जैसे कृतान्त अपने किङ्करों को छोड़ता है छोड़ दिया था ॥ ५७ ॥ सन्ध्याकालीन मेघों से कपिल वर्ण वाली प्रोद्धूलित सी दिशाओं में उस वेताल बन्धन से दिन के अन्त में हम लोग चल दिये थे ॥ ५८ ॥ उस विशाल जङ्गल से क्षण भर में सन्ध्या के समय में हम लोग पक्कण (शबर का घर) में प्राप्त हो गये थे। वह घर किस प्रकार का था—यह बतलाते हैं—कटे हुए बराह—अश्व—कपि—कुक्कुट और वायस (कौआ) विद्यमान थे शोषण के लिये प्रकीर्ण आर्द्र शिराओं की तन्त्रियों के जाल में गिरने वाले पक्षीगण वहाँ पर वर्तमान हैं और बच्चों के हाथों में स्थित मांस पिण्डों पर मक्खियाँ भिनभिनाने वाले तथा सम्भ्रम से उपक्षिप्त अधिक कदलियों के दलखण्ड जिसमें विद्यमान थे ऐसा वह उसका घर था ॥ ५९॥६० ॥ मैं अपने उस नूतन श्वशुर के मन्दिर में वहाँ पर समास्थित होगया था। मेरी सास केकराक्षी नाम वाली थी। यह जामाता है इस कथन को रुधिर मय नेत्र के द्वारा उसने इसे अभिनन्दित किया था। अधिक कथन से क्या लाभ है इसके अनन्तर किसी दिन में उसने वह कुमारी जो भय देने वाली थी मुझे देदी थी। वह दुष्कृत से नारकीय यातना के ही समान कृष्ण वर्ण से सुकृष्ण थी। ६१—६३॥

सरभसमभितो विनेदुरश्व
प्रसृतमहामदिरासवाः श्वपाकाः ।
हृतपटुपटहा विलासवन्तः
स्वयमिव दुष्कृतराशयो महान्तः ॥६४

ततः प्रभृति तत्राहं संपन्नः पुष्टपुक्कसः ।
सप्तरात्रोत्सवस्यान्ते क्रमान्मासाष्टकं गतम् ॥६५
पुष्पिता सापि संपन्ना स्थिता गर्भवती ततः ।
प्रासूत दुःखदां कन्यां विपद्दुःखक्रियामिव ॥६६
सा कन्या ववृधे शीघ्रं मूर्खे चिन्तेव पीवरी ।
पुनः प्रसूता सा वर्षैस्त्रिभिः पुत्रमशोभनम् । ६७
अनर्थमिव दुर्बुद्धिराशापाशविधायकम् ।
पुक्कसी सा प्रसूताथ पुनरप्यर्भकं ततः ॥६८
तया सह समास्तत्र मम बह्व्योऽतिवाहिताः ।
शीतवातातपक्लेशविवशेन दशान्तरे ॥६९
कलत्रचिन्ताहतया धिया संदह्यमानया ।
दृष्टाः कष्टसमारम्भा दिशः प्रज्वलिता इव ॥७०

अत्यधिक मदिरा और आसव जिनके मुखों से विगलित होरही थी ऐसे श्वपच सम्भ्रम के साथ दोनों ओर से विशिष्ट नाद करते थे । सुत अच्छी तरह से पटह को बजाते हुए स्वयं महान् दुष्कृतों के समूहों की ही भांति विलास युक्त होरहे थे ॥ ६४ ॥ राजा ने कहा—वहाँ पर तभी से लेकर मैं पुष्ट (पक्का) पुक्कस हो गया था । सात दिन के उत्सव के अन्त में क्रम से आठ मास व्यतीत होगये थे । वह हार केयूरी भी रजस्वला होगई थी और इसके पश्चात् गर्भवती भी होगयी थी । उसने विपदा की दुःख क्रिया की भांति एक दुःखदा कन्या को प्रसूत किया था ॥६५॥ ६६॥ वह कन्या बहुत ही शीघ्र बड़ी होगयी थी जिस तरह से मूर्ख मनुष्य के हृदय में महान् चिन्ता बढ़ जाया करती है । फिर इसके पश्चात् तीन वर्षों में उसने एक अशोभन पुत्र को जन्म दिया था ॥६७॥ दुष्ट बुद्धि वाला जिस प्रकार से आशारूपी पाश का विधायक अनर्थ को उत्पन्न किया करता है उसी भांति उस पुक्कसी ने फिर इसके पश्चात् एक बालक को जन्म दिया था । ६८॥ इस रीति से उस भार्या के साथ वहाँ पर मेरे बहुत से वर्ष व्यतीत हो गये थे जो कि मैंने काल की अवस्था

के भेद में शीत—आतप—वात के क्लेशों में विवश होते हुए गुजारे थे ॥६९॥ कलत्र (स्त्री) की चिन्तहृत हुई सन्दह्यमान बुद्धि से प्रज्वलित हुई दिशाओं की भाँति ही चारों ओर बहुत-से कष्टों के समारम्भ देखे थे ॥ ७० ॥

अथ गच्छति काले तु जराजर्जरितायुषि ।
तृणोत्थदहनज्वालासममश्मश्रुधरे मयि ॥७१
तत्र दुर्भिक्षमासीच्च परिशुष्कतृणं महत् ।
अकाण्डमरणोड्डीनचण्डचण्डालमण्डलम् ॥७२
निरन्नतृणपत्राम्बु विन्ध्यकक्ष तदा ययौ ।
न वर्षति घनव्राते दृष्टनष्टे क्वचिज्जने ॥७३
प्रौढाङ्गारगणे व्योम्नि गतो वहति मारुते ।
त्यकाण्डमभवद्भीममुद्दामदवपावकम् ॥७४
शोषिताशेषगहनं भस्मशेषतृणोलपम् ।
तस्मिस्तदा वर्तमाने कष्टे विधिविपर्यये ॥७५
जनाः केचिद्विनिष्क्रम्य गतास्ते ससुहृज्जनाः ।
शीर्णा केचन तत्रैव प्रविष्टा अनलं परे ।
केचिच्छ्वभ्रेषु पतिताः जाता मुमूर्षवः ॥७६
अहं कलत्रमादाय कृच्छ्रात्तस्माद्विनिर्गतः ।
साधं त्रिभिरपत्यैस्तु तया च सहितः शनैः ॥७७

इसके अनन्तर कुछ काल के गुजरने पर मेरे जर्जरित आयु वाले तृणों में उठी हुई अग्नि की ज्वाला के समान दाढ़ी-मूँछ धारण करने वाले हो जाने पर वहाँ पर बड़ा भारी अकाल हुआ था जिसमें तिनके तक भी सूख गये थे और उस अनवसर वाले दुर्भिक्ष से मौतों के होने के कारण अत्यन्त क्रोधयुक्त चण्डालों के मण्डल को भी देखा था ॥७१।७२॥ उस भीषण समय में वह विन्ध्यकक्ष अर्थात् उदक का बहुला प्रदेश वह विन्ध्याचल का भाग बिना अन्न और जल एवं तृणों वाला हो गया था। बादलों के न बरसने पर कहीं पर, मनुष्यों के देखते-देखते नष्ट होजाने

पर वह अरण्य अनवसर में ही प्रौढ़ अङ्गारों के गण से युक्त व्योम में मारुत के तेजी से चलने पर उद्दाम दवाग्नि वाला बहुत ही भीषण होगया था ।।७३।७४।। वह सघन वन एकदम शोषित होगया था—और सम्पूर्ण तृणादि की भस्म ही वहाँ पर शेष रह गयी थी। उस समय में उस अरण्य में विधि के विपर्यय हो जाने पर उस महान् कष्ट के वर्तमान हो जाने पर कुछ मनुष्य अपने सुहृज्जनों के साथ ही वहाँ से निकल कर चले गये थे और कुछ शीर्ण होते हुए वहीं पर उस अनल में प्रवेश कर गये थे। कुछ लोग विवरों में पतित होगये थे और मरणासन्न से होगये थे ।।७५।७६।। मैं भी अपनी भार्या को लेकर बड़े कष्ट से उस अरण्य से धीरे से निकला था। मेरे साथ में वह स्त्री थी और तीन सन्तानें भी थीं ।।७७।।

प्राप्य यद्देशपर्यन्तं तत्र तालतरोस्तले।
अवरोप्य सुतान्स्कन्धात्ताननर्थानिवोल्वणान् ।।७८
विश्रान्तोऽस्मि ततस्तत्र रौरवादिव निर्गतः।
अथ चण्डालकन्यायां विश्रान्तायां तरोस्तले ।।७९
सुप्तायां शीतलच्छाये द्वौ समालिङ्गय दारकौ।
पृच्छको नाम तनयो ममैव पुरतःस्थितः ।।८०
अत्यन्तं वल्लभोऽस्माकं कनीयान्मुग्धवागिति।
स मामुवाच दीनात्मा बाष्पपूरितलोचनः ।।८१
तात देह्याशु मे मांसं पातुं च रुधिरं क्षणात्।
पुनः पुनर्वदन्नेवं स बालस्तनयो मम ।।८२
प्राणान्तिकीं दशां प्राप्तः साक्रन्दो हि पुनः पुनः।
तस्य तामार्तिमालोक्य मया दुःखातिभारिणा ।।८३
सोढुं तामापदं तीव्रामशक्तेन हतात्मना।
मरणायातिमित्राय कृतोऽन्तर्निश्चयो मया ।।८४

उस भाग के अन्त में पहुँच कर एक ताल के वृक्ष के नीचे उल्वण अनर्थों के ही समान उन सुतों को कन्धे से उतार कर वहाँ पर

स्थित किया था ।। ७८ ।। मैंने वहीं पर रौरव नरक से निकले हुए के ही समान विश्राम किया था । इसके अनन्तर उस वृक्ष के नीचे उस चण्डाल की कन्या के विश्रान्त होकर वृक्ष की ठण्डी छाया में शीतल हो जाने पर मैंने दोनों बच्चों का समालिङ्गन किया था । उनमें एक पृच्छक नाम वाला पुत्र था जो मेरे ही सामने स्थित था । वह हमारा बहुत ही प्यारा था क्योंकि सब में छोटा था और मुग्ध (सुन्दर) वाणी बोलने वाला था । उसने परम दीन होकर आंखों में आँसू भरे हुए मुझसे कहा था—हे तात ! मुझे शीघ्र ही मांस दो और शीघ्र ही पीने को रुधिर दो । वह बाल तनय इस प्रकार से मुझसे बारम्बार कह रहा था ।। ७९—८२ ।। वह बालक बार-बार क्रन्दन करता हुआ उस भूख से प्राणों के अन्त हो जाने वाली दशा को प्राप्त हो गया था । उसके उस महान् दुःख को देखकर मुझे भी अत्यन्त महान् दुःख हो गया था । मैं उस तीव्र आपत्ति को सहन करने में असमर्थ हो गया था और हतात्मा मैंने उस समय में अपने घनिष्ठ मित्र मृत्यु के लिये ही अर्पित हो जाने का निश्चय कर लिया था ।। ८३—८४ ।।

तत्र काष्टानि संचित्य चितामाचितवानहम् ।
चिता चटचटास्फोटैः स्थिता मदभिकाङ्क्षिणी ।।८५
तस्यां तु यावदात्मानं चितायां निक्षिपाम्यहम् ।
चलितोऽस्मि जवात्तावदस्मात्सिहासनान्नृपः ।
ततस्तूर्यनिनादेन जयशब्देन बोधितः ।।८६
इति शाम्बरिकेणायं मोह उत्पादितो मम ।
अज्ञानेनेव जीवस्य दशाशतसमन्वितः ।।८७
इत्युक्तवति राजेन्द्रे लवणे भूरितेजसि ।
अन्तर्धानं जगामासौ तत्र शाम्बरिकः क्षणात् ।।८८
अथेदमूचुस्ते सभ्या विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
नायं शाम्बरिको देव यस्य नास्ति धनैषणा ।।८९
दैवी काचन मायेयं संसारस्थितिबोधिनी ।

मनसो वृत्तयो या या भोगसंकल्पविभ्रमाः ।
संसारविषवृक्षाणां ता एवांकुरपङ्क्तयः ॥४
अस्य चित्तमहाव्याधेश्चिकित्सायां परौषधम् ।
स्वायत्तं शृणु वक्ष्यामि सुसाध्यं स्वादु निश्चितम् ॥५
त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः ।
जितमेव मनस्तेन बाह्यं प्रसरमुज्झता ॥६
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम् ।
यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम् ॥७

महर्षि प्रवर वसिष्ठजी ने कहा—अब तक अनेक उपाख्यानों के द्वारा इस जगत् को परमात्मा का आश्रयभूत मन का ही विलास बतलाया है जो कि मिथ्या है। इसका अधिष्ठान ब्रह्मात्म तत्त्व ही सत्य है। किन्तु इसकी एकाग्रता के बिना उस ब्रह्मात्म तत्त्व की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतएव उसकी सिद्धि के लिये बाह्य वृत्तियों का निरोध करना चाहिए—यह अब प्रतिपादन किया जाता है—हे राघव! मन के द्वारा जो भी कुछ किया गया है वही किया हुआ है और मन से जो त्यक्त है उसी को त्यागा हुआ जान लो ॥१॥ हे अनघ! जिस मन की चपलता शान्त हो जाती है और यह मन मनन करने से रहित हो जाया करता है। तब यह परमोत्तम ध्यान के द्वारा अनुगत हुआ करता है। अर्थात् सङ्कल्प शून्य होकर ही ब्रह्मात्म तत्त्व को जानता है ॥२॥ मन के संयम से ही यह सम्पूर्ण संसार का विभ्रम शान्ति को प्राप्त होता है जिस तरह से मन्दराचल के एकदम स्पन्दन रहित हो जाने पर ही क्षीर सागर शान्त हो जाया करता है ॥३॥ भोगों के करने के सङ्कल्पों की विभ्रम वाली इस मन की जो जो भी वृत्तियाँ हैं वे ही संसार रूपी विष वृक्षों की अंकुर पंक्तियाँ होती हैं ॥४॥ इस चित्तरूपी महान् व्याधि की चिकित्सा करने में एक परमोत्तम औषध है जो भी अपने ही अधीन है—सुन्दर स्वाद से युक्त है—सुखपूर्वक साधन करने के योग्य है और निश्चय ही फल के देने वाली अमोघ है। इसका आप अब श्रवण कीजिए। मैं आप

को बतलाऊँगा ॥ ५ ॥ जो अपने अभिमत को त्यागते हुए निरामय होकर स्थित रहा करता है बाहिरी फैलाव को अर्थात् इस दृश्य जगत् के सम्पूर्ण प्रपञ्च समुदाय को छोड़ने वाले उसने अपने मन को जीत ही लिया है ॥ ६ ॥ यह अपने अभीष्टों के त्याग ही वेदना का उपाय स्वरूप है जो कि अपने ही अधीन है और एकान्त हित का करने वाला है। जिस पुरुष के लिये यह करना कठिन प्रतीत होता है उस पुरुष कीट को धिक्कार ही है। जो कि स्वाधीन हित को भी करने में असमर्थ-सा रहा करता है ॥ ७ ॥

शास्त्रसंगमतीक्ष्णेन चिन्तातप्तमतापिना ।
छिन्धि त्वमायसेनायो मनसैव मुने मनः ॥८
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥९
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ।
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्त गतं यदा ॥१०
तां महापदवीमेकां कामप्यधिवसंश्चिरम् ।
चित्तं चिद्भक्षित कृत्वा चित्तादपि परो भव ॥११
भव भावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया ।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तं चित्तं ततः परम् । १२
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम् ।
तां महापदवीमेहि यत्र नासि न चेतरत् ॥१३
अनुद्वेगः श्रियो मूलमनुद्वेगात्प्रवर्तते ।
जन्तोर्मनोजयो येन त्रिलोकीविजयस्तृणम् ॥१४

शास्त्रों का सङ्गम जो अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण है अथवा शास्त्र और साधु-सङ्गम से तीक्ष्ण-अतापी मन से ही जिस तरह से अतापी (ठण्डे) लोह से तप्त लोह को छेदन क्रिया होती है उसी तरह से हे मुने ! अपने मन का छेदन करो अर्थात् योगक्षेम की चिन्ताओं से ताप-

तप्त मन को असंक्षुब्ध विवेकशाली मन से छेदन करो ॥ ८ ॥ अपने अभीष्ट नाना मनोरथों को त्याग कर देने के रूप वाले अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा साधन करने के योग्य अपने मन के प्रशम मात्र से ही मोक्ष होता है और इसके बिना कोई अन्य शुभ गति नहीं है ॥ ९ ॥ जिस समय में सङ्कल्पों के अभाव रूपी शास्त्र से यह चित्त छिन्न हो जाता है उस समय में सर्वगत सम्पूर्ण शान्त ब्रह्म सम्पन्न होता है ॥ १० ॥ उस अतर्कित महापदवी को जिसमें अनन्त जीव एक ही साथ बाधा रहित होकर सञ्चरण किया करते हैं प्राप्त कर चिरकाल तक अविश्राम करते हुए अर्थात् उसमें मन को धारण करते हुए चिन्ता से ग्रसित चित्त को चिन्मात्र शेष करके उस चित्त से भी पर हो जाइये ॥ ११ ॥ संसार की भावना से अर्थात् सांसारिक भोगों के जाल से मुक्त परमोत्तम बुद्धि से युक्त हो जाइये। अव्यग्र होते हुए आत्मा को धारण करो अर्थात् केवल आत्म-चिन्तन ही सबसे छुटकारा पाकर करो। इसके पश्चात् ब्रह्म में ही चित्त चिन्ताग्रस्त हो जाया करता है ॥ १२ ॥ मैं मनुष्य हूँ—इसका पुत्र हूँ तथा अमुक कार्य का करने वाला और उसका भोग भोगने वाला हूँ—ऐसा अभिमान रखने वाला तू जिस महा पदवी में नहीं है—तुझसे अलग अन्य जगत् नहीं है—ऐसी अद्वितीय ब्रह्म नाम वाली महा पदवी को ही चले जाओ और पौरुष का आश्रय लेकर इस चिन्तनशील चित्त को सङ्कल्पों से रहित अचित्त बना दो ॥ १३ ॥ मन में किसी भी प्रकार का कभी उद्वेग नहीं रहना चाहिए अर्थात् एकदम मन निश्चिन्त एवं एकनिष्ठ होना चाहिए क्योंकि श्री (कल्याण) का मूल अनुद्वेग ही होता है। जब उद्वेग नहीं रहता है तो अनुद्वेग से ब्रह्मनिष्ठ प्रवृत्ति हुआ करती है। मनुष्य का सर्वोपरि परम पुरुषार्थ यही है कि मन पर जय प्राप्त करे अर्थात् मन को पूर्ण नियन्त्रित कर लेवे जिस मनोजय ने सम्पूर्ण त्रिलोकी के ऊपर विजय प्राप्त करना एक तृण के ही समान तुच्छ है। मनोजयी पुरुष को त्रैलोक्य का विजय भी जैसा तृणवत् प्रतीत हुआ करता है ॥ १४ ॥

को बतलाऊँगा ॥ ५ ॥ जो अपने अभिमत को त्यागते हुए निरामय होकर स्थित रहा करता है बाहिरी फैलाव को अर्थात् इस दृश्य जगत् के सम्पूर्ण प्रपञ्च समुदाय को छोड़ने वाले उसने अपने मन को जीत ही लिया है ॥ ६ ॥ यह अपने अभीष्टों के त्याग ही वेदना का उपाय स्वरूप है जो कि अपने ही अधीन है और एकान्त हित का करने वाला है। जिस पुरुष के लिये यह करना कठिन प्रतीत होता है उस पुरुष कीट को धिक्कार ही है। जो कि स्वाधीन हित को भी करने में असमर्थ-सा रहा करता है ॥ ७ ॥

शास्त्रसंगमतीक्ष्णेन चिन्तातप्समतापिना।
छिन्धि त्वमायसेनायो मनसैव मुने मनः ॥८
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥९
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा।
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तं गतं यदा ॥१०
तां महापदवीमेकां कामप्यधिवसंश्चिरम्।
चित्तं चिद्भक्षितं कृत्वा चित्तादपि परो भव ॥११
भव भावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तं चित्तं ततः परम् ॥ १२
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्।
तां महापदवीमेहि यत्र नासि न चेतरत् ॥१३
अनुद्वेगः श्रियो मूलमनुद्वेगात्प्रवर्तते।
जन्तोर्मनोजयो येन त्रिलोकीविजयस्तृणम् ॥१४

शास्त्रों का सङ्गम जो अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण है अथवा शास्त्र और साधु-सङ्गम से तीक्ष्ण-अतापी मन से ही जिस तरह से अतापी (ठण्डे) लोह से तप्त लोह की छेदन क्रिया होती है उसी तरह से हे मुने! अपने मन का छेदन करो अर्थात् योगक्षेम की चिन्ताओं से अभि-

लप्त मन को असंक्षुब्ध विवेकशाली मन से छेदन करो ॥ ८ ॥ अपने अभीष्ट नाना मनोरथों को त्याग कर देने के रूप वाले अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा साधन करने के योग्य अपने मन के प्रशम मात्र से ही मोक्ष होता है और इसके बिना कोई अन्य शुभ गति नहीं है ॥ ९ ॥ जिस समय में सङ्कल्पों के अभाव रूपी शास्त्र से यह चित्त छिन्न हो जाता है उस समय में सर्वगत सम्पूर्ण शान्त ब्रह्म सम्पन्न होता है ॥ १० ॥ उस अतर्कित महापदवी को जिसमें अनन्त जीव एक ही साथ बाधा रहित होकर सञ्चरण किया करते हैं प्राप्त कर चिरकाल तक अविश्वास करते हुए अर्थात् उसमें मन को धारण करते हुए चिन्ता से ग्रसित चित्त को चिन्मात्र शेष करके उस चित्त से भी पर हो जाइये ॥ ११ ॥ संसार की भावना से अर्थात् सांसारिक भोगों के जाल से मुक्त परमोत्तम बुद्धि से युक्त हो जाइये । अव्यग्र होते हुए आत्मा को धारण करो अर्थात् केवल आत्म-चिन्तन ही सबसे छुटकारा पाकर करो । इसके पश्चात् ब्रह्म में ही चित्त चिन्ताग्रस्त हो जाया करता है ॥ १२ ॥ मैं मनुष्य हूँ—इसका पुत्र हूँ तथा अमुक कार्य का करने वाला और उसका भोग भोगने वाला हूं—ऐसा अभिमान रखने वाला तू जिस महा पदवी में नहीं है—तुझसे अलग अन्य जगत् नहीं है—ऐसी अद्वितीय ब्रह्म नाम वाली महा पदवी को ही चले जाओ और पौरुष का आश्रय लेकर इस चिन्तनशील चित्त को सङ्कल्पों से रहित अचित्त बना दो ॥ १३ ॥ मन में किसी भी प्रकार का कभी उद्वेग नहीं रहना चाहिए अर्थात् एकदम मन निश्चिन्त एवं एकनिष्ठ होना चाहिए क्योंकि श्री (कल्याण) का मूल अनुद्वेग ही होता है । जब उद्वेग नहीं रहता है तो अनुद्वेग से ब्रह्मनिष्ठ प्रवृत्ति हुआ करती है । जन्तु का सर्वोपरि परम पुरुषार्थ यही है कि मन पर जय प्राप्त करे अर्थात् मन को पूर्ण नियन्त्रित कर लेवे जिस मनोजय से सम्पूर्ण त्रिलोकी के ऊपर विजय प्राप्त करना एक तृण के ही समान तुच्छ है । मनोमयी पुरुष को त्रैलोक्य का विजय कर लेना तृणवत् प्रतीत हुआ करता है ॥ १४ ॥

ध्यानतो हृदयाकाशे चितिचिच्चक्रधारया ।
मनो मारय निःशङ्कं ततो बध्नन्ति नाधयः ॥१५
यदि रम्यमरम्यत्वे त्वया संविदितं विदा ।
छिन्नान्येव तदङ्गानि चित्तस्येति मतिर्मम ॥१६
अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः ।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥१७
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते ।
वातेनाकल्पनेनैवं तथान्तर्धूयते मनः ॥१८
कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥१९
असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे ।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥२०
संकल्पमात्रविभवेन मनोरिणा त्वं
निर्जीयसे विविधवस्तुनिदर्शनेन ।
संतोषमात्रविभवेन मनो विजित्य
नित्योदितेन सुखमेहि निरीप्सितेन ॥२१

हृदयाकाश में अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों के भावाभावों में और सन्धि की साक्षी भाव से प्रतीयमान विषय में ध्यान से प्रवृत्त हुई ज्ञानचक्र की धार से मन को मारो अर्थात् ज्ञान के बल से मन को काबू में करो और फिर जब मन पर आपने नियन्त्रण कर लिया तो निःशङ्क होजाओ क्योंकि फिर ये मानसिक व्यथाएँ तुमको नहीं बाँध सकती हैं। तात्पर्य यह है कि मन वश मे होगया तो फिर सांसारिक बन्धनों से विमुक्ति होजाया करती है ॥१५॥ यह मानव का मन स्वाभाविक रूप से ही बाहिरी सांसारिक दृश्य विषयों की ओर ही झुका करता है अर्थात् इसका झुकाव विषय वासनाओं की ओर ही स्वभाव से ही रहा करता है। इसीलिये इसको आध्यात्मिक ज्ञान कभी नहीं हुआ करता है अतएव

विवेकशील तूने संसार में रमणीय वस्तु को अरम्य के स्वरूप से समझ लिया अर्थात् ऐहिक रम्यता को हृदय में स्थान नहीं दिया और उसको विनाशशील एवं परम तुच्छ हेय मान लिया। राग जिसका मूल है ऐसे सांसारिक विषयों में रमणीयता के अभ्यास की निवृत्ति ही हो जायगी और फिर विषयानुराग की निवृत्ति से चित्त की वृत्तियाँ एकदम छिन्न हो जायगी—ऐसा मेरा विचार है। क्योंकि विषयों की रमणीयता का ग्रहण करने ही से चित्त उनकी ओर दौड़ता रहता है ॥१६॥ इस मन के छेदन करने का शस्त्र सङ्कल्पों का नहीं करना ही होता है। मैं यह हूँ मैं वह हूँ—ये अभिज्ञा—प्रत्याभिज्ञाएँ—यह वस्तु मेरे निकट में है और यह वस्तु मेरे पास नहीं है—यह वस्तु मेरी है मैं इसका स्वामी हूँ—इतना ही सङ्कल्पात्मक जो स्वरूप है वही मन है और यही बन्धन का कारण है। इन सब प्रकार के संकल्पों के अभाव की भावना वाला ही छेदन करने वाला अस्त्र है उसी से यह छेदन किया जाया करता है अर्थात् सङ्कल्पों का त्याग ही मन को वश में कर उसे अपङ्ग बना देना है ॥१७॥ शरद् काल में जिस प्रकार से व्योम में मेघों का मण्डल छिन्न-भिन्न होकर वायु के द्वारा प्रकम्पित कर दिया जाया करता है उसी भाँति से सङ्कल्पों के न करने से यह मन भी अन्दर ही कम्पित हो जाया करता है अर्थात् स्व-कीय स्वाभाविक क्रियाओं से हीन होकर वश में होजाता है ॥ १७ ॥ सांसारिक विषयों एवं पदार्थों की रमणीयता का जब यह मन अनुभव करता है तो उनमें इसका अनुराग उत्पन्न हो जाता है अनुराग से आसक्ति होने लगती है फिर उनके प्राप्त करने की चिन्ता और प्रयत्न किया करता है न प्राप्त होने पर शोक तथा विरोधी बाधक होने से भय आदि अनेक विक्रियायें मन में हुआ करती है ये ही सब बन्धन करने वाले हैं। सङ्कल्पों से रहित बिना मन वाले आत्मा को क्षति कभी भी नहीं होती है। सङ्कल्पात्मक होने ही से यह आत्मा मन का स्वरूप धारण किया करता है। चाहे विनाशक कितने ही प्रबल क्यों न हो इस सङ्कल्प रहित आत्मा का विनाश कोई भी नहीं कर सकता है भलेही कल्पना की

भीषण वायु चले—सभी सागर एक होकर यह जगत् समुद्रमय होजावे और चाहे बारहों सूर्य तपें यह सम्पूर्ण जगत् के विनाशक हैं किन्तु ये भी आत्मा का विनाश नहीं कर सकते हैं ॥ १९ ॥ वह ब्रह्म पद संकल्पों के अभाव ही से प्राप्त होता है जब तक संकल्पों के करने का ताला लगा रहेगा ब्रह्म पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस पद की प्राप्ति समस्त सिद्धियों के प्रदान करने वाली है। अतएव निर्विकल्पक समाधि ही अतिशयित सामाग्य है उस पर वह ब्रह्म स्वरूप का पद अवलम्बित है उस पर संकल्पों का त्याग कर स्थित हो जाओ ॥ २० ॥ संकल्प ही के वैभव को धारण करने वाले मन रूपी शत्रु के द्वारा तेरे ऊपर विजय की प्राप्ति होती है क्योंकि वह संकल्पों के द्वारा नाना पदार्थों और विषयों को दिखाया करता है। ऐसे अधःपतन की ओर ले जाने वाले मन रूपी शत्रु को सन्तोषमात्र के वैभव वाले मन के द्वारा ही पराजित करके स्वयं प्रकाश होने से सर्वदा भासित और सब प्रकार की इच्छाओं से रहित मन के द्वारा सुख का लाभ करो ॥२१॥

परमपावनया हिमशीतया
समतया मतयात्मविदामहि ।
शमितया मितयान्तरहन्तया
यदवशिष्टमजं पदमस्तु ॥२२

नहि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन विद्यते ।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥२३
येषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिस्तत्त्वसंस्थिता ।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥२४
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते ।
तदेव च तपः शास्त्रं सिद्धान्तो मोक्ष उच्यते ॥२५
तस्य चञ्चलता येषा त्वविद्या राम सोच्यते ।
वासनापरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥२६

अविद्यया वासनया तयान्तश्चित्तसत्तया ।
विलीनया त्यागवशात्परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥२७
यत्तत्सदसतोर्मध्यं यन्मध्यं चित्तजाड्ययोः ।
तन्मनः प्रोच्यते राम द्वयदोलायिताकृति ॥२८

आत्मज्ञान के ज्ञाताओं को सम्मत—परम पावन हिम और शीत वाली समता से अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट की प्राप्ति में हर्ष तथा विषाद से रहित सम्भावना से ध्यानाभ्यास के द्वारा परिच्छिन्न और अहंभाव से शमित बुद्धि से जो अवशिष्ट पद है वही ब्रह्मपद है अर्थात् समता पूर्वक ध्यानाभ्यास से अहङ्कार के शमित होजाने पर जो तुरीयाख्य अनिन्दित रूप है वह आपको होवे ॥२२॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—यह मन बहुत ही चञ्चल है क्योंकि चञ्चलता ही इस मन का धर्म है जैसे अग्नि का उष्णता धर्म होता है अतएव यह मन कहीं पर भी निश्चल नहीं रहा करता है यह चञ्चल स्पन्दन शक्ति ही चित्तत्व के स्वरूप से स्थित है अर्थात् परम चञ्चल जो यह स्पन्दन की शक्ति है उसी को चित्त कहा जाता है उसी शक्ति को मानसी अर्थात् मन की शक्ति समझना चाहिये जो कि इस दृश्य जगत् के आडम्बर के स्वरूप वाली है ॥२४॥ जो चञ्चलता से हीन मन है उसी को अमृत कहा जाता है अर्थात् वही मोक्ष है। वही तप है और शास्त्र श्रवण है अर्थात् शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है और वही मोक्ष है ॥ २५ ॥ हे राम ! यह जो इस मन की चञ्चलता है वही अविद्या इस नाम से कही जाती है। इसका अज्ञान ही कार्य है इसीलिये इसको अविद्या कहते हैं। इसका मूल वासना है अतएव इसका दूसरा नाम वासना भी कहा जाता है। इसको विवेक के द्वारा विनष्ट करदो ॥२६॥ चित्त के अन्दर स्थित जो यह अविद्या वासना है इसको अभिमत वस्तुओं के त्याग से विलीन करके परम श्रेय की प्राप्ति की जाया करती है त्याग ही परम साधन है ॥२७॥ हे श्रीराम ! सत् आत्मा और असत् अनात्म धर्म इन दोनों के मध्य में स्थित तथा चैतन्य और जाड्य के मध्य में स्थित इन दोनों में दोलायित आकृति वाला ही मन कहा

कहा जाया करता है। चैतन्य ही संकल्पात्मक होकर जाड्य में अभि-निविष्ट हो जाने पर जड़ होकर मन का स्वरूप धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

जाड्यानुसंधानहृतं जाड्यात्मकतयेद्धया ।
चेतो जडत्वमायाति दृढाभ्यासवशेन हि । २९
विबोधैकानुसंधानाच्चिदंशात्मतया मनः ।
चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासवशादिह ॥३०
पौरुषेण प्रयत्नेन तस्मिन्नेव पदे मनः ।
योज्यते तत्पदं प्राप्य भवत्यभ्यासतो हि यत् ॥३१
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा ।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥३२
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे ।
अराजा किं समर्थः स्याद्राज्ञो राघव विग्रहे ॥३३
तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम् ।
आवर्तैरुह्यमानानां दूरे स्वं मन एव नौः ॥३४
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम् ।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥३५

जड़ पदार्थों की चिन्ता से यह वशीकृत चित्त रात–दिन सुदृढ़ चिन्ता के अभ्यास से दीप्त जाड्यात्मक अभिवृद्धि से यह जड़त्व के स्वरूप को प्राप्त होजाया करता है। सांसारिक जड़ पदार्थ एवं विषय तथा देहादि की प्रधानता मानने वाला महान् जड़ होजाता है ॥२९॥ विशेष बोध के स्वरूप वाले साक्षी एक में ही अनुसन्धान से चिदंशात्मता के होने से यह मन सुदृढ़ अभ्यास से चिद् के साथ एकात्मता को प्राप्त कर लिया करता है। यह मन चित् का ही एक संकल्पात्मक अंश है अतएव जब वह 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—इस प्रकार का निरन्तर अनुसन्धान करता है तो यह मन चिदाकार होकर भिन्न स्वरूपता त्यागते हुए एक ही स्वरूप वाला हो जाया करता है अर्थात् चित्त और आत्मा का कोई भी भेद प्रतीत नहीं

होता है ॥३०॥ उसी वस्तु में पुरुषार्थ और प्रयत्न से मन को योजित किया जाता है। अभ्यास से यह उस पद को प्राप्त करके वही हो जाया करता है अर्थात् फिर कोई भेद प्रतीत नहीं होता है ॥ ३१ ॥ अतएव पुरुषार्थ का समाश्रय ग्रहण करो और विवेक से चित्त का समाक्रमण करके शोक रहित पद का अवलम्बन करके निरुपद्रव होते हुए स्थिर हो जाओ ॥३२॥ हे राघव ! इस मन के सुदृढ़ निग्रह करने में मन ही समर्थ हुआ करता है जो राजा नहीं है वह क्या किसी भी राजा का निग्रह करने में समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मन के विवेक सम्पन्न होजाने पर ही मन के संकल्पों का त्याग किया जा सकता है। अन्य इसके नियन्त्रण करने का कोई साधन नहीं है ॥ ३३ ॥ तृष्णा विषयों के उपभोग करने की उत्कट अभिलाषा ही ग्राह के समान है उनसे ग्रहीत पकड़े या जकड़े हुए और इस संसार रूपी सागर में गिरे हुए तथा दारा-धन आदि आवर्त्तों (भौंरों) से दूर ले जाये गये प्राणियों का अपना उनका मन ही नौका का कार्य किया करता है। ऐसे जीवों का तरण उनके मन ही के द्वारा हो सकता है अन्यथा वे इसी भाँति इस संसार रूपी सागर में तरा-डूबी करते हुए जन्म-मरण के बन्धनों में पड़े रहा करते हैं और उद्धार नहीं होता है ॥३४॥ मन के द्वारा ही अर्थात् विवेक सम्पन्न मन से ही मन का अर्थात् अभीष्ट प्राप्ति के अनेक संकल्पों से परिपूर्ण मन का छेदन करके जो कि परम बन्धन का एक पाश के तुल्य है अपनी आत्मा को इस संसार से उद्धार करो अन्य किसी के भी द्वारा यह नहीं पार किया जाता है ॥३५॥

यथोदेति मनोनाम्नी वासनावासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥३६

भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्प सुखी भव ॥३७

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च ।
यद्यत्संविदितं किंचित्तत्रास्थाः परिवर्जनम् ॥३८

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ।
अनेनैव प्रयत्नेन ब्रह्म संपद्यते क्षणात् ॥३९
अविद्याऽविद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु विद्यते ।
नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥४०
अविद्याविभवप्रोत्थं निविडं पुरुषस्य हि ।
नश्यत्यान्ध्यं कथमिदं भूयोऽपि भगवन्वद ॥४१
तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनाम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रदुःखकण्टकशाखिषु ॥४२
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयदायिनी ॥४३

जिसने मन के भाग को नसित कर दिया है ऐसी मन नाम वाली वासना जिससे अर्थात् वासना मूल वृत्ति उदित हुआ करती है उसको ज्ञाता पुरुष के द्वारा त्याग कर देना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि अविद्या का क्षय हो जायगा। वासनामूल वृत्ति के नष्ट होजाने से संस्कार उत्पन्न हो जाता है—ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त भी है ॥३६॥ सांसारिक विषयों के भोगों की एक वासना जो मन के अन्दर बैठी हुई है उसका त्याग करो अर्थात् विषयों के क्षणिक एवं तुच्छ कल्पित सुख समझ कर उन्हें त्याग दो। इसके आगे भेद की बुद्धि की जो मैं भोक्ता हूँ ऐसा मेरा भाग्य है ऐसी भेद बुद्धि वासना है उसका त्याग करो। इसके उपरान्त भावाभाव अर्थात् भेदियों का त्याग करके निर्विकल्प होते हुए सुखी हो जाओ ॥ ३७ ॥ यही मन का नाश है और यही अविद्या का नाश है। जो जो कुछ संविदित हो वहीं पर इसका परिवर्जन होता है अर्थात् विषयों में रमणीयता का जो अभ्यास होता है उसका त्याग होना चाहिए ॥ ३८ ॥ विषयों की उत्तमता एवं रमणीयता समझ कर जो उनके भोग की आस्था है उसका त्याग ही निर्वाण है और उस प्रकार की आस्था (सुदृढ़ विश्वास) का ग्रहण करना ही दुःख है अर्थात् बन्धन है। इसी प्रयत्न से अर्थात् पूर्ण अनास्था से क्षण भर में ही ब्रह्म

की सम्प्राप्ति हो जाया करती है ॥ ३९ ॥ अविद्या कोई भाव पदार्थ ही नहीं है जो विद्यमान रहता है वह तो विवेक का अभाव स्वरूप है जो कि प्रज्ञा के नाश होने वाले मनुष्यों में रहती है (केवल नाम से ही) उसके आकार को स्वीकार किया गया है। भलीभाँति प्रज्ञा जिस व्यक्ति में है उसमें अविद्या का काम ही क्या है। अर्थात् ज्ञानी और विवेकशील में वह होती ही नहीं है ॥ ४० ॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन् ! अविद्या के वैभव से अत्यन्त गहरा अन्धकार पुरुष को उत्पन्न हो जाया करता है। यह अन्धता कैसे नष्ट हो सकती है ? इस विषय पर आप फिर कुछ प्रकाश डालिये ॥ ४१ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—दुःखरूपी काँटों से युक्त नीरन्ध्र छिद्र रहित अर्थात् सघन वृक्षों वाले संसार के जानुओं पर अपनी आत्मा के साथ देहियों को तभी तक आन्दोलित किया करता है जब तक यह अविद्या है और इस अविद्या के क्षय के करने वाली स्वयं ही आत्मा के अवलोकन करने की मोह के संक्षय को देने वाली इच्छा उत्पन्न नहीं हुआ करती है। यह उत्पन्न होते ही उस अविद्या का नाश हो जाया करता है ॥ ४२, ४३ ॥

अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
दृष्टे सर्वगते वोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ॥४४
इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चासंकल्पशस्त्रेण सिद्धो भवति राघव ॥४५
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये ।
कालिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥४६
यावत्किंचिदिदं दृश्यं साविद्या क्षीयते च सा ।
सात्मभावदया ब्रह्मन्नात्मासौ कीदृशः स्मृतः ॥४७
चेत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥४८
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यं चिद्धनमव्ययम् ।
कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥४९

इस अविद्या से परे जो परमात्मा है उसको देखने वाली विद्या से स्वात्म नाश हो जाया करता है अर्थात् द्वैतभाव नहीं रहता है। सर्वगत बोध के देखने पर यह अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाया करती है ।। ४४ ।। सांसारिक पदार्थों के और विषयों के रम्यत्व के अभ्यास से जो भोगेच्छा होती है यही अविद्या है और इस प्रकार के संकल्पों का नाश का हो जाना ही मोक्ष है। हे राघवेन्द्र ! यह मोक्ष असंकल्प रूपी शास्त्र के द्वारा ही सिद्ध हुआ करता है ।। ४५ ।। इस मनरूपी व्योम में वासना-रूपिणी रात्रि के थोड़े से भी क्षय हो जाने पर—अर्थात् थोड़ा सा भी वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर फल की प्राप्ति होती है यदि पूर्ण वैराग्य हो जाय तो कहना ही क्या है। यह अविद्या के अन्धकार का समुदाय ज्ञान-रूपी आदित्य के प्रकाश से नष्ट हो जाया करता है ।। ४६ ।। श्रीराम ने कहा हे ब्रह्मन् ! जब तक यह दृश्य जगत् कुछ विद्यमान है और वह अविद्या क्षीण हो जाती है तो आत्मा की भावना से यह आत्मा कैसा बतलाया गया है ? ।। ४७ ।। महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—जिस प्रकार से ज्ञेय की अनुगति से रहित अन्तःकरण शब्दादि ज्ञेयों का अनुगमन किया करता है उस प्रकार से सामान्यतय सबमें रहने वाला यह चित्तत्व अनाख्येय है अर्थात् विषयों की सन्निधि में भी विकारों से रहित होता है। सम्पूर्ण विशेषताओं से रहित—परिपूर्ण—सत्य जो चैतन्य है वह आत्मा है और परमेश्वर है ।। ४८ ।। यह सभी कुछ जो भी दृश्य है वह नित्य—चिद्घन—अव्यय ब्रह्म ही है और इससे अन्य मन नाम वाली कोई भी कल्पना नहीं है। सभी कल्पनाएं मन का ही एक विलास मात्र ही है उसी को 'मन'—इस नाम से कहा गया है ।। ४९ ।।

तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे ।
शान्ते समसमाभोगे निर्विकारोदितात्मनि ॥५२
यैषा स्वभावातिगतं स्वयं संकल्प्य धावति ।
चिच्चेत्यं स्वयमम्लाना मननान्मन उच्यते ॥५३
एतस्मात्सर्वगाद्देवात्सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
विभागकल्पनाशक्तिर्लहरीवोत्थिताम्भसः ॥५४
अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति ।
येनैव जाता तेनैव वह्निज्वालेव वायुना ॥५५
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः ।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः ॥५६

यदि यह सभी असत् है तो जन्मादि षड्भाव विकार वत्ता से उपलभ्यमान यह जगत् कैसे विद्यमान है—इसका उत्तर देते हुए कहते हैं इस जगन्त्रय में कुछ भी न तो उत्पन्न ही होता है और न कुछ मरता ही है। यहाँ पर कहीं भी भावों के विकारों की सत्ता नहीं है ॥ ५० ॥ केवल अर्थात् अद्वितीय और प्रमाण के बिना ही प्रकाश देने वाला—ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सबमें सामान्य रूप से समवस्थित और अन्य शब्दादिज्ञेयों के अनुपात से रहित यहां पर चिन्मात्र विद्यमान है। अन्य ज्ञेय पदार्थों में जैसा आकार होता है वैसा न होकर यह केवल चित् रूप से ही विद्यमान रहता है ॥ ५१ ॥ वह नित्य—व्याप्त—शुद्ध—अत्यन्त सम परिपूर्णता से युक्त—चिन्मात्र—निर्विकार—शान्त और निरुपद्रव आत्मा में जो यह जडाजड़ लक्षण वाली चित् सत्य ज्ञानादि स्वरूप अपने आप के विपरीत जड़ादि के स्वरूप वाले इस दृश्य जगत् का संकल्प करके दौड़ता है और अपने अधिष्ठान चिन्मात्र को नहीं देखता है वह स्वयं अम्लान होते हुए भी अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप वाला होते हुए भी उपाधियों के संश्लेष होने से 'मन'—इस नाम से कहा जाता है। अर्थात् वह म्लान के समान प्रतीयमान हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि मन कोई अन्य पदार्थ नहीं है यही आत्मा जब दृश्य विषयों का संकल्प करता है

तो मन कहलाता है ।। ५२, ५३ ।। इस सर्वशक्तिमान् महान् आत्मा की ही इस सर्ग से अर्थात् दृश्य जगत् के पदार्थों में रम्यतापारक संकल्पों के विभाग की कल्पना शक्ति जल की तरङ्ग के ही समान मन के स्वरूप से समुपस्थित हुआ करती है ।५४।। अतएव यह मन'—इस नाम वाली कल्पना शक्ति उचित कारण से रहित है और केवल संकल्पों से ही यह सिद्ध होती है। वह निर्विकार ब्रह्म इसका उचित कारण नहीं है अपितु प्रतिभास से ही यह सिद्ध होती हुई संकल्प से इस अपने ब्रह्म के स्वरूप का नाश कर देती है। जिससे यह उत्पन्न होती है वायु के द्वारा वह्नि की ज्वाला के ही समान उससे ही इसका विनाश होता है ।। ५५ ।। मैं ब्रह्म नहीं हूं—ऐसा ज्ञान सुदृढ़ संकल्प होता है तो यह मन बद्ध हो जाया करता है क्योंकि अद्वैत भावना नष्ट होकर इसका केवल संकल्पात्मक रूप हो जाया करता है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है—इस प्रकार की व्यापक भावना जिस समय इस मन में हो जाती है तो इस सुदृढ़ संकल्प से यही मन जो कि आत्मा का ही एक स्वरूप है मुक्त हो जाया करता है अतएव मन ही बन्ध और मोक्ष का स्वयं कारण बनता है और इसकी क्रिया के भेद से मोक्ष हुआ करता है।।५६।।

कृशोऽतिदुःखी बद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ।।५७
नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कस्यात्मनः स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ।।५८
नाहं मांसं न वास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।
इति निश्चयवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ।।५९
कल्पितंवमविद्येयमनात्मन्यात्मभावना ।
पुरुषेणाप्रबुद्धेन न प्रबुद्धेन राघव ।।६०
मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः ।
क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः ।।६१

परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया ।
भोगाशाभावनां चित्तात्समूलामेवशुद्धरेत् ।।६२
मम पुत्रा मम धनमयं सोऽहमिदं मम ।
इतीयमिन्द्रजालेन वासनैवाधिवल्गति ।।६३

मैं बहुत कृश हो गया हूँ—मैं अत्यन्त दुःखित हूँ तथा संसार के ग्रन्थों में फँसा हुआ बद्ध हूँ—मेरा यह शरीर हाथ पैरों तथा समस्त इन्द्रियों वाला है—इस प्रकार के जो इस जगत् में नाना भावों से युक्त होकर व्यवहार भी उसी के अनुरूप किया जाता है उसी से यह बन्धन में बँध जाया करता है ।। ५७ ।। मुझे कुछ भी दुःख नहीं है और मेरा यह शरीर भी नहीं है । इस व्यापक चिदंश आत्मा का बन्धन हो क्या है—इस प्रकार के भाव के अनुकूल ही व्यवहार जब किया जाता है तो यह मुक्त हो जाया करता है ।। ५८ ।। मैं मांसधारी नहीं हूँ—न मेरी ये हड्डियाँ ही हैं—मैं तो इस देह से अन्य ही पर हूँ । इस हाड़, मांस के देह में मेरी स्थिति मात्र ही है बाकी मेरा इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—इस प्रकार का सुदृढ़ निश्चय वाला जिसके अन्तःकरण में अविद्या का क्षय हो गया है विमुक्त हो जाया करता है ।। ५९ ।। यह अविद्या तो कल्पित है और इसी प्रकार से जो देहादिक अनात्मा हैं उनमें ही आत्म भावना के स्वरूप वाली यह अविद्या कल्पना की हुई होती है । हे राघवेन्द्र ! जो पुरुष ज्ञानहीन होते हैं उन्हीं को ऐसी कल्पित भावना—"मैं-मेरी" की उठा करती है किन्तु जो प्रबुद्ध पुरुष होते हैं उनको नहीं होती है ।। ६० ।। यह मन केवल संकल्पों के करने ही से बन्धन में डालने वाला नहीं होता है प्रत्युत जो यह संकल्प किया करता है उनके अनुसार इन्द्रियों को भी विषयों के उपभोग करने में प्रवृत्त किया करता है और ये इन्द्रियाँ तुरन्त ही राजा की आज्ञा को मन्त्रियों के द्वारा पालन करने की ही भाँति उन-उन विषयों के उपभोग करने में लग जाया करती हैं तथा उनमें एक मिथ्या आनन्दास्वाद का अनुभव किया करती हैं ।। ६१ ।। विषयों में अनुराग की वासना से ही मन को बन्धन

की हेतुता होती है और उस राग वासना के न रहने पर कोई भी बन्धन नहीं होता है। अतएव उस राग वासना का त्याग कर ही देना चाहिए। परमोत्तम बुद्धि से अर्थात् श्रेष्ठ विवेक के द्वारा यत्न पूर्वक पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करो और भोगों की आशा की भावना को चित्त से मूल सहित निकाल देना चाहिए। यदि भोग सामने उपस्थित हो तो उसको रमणीयता के आस्वाद से शून्य समझते हुए भोगने से कोई हानि नहीं जो भोगों के प्राप्त करने की आशा से हानि होती है। अतएव इनको समूल निकाल देना चाहिए ॥ ६२ ॥ ये मेरे पुत्र हैं—यह मेरा धन है—मैं इस पद पर समारूढ़ हूं और यह सब कुछ मेरा ही वैभव है और इन पर मेरा आधिपत्य है—इस प्रकार से इन्द्रियों के जाल के द्वारा जो भावना है वही वासना होती है ॥ ६३ ॥

माभवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारवासनाम् ।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥६४
कस्तवायं जडो मूको देहो भवति राघव ।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥६५
अहो नु चित्रं यत्सत्य ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
यदसत्यमविद्याख्यं तत्पुरः परिवल्गति ॥६६
तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना ।
स्फटिकस्येव चित्राणि प्रतिबिम्बानि गृह्णतः ॥६७
एवमुक्तो भगवता वसिष्ठेन महात्मना ।
विकासितान्तःकरणो रामो गिरमथाददे ॥६८
अहो विचित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ॥६९
इदं तद्वज्रतां यातं तृणमत्र जगत्त्रये ।
अविद्ययापि यन्नाम सर्गो निगडबन्धनः ॥७०
अन्यच्च संशयोऽयं मे महात्मन्हृदि वर्तते ।
लवणोऽसौ महाभागः किंनामा पदमाप्तवान् ॥७१

इस संसार के स्वरूप से प्रज्ञ मत रहो और संसार के स्वरूप के ज्ञाता बनो। यह सम्पूर्ण संसार विनाश शील ऊपर का एक दिखावा मात्र ही है—इसमें कुछ भी सार नहीं है—इसमें अपनेपन का अभिनिवेश बन्धन का हेतु है—ऐसा ज्ञान रखो और इस सांसारिक भोगों की वासना का त्याग कर दो तथा आत्मा में ही आत्म भावना करो अर्थात् यह आत्मा नित्य—चित्स्वरूप—शान्त—निर्विकार और व्यापक है ऐसी भावना रखो। हे राघवेन्द्र ! क्यों आप एक अविवेकी के समान ही रुदन किया करते है ॥ ६४ ॥ हे राघव ! यह जड़—मूक देह आपका कौन है अर्थात् इससे आपका क्या सम्बन्ध है ? तात्पर्य यह है कि आत्मा से इस देह का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है जो कुछ भी है वह क्षणिक है। इस देह के लिये ही सुख-दुःखों से अवश होकर क्यों परिभव को प्राप्त हो रहे हैं ? यह आपका आत्मा तो आनन्द स्वरूप है इसको देह के वश पाकर परिभव मत प्राप्त करो ॥ ६५ ॥ अहो ! यही एक बहुत विचित्र बात है कि जो वास्तविक सत्य ब्रह्म है उसको मनुष्य एकदम भूल ही गये हैं। उस ब्रह्म का लेश मात्र भी ध्यान तक नहीं किया करते हैं और जो असत्य और अज्ञान स्वरूप यह दृश्य जगत् तथा सांसारिक विषय एवं पदार्थ हैं उनमें ही ये रमण किया करते हैं अर्थात् उनके उपभोगों को ही प्रधान कर्त्तव्य समझ कर उन्हीं में फँसे रहा करते हैं ॥ ६६ ॥ इस अविद्या के निराश करने के लिये प्रयत्न करते हुए आपको मुक्ति आदि कार्यों को करते हुए भी उनमें राग नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार से स्फटिक मणि चित्रों के प्रतिबिम्बों को ग्रहण किया करती है उसी तरह से राग रहित होते हुए भोगों का उपभोग करो। विषयों में रम्यतानुभव का राग और आसक्ति नहीं होनी चाहिए ॥ ६७ ॥ महाकवि बाल्मीकि ने कहा—महात्मा वसिष्ठ जी के द्वारा इस प्रकार से जब श्रीराम जी से कहा गया तो उनका अन्तःकरण विकसित हो गया था और श्रीराम ने फिर इस तरह की वाणी कही थी ॥ ६८ ॥ श्री राघवेन्द्र ने कहा—अहो ! कैसी विचित्र बात है कि पद्म के उत्पन्न तन्तुओं से पर्वतों को बाँध

दिया गया है अर्थात् पद्म तन्तु जैसे कोमल वस्तु से अद्रि के बन्धन के तुल्य ही आश्चर्य देखा गया है। यह अविद्या वस्तुतः कुछ भी नहीं है फिर भी इसके द्वारा इस समस्त विश्व को पुरुषार्थ से रहित बना दिया गया है अर्थात् ऐसा शून्य जड़ीभूत कर दिया है कि यह सत्स्वरूप आत्म-ज्ञान को एकदम भूलकर सांसारिक विषयों में लिप्त बन गया है।। ६६ ।। इस त्रिलोकी में यह तृण के समान वज्र जैसी बन गयी है जो कि अविद्या इस नाम को धारण कर समस्त प्रपञ्च को बाँधकर कसे हुए है ।। ७० ।। हे महात्मन् ! मेरे हृदय में एक और संशय विद्यमान है वह यह है कि यह लवण महाभाग जो था उसने किस पद को प्राप्त किया था ? ।। ७१ ।।

अत्र ते शृणु वक्ष्यामि वृत्तान्तमिममद्भुतम् ।
लवणोऽसौ यथा जातश्चण्डालत्वं मनोभ्रमात् ।।७२
मनः कर्तृ फलं भुङ्क्ते न शरीरं क्रियाफलम् ।
येनैतद्वुध्यसे नूनं तदाकर्णय राघव ।।७३
हरिश्चन्द्रकुलोत्थेन लवणेन पुरानघ ।
एकान्तेकोपविष्टेन चिन्तितं मनसा चिरम् ।७४
पितामहो मे सुमहान् राजसूयस्य याजकः ।
अहं तस्य कुले जातस्तं यजे मनसा मखम् ।।७५
इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा संभारमग्रतः ।
राजसूयस्य दीक्षायां प्रविवेश महीपतिः ।।७६
ऋत्विजश्चाह्वयामास सन्मुखीकृत्य देवताः ।
देवानामन्त्रयामास ज्वालयामास पावकम् ।।७७

महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा—इस विषय में मैं एक अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त कहता हूँ। इसका आप श्रवण कीजिए। जिस प्रकार से अपने ही मन के भ्रम से यह लवण चण्डालत्व को प्राप्त होगया था ।।७२।। यह मन ही संकल्पों को करके इन्द्रियों को कर्म में प्रवृत्त करता है। अतएव यही कर्त्ता है इसलिये क्रिया का फल भी यही भोगता है। यह

शरीर नहीं भोगता है। हे राघव ! जिस वृत्तान्त से इसको आप भली-भाँति समझ लेवें वही अब सुनिये ॥ ७३ ॥ हे राघव ! राजा हरिश्चन्द्र के कुल में समुत्पन्न लवण ने पहिले जब यह बिल्कुल अकेला ही एकान्त में बैठा था तब मन से बहुत समय तक यह विचार किया था ॥ ७४ ॥ मेरे पितामह हरिश्चन्द्र सुमहान् राजसूय यज्ञ के यजन करने वाले हुए थे। मैं उनके ही कुल में समुत्पन्न हुआ हूँ इसलिये मैं मनोयोग के द्वारा उस यज्ञ का यजन करूँ ॥ ७५ ॥ ऐसा सञ्चिन्तन करके मन से ही अपने आगे सम्पूर्ण सम्भार एकत्रित करके वह राजा राजसूय यज्ञ की दीक्षा में प्रवेश कर गया था ॥ ७६ ॥ उसने ऋत्विजों का आह्वान किया था और सब देवों को भी अपने सम्मुख स्थित कर लिया था। देवों का आमन्त्रण किया और अग्नि को प्रज्वलित कर दिया था ॥ ७७ ॥

तस्येत्थं यजमानस्य मनसोपवनान्तरे।
ययौ संवत्सरः साग्रो देवर्षिद्विजपूजया ॥७८
भूतेभ्यो द्विजपूर्वेभ्यो दत्वा सर्वस्वदक्षिणाम्।
व्यबुध्यत दिनस्यान्ते स्व एवोपवने नृपः ॥७९
एवं स लवणो राजा राजसूयमवाप्तवान्।
मनसैव हि जुष्टेन युक्तस्तस्य फलेन च ॥८०
अतश्चित्तं परं विद्धि भोक्तारं सुखदुःखयोः।
जन्मनः पावनोपाये सत्ये योजय राघवौ। ८१
शृणु शाम्बरिकस्याथ वृत्तान्तं रघुनन्दन।
यदा शाम्बरिकः काले संप्राप्तो लावण समाम् ॥८२
तदाहमवसं तत्र तत्प्रत्यक्षेण दृष्टवान्।
अहं सभ्यैस्ततत्र गते शाम्बरकारिणि ॥८३
किमेतदिति यत्तेन पृष्टेन पृथिवीभुजा।
चिन्तयित्वा मया दृष्टना तत्र तत्कथितं बचः ॥८४

इस प्रकार से मन की भावना से ही उस उपवन के मध्य में यजन करते हुए देव-ऋषि और विप्रों की पूजा में डेढ़ वर्ष व्यतीत हो गया था ॥ ७८ ॥ भूतों को और द्विजों को सर्वस्व दक्षिणा में देकर दिन के अन्त समय में अपने ही उस उपवन में वह राजा अब वुद्ध हुआ था ॥ ७९ ॥ इस प्रकार से उस लवण राजा ने राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त कर लिया था। वह यज्ञ केवल मन की ही भावना से किया गया था और उसके फल से युक्त हो गया था ॥ ८० ॥ हे राघवेन्द्र ! इसलिये इस चित्त को ही सुख और दुःख दोनों का भोगने वाला प्रमुख समझलो। जन्म के परम पावन उपाय सत्य में इस चित्त को योजित करो ॥ ८१ ॥ हे रघुनन्दन ! इसके अनन्तर उस शाम्बरिक (जादूगर) का वृतान्त भी आप श्रवण करिए। जिस समय में वह ऐन्द्रजालिक राजा लवण की सभा में प्राप्त हुआ था। उस समय में मैं वहीं पर रहता था और मैंने प्रत्यक्ष रूप से वह देखा था। सभ्यों के साथ मैं वहां स्थित था। इसके बाद उस शाम्बरकारी के चले जाने पर यह क्या है---इस प्रकार से उस राजा के द्वारा पूछे गये मैंने देखकर और चिन्तन करके वहां पर यह वचन कहा था ॥८२-८४॥

शृणु तत्त्वं प्रवक्ष्यामि राम शाम्बरिकेहितम् ।
राजसूयस्य कर्तारो ये हि ते द्वादशाब्दिकम् ॥८५

अतिदुःखं प्राप्नुवन्ति नानाकारदशामयम् ।
अतः शक्रेण गगनाद्दुःखाय लवणस्य सः ॥८६

प्रहितो देवदूतो हि राम शाम्बरिकाकृतिः ।
राजसूयक्रियाकर्तुस्तस्यदत्त्वा महापदम् ।८७

प्रहितो देवदूतो हि राम शाम्बरिकाकृतिः ।
अगमत्स नभोमार्गं सुरसिद्धनिषेवितम् । ८८

अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु राम यथ तथम् ।
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥८९

पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्योन्यमेतयोः ।
एते प्रतिपदं बद्धमूले स्वं फलतः फलम् ॥६०
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिद्भ्रंशोऽहन्त्ववेदनम् ।
एतत्सक्षिप्य तत्प्रोक्तं तज्ज्ञात्वा ज्ञत्वलक्षणम् ॥६१

हे राम ! उस शाम्बरिक के चेष्टित को आप श्रवण कीजिए । मैं सब बतलाऊँगा । राजसूय यज्ञ के जो करने वाले हैं वे बारह वर्ष तक अत्यन्त अधिक अनेक प्रकार की दशा से परिपूर्ण दुःख प्राप्त किया करते हैं इसलिये राजा लवण को दुःख देने के लिये इन्द्र ने आकाश से वह देवदूत शाम्बरिक की आकृति वाला भेजा था । राजसूय यज्ञ की क्रिया के करने वाले उसको महती आपत्ति देकर वह प्रेषित देवदूत जो शाम्बरिक की आकृति वाला था हे राम ! सुर और सिद्धों के द्वारा निषेवित नभ के मार्ग में वापिस चला गया था ॥८५—८८॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम ! इसके अनन्तर ठीक-ठीक बताऊँगा आप इसका श्रवण करो । यह अज्ञान की भूमि सात अवस्थाओं से युक्त है और ज्ञान की भूमि भी उसी भाँति सप्त पद वाली होती है ॥८९॥ ये सात अवस्थायें तो प्रमुख हैं इनकी अवान्तर अवस्थायें भी असख्यों हैं । इन दोनों में परस्पर में एक-एक की नाना विभव रूप वाली सैकड़ों ही शाखायें हैं । इन दोनों की भूमियाँ जो सात बतलाई गई हैं वे पृथक्-पृथक् फल दिया करती हैं और वे प्ररूढ़ मूल वाली हैं अतः प्रशिथिल मूल फलों को नहीं देती हैं ॥९०॥ अपने स्वरूप में जो अवस्थित होती है वही मुक्ति है । इस स्वरूपावस्थिति के लक्षण वाली से भ्रंश अहंभाव का ज्ञान ही होता है । यह अत्यन्त संक्षेप में कहा गया है जो कि सत्व का लक्षण होता है इसे जान लो ॥९१॥

शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः ॥९२
यत्स्वरूपपरिभ्रंशश्चेत्यार्थचितिमज्जनम् ।
एतस्मात्पदपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥९३

का होना जोकि जड़ता से रहित होकर प्रकट होती है वही उस चैतन्य का ठीक स्वरूप होता है ऐसा स्थित है ॥९६॥ बीज जाग्रत्—जाग्रत्—महा जाग्रत्—जाग्रत्स्वप्न—स्वप्न—स्वप्न जाग्रत् और सुषुप्तक यही सात प्रकार का मोह होता है फिर यही उपर्युक्त सात प्रकार का मोह जो कि अज्ञान का दूसरा पर्यायवाची है परस्पर में संबद्ध होता हुआ फिर अनेकों नामों वाला होजाया करता है। इसका लक्षण अब आप मुझसे श्रवण करलो ॥९७.९८॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥९९
बीजरूपं स्थितं जाग्रदबीजजाग्रत्तदुच्यते।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥१००
नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम।
इति यः प्रत्ययः स्वच्छस्तेज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥१०१
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ॥१०२
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ॥१०३
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः।
अभ्यासं जाग्रतः प्राप्य स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ॥१०४
अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नो वेति यत्र हि।
परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥१०५

यद्यपि मोह की सात ही अवस्थायें बतलाई गयी हैं किन्तु इन सातों अवस्थाओं के यथासम्भव संभेद विशेष होने से यही मोह अनेक प्रकार का होजाया करता है। सर्व प्रथम महासर्ग के आदिकाल में चिन्मय परमात्मा से पहिला नाम के निर्देश रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि यह चेतन प्रकट होता है वही भविष्य में होने वाले "चित्त" और "जीव"

आदि संज्ञा शब्दों तथा उनके अर्थों का पात्र होकर जाग्रत अवस्था के बीजरूप में स्थित होता है क्योंकि महा प्रलय के समय में बीज रूप से ही स्थित था। इसलिए यह बीज जाग्रत कहलाता है। यह एक अज्ञान की नवीन अवस्था है। अब तुम जाग्रत संस्थिति का वर्णन श्रवण करिए ॥९९।१००॥ परमात्मा से नवजात बीज जाग्रत के पीछे—यह स्थूल देह मैं हूं'—'यह देह और यह भोग्य पदार्थों का समुदाय मेरा ही है'—ऐसी जो अपने अन्दर प्रतीति हुआ करती है उसे जाग्रत कहते हैं क्योंकि इसमें पूर्वानुभव का अभाव होता है ॥ १०१ ॥ 'यह देह मैं हूं'—'यह भोग्य समुदाय मेरा ही है'—इस प्रकार की जाग्रत प्रतीति के उत्पन्न हो जाने के पीछे जन्मान्तरों के अभ्यास से सुदृढ़ हुई जो प्रतीति स्फुरित हुआ करती है उसी अवस्था को जो एक सातों मोह की अवस्थाओं में से एक है महा जाग्रत कहा जाया करता है ॥ १०२ ॥ जाग्रत पुरुष का अदृढ़ या दृढ़ जो सर्वथा तन्मयात्मक अर्थात् जाग्रत के ही तुल्य मनोराज्य है उसी को जाग्रत-स्वप्न कहते हैं ॥ १०३ ॥ दो चन्द्रों का दर्शन-सीपी में चाँदी की प्रतीति और मृग तृष्णा अर्थात् मरुस्थल के रेगिस्तान में बिना हुए जल की प्रतीति आदि भेद की तरह अभ्यास के वश जाग्रत भाव को प्राप्त स्वप्न मनोराज्य अनेक प्रकार का होता है ॥१०४॥ उसे मैंने बहुत थोड़े ही समय तक देखा था। वह सत्य भी नहीं है। नींद के समय सुषुप्ति काल के आदि या अन्त में अनुभव में आयी हुई बातों के विषय में नींद के अन्त में जो ऐसी प्रतीति होती है उसे ही स्वप्न कहा गया है ॥ १०५ ॥

स्वप्नावस्था इति प्रोक्ता मया ज्ञानस्य राघव।
एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी ॥१०६
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ॥११०
वदन्ति बहुभेदेन ज्ञानिनो योगभूमिका:।
मम त्वभिमता नूननिमा एव सुखप्रदा: ॥१११
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिका भूमिकान्तरे ॥११२

यह स्वप्न अज्ञ पुरुष की महाजाग्रत अवस्था में स्थित स्थूल शरीर के कण्ठ से लेकर हृदय पर्यन्त नाड़ी प्रदेश में प्रकट होता है। चिरकाल तक दर्शन के अभाव से जो विकसित नहीं हुआ है वह महाशरीर वाला सुदृढ़ अभिमान ही स्वप्न है ॥ १०६ ॥ सुदृढ़ अभिनिवेश से या चिर स्थापित्व की कल्पना से पुष्ट हो जाग्रत भाव को प्राप्त हुआ स्वप्न महाजाग्रत की समता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ स्वप्न "स्वप्न जाग्रत" माना गया है। उपर्युक्त छहों अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो इस जीव की जड़ अवस्था है वही भावी दुःखों का बोध कराने वाले बीज रूप अज्ञान से सम्पन्न 'सुषुप्ति' कही जाती है। यह दशा अज्ञान के अन्धकार में शेष संसार को अन्तर्लीन कर लेती है। हे रघुनन्दन! इस प्रकार से सात प्रकार की अज्ञान भूमिका का मैंने वर्णन कर दिया है। ये ही अनेक तरह के विकारों तथा लोकान्तरों के भेदों से युक्त होने के कारण से एक-एक सैकड़ों प्रकार की नाना वैभवों वाली होजाया करती हैं। इनको निन्द्य एवं त्यागने के योग्य ही बताया गया है ॥१०७—१०६॥ श्री महर्षि वसिष्ठ जी कहते हैं—हे निष्पाप रघुनन्दन! अब मैं सात प्रकार की ज्ञान भूमिका का वर्णन करता हूं। इनका भी आप श्रवण कीजिए। इस सप्तपदी ज्ञानभूमि के ज्ञान करने से फिर मनुष्य मोह की कीचड़ में कभी निमग्न नहीं हुआ करता है।११०। ज्ञानी जन योग भूमिकाओं को बहुत से भेदों से कहा करते हैं किन्तु मुझे

तो ये ही सुखप्रद निश्चित रूप से अभिमत हुई हैं। इस सात ज्ञान की भूमिकाओं में होने वाले साक्षात् अनुभव को ज्ञान कहते हैं और भूमिकान्तर में भूमिका मुक्ति ही ज्ञेय पदार्थ है ॥१११।११२॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥११३
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥११४
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोचति ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥११५
किं मूढ इव तिष्ठामि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥११६
शास्त्रसज्जनसंपर्कों वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥११७
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वरक्तता ।
यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥११८
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥११९

प्रथम ज्ञान भूमिका शुभेच्छा को बतलाया गया है। दूसरी विचारणा है और तीसरी तनुमानसा होती है ॥ ११३ ॥ चौथी ज्ञान भूमिका की अवस्था सत्त्वापत्ति होती है—पाँचवीं असंसक्ति है—छटी पदार्थ भावना होती है और सातवीं तुर्यगा है। इस प्रकार से ये सात ज्ञान की भूमिकाऐं मानी गयी हैं ॥ ११४ ॥ इनके अन्त में मुक्ति स्थित ही है। फिर उसके विषय में कोई भी चिन्ता नहीं किया करता है। अब इन सातों का निर्वचन सुनिये ॥११५॥ मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ—मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर तत्त्वों का साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार की वैराग्य की भावना से ओत-प्रोत केवल मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा के उत्पन्न होने को ही ज्ञानी जनों ने

"शुभेच्छा" कहा है ॥ १६ ॥ शास्त्रों के अध्ययन–मनन और सत्पुरुषों के सङ्ग तथा विवेक और वैराग्य के सद्भाव के द्वारा सदाचारों में प्रवृत्त होना यही विचारणा नाम वाली दूसरी ज्ञान की भूमिका होती है॥११७॥ ऊपर में बतलायी हुई शुभेच्छा और विचारणा इन दोनों के द्वारा इन्द्रियों के विषयों के उपभोग करने में आसक्ति का अभाव होना तथा अनासक्त होकर जगत् में विचरण करना ही 'तनुमानसा' नाम वाली ज्ञान की भूमिका है। इसमें मन की विशालता कम होकर वह सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाया करता है। इसीलिये इसका नाम तनुमानस रक्खा गया है ॥ ११८ ॥ ऊपर में वर्णित शुभेच्छा—श्रवण—विचारणा—मनन और तनुमानसा इन निदिध्यासन भूमिकाओं के निरन्तर अभ्यास से सांसारिक विषयों से चित्त के अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर उनके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्य स्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना ही सत्वापत्ति कहा गया है ॥ ११९ ॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफलाय च ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥१२०
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां वाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥१२१
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थभावनी नाम षष्ठी संजायते गतिः ॥१२२
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥१२३
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥१२४
ये हि राम महाभागाः सप्तमीं भूमिकां गताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥ २५
जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसंस्थितौ ।
प्राकृतेनार्थकार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा ॥१२६

शुभेच्छा—विचारणा–तनुमानस्त—सत्त्वापत्ति इन चारों दशाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से बाह्याभ्यन्तर सभी चित्त के विषय सम्बन्धी संस्कारों अत्यन्त (सम्बन्ध—विच्छेद) असङ्ग हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में समारूढ़ हो जाना ही "असंसक्ति" नाम वाली ज्ञान की पाँचवीं भूमिका कही गयी है ॥ १२० ॥ उपर्युक्त पाँचों प्रकार की भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्तःकरण में सांसारिक पदार्थों का अत्यन्त अभाव सा ही हो जाया करता है जिससे उसे बाहिर–भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता है। दूसरों के द्वारा चिरकाल तक प्रयत्नपूर्वक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है। इसीलिये उसे अन्तःकरण की पदार्थ भावना'—इस नाम वाली छटी भूमिका कही जाती है ॥ १२१ ॥ ऊपर में वर्णित छहों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक रूप से चिरकाल पर्यन्त अभ्यास के हो जाने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने पर भी भेद रूप संसार की सत्ता स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती है वरं अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है उस स्थिति को अन्तःकरण की "तुर्यगा" भूमिका जानना चाहिए ॥ १२२ । १२३ ॥ यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषों में इस शरीर में रहते हुए ही विद्यमान रहा करती है। इस देह का अन्त होने पर विदेह–मुक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है। अतएव भूमिकाओं में इसकी गणना नहीं है ।१२४। हे श्रीराम ! जो महाभाग इस सातवीं भूमिका में पहुँच गये हैं वे आत्माराम महात्मा महत्पद (परब्रह्म) को प्राप्त हो चुके हैं ॥१२५॥ जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःख में आसक्त नहीं हुआ करते हैं। केवल इस देह यात्रा के लिये छटी भूमिका में कुछ कार्य करते हैं अथवा सातवीं ज्ञान की भूमिका में नहीं भी करते हैं ॥ १२६ ॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥१२७

भूमिकासप्तकं त्वेतद्धीमतामेव गोचरम् ।
प्राप्ताज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये ।
सदेहा वा विदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः ॥१२८
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति हि मुक्तता ।
मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥१२९
ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तै प्राप्तः परमं पदम् ।
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः ॥१३०
एतासु भूमिषु जयन्ति हि ये महान्तो
वन्द्यास्त एव हि जितेन्द्रियशत्रवस्ते ।
सम्राट् स्वराडपि च यत्र तृणायते त-
त्सारं पदं जगति ते समवाप्नुवन्ति ॥१३१
मनःप्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ।
सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः ॥१३२
एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं परम् ।
त्वत्ताहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन ।
न क्वचिद्भेदलना न भावाभवरञ्जना ॥१३३

पूर्वोक्त महात्मा पार्श्ववर्त्ती पुरुषों के द्वारा बोधित होकर उन-उन आश्रमों में स्थित पुरुषों की आचार परम्परा से प्राप्त हुए समस्त सदाचारों का ही बहुत सावधानी से पालन किया करते हैं । ऐसे लोग अपनी आत्मा में ही रमण करने के कारण से बाहिरी विषयों से पूर्णतः विरत रहा करते हैं । अतएव ये सब जगत् के व्यवहार उसी तरह से सुखद नहीं होते हैं जैसे गाढ़ी निद्रा में सोये हुए पुरुषों को दर्शनीय रूप-लावण्यमयी सुन्दरता से स्त्रियाँ सुख उत्पन्न नहीं कर पाती हैं ॥ २७ ॥ ज्ञान की ये उपर्युक्त सात भूमिकाऐं केवल विवेकशील पुरुषों को ही प्राप्त हुआ करती हैं । इस ज्ञान की अवस्था को प्राप्त हुए पशु (हनुमान और नन्दी), अन्त्यज (मूक—चाण्डाल—धर्म व्याध, गुह, भील और शबरी) आदि भी सदेह (जीवन्मुक्त) अथवा विदेह मुक्त ही हैं—

इसमें बिल्कुल संशय नहीं है ।। १२८ ।। चेतन और जड़ की ग्रन्थि का छेदन कर देना ही ज्ञान है और इसके प्राप्त होने पर मानव की मुक्ति हो जाया करती है । मृग तृष्णा में जल की बुद्धि अथवा रज्जु (रस्सी) में सर्प की बुद्धि का जो बोध होता है वैसा ही चेतन और जड़ की ग्रन्थि का विच्छेद भी होता है ।। १२९ ।। कुछ लोग एक ही जन्म में क्रमशः ज्ञान की सम्पूर्ण भूमिकाओं को प्राप्त हो जाते हैं । जो इस घने मोह से उत्तीर्ण होकर ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं वे परम पद को प्राप्त कर लेते हैं । वे स्वात्म लाभ में परायण भूमिकाओं में स्थित रहा करते हैं । इनमें कोई-कोई एक-दो या तीन भूमिकाओं को प्राप्त कर लेते हैं । कोई एक मात्र सातवी ही भूमिका में स्थित रहते हैं । कोई ज्ञान भूमिका के कुछ अंश तक ही पहुँच पाते हैं ।। १३० ।। जो सज्जन उन भूमिकाओं में पहुँच कर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानों पर विजय पाते जाते हैं वे महापुरुष निश्चय ही वन्दना करने के योग्य हैं क्योंकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों के स्वरूप वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली है । उस चतुर्थ जीवन्मुक्तावस्था ज्ञान की भूमिका में पहुँच जाने पर समस्त भूमण्डल का सम्राट् और विराट् देवलोक का राजा भी उनको तिनके के समान अति तुच्छ प्रतीत होता है क्योंकि वे ज्ञानी महान् आत्मा वाले पुरुष उस अवस्था में परम पद को प्राप्त होते हैं ।। १३१ ।। महामहर्षि प्रवर श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस मन के प्रशमन का जो उपाय होता है वही 'योग'—इस नाम से कहा जाता है । उस योग को भी सात भूमि वाला समझना चाहिए । उन समस्त भूमिकाओं का वर्णन कर दिया गया है ॥ १३२ ॥ इन सातों ज्ञान की भूमिकाओं का गम्य अर्थात् जानने के योग्य ब्रह्म नामक परम पद ही होता है जिस ब्रह्मपद में तू—तेरा और मैं—मेरा भाव, आत्म भाव और परभाव, भेदज्ञान और भावाभाव का अभिनिवेश नहीं होता है । यह परम ब्रह्मपद इसी प्रकार का है ।।१३३।।

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम् ।
अनामयनाभासमनात्मकमकारणम् ।।१३४

न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् ।।१३५
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् ।।१३६
एतत्ते कथितं राम ज्ञानं वै साप्तभूमिकम् ।
त्वं माहात्म्यमविद्यायाः पुनः शृणु रघूद्वह ।।१३७
लवणोऽसौ महीपालस्तत्र दृष्ट्वा तथा भ्रमम् ।
द्वितीये दिवसे गन्तुं प्रवृत्तस्तां महाटवीम् ।।१३८
यत्र दृष्टं मया दुःखमरण्यानीं स्मरामि ताम् ।
चित्तादर्शगतां विन्ध्ये कदाचिल्लभ्यतेऽपि सा ।।१३६
इति निश्चित्य सचिवैः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
पुनर्दिग्विजयायैव प्राप्य विन्ध्यमहीधरम् ।।१४०

तात्पर्य यह है कि शरीर आदि की अहन्ता में माया से जो स्वरूप परिलक्षित होता है वह विवेक के साथ देखने पर दृष्टिगोचर नहीं होता है। स्वर्ण में कुण्डल आदि की भावना भी एक भ्रान्ति मात्र ही है और मृग तृष्णा में जल की भ्रान्ति विचारहीनता के कारण ही सत् सी प्रतीत हुआ करती है। इस शरीर आदि में जो मैं-मेरी की भावना है यही माया है और यही संसृति है यह अहन्ता की भावना कल्पित है वास्तविक नहीं है। यह आत्मा तो शान्त-स्वच्छ निर्मल है इसमें अहन्ता की भावना सर्वथा असत् है। यह भेद कल्पना भी असत् है। वह ब्रह्म सर्वत्र विभिन्न स्वरूपों में इस जगत् में विद्यमान है क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी है ही नहीं। वह अविद्या और राग आदि से रहित परम शान्त भव रहित है और उसका कोई आधार नहीं है। वह व्योमस्थ अर्थात् अपनी ही महिमा में स्थित रहने वाला—शाश्वत और मङ्गलमय है। वह उपद्रव रहित—अप्रतिबिम्ब जगत् का कारण और स्वयं कारण रहित है।.१३४।। यह वासना से मन जिस वस्तु की जैसी भावना किया करता है वह वस्तु चाहे सत् हो या असत् उसको उसी समय में उसी रूप में प्रतीत होने लगा करती है। क्योंकि अहन्ता भाव से युक्त अविद्या का जैसे ही उदय

होता है वैसे ही आद्यन्त मध्य से रहित अनन्त भ्रमों का जाल सा छा जाया करता है। वस्तुतः वह सद्सत् से भिन्न मध्यान्त रहित—मिथ्याभूत सबसे विलक्षण—सब कुछ मन और वचन से न ग्रहण करने के योग्य—शून्य से भी शून्य अर्थात् निराकार और परमानन्द स्वरूप वाला है। सभी ओर से शान्त—स्वयं प्रकाश—सर्वत्र व्याप्त उसका स्वरूप है ॥१३५।१३६॥ महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे रघुवर ! मैंने आपके समक्ष में यह सात ज्ञान की भूमिकाओं वाला ज्ञान वर्णित कर दिया है। अब आप उस अविद्या की महिमा का पुनः श्रवण कीजिए ॥१३७॥ उस लवण राजा ने वहाँ पर उस प्रकार के भ्रम को देखकर फिर दूसरे दिन वह उस महारण्य में जाने के लिये प्रवृत्त हुआ था ॥१३८॥ उसने विचार किया था कि महा दुःख पूर्ण जो महाटवी मैंने देखी थी। उसी का मैं अब स्मरण करता हूँ कि वह विन्ध्याचल में चित्त में आदर्श के रूप में प्राप्त हुई महाटवी शायद कहीं मुझे प्राप्त होजावे ॥१३९॥ इस प्रकार से उस राजा लवण ने अपने मन्त्रियों से परामर्श करके वह फिर दक्षिणापथ की ओर रवाना होगया था और फिर दिग्विजय करने के लिये वह उसी विन्ध्यगिरि पर पहुँच गया था ॥१४०॥

पूर्वदक्षिणपाश्चात्यमहावनतटस्थलीम् ।
बभ्राम कौतुकात्सर्वां व्योमवीथीमिवोष्णगुः ॥१४१
अथैकस्मिन्प्रदेशे तां चिन्तामिव पुरोगताम् ।
ददर्शोग्रामरण्यानीं परलोकमहीमिव ॥१४२
स तत्र विहरंस्तां तु स्ववृत्तान्सकलानपि ।
दृष्टवान्पृष्टवांश्चैव ज्ञातवांश्च विसिस्मये ॥४३
तत्परिज्ञातवांश्चापि व्याधान्पुक्कसजान्पुनः ।
विस्मयाकुलया बुद्धचा भूमौ बभ्राम संभ्रमी ॥४४
अथ प्राप महाटव्याः पर्यन्ते धूमधूसरम् ।
तमेव ग्रामकं यस्मिन्सोऽभवत्पुष्टपुक्कसः । ४५
तत्रापश्यज्जनांस्तांस्तान्स्त्रियस्तास्ताः कुटीरिकाः ॥१४६

हा राजपुत्रेन्दुसमानकान्त संत्यज्य शुद्धान्तविलासिनीस्ताः ।
रतिं प्रयातोऽसि ममात्मजायां न सापि ते सुस्थिरतामुपेता । १४६

संसारनद्या स्त्वतरङ्गभङ्गक्रियाविलासंविहितोपहासैः ।
किं नाम तुच्छं न कृतं नृपेशो यद्योजितः पुक्कसकन्यकायाम् ।।१५०
एवं लपन्तीमवलोक्य वृद्धां दासीभिराश्वास्य नृपो निजाभिः ।
पप्रच्छ वृत्तं किमिहासि का त्वं का ते सुता के च सुतास्तवेति ।।१५१
उवाच सा वाष्पविलोचनाथ ग्रामस्त्वयं पुक्कसपोषनामा ।
इहाभवत्पुक्कसपः पतिर्मे बभूव तस्येन्दुसमा सुतैका । १५२
सा दैवयोगात्पतिमिन्द्रतुल्यमिहागतं प्राप धरातलेन्द्रम् ।
सा तेन सार्धं सुचिरं सुखानि भुक्त्वा प्रसूता तनयां सुतौ च ।।१५३
केनचित्त्वथ कालेन ग्रामकेऽस्मिञ्जनेश्वर ।
अवृष्टिदुःखमभवद्दीपणं भग्नमानवम् ।।१५४

हा ! चन्द्रमा के समान कान्ति वाले राज पुत्र ! तू इन शुद्धान्त विलासिनियों का त्याग करके कहाँ चला गया है । तूने मेरी पुत्री में रति का आनन्द प्राप्त किया था । वह मेरी पुत्री भी सुस्थिर नहीं रही है ।।१४६।। इस संसार रूपी महानदी की लहरों के भङ्ग क्रिया विलासों से जिन्होंने एक उपहास सा बना दिया है क्या तुच्छ कर्म नहीं किया गया है कि जिसने एक पुक्कस की कन्या में नृपेश को योजित कर समासक्त बना दिया गया था ।।१५०।। इस प्रकार से विलाप करती हुई उस वृद्धा को राजा ने देखा था और फिर अपनी दासियों के द्वारा उसे समाश्वासित करके उससे पूरा वृत्तान्त पूछा था कि तू कौन है और यहाँ पर क्यों रहती है ? तेरी पुत्री कौन है और तेरे पुत्र कौन थे ! ।। १५१ ।। अपने नेत्रों में आँसू भरे हुए वह बोली थी कि पुक्कस योष नाम वाला यह ग्राम था । यहाँ पर मेरा पति समस्त पुक्कसों का स्वामी था । उसकी चन्द्र के समान परम सुन्दरी एक पुत्री थी ।।१५२।। दैवयोग से उसको एक धरातल का स्वामी अर्थात् राजा जोकि इन्द्र के ही समान यहाँ पर

आगया था वह उसको पति बना चुकी थी। उस मेरी बेटी ने उस राजा के साथ बहुत समय तक भोग विलास किया था और उससे ही पुत्र तथा एक कन्या प्राप्त की थी ॥१५ ॥ हे जनेश्वर ! एक ऐसा समय उपस्थित हुआ था कि उसके प्रभाव से इस ग्राम में अवृष्टि का महान् दुःख हो गया था जो इतना भीषण स्वरूप वाला था कि उससे सभी मानव छिन्न-भिन्न होगये थे ॥१५४॥

महता तेन दुःखेन सर्वे ते ग्रामका जनाः ।
विनिर्गत्य गता दूरं सर्वे पञ्चत्वमागताः । १५५
तेनेमा दुःखभागिन्यः शून्ये वयमिह स्थिताः ।
शोच्यांस्ताननुशोचन्त्यस्तिष्ठामो दुःखजीविताः ॥१५६
इत्याकर्ण्याङ्गनावक्त्राद्राजा विस्मयमागतः ।
मन्त्रिणां मुखमालोक्य चित्रार्पित इवाभवत् ॥१५७
तेषां समुदितैर्दानैः संमानैर्दुःखसंक्षयम् ।
कृत्वा करुणयाविष्टो दृष्टलोकपरावरः ॥१५८
आजगाम गृहं पौरैर्मुदितः प्रविवेश ह ।
ज्ञाताविद्यास्वभावोऽसौ नीतो बोधं मया ततः ।.१५९
इत्येवं राघवाविद्या महती भ्रमदायिनी ।
असत्सत्तां नयत्याशु सच्चासत्तां नयत्यलम् ॥१६०
कथमेतद्वद ब्रह्मन्स्वप्नः सत्यत्वमागतः ।
संशयो भगवन्सोऽयं न मे गलति चेतसः ॥१६१

उस महान् दुःख से सभी ग्रामवासी मनुष्य निकल कर दूर चले गये थे और सब मर गये थे ।५५॥ उसी दुःख से हम दुःखों के भोगने वाली यहाँ पर सूनी होती हुई स्थित हैं। उन्हीं की चिन्ता और शोक में मग्न होकर दुःखपूर्ण जीवन बिताती हुई स्थित होकर रह रही हैं॥ ५६ ॥ उस वृद्धा स्त्री के मुख से इस कथा को श्रवण कर राजा बड़े भारी विस्मय को प्राप्त हो गया था और अपने मन्त्रियों

का मुख देखकर चित्र लिखा सा होकर रह गया था ॥१५७॥ उस राजा ने लोक में उच्चावच (ऊँचे-नीचे) भावों को देखकर करुणा से भर गया था और मधुर भाषण तथा दानादि के सत्कारों से उनको उसने सम्मानित किया था ॥१५८॥ इसके पश्चात् वह राजा लवण परम प्रसन्न होता हुआ नगरवासियों के साथ अपने पुर में आ गया था। अविद्या के भाव को जानने वाले उसको फिर मैंने ज्ञान प्रदान कर प्रवुद्ध किया था ॥ १५९ ॥ हे राघव ! इस प्रकार से यह अविद्या बड़ी विशाल है और भ्रम उत्पन्न कर देने वाली होती है। यह बलात् जो असत् अर्थात् कल्पित और मिथ्या भूत हैं उनमें सद्भाव उत्पन्न करा देती है अर्थात् उनको सत्य एवं यथार्थ समझने वाला बना दिया करती है और बहुत शीघ्र ही सत् वस्तु को असत् कर दिया करती है अर्थात् जो आत्मा सत्य है उसका किञ्चित्मात्र भी भान नहीं रखती है उसे यह अविद्या एकदम भुला ही दिया करती है और इसी जगत् के झूठे भ्रमजाल में डाले रहती है ॥ ६० ॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि यह स्वप्न कैसे सत्यता को प्राप्त होगया है ? हे भगवन् ! मेरे चित्त से यह संशय नहीं निकलता है ॥६१॥

सर्वमेतदविद्यायां संभवत्येव राघव ।
एतत्ते गाधिवृत्तान्ते स्फुटमग्रे भविष्यति ॥१६२
काकतालीयवच्चेतोवासनावशतः स्वतः ।
समुदन्ति महारम्भा व्यवहाराः परस्परम् ॥१६३
दृष्टं यत्पक्कणे राज्ञा तत्र शाम्बरिकेहया ।
तत्र योल्लसिता विद्या संक्रान्त्येयुरिति ध्रुवम् ॥१६४
तत्काले लवणेनाशु दृष्टो यः स्वप्नविभ्रमः ।
स एव संविदं प्राप्तो विन्ध्यपुक्कसचेतसाम् ॥१६५
लावणी प्रतिमा रूढा विन्ध्यपुक्कसचेतसि ।
विन्ध्यपुक्कससंविद्धा रूढा पार्थिवचेतसि ॥१६६
व्यवहारगतेस्तस्याः सत्तास्ति प्रतिभानतः ।

सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥१६७
संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये द्रष्टुर्हि यद्वपुः ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् ॥१६८

श्री वशिष्ठ जी ने कहा—हे श्री राघवेन्द्र ! इस अविद्या में यह सभी कुछ सम्भव होता ही है । आपको आगे यह सभी कुछ गाधि (विश्वामित्र) के वृत्तान्त में स्पष्ट हो जायगा काक तालीय न्याय के समान अर्थात् कौआ ताल के वृक्ष पर आकर स्वाभाविक रूप से बैठा ही था कि उस ताल के वृक्ष का फल टूटकर अपने आप नीचे गिर गया था । इस फल के गिराने में कौए का कुछ भी प्रयास नहीं था । उसी भाँति इस चित्त की जो वासनाऐं अर्थात् भ्रमोत्पादक संस्कार हैं उनके वश से स्वतः स्वभाव से ही बिना किसी निमित्त के ये समस्त व्यवहार अर्थात् अभिज्ञा लक्षण वाले उत्पन्न हो जाया करते हैं जो कि महान् आरम्भ वाले हुआ करते हैं ॥ १६२, १६३ ॥ वहाँ पर सभा में स्थित राजा ने शाम्बरिक की चेष्टा से जिस समय में शबरों के निवास स्थान में जो भी कुछ देखा था और वहाँ पर जो विद्या (ज्ञान) उल्लसित हुई थी वही दूसरे दिन भी उल्लसित हुई थी ॥ १६४ ॥ उस समय में राजा लवण ने जो शीघ्र स्वप्न का विभ्रम देखा था वही विन्ध्यगिरि के निवासी पुक्कसों के चित्तों के द्वारा संविदित हो गया था अर्थात् ज्ञान को प्राप्त हो गया था ॥ १६५ ॥ राजा लवण की प्रतिभा विन्ध्य के पुक्कसों के चित्त में समारूढ़ हो गयी थी और लवण के चित्त में जैसा कुछ प्रतिभात हुआ था वैसा ही विन्ध्य पर्वत में स्थित पुक्कसों के चित्तों में भी प्रतिभान हो गया था ॥ १६६ ॥ उस व्यवहार की गति की सत्ता प्रतिभान से ही होती है । जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता भी संवेदन से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है अर्थात् संवेदन की दशा में ही सत्ता होती है ॥ १६७ ॥ द्रष्टा (देखने वाला) और दृश्य (देखने के योग्य) इन दोनों के मध्य में द्रष्टा का जो वपु अर्थात् स्वरूप है वह द्रष्टा का दर्शन और दृश्य इन दोनों से रहित कुसुमों में अन्दर सूत्र की ही भाँति होता

है और वही उस साक्षी का वपु अर्थात् स्वरूप होता है क्योंकि दृश्यादि के अभाव में भी सुषुप्ति तथा समाधि में वह रहता है। वही परम पद है। अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के मध्य में पूर्वोत्तर वृत्तियों की सन्धि में जो द्रष्टा का वपु है वही इस जीवात्मा का स्वरूप है॥ ८॥

देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥१६९
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्।
अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥१७०
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥१७१
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव।
भव भावनया मुक्तो मुक्त्या परमयान्वितः॥१७२
संसारोग्रारघट्टेऽस्मिन्या दृढा यन्त्रवाहिनी।
रज्जुस्तां वासनामेतां छिन्धि राघव यत्नतः॥१७३
पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वा-
त्तेनाततं जगदिदं स्वविकल्पजालैः।
शून्येन शून्यमपि तेन यथाम्बरेण
नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम् ॥१७४
संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः॥१७५

चित्त के एक विषय से दूसरे विषय में जाने पर मध्य में अर्थात् पूर्व और उत्तर विषय के ज्ञानों के बीच में चित्त की उपाधि वाले जीवात्मा का स्वरूप होता है। वह जडता से रहित संवित् मननात्मक है। अतएव तन्मय ही सर्वदा हो जाइये ।६९॥ जाग्रत्–स्वप्न और सुषुप्ति से रहित जो आपका सनातन स्वरूप है वह चेतन धर्मभूत तीनों

अवस्थाओं से रहित होने से तथा निर्विकारता से सब वस्तुओं में अवभासक होने से अजड़ है। अतएव उसी स्वरूप में परिपूर्ण होकर सदा रहिए ॥१७०॥ बिना मन वाला जो स्वभाव से ही शिला का आभ्यन्तर स्वरूप है उस एक जड़ता को वर्जित करके यदि कदाचित् स्थित होओगे तो तन्निष्ठ होकर ही सर्वदा रहिए ॥ १७१ ॥ इस चिन्तनशील अर्थात् सङ्कल्पात्मक चित्त को दूर परित्याग करके सांसारिक भावना से मुक्त होते हुए श्रुति के अनुकूल अत्यन्त दृढ़ युक्ति से समन्वित होकर तुम जो भी कुछ हो वही ठीक हो। उसी स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करो ॥ १७२ ॥ हे श्री राघवेन्द्र ! यह संसार एक अत्यन्त उग्र अरघट्ट यन्त्र है। इसके अर्थात् संसार यन्त्र के वाहन करने वाली जो वासनारूपिणी रस्सी है उसे यत्नपूर्वक काटकर पृथक् करदो। वासना से ही यह संसाररूपी यन्त्र बंधा हुआ है उसे काट डालो फिर संसार बना रहे तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। पहिले अल्प एवं अनिर्वचनीय परमात्मतत्त्व मन से यह शून्य जगत् कल्पित हुआ था जो कि अपने ही विकल्पों के जाल से ऐसा विस्तृत हो गया है जिस तरह से इस शून्य अम्बर से यह शून्य नीलत्व कितना सुन्दर नाम वाला उल्लसित हुआ करता है और वस्तुत: वहाँ कुछ भी नहीं है। १७३–७४॥ सङ्कल्पों के संक्षय होने से इस सङ्कल्प स्वरूप वाले चित्त का ही अस्तित्व नहीं रहेगा। जब चित्त ही नहीं रहेगा तो यह संसार की यह धूमाकार मेघमाला अपने आप ही गलित हो जायगी अर्थात् नष्ट हो जायगी। शरद्काल में मेघ डम्बर के हट जाने से जैसे आकाश परम स्वच्छ हो जाता है उसी तरह एक—अज—आद्य और अनन्त चिन्मात्र ही भासित हुआ करता है ॥१७५॥



❁ स्थिति प्रकरण ❁

☆

प्रथम सर्ग

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् ।
अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रं स्वप्नदर्शनम् ॥१
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।
निरर्थं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥२
एतत्ते राम वक्ष्यामि कार्यकारणतां विना ।
स्थिता ब्रह्मणि विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी। ३
एकं ब्रह्मचिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥४
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला ।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिति दृश्यताम् ॥५
द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत् ।
तिष्ठति ब्रह्मणि स्फारे प्रतिभामात्ररूपधृक् ॥६
अत्र भार्गववृत्तान्तं कथयामि तवानघ ।
अनुत्पन्नमिदं विश्वं येन चेतसि पश्यसि ॥७

इस मनोमय दृश्य जगत् की मन के ही साथ अवस्थिति होने से आधार स्वरूप आत्मा का निरूपण करनेके लिये आधेय दृश्य को बतलाते हैं—चित्र की रचना किसी कुशल चित्रकार के द्वारा कुछ रञ्जन द्रव्यों के द्वारा (रङ्गों से) किसी भित्ति आदि मूर्त्त वस्तु पर की जाया करती है किन्तु यह जगत् स्वरूप वाला परम विशाल चित्र के करने वाला कोई कर्त्ता नहीं है क्योंकि आत्मा तो निष्क्रिय होने के कारण

इसका रचयिता या कर्त्ता नहीं हो सकता है। इसकी रचना में कोई रञ्जक द्रव्य भी नहीं होते हैं क्योंकि आत्मा अद्वितीय है अतएव अन्य रञ्जक द्रव्यों का पूर्णतया अभाव ही है। यह चिद् आकाश शून्य में ही उत्थित हुआ है और कोई भी मूर्त्त पदार्थ इसका अधिकरण नहीं होता है। इसका कोई द्रष्टा भी नहीं होता है जैसे चित्र के दर्शक हुआ करते हैं क्योंकि इसका स्वतः ही अनुभव किया जाता है अपने से अतिरिक्त अन्य कोई भी इसका द्रष्टा नहीं होता है क्योंकि यहाँ पर द्रष्टा और दृश्य इन दोनों के भेद का अभाव होता है। यह जगत् ऐसा स्वप्न जैसा ही है जो निद्रा के बिना ही देखा जाया करता है क्योंकि निद्रा की स्थिति के अभाव में जाग्रत अवस्था ही में यह स्पष्ट दिखलाई दिया करता है ॥१॥ जो साक्षात् ईक्षण (देखना) करता है वह साक्षी होता है। यह आत्मा दृग्रूप होने से साक्षी भूत है—परिपूर्ण है—निर्मल है—विकल्प अर्थात् भेद से शून्य है ऐसे चिदात्मा ज्ञान स्वरूप आत्मा में ये जगत् बिना ही किसी प्रयोजन के दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होते हैं।२। हे राम ! मैं आपको यह बतलाऊँगा कि यह विश्व की श्री कार्य-कारण भाव के बिना ही प्रतिभा मात्र रूप से ब्रह्म में स्थित है। यही इसका रहस्य है ॥३॥ इस चित की चंचलता की शान्ति के लिये एक ही सर्वात्मक—अखण्डित चिदाकाश रूप ब्रह्म की यत्नपूर्वक भावना करो ॥४॥ जिस प्रकार बड़ी शिला अर्थात् पहाड़ का पाषाण रेखाओं की उपरेखाओं से वलित होकर अर्थात् अनेक रेखाओं से समन्वित होकर जैसे हाथी—घोड़ा और मनुष्य एवं विचित्र देवालय आदि के रूप में प्रतीयमान होने से भेद का स्फुरण होने पर भी वास्तव में वह एक ही होती है ठीक उसी भाँति यह त्रैलोक्य के स्वरूप में विवृत भी ब्रह्म एक ही है- ऐसा निश्चय रक्खो। जगत् में विभिन्न स्वरूपों में दिखलाई देने पर भी वस्तुतः वह ब्रह्म एक ही होता है ऐसा ही निश्चित सिद्धान्त है ॥५॥ ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे किसी कारण के अभाव होने से अर्थात् समवायी—असमवायी और निमित्त इन तीनों प्रकार के कारणों के न होने से उत्पन्न यह जगत्

इस विशाल व्यापक ब्रह्म में प्रतिभामात्र स्वरूप का धारण करने वाला स्थित रहता है ।। ६ ।। हे निष्पाप ! श्रीराम ! इस विषय में समझने के लिये मैं आपके सामने एक भार्गव का वृत्तान्त कहता हूँ जिसके द्वारा अनुलग्न इस विश्व को आप चित्त में देख लोगे ।।७ ।।

पुरा मन्दरशैलस्य सानौ कुसुमसंकुले ।
अतप्यत तपो घोरं कस्मिंश्चिद्भगवान्भृगुः ।।८
तमुपास्ते स्म तेजस्वी बालः पुत्रो महामतिः ।
शुक्रः सकलचन्द्राभः प्रकाशेनेव भास्करः ।।९
विद्याविद्यादृशोर्मध्ये शुक्रोऽप्राप्तमहापदः ।
त्रिशङ्कुरिव रोदस्योर्वर्तत तदा किल ।।१०
निर्विकल्पसमाधिस्थे स कदाचित्पितर्यथ ।
अव्यग्रोऽभवदेकान्ते जितारिरिव भूमिपः ।।११
ददर्शाप्सरसं तत्र गच्छन्तीं नभसः यथा ।
मन्दारमालावलितां मन्दानिलचलालकाम् ।।१२
कान्तामालोक्य तस्याभूदुल्लासतरलं मनः ।
अथ तां मनसा ध्यायंस्तत्रैवामीलितेक्षणः ।।१३
आरब्धवान्मनोराज्यमिदमेव किलोशनाः ।
एषा हि ललना व्योम्नि सहस्रनयनालये ।।१४
संप्राप्तोऽयमहं स्वर्गमालोलसुरसुन्दरम् ।
मन्दमन्मथमातङ्ग्य इमास्ताः सुरयोषितः ।।१५

प्राचीन समय में कुसुमों से परिपूर्ण मन्दराचल की किसी शिखर पर भगवान् भृगु ने परम घोर तपश्चर्या की थी ।। ८ ।। महान् बुद्धिमान् तेजयुक्त—पूर्णचन्द्र के समान आभा वाला प्रकाश से सूर्य के तुल्य वह बाल पुत्र शुक्र उसकी उपासना करता था ।। ९ ।। विद्या और अविद्या इन दोनों के मध्य में लटका हुआ वह शुक्र महापद को प्राप्त होने वाला नहीं हुआ था और उस समय में उसकी ठीक वैसी ही दशा हो गयी थी

जैसे पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य में लटकने वाले त्रिशंकु की हुई थी। (विश्वामित्र जी ने अपने तपोबल से चण्डाल देह से ही त्रिशंकु को स्वर्ग भेजा था और इन्द्र ने स्वर्ग के अयोग्य उसे समझ कर वापिस ढकेलवा दिया था। फिर ऋषि ने बीच में ही तप बल से रोककर नवीन स्वर्ग की रचना का विचार किया था) ॥ १० ॥ इसके अनन्तर किसी समय में अपने पिता के निर्विकल्पक समाधि में स्थित होने पर वह एकान्त में अपने शत्रुओं को जीत लेने वाले राजा के ही समान अव्यग्र हो गया था ॥ ११ ॥ वहाँ पर उसने नभ के मार्ग से जाती हुई—मन्दार वृक्ष के पुष्पों की माला धारण करने वाली और मन्द वायु से हिलने वाले अलकों (चोटी के केशों) से युक्त किसी अप्सरा को देखा था ॥ १२ ॥ उस परम सुन्दरी ललना को देखकर उसका मन उल्लास से अर्थात् भोगोल्लास से चञ्चल हो गया था। इसके पश्चात् वह उसी रूप लावण्यमयी सुन्दरी का मन से ध्यान करता हुआ वहीं पर आंखों को मूंदकर स्थित हो गया था ॥ १ ॥ इसके अनन्तर उस शुक्र ने इसी अपने मनोराज्य का आरम्भ कर दिया था अर्थात् वह अपने मन में अनेक सङ्कल्प करने लगा था। अब शुक्र के मानस सङ्कल्पों का वृत्तान्त वर्णित है जो कि वह अपने मन में विचार कर रहा था। यह ललना तो व्योम में इन्द्र के स्वर्ग में ही है अर्थात् यह सुन्दरी स्वर्ग की ही रहने वाली है ॥१४॥ अब तो मैं स्वर्ग में ही आकर प्राप्त हो गया हूँ जो परम चञ्चल सुरों के समुदाय से अत्यन्त सुन्दर है और ये कामोन्मत्त देवों की ही सुन्दरियाँ यहाँ पर विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

देवेश्वरं निषेवन्ते वनं वनलता यथा।
इह तावदिमं शक्रमहमास्थानसुस्थितम् ॥ १६
द्वितीयमिव त्रैलोक्यस्रष्टारमभिवादये।
इति संचिन्त्य शुक्रेण मनसैव शचीपतिः ॥१७
तेनाभिवादितस्तत्र द्वितीय इव खे भृगुः।
अथ सादरमुत्थाय शुक्रः शक्रेण पूजितः ॥१८

स्वर्गे विहर्तुमारेभे स्वर्वासिपरिमोदितः ।
तत्र तां मृगशावाक्षीं कान्तामप्सरसामसौ ॥१९
ददर्श सापि तं राम दृष्ट्वा परवशाभवत् ।
रसाद्विकसतोन्नूनमन्योन्यमनुरक्तयोः ।
प्रातरर्कनलिन्योर्या शोभा सैव तयोरभूत् ॥२०
अथ तां तादृशीं दृष्ट्वा शुक्र संकलितार्थभाक् ।
तमः संकल्पयामास संहारमिव भूतभुक् ।२१

ये परम सुन्दरी ललनाएँ देवेश्वर इन्द्रदेव का सेवन उसी भाँति किया करती हैं जैसे वन की विविध लताएँ वनराज का सेवन करती हैं। मैं यहाँ पर अपने स्थान पर सुसंस्थित दूसरे त्रैलोक्य के सृजन करने वाले की भाँति स्थित इन इन्द्रदेव को अभिवादन करूँ। इस प्रकार से भली-भाँति चिन्तन करके उस शुक्र के द्वारा मन से ही शचीपति को प्रणाम किया गया था। आकाश में वह द्वितीय भृगु के ही समान विराजमान थे। इसके अनन्तर आदर के साथ उठकर वह शुक्र इन्द्र के द्वारा सम-र्चित हुए थे॥ १६–१८॥ वहाँ पर स्वर्ग के निवासियों के साथ वह मनोविनोद करता हुआ स्वर्ग में उसने विहार करना आरम्भ कर दिया था। वहाँ पर इसने मृग के छौना के तुल्य सुन्दर लोचनों वाली उस कान्ता को प्राप्त किया था॥ १६॥ हे राम! वह ललना भी उसको देखकर काम विकार से परवश हो गई थी। परस्पर में कामानुराग रूपी रस से विकसित अनुरक्त उन दोनों में वैसी ही शोभा हुई थी जैसी प्रातः काल में सूर्य के प्रकाश से कमलिनियों के विकसित होने से हुआ करती है।२०॥ इसके पश्चात् उन अप्सरा को अपने में अनुरक्त देखकर वह सम्भोग सङ्कलित अर्थ को प्राप्त करने के लिये उद्यत होता हुआ शुक्र उसके भोग के काल की कल्पना करने के लिये तम का सङ्कल्प किया था जिस तरह समस्त भूतों का भक्षण करने वाले भगवान् रुद्र संहार की इच्छा या सङ्कल्प किया करते हैं॥२१॥

अथ सर्वेषु भूतेषु गतेष्वभिमतां दिशम् ।
आजगाम भृगोः पुत्रं सा मयूरीव वारिदम् ।।२२
ततः कलालताकुञ्जे तौ विशश्रमतुः क्वचित् ।
अथ चित्तविलासेन चिरसुप्रेक्षितैः श्रुतैः ।।२३
प्रणयं र्भार्गवस्यासीत्तुष्टये स समागमः ।
अथावसदसौ शुक्रः पुरन्दरपुरे तया ।।२४
सुखं चतुर्युगान्यष्टौ हरिणेक्षणया सह ।
पुण्यक्षयानुसंधानात्पपातावनिमण्डले ।।२५
पतितस्यावनौ तस्य स्वपुरी स्मृतिमागता ।
जीवश्चान्द्रमसं ज्योतिर्भृगुसूतो विवेशह ।।२६
प्रालेयतामुपेत्याशु शालितामगमत्ततः ।
शालींस्तान्भुक्तवान्पक्वान्दशार्णेषु द्विजोत्तमः ।।२७
स शुक्रः शुक्रतामेत्य तद्भार्यातनयोऽभवत् ।
ततो मुनीनां संसर्गात्तपस्युग्रे व्यवस्थितः ।।२८

इसके अनन्तर समस्त भूतों के अभीष्ट दिशाओं में चले जाने पर वह अप्सरा भृगु के पुत्र के समीप मेघ के नि[illegible] के ही समान समागत हो गयी थी ।। २२ ।। इसके उपरान्त क[illegible]न में किसी स्थल पर उन दोनों ने विश्राम किया था । इ[illegible] चिरकाल तक विलास से—बहुत समय तक प्रेक्षणों से [illegible] पर्यन्त श्रवण करने से तथा प्रणयों से वह दोनों का स[illegible] परम तुष्टि के लिये हुआ था । इसके उपरान्त वह शु[illegible] साथ इन्द्र के पुर में ही निवास करता था ।। २३—२[illegible] । [illegible] ने [illegible] के समान सुन्दर लोचनों वाली अप्सरा के साथ सुख[illegible] आठ चौकड़ियों तक वहाँ पर उसने निवास किया थ[illegible] के क्षय के अनुसन्धान से अवनि मण्डल में आकर [illegible] इस भूमण्डल में पतित उसको अपनी पुरी का [illegible] वह भृगु का पुत्र जीव चन्द्रमा की ज्योति में प्रविष्ट

मालेपता को शीघ्र प्राप्त होकर फिर वह शाली हो गया था। उन शालियों को दशार्ण देशों में जब वे परिपक्व हो गये थे तो एक श्रेष्ठ द्विज ने खा लिया था ॥ २७ ॥ वह शुक्र फिर शुक्रता (वीर्य का स्वरूप) प्राप्त करके उस द्विज की भार्या का पुत्र हो गया था। फिर इसके उपरान्त मुनिजनों के सम्पर्क होने से परम उग्र तप में व्यवस्थित हो गया था ॥ २८ ॥

शत्रसन्मेरुगहने मन्वन्तरमनिन्दितः ।
तत्र तस्य समुत्पन्नो मृग्यां पुत्रो नराकृतिः ॥२६
तत्स्नेहेन परं मोहं पुनरप्याययौ क्षणात् ।
पुत्रस्यास्य धनं मेऽस्तु गुणाश्चायुश्च शाश्वतम् ॥३०
इत्यनारतचिन्ताभिर्जहौ सत्यामवस्थितिम् ।
धर्मचिन्तापरिभ्रंशात्पुत्रार्थं भोगचिन्तया ॥३१
क्षीणायुषं तमहरन्मृत्युः सर्प इवानिलम् ।
भोगैकचिन्तया सार्धं स समुत्क्रान्तचेतनः ॥३२
प्राप्य मद्रेशपुत्रत्वमासीन्मद्रमहीपतिः ।
अथान्यान्यपि जन्मानि समुपेत्य बहून्यपि ॥३३
जातः स गङ्गातीरस्थतपस्वितनयो मुनिः ।
अथ कालेन महता पवनातपजर्जरः ॥३४

सुमेरु पर्वत के घोर वन में एक मन्वन्तर तक परम सात्त्विक रूप वाला होकर उसने वहाँ पर निवास किया था। वहाँ पर उसकी मृगी में एक नर के समान आकृति वाला पुत्र समुत्पन्न हुआ था ॥ २६ ॥ उस पर अत्यन्त स्नेह होने से क्षण भर में ही वह अत्यधिक मोह को प्राप्त हो गया था। मेरा धन—गुण और शाश्वत आयु सभी कुछ इस पुत्र का ही हो जावे ॥ ३० ॥ इस प्रकार से अनवरत चिन्ताओं से उसने अपनी सत्य जो अवस्थिति थी उसका त्याग कर दिया था। धार्मिक चिन्ता के भ्रंश हो जाने से भोगों की चिन्ता से पुत्रों के लिये क्षीण आयु वाले उसको मृत्यु ने वायु को सर्प की भांति आहरण कर लिया था। अर्थात् वह

मृत्यु को प्राप्त हो गया था। भोगों की एक ही चिन्ता के साथ वह समुत्क्रान्त चेतना वाला हो गया था ॥ ३१–३२ ॥ इसके अनन्तर वह मद्रदेश के स्वामी का पुत्र हुआ था और फिर मद्रदेश का राजा हो गया था। इसके उपरान्त उसने इसी प्रकार से बहुत–से अन्य जन्म भी ग्रहण किये थे ॥ ३३ ॥ इसके अनन्तर वह मुनि गङ्गा भगीरथी के तट पर स्थित एक तपस्वी का पुत्र हुआ था। अधिक समय में पवन और सूर्य ताप से उसका शरीर बहुत जर्जर हो गया था ॥३४॥

कायस्तस्य पतितोर्व्यां भृगुशुक्रसमुद्भवः।
रागद्वेषविहीनत्वात्तस्य पुण्याश्रमस्य तु ॥३५
महातपस्त्वाच्च भृगोर्न भुक्तो मृगपक्षिभिः।
अथ वर्षसहस्रेण दिव्येन परमेश्वरः ॥३६
भृगुः परमसंबोधाद्विरराम समाधितः।
नापश्यदग्रे तनयं विनयावनताननम् ॥३७
सीमान्ते गुणसीमायाः पुण्यं मूर्तमिव स्थितम्।
अपश्यत्केवलं कायकङ्कालं पुरतो महत् ॥३८
देहयुक्तमिवाभाग्यं दारिद्र्यमिव मूर्तिमत् ॥३९
तापशुष्कवपुः कृत्तिरन्ध्रस्फुरिततित्तिरिम्।
संशुष्कान्तोदरगुहाच्छायाविश्रान्तदर्दुरम् ॥४०
प्रेक्ष्य तच्छुष्ककङ्कालमालानं दुःखदन्तिनः।
पूर्वापरपरामर्शमकुर्वन्भृगुरुत्थितः ॥४१
आलोक्य समकालं हि ज्ञात्वा पुत्रं मृतं भृगुः।
कालं प्रति चकाराशु कोपं परमदारुणम् ॥४२

भृगु के वीर्य से समुत्पन्न होने वाला उसका शरीर भूमि में गिर गया था। राग द्वेष के विहीन होने से उस परम पुण्यमय आश्रम वाले भृगु का वह शरीर महान् तप के प्रभाव से मृग पक्षियों के द्वारा नहीं खाया गया था। इसके उपरान्त दिव्य एक सहस्र वर्ष में उस परमेश्वर भृगु ने परम संबोध होने पर समाधि से विराम प्राप्त किया था और

फिर उसने अपने सामने विनय से विनम्र मुख वाले पुत्र को नहीं देखा था ॥ ३५-३७ ॥ गुणों की सीमा के अन्त में परम पुण्यमय मुहूर्त की भाँति स्थित केवल समक्ष में महान् काया का एक कङ्काल (अस्थि पञ्जर) ही देखा था ॥ ३८ ॥ वह अस्थियों का पञ्जर ऐसा ही था जैसे— भाग्यहीन देह से युक्त हो अथवा मूर्त्तिमान् दारिद्रय हो । वह वपु आतप से सूखी हुई खाल से युक्त था और उसके छिद्रों में तीतर पक्षी प्रविष्ट होकर फड़फड़ा रहे थे । उस वपु के सभी भाग सूखे हुए थे और उसके उदर की गुफा में छाया प्राप्त कर मेंढ़क विश्राम कर रहे थे ॥ ३९, ४० ॥ दुःखरूपी हाथी के बन्धन स्तम्भ स्वरूप उस शुष्क कङ्काल को देखकर उठकर भृगु ने आगे-पीछे का कुछ भी विचार नहीं किया था ॥ ४१ ॥ भृगु ने समकाल को देखकर ही अपने पुत्र को मृत समझ लिया था और फिर उस काल के प्रति उसने परम दारुण क्रोध किया था ॥ ४२ ॥

अकाल एव मत्पुत्रो नीतः किमिति कोपतः ।
कालाय शापमुत्स्रष्टुं भगवानुपचक्रमे ॥४३
अथाकलितरूपोऽसौ कालः कवलितप्रजः ।
आधिभौतिकमास्थाय वपुर्मुनिमुपाययौ ॥४४
खड्गपाशधरः श्रीमान्कुण्डली कवचान्वितः ।
षड्भुजः षण्मुखो वाह्या वृतः किंकरसेनया ॥४५
स उपेत्य महाबाहो कुपितं तं महामुनिम् ।
कल्पक्षुब्धाब्धिगम्भीरं सान्त्वपूर्वमुवाच ह ॥४६
त्वमनन्ततपा विप्रो वयं नियतिपालकाः ।
तेन संपूज्यसे पूज्य साधो नेतरयेच्छया ॥४७
मा तपः क्षपयाबुद्धे कल्पकालमहानलैः ।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि ॥४८
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ता निगीर्णा रुद्रकोटयः ।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने ॥४९

भोक्तारो हि वयं ब्रह्मन्भोजनं युष्मदादयः।
स्वयं नियतिरेषा हि नावयोरेतदीहितम् ।५०

अकाल में ही मेरे पुत्र को यह मृत्यु ले गया है। ऐसा इसने क्यों किया है। इस पर क्रोध से भगवान् भृगु ने काल को शाप देने की तैयारी की थी ॥ ४३ ॥ समस्त प्रजाओं का कवलित कर जाने वाला और रूप से रहित वह काल आधिभौतिक शरीर में समास्थित होकर मुनि के समीप में उपस्थित हुआ था ॥ ४४ ॥ वह काल खड्ग और पाश के धारण करने वाला-कुण्डलों से भूषित तथा श्री सम्पन्न कवच से समन्वित था और उसकी छः भुजाएँ और छः मुख थे। वह चारों ओर से अपने किङ्करों की सेना से परिवृत था अर्थात् उसके साथ बहुत से सेवक भी थे ॥ ४५ ॥ हे महाबाहुओं वाले! कल्पान्त में क्षोभ को प्राप्त हुए परम गम्भीर और अत्यधिक कोप से युक्त उस महामुनि से वह काल सान्त्वना पूर्वक बोला था ॥ ४६ ॥ आप तो विप्र हैं और अनन्त तपस्या से युक्त हैं तथा हम नियति के पालन करने वाले हैं। हे पूज्य! इसी कारण से मेरे द्वारा आपकी पूजा की जाती है अन्य किसी भी इच्छा से नहीं ॥ ४७ ॥ हे बुद्धि से हीन! कल्पान्त काल के समय प्रज्वलित क्रोधाग्नि से अपनी तपश्चर्या को क्षीण मत करो। जो मैं कभी भी दग्ध नहीं हुआ हूँ उस मुझको आप शाप देकर क्या दग्ध कर देंगे ॥ ४८ ॥ ब्रह्माण्डों के समुदाय को मैंने ग्रस्त कर लिया है और करोड़ों रुद्रों को भी मैं निगीर्ण कर चुका हूँ। विष्णु देवों के कितने ही समूहों को मैंने खा डाला है। हे मुने! हम किस कर्म में सामर्थ्य वाले नहीं हैं अर्थात् हमारे अन्दर महान् शक्ति विद्यमान है ॥ ४९ ॥ हे ब्रह्मन्! हम तो खाने वाले हैं और आप जैसे सभी हमारे भोजन हैं अर्थात् भक्ष्य हैं। यह तो नियति ही है हम दोनों की कोई इसमें चेष्टा विशेष नहीं है। अर्थात् प्रकृति से ही ऐसा हुआ करता है हमारी कोई विशेष इच्छा से ऐसा नहीं हुआ करता है ॥५०॥

नेह कर्ता न भोक्तास्ति दृष्ट्या नष्टकलङ्कया ।
बहवश्चेह कर्तारो दृष्ट्या दृष्टकलङ्कया । ५१
पुष्पाणि तरुखण्डेषु भूतानि भुवनेषु च ।
कर्मणायान्ति यान्तीह कल्पान्ते हेतुना विधेः ।५२
क्वासौ ज्ञानमयी दृष्टिः क्व महत्त्व क्व धीरता ।
मार्गे सर्वप्रसिद्धेऽपि किमन्ध इव मुह्यसि ॥५३
स्वकर्मपरिपाकोत्थामविचार्य दशां मुने ।
किं मूर्ख इव सर्वज्ञ मुधा मां शप्तुमिच्छसि ॥५४
चित्तमेवेह पुरुषस्तत्कृतं कृतमुच्यते ।
मनो हि जीवनाज्जीवो निश्चायकतया तु धीः ।
अहंकारोऽभिमन्तृत्वान्नानातां स्वयमेति हि ॥५५

इस जगत् में विशुद्ध ज्ञान से कोई भी कर्ता और भोक्ता नहीं है। यह आत्मा तो निर्विकार है इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व कभी सम्भव ही नहीं है। भ्रान्ति के होने से ही बहुत-से कर्ता और भोक्ता बना करते हैं किन्तु इस प्रकार की भावना अविद्या के कारण भ्रान्ति से परिकल्पित हुआ करती है ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार से वृक्षों में पुष्प समुत्पन्न होजाया करते हैं वैसे ही इन भुवनों में प्राणी अपने ही कर्म के वशीभूत होकर आया करते हैं और यहाँ से चल बसते हैं। कल्प के अन्त में ब्रह्मा का भी प्रवृत्ति निवृत्ति हेतु काल अर्थात् ईश्वर की इच्छा ही होती है और उसी से वे भी आते और चले जाया करते हैं ॥ ५२ ॥ काल कहता है कि आपकी यह ज्ञान से परिपूर्ण दृष्टि कहाँ चली गयी है—वह महत्व कहाँ छिप गया है और धीरता किधर नष्ट होगयी है ? इस सर्व एवं परम प्रसिद्ध मार्ग में भी कैसे एक अन्धे के समान आप इस समय महान् मोह को प्राप्त हो रहे हैं ? ॥५३॥ हे मुनिवर ! अपने ही कर्म के परिपाक से समुत्पन्न होने वाली दशा को न विचार कर सब कुछ के ज्ञाता होते हुए भी एक महान् मूढ़ के ही समान होकर व्यर्थ ही मुझको आप शाप देना चाहते हैं ? भृगु के पुत्र के इस चित्तमय संसार का निरूपण करते के

लिये चित्त की महिमा को काल बतलाते हुए कहता है—॥ ५४ ॥ यह चित्त ही यहाँ पर पुरुष है और उसके द्वारा जो कुछ भी किया गया है वही कृत कहा जाता है अर्थात् यह सब कुछ परिकल्पना केवल एक इस चित्त के ही द्वारा की हुई है वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह मन ही प्राण धारण करने के कारण 'जीव'—इस नाम से कहा जाया करता है। एक ही वस्तु विभिन्न कर्मों के द्वारा अपने भिन्न स्वरूप धारण किया करता है। जब यह निश्चय बुद्धि धारण करने का हेतु बनता है तो इसी का नाम धी अर्थात् बुद्धि पड़ जाता है। जब इसमें मेरे पन का अर्थात् यह मेरा है—ऐसा अभिमान प्रवेश कर जाया करता है तो वही अहङ्कार का स्वरूप धारण कर लेता है। यह एक ही नाना स्वरूप स्वयं धारण कर लिया करता है। पुरुष—जीव—बुद्धि—अहङ्कार—मन कोई भिन्न-भिन्न नहीं हैं एक ही के ये विभिन्न रूप हैं ॥५५॥

तन्मनस्तव पुत्रस्य समाधौ त्वयि संस्थिते।
प्रयातं वैबुधं सद्म संत्यज्यौशनसं वपुः ॥५६
असेवत मुने तत्र विश्वाचीं देवसुन्दरीम्।
अथ विप्रो दशार्णेषु कोसलेषु महीपतिः ॥५७
धीवरोऽथ महाटव्यां हंसस्त्रिपथगातटे।
सूर्यवंशे नृपः पौण्ड्रः शौरः शाल्वेषु देशिकः ॥५८
कल्पं विद्याधरः श्रीमान्धीमानथ मुनेः सुतः।
सौवीरेषु च सामन्तस्त्रिगर्ते शैवदेशिकः ॥५९
वंशगुल्मः किरातेषु हरिणश्चीश्च जाङ्गले।
सरीसृपस्तालतले तमाले वनकुक्कुटः ॥६०
अन्यास्वपि विचित्रासु वासनावशतः स्वतः।
विषमास्वेव पुत्रस्ते चचारान्तरयोनिषु ॥६१
वासुदेवाभिधानोऽसौ मुने विप्रकुमारकः।
तपश्चरति ते पुत्रः समङ्गासरितस्तटे ॥६२

जटावानक्षवलयी जितसर्वेन्द्रियभ्रमः।
तत्र वर्षशतान्यष्टौ संस्थितस्तपसि स्थिरे ॥६३

आपके सिद्ध समाधि में स्थित होजाने पर आपके पुत्र का वही मन इस मार्ग व शरीर का परित्याग करके देवों के लोक को चला गया है ॥५६॥ हे महामुने ! वहाँ पर इसने विश्वाची देव सुन्दरी का सेवन किया था अर्थात् परम सुन्दरी विश्वाची का उपभोग किया था। स्वर्गीय सुख के उपभोग के अनन्तर होने वाले अन्य जन्मों को बतलाते हुए काल कहता है कि इसके पश्चात् यह एक विप्र हुआ और फिर दशार्ण कोसल देशों में मही का स्वामी राजा हुआ था ॥५७॥ इसके उपरान्त यह एक धीवर जाति में समुत्पन्न हुआ था। इसके पश्चात् महाटवी (विशाल वन) में भागीरथी गङ्गा के तट पर हंस के स्वरूप में इसने जन्म ग्रहण किया था। इसके उपरान्त सूर्य वंश में पौण्ड्र नृपति हुआ था और फिर शाल्व देशों में और आचार्य के स्वरूप में इसने जन्म धारण किया था ॥५८॥ एक कल्प पर्यन्त परम श्री सम्पन्न विद्याधर होकर इसने अपना समय व्यतीत किया था और फिर इसके उपरान्त इसने एक मुनि के यहाँ उसके पुत्र के स्वरूप में जन्म ग्रहण किया था जोकि परम धीमान् हुआ था। फिर सौवीर देशों में मण्डलेश्वर नृपति हुआ था। इसके अनन्तर त्रिगर्त देश में शैव (भगवान शिव की उपासना करने वाला) आचार्य हुआ था ॥५६॥ इसके पश्चात् जड़ सृष्टि में यह वेणु (बाँस) को झाड़ी के स्वरूप में समुत्पन्न हुआ था और जङ्गल में एक हिरण के स्वरूप में इसने जन्म धारण किया था। फिर इसने ताल के तलभाग में सर्प के रूप में जीवन ग्रहण किया था और फिर तमाल वन में वन कुक्कुट (मुर्गा) बना था ॥६०॥ इसी भाँति आपका पुत्र अपनी ही वासनाओं के वशीभूत होता हुआ चर अचर अनेक परम विषम योनियों में जन्म ग्रहण करता रहा है ॥६१॥ हे मुनिवर ! फिर यह आपका पुत्र वासुदेव नाम वाला एक विप्र का पुत्र होकर समङ्गा सरिता के तट पर तपस्या का समाचरण करता है ॥ ६२ ॥ इस समय में वह जटाधारी—

काक्षवलयी और अपनी समस्त इन्द्रियों की भ्रान्ति पर विजय प्राप्त करने वाला होता हुआ आठसौ वर्ष से स्थिर तपश्चर्या में समवस्थित है ॥६३॥

यदीच्छसि मुने द्रष्टुं तं स्वप्नाभं मनोभ्रमम् ।
तत्समुन्मीलय ज्ञाननेत्रमाशु विलोकय ॥६४
इत्युक्ते जगदीशेन कालेन समदृष्टिना ।
मुनिः स चिन्तयामास ज्ञानात्तत्तनयेहितम् ॥६५
ददर्श च मुहूर्तेन प्रतिभानवशादसौ ।
पुत्रोदन्तमशेषेण बुद्धिदर्पणबिम्बितम् ॥६६
पुनर्मन्दरसानुस्थां कालाकाराग्रसंस्थिताम् ।
समङ्गायास्तटादेत्य विवेश स्वतनुं भृगुः ॥६७
विस्मयस्मेरया दृष्ट्या कालमालोक्य कान्तया ।
वीतरागमुवाचेदं वीतरागो मुनिर्वचः ॥६८
भगवन्भूतभव्येश बाला वयमनुज्ज्वलाः ।
त्वादृशामेव धीर्देव त्रिकालामलदर्शिनी ॥६९
इत्युक्तो भगवान्कालो हसन्निव जगद्गतिः ।
हस्तं हस्तेन जग्राह भृगुमिन्दुमिवांशुमान् ॥७०

हे मुनिवर ! यदि आप इस स्वप्न की झलक के तुल्य उस मनोभ्रम को देखना चाहते हैं तो ज्ञान के नेत्रों को खोलकर शीघ्र ही देख लीजिये ॥ ६४ ॥ इस प्रकार से सम्पूर्ण जगत् के ईश समान दृष्टि वाले काल के द्वारा कहने पर उस मुनि ने ज्ञान के बल से उस पुत्र की चेष्टाओं के विषय में चिन्तन किया था । ६५॥ इसके अनन्तर ज्ञान के बल से इस मुनि ने मुहूर्त मात्र में सम्पूर्ण पुत्र का वृतान्त बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिविम्बित देख लिया था ।६६॥ इसके उपरान्त पुनः काल के शरीर के आगे वर्तमान रहने वाली मन्दराचल की शिखर पर स्थित अपनी तनु में (शरीर में) भृगु ने समङ्गा सरिता के तट से आ

पर जाकर और पुनः वहाँ से वापिस लौटकर अपने शरीर में प्रवेश कर लिया था—यह तात्पर्य है ॥ ६७ ॥ विस्मय से परिपूर्ण कान्त दृष्टि से काल को देखकर वीतराग वाले मुनि ने राग विरहित यह वचन कहा था ॥६८। हे भूत-भव्य के स्वामी भगवान् ! हम सब निर्मलता से रहित बुद्धि वाले बालक ही हैं। हे देव ! आप जैसों की ही बुद्धि त्रिकाल में स्वच्छ दिखाई देने वाली है ॥ ६९ ॥ जगत् की गति भगवान काल ने इस प्रकार से कहे जाने पर हँसते हुए चन्द्रमा के सूर्य के समान ही अपने हाथ से भृगु को हाथ में ग्रहण करके अर्थात् हाथ से हाथ पकड़ कर ग्रहण किया था ॥७०॥

अथ कालभृगू देवौ मन्दराचलकन्दरात्
गन्तुं प्रवृत्तावावनौ समङ्गासरितस्तटे ॥७१
क्षणादेवापतुस्तत्र तौ समङ्गां तरङ्गिणीम् ।
ददर्शाथ तटे तस्याः कस्मिंश्चित्तनयं भृगुः ॥७२
शान्तेन्द्रियं समाधिस्थमचञ्चलमनोमृगम् ।
समालोक्य भृगोः पुत्रं कालः संकल्पवानभूत् ॥७३
विबुध्यतामयमिति समाधेर्विरराम सः ।
उन्मील्य नेत्रे सोऽपश्यदग्रे कालभृगू प्रभू ॥७४
कदम्बलतिकापीठादथोत्थाय ननाम तौ ।
मिथः कृतसमाचाराः शिलायां समुपाविशन् ॥७५
अथोवाच वचः शान्तं स तमङ्गातटे द्विजः ।
भवतोर्दर्शनेनाहमद्य निर्वृतिमागतः ॥७६
यो न शास्त्रेण तपसा न ज्ञानेन न विद्यया ।
विनष्टो मे मनोमोहः क्षीणोऽसौ दर्शनेन वाम् ॥७७

इसके अनन्तर काल और भृगु दोनों देव मन्दराचल की कन्दरा से भूमि पर गमन करने के लिए प्रवृत्त होगये थे जहाँ पर कि समङ्गा सरिता का तट विद्यमान था ॥ ७१ ॥ वे दोनों क्षण मात्र में ही उस

समङ्गा नदी के तट पर पहुँच गये थे और उसके अनन्तर उस नदी के किसी एक तट पर भृगु ने पुत्र को देखा था ॥७२॥ वह भृगु का पुत्र परम शान्त इन्द्रियों वाला—समाधि में स्थित और चञ्चलता से रहित मनरूपी मृग वाला था। ऐसी अवस्था में स्थित भृगु के पुत्र को देखकर काल के मन में सङ्कल्प हुआ था ॥७३॥ यह भृगु पुत्र विबोध को प्राप्त होवे—ऐसा सङ्कल्प के होने पर ही वह समाधि से निरत होगया था। उसने अपने नेत्रों को खोला था और उसने अपने सामने काल और भृगु दोनों प्रभुओं को देखा था ॥७४॥ इसके अनन्तर कदम्ब लतिका के पीठ से उठकर उसने उन दोनों के चरणों में प्रणाम किया था। परस्पर में समुचित शिष्टाचार करने के पश्चात् वे सब एक शिला पर बैठ गये थे ॥ ७५ ॥ इसके अनन्तर उस द्विज ने समङ्गा के तट पर परम शान्ति से पूर्ण वचन कहा था—मैं आज आप दोनों के दर्शन प्राप्त कर परमानन्द को प्राप्त होगया हूं ॥७६॥ मेरे मन का महान् मोह जो अब तक शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा—तपश्चर्या से—ज्ञानार्जन से—विद्या से भी विनष्ट नहीं हो पाया था वह आज आप दोनों के दर्शन मात्र से ही क्षीण होगया था ॥ ७७ ॥

न तथा सुखयन्त्यन्तर्निर्मलामृतदृष्टयः।
यथा प्रहर्षयन्त्येता महतामेव दृष्टयः ॥७८

चरणाभ्यामिमं देशं भवन्तौ भूरितेजसौ।
कौ पवित्रितवन्तौ नः शशाङ्कार्कविधाम्बरम् ॥७९

इत्युक्तवन्तं प्रोवाच भृगुर्जन्मान्तरात्मजम्।
स्मरात्मानं प्रबुद्धोऽसि नाज्ञोऽसीति रघूद्वह ॥८०

प्रबोधितोऽसौ भृगुणा जन्मान्तरदशां निजाम्।
मुहूर्तमात्रात्सस्मार ध्यानोन्मीलितलोचनः। ८१
अथासौ विस्मयस्मेरमुखो मुदितमानसः।
वितर्कमन्थरां वाचमुवाच वदतांवरः ॥८२

उस तनु (शरीर) को देखें। मैं कौतुक को समानान्दित करलूं मेरा यहाँ पर कुछ भी समीहित तथा असमीहित नहीं है अर्थात् कोई अभीष्ट और अनभीष्ट नहीं है ॥८५॥

विचारयन्तस्तत्त्वज्ञा इति ते जागतीर्गतीः ॥८६
समङ्गायास्त्रयः प्रापुः क्षणान्मन्दरकन्दरम् ।
ददर्श भार्गवस्तत्र पूर्वजन्मोदभवां तनुम् ॥८७
उवाच चेदं हे तात शुष्का तनुरियं हि सा ।
या त्वया सुखसंभोगैः पुरा समभिलालिता ॥८८
पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम् ।
निरस्तकल्पनाजालं कथं शेते सुखं वने ॥८९
सर्वाशाज्वरसंमोहमिहिकाशरदागमे ।
विचित्तत्वं विना नान्यच्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु ९०
त एव सुखसंभोगसीमानं समुपागताः ।
महाधियः प्राप्तधियो ये याता विमनस्कताम् ॥९१

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—जगत् की गतियों का विचार करते हुए तत्त्व ज्ञाता वे तीनों समङ्गा से क्षण मात्र में मन्दराचल की कन्दरा में प्राप्त हो गये थे। वहाँ पर भार्गव ने पहिले जन्म में उत्पन्न होने वाले शरीर को देखा था ॥ ८६–८७ । फिर उन्होंने कहा—हे तात ! वह यह शरीर एकदम शुष्क हो गया है जिसको आपने सुखोपभोगों के द्वारा पहिले भली भाँति से अभिलालित किया था अर्थात् उपलालित किया था ॥ ८८ ॥ विश्रान्त सन्देहों वाले—सम्पूर्ण कौतुकों से रहित और कल्पनाओं के जाल से एकदम निरस्त वन में कैसे सुखपूर्वक शयन करते हैं—देखिये ॥ ८९ ॥ सब प्रकार की आशाओं के निमित्त स्वरूप दुःख संमोह रूपी मिहिकाओं के सम्पूर्ण निवर्त्तक शरदागम के समान ही विमनस्कता का होना आवश्यक है। मैं तो जीवों में मन के रहित होने के बिना अन्यत् कुछ भी श्रेयस्कर नहीं देखता हूं ॥ ९० ॥ जो महा बुद्धिमान् लोग ज्ञान प्राप्त किये हुए हैं और विमनस्कता को प्राप्त हो

गये हैं वे ही सुखों के सम्भोग की चरम सीमा को सम्प्राप्त हो गये हैं ।। ९१ ।।

सर्वदुःखदशामुक्तां संस्थितां विगतज्वराम् ।
दिष्ट्या पश्याम्यमनस्कां वने तनुमिमामहम् ।।९२
अथाक्षिप्य वचस्तस्य कालः प्रोवाच भार्गवम् ।
प्रविशेमां तनुं साधो नगरीमिव पार्थिवः ।।९३
गुरुत्वमसुरेन्द्राणां कर्तव्यमनया त्वया ।
कल्याणमस्तु वां यामो वयं त्वभिमतां दिशम् ।।९४
इत्युक्त्वा मुञ्चतोर्बाष्पं तयोः सोऽन्तरधीयत ।
गते तस्मिन्भगवति भार्गवो नियतेर्वशः ।।९५
विवेश तां तनुं हित्वा समङ्गाद्विजभावनाम् ।
तस्यां प्रविष्टजीवायां पुत्रतन्वां महामुनिः ।।९६
चकाराप्यायनं मन्त्रैः स कमण्डलुवारिभिः ।
सर्वा नाड्यस्ततस्तन्व्यस्तस्याः पूर्णा विरेजिरे ।।९७
अथ शुक्रः समुत्तस्थौ वहत्प्राणसमीरणः ।
पुरोऽभिवादयामास पितरं पावनाकृतिम् ।।९८
ततस्तौ कानने तस्मिन्पावने भृगुभार्गवौ ।
संस्थितौ मननोन्मुक्तौ निस्तरङ्गाविव ह्रदौ ।।९९
एवं ते भार्गवाख्यानं वर्णितं रघुनन्दन ।
विचार्य सुदृढं चित्ते यथेच्छसि तथा कुरु ।।१००

बड़े हर्ष की बात है कि मैं वन में इस तनु (शरीर) को बिना मन वाला—सर्व प्रकार के दुःखों की अवस्था से मुक्त और सन्ताप से रहित होकर समवस्थित देख रहा हूं ।। ९२ ।। इसके अनन्तर उसके वचन को समाक्षिप्त करके काल ने भार्गव से कहा था—हे साधो ! राजा जिस तरह से अपनी नगरी में प्रवेश किया करता है उसी भाँति इस तनु में तुम प्रवेश कर जाओ ।। ९३ ।। आपको इस तनु के द्वारा असुरेन्द्रों का गौरव करना चाहिए । आप दोनों का कल्याण होवे । हम अब अपनी

अभीष्ट दिशा की ओर गमन करते हैं ।। ९४।। इतना कहकर उन दोनों के द्वारा अश्रुपात करने पर वह काल वहीं पर अन्तर्धान हो गये थे । उन काल भगवान् के वहाँ से चले जाने पर भार्गव नियति के वश में हो गया था ।। ९५ ।। फिर समङ्गी द्विज भावना को त्याग कर उसने उस तनु में प्रवेश किया था । उस महा मुनि ने जीव के प्रविष्ट हो जाने वाली उस पु। के तनु में अभिमन्त्रित कमण्डलु के जलों के द्वारा वेद मन्त्रों से आघायन (सन्तर्पण) किया था । इससे उसकी सम्पूर्ण सूक्ष्म नाड़ियाँ पूर्ण रूप दीप्तिमती हो गयी थीं ।। ९ ।। इसके उपरान्त प्राण-वायु को वहन करने वाले शुक्र समुत्थित हो गये थे और उसने अपने आगे स्थित पावन आकृति वाले पिताजी को अभिवादन किया था ।।९८।। इसके अनन्तर उस परम पावन वन में वे दोनों भृगु और भार्गव अर्थात् पिता–पुत्र मनन से उन्मुक्त हुए संकल्पों से रहित होते हुए बिना तरङ्गों वाले ह्रदों (जलाशयों) की ही भांति स्थित होने वाले हो गये थे ।। ९९ ।। हे रघुनन्दन ! इस प्रकार से हमने आपके सामने भार्गव का आख्यान वर्णित कर दिया है ? अब आप अपने चित्त में दृढ़ता के साथ भली भांति विचार कर लीजिये और फिर जो भी चाहते हैं वही कीजिए ।। १०० ।।



द्वितीय सर्ग

जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ।
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतात्मनः ।।१
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ।
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः । २
निज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ।
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ।।३

अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ।
संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥४
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥५
नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥६
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥७

महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—अब तक यह बतला दिया गया है कि यह संसार चित्तमय ही होता अर्थात् चित्त के सङ्कल्पों से हुआ करता है वह विवेक से चित्त की शान्ति हो जाने पर शमित हो जाया करता है जिस जीव ने भली भाँति विचार कर लिया है और जिसके चित्त की मलिन वृत्तियाँ विगलित हो गई हैं । सङ्कल्पों का त्याग कर जो परिणत आत्मा वाला हो गया है उसको यह संसार कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ इस त्यागने के योग्य दृश्य जगत् को भलीभाँति त्याग करने वाला और उपादेय को ग्रहण करने वाला तथा द्रष्टा को ही नित्य देखने वाला एवं जो अद्रष्टा है उसको नहीं देखता है उसके लिये यह संसार कुछ भी नहीं है ॥ २ ॥ परात्पर तत्त्व के जान लेने पर जो जागरूक होकर जीवित रहता है एवं धन के संमोह से परिपूर्ण इस संसार के मार्ग में अनुसन्धान से रहित है उसको यह संसार कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥ अत्यधिक परिपक्व वैराग्य से बहुत थोड़े सुखों के आस्वाद वाले सांसारिक विषयों में तथा अत्यधिक रसास्वाद वाले पारलौकिक विषयों में मूषिक के द्वारा खगों के जाल के समान संसार की वासनाओं के जाल के तोड़ देने पर वैराग्य के प्रभाव से हृदय की ग्रन्थि के ढीली हो जाने पर जैसे कातक नामक फल से जल शुद्ध (निर्मल) हो जाता है उसी तरह से विज्ञान के वश से स्वभाव सुप्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाया करता है ॥ ४–५ ॥ इच्छा विशेष से

रहित और विषयों के आसङ्ग से हीन तथा सुख दुःख भेदों के अनुसंधान से रहित और आलम्बन हीन होता हुआ मन अज्ञान के बन्ध से पञ्जर से पक्षी के ही समान निकल जाया करता है ॥ ६ ॥ सन्देहों की दुरात्मता जिसकी शान्त हो गई है और सङ्कल्पों का विलास जिसका समाप्त हो गया है ऐसा परिपूर्ण अन्तर वाला चित्त पूर्ण चन्द्र के समान शोभित हुआ करता है ॥ ७ ॥

विचारेण परिज्ञातस्वभावस्योदितात्मनः ।
अनुकम्प्या भवन्तीह ब्रह्मविष्णिवन्द्रशंकरा ॥८
कोऽहं कथमिदं चेति यावन्नान्तर्विचारितम् ।
संसाराडम्बरं तावदन्धकारोपमं स्थितम् ॥६
आत्मानमितरं चैव दृशा नित्याविभिन्नया ।
सर्वं चिज्ज्योतिरेवेति यः पश्यति स पश्यति ॥१०
सर्वशवितरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः ।
अद्वितीयश्चिदित्यन्तर्गः पश्यति स पश्यति ॥११
नाहं न चान्यदस्तीति ब्रह्मैवास्ति निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्यं यः पश्यति स पश्यति ॥१२
अयत्नोपतेष्वक्षि दिन्द्रव्येषु यथा पुनः ।
अरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥१३
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४

विचार से परिज्ञात स्वभाव वाले और आत्म तत्त्व को साक्षात् कर लेने वाले परिपूर्ण स्वरूप वाले को ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र और शंकर भी अनुकम्पा करने के योग्य हुआ करते हैं ॥ ८ ॥ मैं कौन हूं – इस प्रकार का आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला विचार यह जगत् कैसे है— यह सांसारिक विचार इसको अन्त.करण में जब तक नहीं विचारा है तभी तक अन्धकार के समान स्थित यह संसार का आडम्बर है ॥ ६ ॥ जो अपनी आत्मा को इतर पुरुष सर्वदा भेद से रहित दृष्टि से (ज्ञान से)

विचारता है और सम्पूर्ण जगत् को चित् की ज्योति अर्थात् चैतन्य मात्र ही देखता है वही विचार में परम निष्ठ पुरुष तत्त्व का साक्षात्कार किया करता है ।। १० ।। समस्त पदार्थों का अन्तर्यामी पुरुष सर्वशक्ति अपरिच्छिन्न स्वरूप वाला अतएव अद्वितीय और अन्तःकरण में चिन्मात्र रूप वाला है—ऐसा जो देखता है वही वस्तुतः देखता है अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार किया करता है ।। ११ ।। अहन्ता से परिच्छिन्न कोई वस्तु नहीं है अर्थात् 'मैं' कोई भिन्न वस्तु नहीं हूं और अपने से व्यतिरिक्त दृश्य भी कुछ नहीं है किन्तु निर्विकार सम्पूर्ण ब्रह्म ही है इस प्रकार से आत्मा और अनात्मा इन दोनों के मध्य में द्रष्टा और दृश्यत्व की उपाधि से रहित चिन्मात्र को ही जो देखा करता है वही तत्त्व का साक्षात्कार किया करता है ।। १२ ।। दिशाओं में स्थित द्रव्यों में नेत्रेन्द्रिय अयत्न से ही उपनत अर्थात् प्राप्त होने पर तद्विषयक अनुराग के बिना ही गिर जाया करती है ठीक उसी प्रकार से ब्रह्मवेत्ताओं की बुद्धि भी अवश्य रूप से करने के योग्य कार्यों में राग से रहित होती हुई प्रवृत्त हुआ करती है ।। १३ ।। परिज्ञान प्राप्त करके कि यह ज्ञानी का भोग विशेष है ऐसे भली भांति समझ कर उपभोग किया हुआ भोग तुष्टि के लिये ही हुआ करता है क्लेश के लिये नहीं होता है । चोर भी संसेव्यमान होता हुआ जिसे खूब अच्छी तरह से जान लिया जाता है वह विज्ञाता को कुछ भी बाधा नहीं किया करता है अपितु मित्र भाव से उपकार ही किया करता है और चोर होने के कारण कोई भी अनिष्ट नहीं करता है ।। १४ ।।

अशङ्कितोमसंप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ।।१५
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ।।१६
बन्धयुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धोऽनाक्रान्तो न राज्यं बहु मन्यते ।।१७

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ।
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे ॥१८
एतावति धरणितले सुभगास्ते साधुचेतसः पुरुषाः ।
पुरुषकथासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन ॥१९
हृदयबिले कृतकुण्डल उल्बणकलनाविषो मनोभुजगः ।
यस्योपशान्तिमागतमुदितं [चित्त] तमव्ययं वन्दे ॥२०

जिस प्रकार से मार्ग में गमन करने वाले पुरुषों के द्वारा बिना तर्कना की हुई ग्राम यात्रा उपसम्प्राप्त हो जाती है अर्थात् ग्राम में विवाह आदि की महोत्सव में कल्पित यात्रा और गमन करता हुआ जन समुदाय जिस प्रकार से देखा जाया करता है ठीक उसी भाँति ज्ञानियों के द्वारा भोगश्री बिना आसङ्ग (आसक्ति) के अवलोकित की जाया करती है अर्थात् ज्ञानियों का भोगश्री का अवलोकन आसक्ति से रहित अनुषङ्गिक ही होता है ॥ १५ ॥ प्रत्याहार आदि के द्वारा जो कि योग के ही अङ्ग हैं निरुद्ध किये हुए मन का अल्प भी लीला भोग अर्थात् अनादर से किया हुआ उपभोग है उसी उपभोग को निरुद्ध होने से विस्तार को न प्राप्त होने वाला मन बहुत मानता है ॥ १६ ॥ बन्धन से युक्त महीपाल अन्न-पान मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाया करता है। दूसरों के द्वारा अबद्ध एवं अनाक्रान्त राज्य को भी अधिक कुछ नहीं मानता है ॥ १७ ॥ मन के निग्रह के उपाय यही हैं कि हाथ से हाथ का संपीडन करके—दाँतों से दाँतों को विचूर्णित करके और अङ्गों से अङ्गों को समाक्रान्त करके तात्पर्य यह है कि हठ योग के द्वारा पवन पर जय करके अपने मन को जीतना चाहिए। सबसे प्रथम यही कार्य है कि मन को वश में करे। इस मन के विजय से अन्य इस संसार सागर में अन्य कोई भी गति नहीं है। मन पर विजय प्राप्त करना सर्वोपरि साधन है जो भवार्णव से छुटकारा दिला सकता है ॥ १८ ॥ इतने विशाल धरणी तल में वे साधु चित्त वाले पुरुष परम सुभग अर्थात् भाग्यशाली हैं और पुरुषों की कथाओं

में गणना करने के योग्य हैं जो अपने चित्त के द्वारा नहीं जीते गये हैं ।। १९ ।। इस हृदय रूपी बिल में कुण्डली बनाकर स्थित रहने वाला अत्यन्त उल्वण कलना के विष से युक्त मनरूपी भुजग (सर्प) निवास किया करता है। वह जिसका उपशान्ति को प्राप्त होगया और उदित हो गया है उस अव्यय चित्त को मैं वन्दना करता हूं ।।२०।।

महानरकसाम्राज्ये मत्ता दुष्कृतवारणाः ।
आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ।।२१
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ।।२२
तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ।।२३
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सत्कार्यकारणात् ।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्त्या गुरुर्विद्याप्रदानतः ।।२४
लालनात्स्निग्धललना पालनात्पावनः पिता ।
सुहृदुक्तं च विश्वासान्मनो मन्ये मनीषिणाम् ।।२५
स्वालोकितः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्यास्वानुभावितः ।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता ।।२६
सुदृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुकान्तः सुप्रबोधितः ।
स्वगुणेनोजितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ।।२७
एवं मनोमणिं राम बहुपङ्ककलङ्कितम् ।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव ।।२८

महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—महान् नरकों के साम्राज्य में इन्द्रियों के भोग स्थान होने से दुष्कृत ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति का हेतु होने से मत्त हाथी के समान है आशा और मनोरथ ही शलाकाकार रूप वाले शर हैं ऐसे इन्द्रियों के स्वरूप वाले ये शत्रु बहुत ही दुर्जय हैं ।। २१ ।। जिसके चित्त के दर्प की क्षीणता होगई है और जिसने इन्द्रिय रूपी

शत्रुओं को निगृहीत कर लिया है अर्थात् अपने नियन्त्रण कर लिया है उसकी भोगों को प्राप्त करने की वासनायें हेमन्त ऋतु में कमलिनियों की भांति क्षीण होजाया करती हैं ॥२२॥ तभी तक अर्धरात्रि में वेतालों के समान मनुष्य के हृदय में वासनायें वल्गित हुआ करती हैं जब तक एक आत्म तत्व में सुदृढ़ ध्यान का अभ्यास कर करके अपने मन को जीत लेने पर ये समस्त भोग-वासनायें शान्त हो जाया करती हैं जब तक मन नहीं जीता है तभी तक इन वासनाओं का यह ताण्डव नृत्य दिखाई दिया करता है ॥ २३ ॥ वशीभूत मन बहुत से प्राणियों का उपकार किया करता है। वशगत मन अभिमत कार्यों के करने से एक भृत्य के ही समान होता है जैसे कोई भृत्य अपने अनुकूल कार्य किया करता है। हितप्रद कार्यों के स्वयं ही करने से यह मन मन्त्री के तुल्य होता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की आक्रान्ति से नियोजक होने के कारण बहुत प्रकार के अधिकारी पुरुषों का प्रवर्तक एक सामन्त के समान होता है तथा ज्ञान प्रदान करने से यह गुरु होजाता है ॥ २४ ॥ लालन करने से यह स्नेह युक्त ललना के समान है और पालन करने के कारण परम पावन पिता के तुल्य है। परम विश्वास पात्र होने से इसको सुहृत कहा गया है मैं ऐसा मानता हूँ कि यह मनीषियों का मन इसी प्रकार का होता है ॥ २५ ॥ शास्त्र की दृष्टि से अर्थात् विचार सिद्ध शास्त्रीय ज्ञान से भलीभांति पर्यालोकन किया हुआ और अपनी विवेक बुद्धि के अपने अनुभव के द्वारा अच्छी तरह निश्चय को प्राप्त हुआ यह मन रूपी पिता स्वयं विनीत होकर परा सिद्धि कैवल्य को प्रदान किया करता है ॥२६॥ भलीभांति देखा भाला गया और इसीलिये संशय विपर्यय से रहित होने के कारण प्रकम्पन के अयोग्य—निष्कलङ्क—शुभ इच्छाओं से युक्त समीचीन प्रबोध को प्राप्त होने वाला और अपने शम आदि अनेक सद्गुणों से उत्कृष्ट यह मन रूपी मणि परमहृद्य (मनोहर) शोभा दिया करता है ॥२७॥ हे श्रीराम ! इस प्रकार से बहुत-सी मलिन वासनाओं से कलङ्क से युक्त इस मन रूपी मणि को विचार जन्य विज्ञान रूपी

विवेक के जल से प्रक्षालित करके कैवल्य की सिद्धि के लिये आलोकवान् अर्थात् तत्त्वज्ञाता होइये ।।२८।

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च ।
इन्द्रियारीनलं तीर्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ।।२९
अयमहमिति निश्चयो वृथा यस्तमलमपास्य महामते स्वबुद्ध्या ।
यदितरदवलम्ब्य तत्पदं त्वं व्रज पिब भुङ्क्ष्वन बद्ध्यसेऽमनस्कः ।।३०
दामव्यालकटन्यायो मा ते भवतु राघव ।
भीमभासदृढस्थित्या तवास्त्वतिविशोकता ।।३१
दामव्यालकटन्यायो भीमभासदृढस्थितिः ।
ब्रह्मन्किमुक्तं भवता भवतापापहारिणा ।।३२
दामव्यालकटन्याय भीमभासदृढस्थितिम् ।
शृणु राघव तच्छ्रुत्वा यथेच्छसि तथा कुरु ।।३३
आसीत्पातालकुहरे सर्वैश्वर्यमनोहरे ।
शम्बरो नाम दैत्येन्द्रो मायामणिमहार्णवः ।।३४
तस्यादिदेवदेवस्य कठिनोड्डामराकृतेः ।
बभूव विपुलं सैन्यमासुरं सुरनाशनम् ।।३५

परमोत्कृष्ट विवेक का समाश्रय ग्रहण करके तथा बुद्धि के द्वारा सत्य का अवेक्षण करके अर्थात् सत्य की खोज करके इन इन्द्रियों रूपी महान् शत्रुओं का विनाश करके अर्थात् इन्द्रियों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रख कर इस संसार रूपी महान् सागर से उत्तीर्ण हो जाइये ।। २९ ।। हे महान् मति वाले ! यह मैं हूं—इस प्रकार का जो परिच्छिन्न आकार वाला वृथा निश्चय है अर्थात् विपरीत परिच्छेद है उसको अपनी बुद्धि के द्वारा हटाकर अहन्ता से अनवच्छिन्न जो इतर पद वाच्य चैतन्य है उसका अवलम्बन कर अमनस्क होते हुए इच्छा पूर्वक व्यवहार करो । ऐसा हो जाने पर फिर इस सांसारिक बन्धन में बद्ध नहीं होओगे ।। ३० ।। महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्री राघव ! दाम व्याल और कट है—ऐसा दैत्य कहा करते हैं। उनका यह न्याय विवेक से शून्य होता है । वह व्यव-

हार आपको नहीं होना चाहिए। भीम भास दृढ़ है—ऐसा दैत्य कहते हैं उनकी स्थिति से आपको विशोकता होनी चाहिए ॥।३१॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! संसार के ताप को हरण करने वाले आपने भीमभास दृढ़ स्थिति और दाम व्याल कट न्याय क्या कहा था—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया है। आप इसका कुछ स्पष्टीकरण करिये ॥३२॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे राघवेन्द्र ! दाम व्याल और भीमभास दृढ़ स्थिति का श्रवण कीजिए और उसको सुनकर जो भी फिर आप चाहें कीजिये ॥३३॥ समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों से परम सुन्दर पाताल कुहर में एक शम्बर नामधारी दैत्येन्द्र था जो माया मणि का महासागर था ॥३४॥ महान् भयङ्कर आकृति वाले उस आदि देवों के देव की सुरों के विनाश करने वाली विशाल आसुरी सेना थी ॥३५॥

तस्मिन्मायाबले सुप्ते देशान्तरगते तथा।
तत्सैन्यं तरसा जघ्नुश्छिद्रं प्राप्य किलामराः ॥३६
अथ शम्बरदैत्येन मुण्डिकाद्रुमादयः।
रक्षार्थं मन्त्रिसामन्ताः स्वसेनासु नियोजिताः ॥३७
तानप्यन्तरमासाद्य जघ्नुर्देवा भयानकान्।
स्वयं कोपादथायासीच्छम्बरः सुरपत्तनम् ॥३८
तस्य मायाबलाद्भीताः सुरास्तेऽन्तर्धिमाययुः।
मेरुकाननकुञ्जेषु भयभारावयन्त्रिताः ॥३९
कन्दरक्षुद्रामरगणं वाप्यविलसाङ्गनामुखम्।
शून्यं ददर्श स स्वर्गं कल्पक्षीणजगत्समम् ।४०
विहृत्य कुपितस्तत्र दोर्दण्डमदघूर्णितः।
लोकपालपुरीं दग्ध्वा जगामात्मीयमालयम् ॥४१
एवं दृढतरीभूते द्वेषे दानवदेवयोः।
देवाः स्वर्गं परित्यज्य दिक्षु जग्मुरदर्शनम् ।४२

उस माया बल के सुप्त होजाने पर तथा देशान्तर में चले जाने पर देवगण ने छिद्र प्राप्त कर बड़े वेग से उस सेना का संहार कर दिया

था ॥३६॥ इसके अनन्तर शम्बर दैत्य ने मुण्डिकाद्य और द्रुम जिनमें प्रधान थे रक्षा के लिये अपनी सेनाओं में मन्त्री और सामन्त नियोजित किया था ॥३७॥ देवगणों ने परम भयानक उनको भी एक वान्तर प्राप्त करके हनन कर दिया था। इसके पश्चात् वह शम्बर महान् कोप से स्वयं सुरों के नगर में पहुँचाया गया था ॥३८॥ उसकी माया के बल से डरे हुए वे समस्त सुरगण छिप गये थे। भय के भार से अवयन्त्रित हुए देवगण सुमेरु पर्वत के गहन जङ्गलों में जाकर छिपा दिये थे ॥३६॥ उस दैत्य ने स्वर्ग को एक दम सूना देखा था जैसे कल्प में क्षीण जगत् हुआ करता है वहाँ पर केवल कुछ क्षुद्र अमरगण क्रन्दन कर रहे थे और देवाङ्गनाओं के मुख अश्रुपातों से भीगे हुए थे—यही देखा था ॥४०॥ वहाँ पर दोर्दण्ड के मद से घूर्णित वह कुपित होता हुआ विहार करके लोकपालों की पुरी को दग्ध करके अपने निवास स्थान पर वापिस आ गया था ॥४१॥ इस प्रकार से देवों और दानवों का द्वेप अत्यधिक दृढ़ हो जाने पर देवों ने स्वर्ग लोक का त्याग करके विभिन्न दिशाओं में जाकर अपने आपको छिपा लिया था ॥४२॥

अथ शम्बरदैत्येन ये ये सेनाधिनायकाः।
क्रियन्ते यत्नतस्तांस्ताञ्जघ्नुर्यत्नपराः सुराः ॥४३
यावदुद्वेगमापन्नः शम्बरः कोपयान्भृशम्।
ससर्ज मायया घोरानसुरांस्त्रीन्महाबलान् ॥४४
निर्मिता मायया भीमाः पक्षक्षुब्धा इवाद्रयः।
उदगुस्ते मह माया दामो व्यालः कटस्तथा ॥४५
वासनात्माभिमानाभ्यां हीनास्ते प्रथमोद्गताः।
नाभिपातं न वापातं न विदुस्ते पलायनम् ॥४६
न जीवितं न मरणं समरे न जयाजयौ।
केवलं सैनिकानग्रे दृष्ट्वा ते हननोद्यताः ॥४७
शम्बरश्चिन्तयामास परितुष्टमनास्तदा।
दुष्टानिष्टाभिरेते हि वासनाभिर्यदुज्झिताः ॥४८

तदेते न पलायन्ते देवैरभिहता अपि ।
इति निर्णीय दैत्येन्द्रो दामव्यालकटान्विताम् ॥४९

इसके अनन्तर शम्बर दैत्य के द्वारा जो-जो भी सैना के अधिनायक किये जाते थे यत्न परायण सुरगणों ने प्रयत्नपूर्वक उन-उनका ही हनन कर दिया था ॥ ४३ ॥ अत्यन्त अधिक कोप से भरे हुए उस शम्बर दैत्य को महान् उद्वेग प्राप्त हो गया था और फिर उसने माया से तीन महान् घोर बल वाले असुरों का सृजन किया था ॥ ४४ ॥ माया के द्वारा रचना किये हुए वे महान् भयानक थे। वे पक्षों से क्षुब्ध पर्वतों के ही समान थे। वे महामाया वाले दाम-व्याल कट के स्वरूप वाले उद्गत हुए थे ॥ ४५ ॥ वे वासनात्मा और अभिमान से हीन प्रथमा उद्गत हुए थे। वे अभिपात-अयात और पलायन कुछ भी नहीं जानते थे ॥ ४६ ॥ जीवित रहना—मरना और समर में जय-अजय कुछ भी नहीं जानते थे। वे केवल इतना ही जानते थे कि अपने सामने सैनिकों को देखकर उनका हनन करने के लिये उद्यत रहा करते थे ॥ ४७ ॥ उस समय में परितुष्ट मन वाले शम्बर ने विचार किया था कि ये इष्ट एवं अनिष्ट वासनाओं से रहित हैं ॥ ४८ ॥ देवगणों के द्वारा अभिहत होते हुए भी ये पलायन नहीं किया करते हैं। दैत्येन्द्र शम्बर ने मन में ऐसा निर्णय करके दाम व्याल कट से युक्त एक सेना तैयार की था ॥ ४९ ॥

सेनां संप्रेषयामास देवेन्द्रबलघातिनीम् ।
दैत्याः सागरकुञ्जेभ्यः कन्दरेभ्यश्च सायुधाः ॥५०
उदगुर्भीमनिर्ह्रादाः सपक्षगिरिलीलया ।
अथोत्तस्थुर्निकुञ्जेभ्यः कन्दरेभ्यः सुरा बलात् ॥५१
प्रयान्त इव शैलेन्द्रा भीमाः स्वर्वासिनां गणाः ।
देवासुरपताकिन्योस्तद्युद्धमभवत्तयोः ॥५२
अकालोल्वणकल्पान्तभीषणं भुवनान्तरे ।
तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे समरसंभ्रमे ॥५३

पतिताङ्गायुधानीह प्रस्रवद्रुधिराणि च ।
पयांसीव विशीर्णानि देवसैन्यानि दुद्रुवुः ॥५४
दामव्यालकटास्तानि चिरमन्तर्हितान्यपि ।
अनुजग्मुर्लसन्नादमिन्धनानीव पावकाः ॥५५

उस सेना को जो देवेन्द्रों के बल का घात करने वाली थी भेजा था । दैत्यगण आयुधों से समन्वित होकर सागर कुञ्जों से और कन्दराओं से महान् भीषण घोष करते हुए यक्षयुक्त पर्वतों की लीला की ही भाँति उत्पन्न हो गये थे । इसके पश्चात् सुरगण भी बलपूर्वक निकुञ्जों से और कन्दराओं से उठ खड़े हुए थे ॥ ५०–५१ ॥ स्वर्गलोक के निवासियों के गण भी गमन करने वाले शैलेन्द्रों के समान महान् भीषण थे । देवों और असुरों की उन दोनों सेनाओं का वह युद्ध हुआ था ॥ ५२ ॥ उस समय में उस महान् घोर संग्राम के सम्भ्रम के वर्त्तमान होने पर भुवनान्तर में अकाल में अत्यन्त उल्वण कल्पान्त के समान भयानकता समुत्पन्न हो गई थी ॥ ५३ ॥ आयुध और अङ्ग जिसके गिर गये थे और रुधिर का प्रस्रवण हो रहा था जल के समान विशीर्ण देवों की सेना भाग खड़ी हुई थी ॥ ५४ ॥ चिरकाल पर्यन्त छिपी हुई देव सेना का दाम व्याल कट ईंधन को अग्नि के समान ही घोर नाद करते हुए अनुगमन कर रहे थे ॥५५॥

अन्विष्यन्तोऽपि यत्नेन नालभन्तासुरा सुरान् ।
अलब्धेष्वमरौघेषु दामव्यालकटास्तथा ॥५६
जग्मुः पातालकोशस्थं प्रभुं प्रमुदिताशयाः ।
अथ देवा विपण्णास्ते क्षणमाश्वास्य वै ययुः ॥५७
दामादिभिश्च विजिता ब्रह्माणममितौजसम् ।
तेषामाविरभूद्ब्रह्मा कृतो रक्तासनच्छविः ॥५८
प्रणेमुस्ते सुरास्तस्मै तत्सर्वं शम्बरेहितम् ।
सम्यक्प्रकथयामासुर्दामव्यालकटक्रमम् ॥ ५९

समाकर्ण्याखिलं ब्रह्मा विचार्य स विचारवान् ।
उवाचेदं सुरानीकमाश्वासनपरं वचः ॥६०
हन्त वर्षसहस्रान्ते शम्बरस्य रणे सुराः ।
जेतव्या समरे सेना तावत्कालं प्रतीक्ष्यताम् ॥६१
दामव्यालकटानेतान्युध्यध्वममरेश्वराः ।
योधयन्तः पलायध्वं युद्धार्थं पुनरेव च ॥६२
युद्धाभ्यासबलादेषा मुकुराणामिवाशये ।
अहङ्कारचमत्कारः प्रतिबिम्बमुपैष्यति ॥६३

सुरों का यत्नपूर्वक अन्वेषण करते हुए भी असुर समर्थ न हो सके। देवगणों के न प्राप्त होने पर दाम व्याल कट प्रमुदित अभिप्राय वाले होते हुए वे फिर अपने स्वामी के समीप में पाताल कोश में चले गये थे। इसके पश्चात् देवगण अत्यन्त विषाद से युक्त होकर एक क्षण तक आश्वासित होकर दामादि के द्वारा विजित होते हुए अमित ओज वाले ब्रह्माजी के समीप में उपस्थित हुए थे। इसके उपरान्त रक्त आसन की शोभा से सम्पन्न रक्त वर्ण वाले ब्रह्माजी आविर्भूत हुए थे ॥ ५६–५८ ॥ उन देवगणों ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया था और जो कुछ शम्बर दैत्य ने किया था वह सब भली भाँति कहा था जो कि दाम व्याल कट का क्रम उनके साथ हुआ था ॥ ५९ ॥ देवों के द्वारा वर्णित इस सबका श्रवण करके विचारवान् ब्रह्माजी ने भली भाँति विचार करके सुरों की सेना के लिये समाश्वासन से परिपूर्ण यह वचन कहा था ॥६०॥ ब्रह्माजी ने कहा—बड़े ही दुःख की बात है कि एक हजार वर्ष के अन्त में हे सुरगणो ! शम्बर की सेना पर रण में विजय प्राप्त कर सकोगे। तब तक समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥ अमरेश्वर गणो ! आप लोग दाम व्याल कटों के साथ युद्ध करो और युद्ध करते हुए पुनः युद्ध करने के लिये पलायन कर जाना ॥ ६२॥ वारम्वार युद्ध के प्रवर्त्तन से दर्पणों के अभ्यन्तर भाग की भाँति अहङ्कार स्वरूप चमत्कार प्रत्यय विशेष प्रतिबिम्ब को प्राप्त होगा ॥ ६३ ॥

गृहीतवासना ह्येते दामव्यालकटासुराः ।
सुजेया वो भविष्यन्ति लग्नजालाः खगा इव ॥६४

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखनामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥६५

वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको हि परिवर्तते ।
सा प्रवृद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥६६

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि प्रवृद्धोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः श्रृङ्खलया यथा ॥६७

इत्युक्त्वा भगवान्देवस्तत्रैवान्तर्धिमाययौ ।
सुरास्त्वाकर्ण्य तद्वाक्यं जग्मुश्चाभिमतां दिशम् ॥६८

चक्रुर्दुन्दुभिनिर्घोषं प्रलयाभ्ररवोपमम् ।
अथ दैत्यैर्महाव्योम्नि तैः पातालतलोत्थितैः ॥६९

कालक्षेपकरं घोरं पुनर्युद्धमवर्तत ।
पुनः पलायनं चक्रुरयुध्यन्त पुनः सुराः ॥७०

वासनाएँ ग्रहण करने वाले ये दम व्याल कट असुर जाल में लग्न खगों की भाँति आप लोगों के द्वारा सुजेय हो जायेंगे ॥६४॥ आस्था मात्र को अनन्त दु:खों का आकार समझना चाहिये अर्थात् केवल आशाएँ ही संसार में अनन्त दुःखों की खान होती हैं और किसी भी प्रकार की केवल आशाऐं न रखना ही अनन्त सुखों की खान है। जो आशाओं की निरन्तर डोरी जुडी हुई हृदय में बराबर संकल्पों का समुत्पादन किया करती है उसी से दुःखों का समुदाय बना रहा करता है इनका त्याग ही सुखों को समुत्पन्न करने वाला है यह एक मात्र ही सुख-दुःख का कारण है ॥६५॥ वासनाओं (विषयोपभोगों की सूक्ष्म लालसाओं) के तन्तुओं से बँधा हुआ यह लोक परिवर्त्तित होता है। वही वासना अत्यन्त प्रवृद्ध होती हुई अत्यन्त दुःखों के लिये होती है और नहीं जब उच्छेद को प्राप्त हो जाती है तो सुख के लिये होती है ॥ ६६ ॥ धैर्यवान्—अत्यधिक ज्ञान

रखने वाला—प्रवृद्ध और महान् भी पुरुष तृष्णा के शृङ्खला से सिंह के ही समान वद्ध होजाया करता है। यह तृष्णा विषयोपभोगों की लालसा बड़ी प्रबल है इसके वशीभूत होकर महापुरुप भी सफल गुण सम्पन्न होते हुए भी वद्ध होजाया करते हैं ॥६७॥ इतना कहकर भगवान देव वहीं पर अन्तर्धान को प्राप्त होगये थे। सुरगण भी उनके इन वचनों का श्रवण कर अपनी अभीष्ट दिशा को चले गये थे ॥६८॥ इसके अनन्तर पाताल तल से समुत्थित उन दैत्यों ने महान् व्योम में प्रलय कालीन मेघों के घोष के समान दुन्दुभियों का निर्घोष किया था ॥६९॥ काल का क्षेप करने वाला घोर युद्ध पुनः आरम्भ हो गया था। पुनः पुनः सुरगणों ने पलायन किया था और युद्ध किया था ॥ ७० ॥

एवं ते कालहरणं युद्धेन सुरपुङ्गवाः।
चक्रुर्नानाविधोपायैर्दैत्यव्यामोहकारणात् ॥७१
एतावता च कालेन दृढाभ्यासादहंकृतेः।
दामादयोऽहमित्यास्थां जगृहुर्युक्तचेतसः ॥७२
भववासनया ग्रस्ता मोहवासनया युताः।
आशापाशनिबद्धास्ते ततःकृपणतां गताः ॥७३
स्थिरो भवतु मे देहः सुखायास्तु धनं मम।
इति वृद्धधियां तेषां धैर्यमन्तर्धिमाययौ ॥७४
अतस्तस्मिन् रणे दैत्याः सापेक्षत्वमुपाययुः।
मरिष्यामो मरिष्याम इति चिन्ताहताशयाः ॥७५
अथ प्रम्लानसत्त्वास्ते हन्तुमग्रगतं भटम्।
न शेकुरिन्धने क्षीणे हविर्द्रव्यमिवाग्नयः ॥७६
बहुनात्र किमुक्तेन मरणाद्भीतचेतसः।
पलायनैकशरणा नष्टास्ते त्रिदशारयः ॥७७

उन सुरगणों ने इस प्रकार से दैत्यों के व्यामोह के कारण से युद्ध के द्वारा अनेक प्रकार के उपायों से काल का हरण किया था अर्थात्

समय को घुमाया था ॥७१॥ इतने लम्बे काल से अहंकृति के दृढ़ अभ्यास से युक्त चित्त वाले दामादि ने अहं—इस आस्था को ग्रहण कर लिया था ॥ ७२ ॥ संसार की वासना से ग्रस्त और मोह की वासना से युक्त आशा रूपी पाश से बँधे हुए वे सब कृपणता को प्राप्त हो गये थे ॥७३॥ मेरा यह देह स्थिर हो जावे—मेरा धन मेरे सुख के लिये होवे—इस प्रकार की बढ़ी हुई बुद्धि वाले उनका धैर्य्य अन्तर्हित हो गया था ॥७४॥ इसीलिये उस युद्ध में दैत्यगण सापेक्षत्व को प्राप्त हो गये थे और मर जायेंगे इस चिन्ता से हृत आशय वाले हो गये थे ॥ ७५ ॥ इसके अनन्तर प्रम्लान सत्व वाले वे दैत्यगण आगे उपस्थित शट को मारने के लिये समर्थ न हो सके थे जैसे ईंधन के क्षीण हो जाने पर अग्नि दग्ध हवि का हनन नहीं कर सकता है ॥ ७६ ॥ इस विषय में अत्यधिक कथन करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है मरने से भयभीत चित्त वाले वे देवों के शत्रुगण पलायन की ही शरण ग्रहण करने वाले नष्ट हो गये थे ॥ ७७ ॥

अहमेतत्प्रबोधाय वच्मि राम महामते ।
दामव्यालकटन्यायो मा भवत्विति लीलया ॥७८
अविवेकानुसंधानाच्चित्तमापन्मीदृशीम् ।
अनन्तभवदुःखाय परिगृह्णाति हेलया ॥७६
कथं दामकटव्यालाः समुत्पन्नाः परात्पदात् ।
इति मे संशयं ब्रह्मन्यथावच्छेत्तुमर्हसि ॥८०
यथा दामादयो राम प्रतिभामात्ररूपिणः ।
तथैवेमे वयमिति न ब्रहिः क्वापि संस्थिताः ॥८१
अलीकमेव त्वद्भावो मद्भावोऽलीकमेव च ।
दामव्यालकटादीनां सद्भावोऽलीकमेव च ॥८२
प्रतिभासमयी काचिज्जीवशक्तिः परात्मनः ।
शम्बरध्यानविक्षुब्धा त्रिधोल्लासमवाप सा ॥८३

तस्मान्नेमे वयं सत्या न च दामादयः क्वचित् ।
सत्यं संवेदनं शुद्धं बोधाकाशं निरञ्जनम् ॥८४
सत्यं सर्वगतं शान्तमस्त्यनस्तमनोदयम् ।
तस्य शक्तिसमुल्लासमात्रं जगदिति स्थितिः ॥८५
सर्वत्र सर्वमिदमस्ति यथानुभूतं
नो किंचन क्वचिदिहास्ति न चानुभूतम् ।
शान्तं सदेकमिदमाननमित्थमास्ते
संत्यक्तशङ्कमपभेदमतस्त्वमास्स्व ॥८६

हे महामति वाले श्रीराम ! मैं यह प्रबोध अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान के लिये ही बोल रहा हूं इस लीला से दाम व्याल कट न्याय वाला मत होओ ॥ ७८ ॥ अविवेक के अनुसन्धान से यह चित्त इस प्रकार की आपत्ति को अनन्त सांसारिक दुःखों के लिये हेला से ही परिग्रहण किया करता है ॥ ७९ ॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! पर पद से दाम कट व्याल कैसे समुत्पन्न हुए थे—मेरे हृदय में यह संशय है उसे आप यथोचित रूप से छेदन करने के योग्य होते हैं ॥ ८० ॥ महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—जिस प्रकार से हे श्रीराम ! ये दामादिक सब प्रतिभा मात्र रूप वाले हैं अर्थात् माया से परिकल्पित होने से प्रातिभासिक देहों वाले हैं ये हम सब भी उसी प्रकार से प्रतिभासिक देह वाले हैं चिदाकाश से बाहिर कहीं भी संस्थित नहीं हैं ॥ ८१ ॥ तेरी और मेरी भावना सब मिथ्या है दामादिक की सद्भावना भी मिथ्याभूत ही है । तात्पर्य यह है कि इस जगत् में अपने—पराये होने की जो भावना होती है वह सब मिथ्याभूत है उसी भाँति दाम व्याल कट आदि की सद्भावना भी व्यर्थ है ॥ ८२ ॥ परमात्मा के सकाश से प्रतिभासमान होती हुई कोई वह जीव शक्ति शम्बर के ध्यान से विक्षोभ को प्राप्त होती हुई दाम—व्याल और कट—इन तीन रूपों में उल्लास को प्राप्त हुई थी ॥ ८३ ॥ इस लिये ये हम सब सत्य नहीं हैं और न दाम—व्याल तथा कट आदि ही

कहीं पर सत्य हैं। जितना भी यह भेद का प्रपञ्च है सभी असत्य है। निरञ्जन चिदाकाश मात्र शुद्ध सम्वेदन ही सत्य है ॥ ८४ ॥ उदय और अस्त अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाश से रहित—सबमें व्याप्त—परम शान्त स्वरूप चिन्मात्र ही सत्य है और उसी चिन्मात्र अर्थात् ज्ञान स्वरूप की शक्ति का समुल्लास यह जगत् अर्थात् दृश्य संसार की स्थिति है। उसी ज्ञानमय स्वरूप की शक्ति का विकास यह सम्पूर्ण दिखाई देने वाला जगत् है ॥ ८५ ॥ जैसा कि अनुभव हुआ है उसके अनुसार सब सर्वत्र है और यदि ऐसा अनुभव में नहीं आया है तो कहीं पर कुछ नहीं है। परम शान्त सत्स्वरूप वाली एक ही वस्तु इस प्रकार से प्रसृत (फैली हुई) है और व्याप्त है जो सत् रूप यह विश्व है जो जगत् के रूप से प्रतीत होता है। इस कारण से आप इस शङ्का और भेद के प्रपञ्च का त्याग करदो और सुखपूर्वक स्थित रहो। एक ही शान्त स्वरूप—सत् और चिन्मात्र है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह भेद का प्रपञ्च सब आडम्बर है एवं असत्य है। इस सबका त्याग करके ही सुखमय जीवन व्यतीत करो ॥८६॥



तृतीय सर्ग

इदं मे स्यादिदं मे स्यादिति बुद्धिर्महामते।
स्वेन दौर्भाग्यदैन्येन न सत्यमुपतिष्ठति ॥१
वेत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम्।
तं त्यजन्त्यापदः सर्वा मृगा इव जरत्तृणम् ॥२
परिस्फुरति यस्यान्तर्नित्यं सत्यचमत्कृतिः।
ब्राह्ममण्डमिवाखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम् ॥३
येषां गुणेषु संतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे ॥४

अथापदि दुरन्तायां नैव गन्तव्यमक्रमम् ।
राहुरप्यक्रमेणैव पिबन्नप्यमृतं मृतः ॥५
अवश्या वश्यतां यान्ति यान्ति सर्वापदः क्षयम् ।
अक्षयं भवति श्रेयः क्रीतं येन गुणैर्यशः ॥६
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम् ।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिध्यति ॥७

महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—मैंने दामादि के उपाख्यान में यह बतला दिया है कि अविवेक से मैं और मेरा—इस दो प्रकार के अभिमान से यह संसार बढ़ता है अर्थात् सांसारिकता की वृद्धि होती है अब इस समय में भीमादि के उपाख्यान में मैं यह बतलाता हूं कि देहादि में अहङ्कार का त्याग देना ही पुरुषार्थ के लिए अति आवश्यक है। हे महान् बुद्धिमान् ! यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा में ही वर्त्तमान है और यह आत्मा सर्वात्मक है। इस प्रकार मे वास्तविकता के होने पर भी अपने ही दुर्भाग्य से और दैन्यभाव से कि मैं बुरे भाग्य वाला हूं ये पुत्रादिक मेरे हैं और ये क्षेत्र भूमि आदि मेरे हैं ऐसी जो बुद्धि होरही है उसके ही कारण से सत्य ब्रह्म का प्रकाश नहीं होता है ॥ १ ॥ जो उदार आत्मा वाला नित्य ही इस त्रिलोकी को भी एक तिनके के समान समझता है अर्थात् परम तुच्छ वस्तु जानता है उसको समस्त आपत्तियां त्याग दिया करती हैं जैसे जली हुई घास वाले स्थल को पशु त्याग दिया करते हैं ॥ २ ॥ जिसके अन्तःकरण में सर्वदा सत्य स्वरूप ब्रह्म का अनुसन्धान रहा करता है उस पुरुष को ब्रह्म गर्भ होने से ब्रह्माण्ड की ही भांति लोकेश पालन किया करते हैं अर्थात् अत्यधिक मानते हैं ॥ ३ ॥ जिनके गुणों में सन्तोष होता है और जिनका श्रुत (वेद—शास्त्र) के प्रति अनुराग है तथा सत्य का ही जो व्यसन रखते हैं वेही नर हैं और इन गुणों से जो हीन हैं वे मनुष्य ही नहीं प्रत्युत पशु के ही समान हुआ करते हैं ॥ ४ ॥ महान् घोर और दुरन्त आपत्ति में भी क्रम की हीनता का कभी गमन नहीं करना चाहिए अर्थात् अत्यन्त घोर कष्ट में भी अपने क्रम का भङ्ग न करे। विना क्रम

के अमृत का पान करने वाला भी राहु मृत होगया था। अतएव क्रम के पालन का बड़ा महत्व होता है ।।५।। जिस पुरुष ने गुणों के द्वारा यश का क्रय कर लिया है उस पुरुष के अवश भी वशता को प्राप्त हो जाया करते हैं अर्थात् सभी वश्य होजाते हैं और ऐसे पुरुष की सभी आपत्तियाँ क्षय को प्राप्त हो जाती हैं तथा उसका श्रेय भी अक्षीण होता है। यह सभी कुछ सद्गुणों की महिमा है जिनके होने से सभी कुछ प्राप्त हो जाया करता है ।। ६ ।। परम पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न में स्थित होकर और सुन्दर उद्यम का ग्रहण करके उद्वेग से रहित होते हुए शास्त्रोक्त विधि के अनुसार समाचरण करने वाला कौन पुरुष है जो सिद्धि को प्राप्त नहीं कर लेता है अर्थात् ऐसे समाचरण करने वाले सभी को अवश्य ही सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है ।।७।।

यथाशास्त्रं विहरता त्वरा कार्या न सिद्धिषु ।
चिरकाल परा पक्वा सिद्धिः पुष्टफला भवेत् । ८
वीतशोकभयासमगर्धमपयन्त्रणम् ।
व्यवहारो यथाशास्त्रं क्रियतां मा विनश्यताम् ।।९
अनर्थायार्थसंपत्तिर्भोगौघो भवरोगदः ।
आपदः संपदः सर्वाः सर्वत्रानादरो जयः ।।१०
आचारचारुचरितस्य विविक्तवृत्तेः ।
संसारसौख्यफलदुःखदशास्वगृध्नोः ।
आयुर्यशांसि च गुणाश्च सहैव लक्ष्म्या
फुल्लन्ति माधवलता इव सत्फलाय ।।११
न तपांसि न तीर्थानि न शास्त्राणि जपन्ति हि ।
संसारसागरोत्तारे सज्जनासेवनं विना ।।१२
लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत् ।
यथाशास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः ।।१३
अहमर्थोऽपरिज्ञातः परमार्थम्बरेऽमलः ।
परिज्ञातोऽहमर्थस्तु परमार्थाम्बरं भवेत् ।।१४

शास्त्रों में समुल्लिखित विधान के अनुसार विहरण करने वाले पुरुष को सिद्धियों की प्राप्ति करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये क्यों कि चिरकाल में परिपाक को प्राप्त होने वाली सिद्धि परम पुष्ट फल वाली हुआ करती है ॥ ८ ॥ शोक—भय और आयास समाप्त हो जाने वाले—आकांक्षा से रहित तथा कुटिलता से शून्य शास्त्रों के विधि--विधान के अनुसार व्यवहार करना चाहिए ऐसे पुरुष का कभी विनाश नहीं होता है ॥९॥ यह सांसारिक अर्थों की सम्पत्ति अर्थात् धन—दौलत का वैभव अनर्थ है। सांसारिक सुखों के उपभोगों का समुदाय ही भव बन्धन के रोग का प्रदान करने वाला होता है। ये समस्त सम्पदाऐं ही महान् आपदाऐं हैं तथा सर्वत्र अनादर का होना ही महान् विजय है। समाज में अपने समादर की इच्छा रखना भी हानिप्रद है इससे भी आत्मोत्थान में बड़ी बाधा होती है ॥१०॥ आचार से परम सुन्दर चरित वाले—एकान्त में वृत्ति रखने वाले—संसार के सुखों का फल तथा दुःख की दशाओं में अभिकांक्षा से रहित पुरुष के आयु—यश और गुण लक्ष्मी के साथ ही सत्फलों के लिये माधवलता के ही समान विकसित हुआ करते हैं ॥११॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस संसार के उत्तारण में सज्जनों का आसेवन ही एकमात्र साधन है और तपस्या—तीर्थाटन—शास्त्रों का अध्ययन तथा मन्त्रों का जाप ये सब निष्फल होते हैं ॥१२॥ जिस पुरुष को अनुदित लोभ—मोह और क्रोध की क्षीणता हुआ करती है अर्थात् शनैः—शनैः जिसके हृदय से लोभ (सांसारिक पदार्थों के प्राप्त करने का लालच)—मोह (सांसारिक विनश्वर पदार्थों में मेरेपन का अज्ञान) और रोष (अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के अभाव में उत्पन्न होने वाला क्रोध) का विनाश हुआ करता है तथा शास्त्र के कथन के अनुसार जो व्यवहार किया करता है एवं अपने समुचित कर्मों में निरत रहता है वही पुरुष सज्जन होता है अर्थात् सज्जन कहा जाता है ॥१३॥ अहं शब्दार्थ अपरिज्ञात है। चिदाकाश में कलङ्क के समान परिज्ञात श्रेष्ठ ही अहमर्थ परमेश्वर होता है क्योंकि जीव और ब्रह्म की एकता होती है ॥१४॥

चिज्ज्योत्स्ना यावदेवान्तरहंकारघनावृता ।
विकासयति नो तावत्परमार्थकुमुद्वती । १५
अहंभावोऽङ्कुरो जन्मवृक्षाणामक्षयात्मनाम् ।
ममेदमिति वोस्तीर्णास्तेषां शाखास्त्वसत्फलाः ॥१६
किमाकृतिरहंकारः कथं संत्यज्यते प्रभो ।
सशरीरोऽशरीरश्च त्यक्ते तस्मिश्च किं भवेत् ॥१७
त्रिविधो राघवास्तीह सोऽहंकारो जगत्त्रये ।
द्वौ श्रेष्ठावितरस्त्याज्यः शृणु ते कथयाम्यहम् ॥१८
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति संचिन्त्य परमा सा ह्यहंकृतिः ॥१९
एषा सा नैव बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रशतकल्पितः ॥२०
इति या संविदेवासौ द्वितीयाहंकृतिः शुभा ।
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥२१

तब तक अन्तःकरण में यह चिन्मयी ज्योत्स्ना अर्थात् ज्ञान की चांदनी विकसित नहीं होती है जब तक अहङ्कार के घन इसे समावृत किये रहते हैं और ज्ञान की चांदनी के विकास के बिना परमार्थ कुमुद्वती अर्थात् परम पुरुषार्थ कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुआ करती है। ज्ञान के विकसित स्वरूप प्राप्त करने के लिये अहंभावना का विनाश परमावश्यक है ॥१५॥ अक्षय स्वरूप वाले जन्म रूपी वृक्षों का अंकुर अहंभाव ही है। अर्थात् इसमें मेरेपन का जो अहंभाव है वही जन्म होने का कारण होता है। ये सभी कुछ मेरा है—ऐसा जन्म ग्रहण कर मन में जो भावनाऐं उत्पन्न होती हैं वे ही इस जन्मरूपी वृक्ष की फैली हुईं शाखाऐं हैं जिनमें दुःख रूपी फल लगा करते हैं ॥ १६ ॥ श्रीराम ने कहा—हे प्रभो ! यह अहङ्कार किस आकार—प्रकार वाला है और इसका त्याग किस रीति से किया जाता है। यह शरीर युक्त है या शरीर से रहित है और इसके त्याग कर देने पर क्या फल हुआ करता है ? ॥१७॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठ

जी ने कहा — हे राघवेन्द्र ! इस जगत् त्रय में वह अहङ्कार तीन प्रकार का होता है इनमें दो तरह का अहङ्कार तो श्रेष्ठ होता है और तीसरी तरह का अहंकार त्यागने के योग्य हुआ करता है। आप सभी कुछ श्रवण करिये मैं बतलाता हूँ ॥१८॥ यह सम्पूर्ण विश्व मेरा ही स्वरूप है अर्थात् मैं और विश्व में कोई भेद नहीं है। मैं ही अच्युत परमात्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा जो सञ्चिन्तन है यही उत्तम श्रेणी का अहंकार होता है ॥१९॥ यह अहंकृति की भावना ऐसी है जो जीवन्मुक्त पुरुष के बन्धन के लिये नहीं होती है अर्थात् इस प्रकार के अहंकार से सांसारिक बन्धन नहीं हुआ करता है। वाला प्रशत कल्पित मैं सबसे व्यतिरिक्त हूँ अर्थात् मेरा किसी से भी कोई लगाव नहीं है और सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च भेद से प्रथक् ही हूँ—इस तरह की जो सम्वेदना है यही दूसरी प्रकार का अहंकार है जो परम शुभ माना गया है। यह इस प्रकार की अहंकार-भावना जीवन्मुक्त पुरुष के मोक्ष के लिये ही होती है और इससे बन्धन नहीं हुआ करता है ॥२०।२१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ॥२२
वर्ज्य एष दुरात्मासौ कन्दः संसारसंततेः।
शनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ॥२३
अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तया चिरम्।
शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुर्भवत्याशु विमुक्तये ॥२४
प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्यातिलौककौ।
तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥२५
एषा तावत्परित्याज्या त्यक्त्वेनां दुःखदायिनीम्।
यथायथा पुमांस्तिष्ठेत्परमेति तथातथा ॥२६
अहंकृतिदृशावेते पूर्वोक्ते भावयन्यदि।
तिष्ठत्यभ्येति परमं तत्पदं पुरुषोऽनघ ॥२७

शरीरावस्था महापुण्या दुरहंकृतिवर्जनात् ।
अत्यन्तं परमं श्रेय एतदेव परं पदम् ॥२९
अथ ते शृणु वक्ष्यामि दामादिषु गतेष्वपि ।
देवनिर्जितसैन्योऽसौ शम्बरो दृप्तमानसः ॥३०
पुनर्देववधोपायं चिन्तयामास दानवः ।
दामादयो य रचितास्ते मया मायया पुरा ॥३१
मोहात्तैर्भाविता बुद्धिर्मिथ्यैवान्तरहंकृतिः ।
इदानीं संसृजाम्यन्यान्दानवान्माययोत्तमान् ॥३२
तानप्यध्यात्मशास्त्रज्ञान्सविवेकान्करोम्यहम् ।
ततस्तत्त्वपरिज्ञानान्मिथ्याभावनयोज्झिताः ॥३३
नाहंकारं प्रयास्यन्ति विजेष्यन्ते च ते सुरान् ।
इति संचिन्त्य दैत्येन्द्रस्तादृशान्दानवान्धिया ॥३४
माययोत्पादयामास बुद्बुदानिव वारिधिः ।
सर्वज्ञा वेद्यवेत्तारो वीतरागा गतैनसः ॥३५

दुष्ट अहङ्कार से रहित जो शरीरावस्था है वह महान् पुण्यमयी है क्योंकि महान् पुण्य की हेतु स्वरूपा है । योग साधन होने से परम श्रेय है । यह ही परम पद भी है अन्य नहीं है क्योंकि परम पद का साधन है ॥ २९ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इसके अनन्तर मैं कहता हूँ उसका आप श्रवण करो । दाम—व्याल और कट के चले जाने पर भी देवगणों के द्वारा विनिर्मित सेना वाला वह शम्बर दैत्य दर्प से युक्त मानस वाला हो गया था ॥ ३० ॥ उस दानव ने पुनः देवगण के वध का उपाय सोचा था । मैंने पहिले माया से जिन दाम व्याल कट आदि की रचना की थी उन्होंने मोह से अपनी बुद्धि को भावित कर लिया था और उनके अन्तःकरण में मिथ्याभूत अहङ्कार भर गया था । अब मैं अन्य उत्तम दानवों को माया से सृजन करता हूँ ॥ ३१—३२ ॥ उनको भी मैं अध्यात्म शास्त्र का ज्ञाता और विवेक से समन्वित करूँगा । इससे तत्वों के परिज्ञान होने के कारण वे मिथ्या अहङ्कार की भावना से

शरीरावस्था महापुण्या दुरहंकृतिवर्जनात् ।
अत्यन्तं परमं श्रेय एतदेव परं पदम् ॥२६
अथ ते शृणु वक्ष्यामि दामादिषु गतेष्वपि ।
देवनिर्जितसैन्योऽसौ शम्बरो दृप्तमानसः ॥३०
पुनर्देववधोपायं चिन्तयामास दानवः ।
दामादयो य रचितास्ते मया मायया पुरा ॥३१
मोहात्तैर्भाविता बुद्धिर्मिथ्यैवान्तरहंकृतिः ।
इदानीं संसृजाम्यन्यान्दानवान्माययोत्तमान् ॥३२
तानप्यध्यात्मशास्त्रज्ञान्सविवेकान्करोम्यहम् ।
ततस्तत्त्वपरिज्ञानान्मिथ्याभावनयोज्झिताः ॥३३
नाहंकारं प्रयास्यन्ति विजेष्यन्ते च ते सुरान् ।
इति संचिन्त्य दैत्येन्द्रस्तादृशान्दानवान्धिया ॥३४
माययोत्पादयामास बुद्बुदानिव वारिधिः ।
सर्वज्ञा वेद्यवेत्तारो वीतरागा गतैनसः ॥३५

दुष्ट अहङ्कार से रहित जो शरीरावस्था है वह महान् पुण्यमयी है क्योंकि महान् पुण्य की हेतु स्वरूपा है। योग साधन होने से परम श्रेय है। यह ही परम पद भी है अन्य नहीं है क्योंकि परम पद का साधन है ॥ २९ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इसके अनन्तर मैं कहता हूँ उसका आप श्रवण करो। दाम—व्याल और कट के चले जाने पर भी देवगणों के द्वारा विनिर्जित सेना वाला वह शम्बर दैत्य दर्प से युक्त मानस वाला हो गया था ॥ ३० ॥ उस दानव ने पुनः देवगण के वध का उपाय सोचा था। मैंने पहिले माया से जिन दाम व्याल कट आदि की रचना की थी उन्होंने मोह से अपनी बुद्धि को भावित कर लिया था और उनके अन्तःकरण में मिथ्याभूत अहङ्कार भर गया था। अब मैं अन्य उत्तम दानवों को माया से सृजन करता हूँ ॥ ३१–३२ ॥ उनको भी मैं अध्यात्म शास्त्र का ज्ञाता और विवेक से समन्वित करूँगा। इससे तत्वों के परिज्ञान होने के कारण वे मिथ्या अहङ्कार की भावना से

इसके पश्चात् उन दानवों ने जो अहंकार से शून्य थे और जरा तथा मरण के भय से रहित थे। प्राप्त अर्थ के ही करने वाले—वर्त्तमान का अनुसरण करने वाले—वीतराग—द्वेषहीन—निरन्तर समान दृष्टिकोण रखने वाले एवं वीर थे ऐसे भीम-भास और दृढ़ आदि ने वह देवों की सेना भोक्ताओं के द्वारा स्वान्न श्री के समान निहत-भुक्त-क्षत और प्लुष्ट करदी थी ॥ ३९-४१ ॥

भीमभासदृढक्षुण्णा ततो गीर्वाणवाहिनी ।
परिदुद्राव वेगेन गङ्गेव हिमवच्च्युता ॥४२
सा सुरानीकिनी देवं क्षीरोदार्णवशायिनम् ।
जगाम शरणं शैलं वातार्तेवाभ्रमालिका ॥४३
अथ देवेन ते दैत्याः सङ्गरे भृशदारुणे ।
चक्राग्निज्वालनिर्दग्धाः प्रापिता वैष्णवीं पुरीम् ॥४४
तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः ।
राम निर्वासनीभावमाहराशु विवेकतः ॥४५
सम्यगालोकनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते ।
वासनाविलये चेतः शाम्यत्यस्नेहदीपवत् ॥४६

भीम—भास और दृढ़ के द्वारा क्षुण्ण हुई वह देवों की सेना बड़े वेग से हिमवान् पर्वत से च्युत गङ्गा के समान ही परिद्रुत हो गई थी अर्थात् भाग गयी थी ॥ ॥ ४२ ॥ वह देवों की सेना वायु से आर्त्त मेघों की माला कि शैल के समान ही क्षीर सागर में शयन करने वाले देव की शरण में प्राप्त हुई ॥ ४३ ॥ इसके अनन्तर वे दैत्यगण अत्यन्त दारुण रण में देव के द्वारा चक्र की अग्नि की ज्वाला से निर्दग्ध कर वैष्णवीपुरी को पहुँचवा दिये गये थे ॥ ४४ ॥ इससे वासना से बँधा हुआ मन वासना रहित होकर मुक्त हो गया था। हे राम ! विवेक से बहुत शीघ्र निर्वासनी भाव का समाहरण करो ॥ ४५ । भली भाँति से आलोकन किये हुए सत्य से वासना का विलयन हो जाया करता है। जब इस वासना का विलीनीकरण हो जाता है तो बिना तेल वाले दीपक के ही तुल्य यह

सर्वोपरि स्थित उपाय हैं अपने मन को निगृहीत कर लेना अर्थात् अपने मन को पूर्णतया नियन्त्रण में रख लेना चाहिए ॥ १ ॥ ज्ञान का सर्वस्व अर्थात् सार स्वरूप का श्रवण करलो और उसे निश्चित रूप से मन में धारण करलो वह यही है कि सांसारिक भोगों की इच्छा रखना ही बन्धन है और उन सुखोपभोगों की इच्छा का एकदम त्याग कर देना ही मोक्ष है अर्थात् सांसारिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करना है ॥ २ ॥ बहुत से अन्य शासनों के सन्दर्भों के उल्लेख करने से क्या लाभ है केवल इतना ही करो कि इस जगत् में जो वस्तु मन को परम प्रिय प्रतीत होती है अर्थात् जिस विषय या पदार्थ में मन रमण किया करता है वही सब विष के समान और अग्नि के तुल्य सन्ताप का हेतु होने से अहितकर है—ऐसा विचार कर लेना चाहिए ॥ ३ ॥ ये विषय विषय भोग हैं—इसे वारम्वार भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। इनका मन से परित्याग कर देना चाहिए और जो सुखावह हों उनका सेवन करना चाहिए ॥ ४ ॥ मन का अभ्युदय अर्थात् भली भाँति विस्तृत हो जाना ही महानाश है क्योंकि सत्य स्वरूप के अदर्शन का यही हेतु होता है और मन का नाश इसकी सङ्कल्प करने की क्रियाओं का विनाश हो जाना ही आत्मा का महान् उदय है क्योंकि यही निःश्रेयस का हेतु होता है। ज्ञानवान् पुरुष के मन का नाश होता है और जो अज्ञानी विवेक-शून्य हैं उनका तो बन्धन स्वरूप मन ही एक शृङ्खला है ॥ ५ ॥ ज्ञानी पुरुष के मन को वासना रहित होने से और व्यवहारों का हेतु होने के कारण यह क्या है—यह भी निरूपण नहीं किया जा सकता है। जड़ होने से इस मन को आनन्द स्वरूप नहीं कहा जा सकता है। आनन्द के अनुभव का हेतु होने से इस मन को आनन्द रहित भी नहीं कह सकते हैं। आत्मा में ही एकनिष्ठ होने के कारण इसे चल नहीं कह सकते हैं। यह अचल एवं स्थिर है ऐसा भी नहीं बताया जा सकता है क्योंकि बाहिर भी यह स्फुरण किया करता है। सङ्कल्प आदि उसके कार्यों का अभाव होने से सत् नहीं कहा जा सकता है तथा इन्द्रियों को विषयों में

र करने वाला होने के कारण असत् भी मन को नहीं बनाता रहते इन समस्त पदों में परस्पर विशेष दिखाई देता है। इसलिये एक र का मन अनिर्वचनीय स्वरूप वाला ही जानना चाहिए ॥ ६ ॥ श्री ने कहा—हे ब्रह्मन् ! विश्वातीत चिदात्मा में जिस प्रकार से यह व संस्थित होता है यह मुझे पुनः ज्ञान की विशेष वृद्धि के लिये समझा कह दीजिये ॥ ७ ॥

यथा सर्वगतः सौक्ष्म्यादाकाशो नोपलक्ष्यते ।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥८
सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता ।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥९
आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी ।
सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥१०
तरङ्गादिमयी स्फारा नानाता सलिलार्णवे ।
तस्मान्न व्यतिरेकेण यथा भाति विसारिणी ॥११
एवं सत्तामयी स्फारा नाना सेयं चिदर्णवे ।
चिन्मात्रा व्यतिरेकेण तथैवेत्थं प्रकाशते ॥१२
अज्ञेष्वसत्स्वभावोग्रसंसारगणगर्भिणी ।
ज्ञेषु प्रकाशरूपेव सकलैकात्मिका सती ॥१३
अनुभूतिवशान्नित्यं कर्मादीनां प्रकाशिनी ।
स्वादिनी सर्वभावानां भावनी भवभोगिनाम् ॥१४

महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—जिस प्रकार से सर्वत्र रहने वाला आकाश परम सूक्ष्म होने के कारण उपलक्षित नहीं हुआ करता है उसी तरह यह चिद्रूप पदार्थ भी निरंश होने से सर्वत्र रहता हुआ भी उपलक्षित नहीं हुआ करता है। ८ ॥ वास्तविक रूप में सब प्रकार के सङ्कल्पों से रहित और सब तरह की संज्ञाओं से हीन भी है तो भी यह अविनाश स्वरूप वाला स्व-आत्मा—चेतन इत्यादि शब्दों के द्वारा कल्पित संज्ञा

वाला होता है ॥ ९ ॥ आकाश से सौगुनी स्वच्छ-ज्ञानियों में निष्कलंक स्वरूप वाली मल अज्ञान–संसार तथा उन दोनों के स्वरूप के साथ ऐक्यता से समापन्न जो आत्मा है उस प्रकार के आत्मा को अर्थात् अज्ञान उसके कार्यों से अभिन्न आत्मा को दिखाती हुई यह चित् प्रकाशित होती है ॥ १० ॥ सागर में तरङ्ग—बुद्बुद—फेन आदि के स्वरूप वाली स्फार अनेक रूपों वाली और गति के वश से विसारिणी यह इसी कारण से उस अर्णव से अव्यतिरेक स्वरूप से प्रकाशित होती है ॥ ११ ॥ त्वत्ता और मत्ता की भावना से परिपूर्ण यह स्फार (विशाल रूप से फैली हुई) अनेक रूप में मानी हुई भी चिदर्णव (ज्ञान सागर) में चिन्मात्रा व्यतिरेक से ही प्रकाशित होती है ॥ १२ ॥ जो विवेक से रहित अज्ञ पुरुष हैं उनमें राग, द्वेष आदि की कलुषता से दुःखमय स्वभाव वाली और इसी कारण से घोर संसृति समूह से गर्भ वाली है अर्थात् संसार में जीवन–मरण की हेतु है किन्तु जो ज्ञानी और विवेक से परिपूर्ण पुरुष हैं उनमें यही विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप वाली सर्वत्र अभिन्न स्वभाव वाली होती हुई प्रकाशित होती है ॥१३॥ इस प्रकार से तत्तत् विषयों के अनुभव के वश से नित्य ही कर्मादिक के प्रकाश करने वाली—सम्पूर्ण भोगने के योग्य वस्तुओं के रस ज्ञान करने के हेतु रूपा और भव के भोगी सांसारिकों की प्रवृत्ति का कारण स्वरूपा यह चित् है ॥१४॥

नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठाति न तिष्ठति ।
न च याति न चायाति न चेह न च नेह चित् ॥१५
सैषा चिदमलाकारा स्वयमात्मनि संस्थिता ।
राघवेयं प्रपञ्चेन जगन्नाम्ना विजृम्भते ॥१६
तत्स्वभावेन चिन्नाम्ना सर्वगेनोदितात्मना ।
प्रकाशेनाप्रकाशेन निरंशेनांशधारिणा ॥१७
स्वयं स्वकल्पनायोगादनन्तं पदमुज्झता ।
अयमस्मीति भावेन गच्छता ज्ञादं शनैः ॥१८

नानातायां प्रवृद्धायामस्यां संसृतिपूर्वकम् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गपदे स्थितिमुपागते ।
पुर्यष्टकं स्पन्दशतैः करोति न करोति च ।।१९
इत्थं स्थिरबलाकाराः संसारावलयाऽभितः ।
स्वभावाद्ब्रह्मणः सर्वाः पुनरायान्ति यान्ति च ।।२०
व्योमन्येव चिदाभासे निदाघात्सरितो यथा ।
लक्ष्यन्ते तद्वदेवेमाश्चित्तत्वे सृष्टिदृष्टयः ।।२१

नित्य होने के कारण इसका न कभी उदय होता है और न नाश ही हुआ करता है, निर्विकार होने से यह न कभी उदित और स्थित हुआ करती है, निष्क्रिय होने से यह यातायात भी नहीं किया करती है, निराधार होने के कारण यहाँ पर वर्तमान नहीं है और परिपूर्ण होने से यहाँ पर नहीं है—ऐसा भी नहीं है ।। १५ ।। निर्मल आकार वाली वही यह चित् अपनी ही आत्मा में समवस्थित है । हे राघव ! इसी कारण से यह जगत् के नाम से प्रपञ्च से विजृम्भित होती है अर्थात् प्रकाश में आया करती है । १६ ।। वही पूर्व में सुवर्णित चिद्वस्तु अर्थात् चिद्रूप से सम्पन्न परम वस्तु सर्वत्र गमन करने के परिपूर्ण भाव से—अनस्तमित स्वरूप से—ज्ञानाज्ञान रूप से—निरवयव सावयव स्वरूप से अपने सङ्कल्प के कारण स्वयमेव अपने अनन्त पर के स्वरूप का त्याग से यह मैं हूँ—इस उपहित आकार वाले अभिमान से एक अज्ञानी के जीव भाव को प्राप्त होने वाले चित् नाम के स्वभाव से इस संसार के स्वरूप की प्राप्ति की है ।। १ –१८ ।। संसृति के साथ ही इस नाना स्वरूपता की प्रवृद्ध होने पर यह भाव रूप है—यह अभाव स्वरूप है—यह ग्रहण किया हुआ है और यह परित्यक्त है—इस प्रकार के भेद पद के स्थिति को प्राप्त होने पर सैकड़ों ही विकल्पों से आगे बताये जाने वाले सूक्ष्म शरीर को करता है और नहीं भी करता है क्योंकि वास्तविक रूप से कारण का अभाव है ।। १९ ।। इस प्रकार से स्थिर बल और आकार वाली संसार की आवलियाँ सभी ओर से सब ब्रह्म के स्वभाव से आया करती हैं और चली

जाती हैं ॥ २० ॥ जिस प्रकार से ग्रीष्मकाल के अनन्तर नभोमण्डल में वृष्टियां होती हुई दिखलाई दिया करती हैं ठीक उसी तरह से निराभास निष्कलङ्क इस चित्तत्व में ये सृष्टि रूप वाली दृष्टियां हुआ करती हैं ॥ २१ ॥

यथा मदवशादात्मा अन्यवत्प्रतिभासते ।
तथैव चित्त्वाविद्यातः स एवाऽस इति स्थितः ॥२२
येन शब्दं रसं रूपं गन्धं जानासि राघव ।
सोऽयमात्मा परंब्रह्म सर्वमापूर्य संस्थितः ॥२३
ब्रह्मं वेदं स्थितं नाम्ना मलमस्तीह नेतरत् ।
तरङ्गोग्रगणैरम्भः सिन्धोः स्फुरति नो रजः ॥२४
द्वितीया कल्पनेवेह न रघूद्वह विद्यते ।
ब्रह्ममात्रादृते वह्नावौष्ण्यमात्रादृते यथा ॥२५
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं प्रबोधयेत् ।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥२६
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥२७
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नास्त्यविद्यामलमिति त्वादृशस्यैव गोचरः ॥२८

जिस प्रकार से यह आत्मा संमोहानन्द का संभेद मदिरा द्वारा किया हुआ मद के कारण से अपने अन्य की भांति प्रतिभासित होता है ठीक उसी तरह से चित्तत्व का अविद्या से अर्थात् चित्स्वरूप के अज्ञान के कारण वही आत्मा वह नहीं है इस प्रकार से उससे अन्य की भांति स्थित है ॥२२॥ हे राघवेन्द्र ! बाहिरी इन्द्रियों की प्रणालिका के द्वारा बाहिर में प्रसृत जिस चैतन्य से शब्द—रूप—रस—गन्ध आदि विषयों को जानते हो उस तरह का चैतन्य रूप वाला यह आत्मा परम ब्रह्म है और वही यह आत्मा सम्पूर्ण विश्व को आपूरित करके संस्थित है ॥२३॥ यह ब्रह्म ही आकाश आदि के विभिन्न नामों से इस जगत् के रूप

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः ॥२९
क्षीरोदकुक्षितुल्याभिः शीतलामलदीप्तिभिः।
तवोक्तिभिर्विचित्राभिर्गम्भीराभिः प्रबोधितः ॥३०
क्षणमान्ध्यमिवाप्नोमि क्षणं यामि प्रकाशताम्।
शीतातपलवप्रावृडलोलाभ्र इव वासरः ॥३१
अनन्तस्याप्रमेयस्य सर्वस्यैकस्य भास्वत.।
अनस्तमितसारस्य कलना कथमागता ॥३२
यथाभूतार्थवाक्यार्थाः सर्वा एव ममोक्तयः।
नासमर्था विरूपार्थाः पूर्वापरविरोधतः ॥३३
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधे विततोदये।
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्दृष्टिबलाबलम् ॥३४

दीपक के होने पर प्रकाश के समान-सूर्य के होने पर दिन के तुल्य और पुष्प के विद्यमान होने पर गन्ध के सदृश ही चित् के वर्त्तमान रहने पर यह जगत् दृश्यमान होता है अर्थात् यह चित् का ही विभिन्न स्वरूपों में विवर्तित जगत् प्रतिभासित हुआ करता है वास्तविक रूप से जगत् कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥ श्रीराम ने कहा—हे भगवन्! क्षीरसागर की कुक्षि के समान शीतल और अमल दीप्ति से युक्त आपकी परम गम्भीर एवं अत्यन्ताद्भुत उक्तियों के द्वारा मुझे प्रबोधित किया गया है अर्थात् ज्ञान प्रदान करके समझाया गया है ॥ ३० ॥ ऐसा होने पर भी वर्षा ऋतु में अत्यन्त चञ्चल मेघों वाले दिन के ही समान मेरे मन में एक क्षण के लिये तो परमोत्तम प्रकाश हो जाया करती है ॥३१॥ सर्वात्मक—अद्वितीय—नित्य ही भासमान—शक्ति के विनाश न होने वाले को यह बन्धन की हेतु स्वरूप वाली अविद्या कैसे आ गयी है क्योंकि तेज को तिमिर का आवरण तो कभी सम्भव ही नहीं हुआ करता है ? ॥ ३२ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—ये सब मेरी उक्तियाँ जो हैं वे निसम्वादी वाक्यार्थ वाली ही हैं। ये असमर्थ अर्थात् असङ्गत अर्थ वाली नहीं है

और पूर्वा पर के विरोध होने से विपरीत अर्थों वाली भी नहीं है ।।३३ ।। यदि वस्तुतः ऐसा ही है तो वह प्रतीत क्यों नहीं होता है—इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि ज्ञान की दृष्टि जब परम स्वच्छ होती है तो प्रबोध का उदय भी वितत हो जाया करता है फिर ऐसा होने पर स्वस्थ होकर मेरे वचनों का और उसके मूल भूत दृष्टि का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य ठीक-ठीक रीति से जान जाओगे ।। ३४ ।।

अविद्ययैवोत्तमया स्वात्मनाशोद्यमोत्थया ।
विद्या सा प्राप्यते राम सर्वदोषापहारिणी ।।३५
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलः ।
शमं विषं विषेणेति रिपुणा हन्यते रिपुः ।। ३६
ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति ।।३७
नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया ।
ज्ञो भूत्वा ज्ञेयसंप्राप्त्या ज्ञास्यस्यस्यास्त्वमाशयम् ।।३८
यावत्तु न प्रबुद्धस्त्वं तावन्मद्वचसैव ते ।
निश्चयो भवतूद्दामो नास्त्यविद्येति निश्चलः ।।३९
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना स हि मुक्तिभाक् ।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विवर्जयेत् ।।४०
अविद्यासरितः पारमात्मलाभादृते किल ।
राम नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ।।४१
कुतो जातेयमिति ते राम मास्तु विचारणा ।
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा ।।४२

हे श्रीराम ! परिपक्व अपने स्वरूप के नाश के लिये किये गये उद्यम से समुत्थित चरम साक्षात्कार रूप वाली अविद्या से भी वह समस्त दोषों का अपहरण करने वाली विद्या की प्राप्ति की जाया करती है । विद्या के परिणाम रूप होने से ही अविद्या का स्वात्म नाशोद्यमत्व समझ लेना चाहिए ।। ३५ ।। अस्त्र के द्वारा अस्त्र का शमन किया जाता है—

मल के द्वारा ही मल का प्रक्षालन होता है—विष के द्वारा ही विष का उपशमन होता है तथा एक शत्रु के द्वारा दूसरे शत्रु का हनन किया जाया करता है ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार की यह प्राणियों की अविद्या है जो कि स्वयं अपने नाश से नष्ट होती हुई ब्रह्मानन्द को प्रदान करने वाली हुआ करती है। इसका स्वरूप तो लक्षित होता है किन्तु इसका स्वभाव दिखलाई नहीं हो सकता है क्योंकि यह असत्य होने के कारण से प्रेक्षमाण होती हुई ही नष्ट हो जाया करती है ॥ ३७ ॥ इस प्रकार से समिद्ध भावना के द्वारा परमार्थ स्वरूप से यह कुछ भी नहीं है। ज्ञानी होकर ब्रह्मात्मा की एकता के सम्प्राप्ति के द्वारा आप इन अविद्या के स्वभाव को जान या समझ जायेंगे ॥ ३८ ॥ जिस समय तक आपको प्रबुद्धता उत्पन्न न हो तब तक मेरे वचनों ही से ही आपको उद्दाम निश्चय हो जावे अर्थात् आप अपने मन में पक्का निश्चय कर लेवें। अविद्या कोई भी वस्तु नहीं है—इस विषय में आप निश्चल हो जावें ॥ ३९ ॥ यह सभी कुछ जो दृष्टिगोचर हो रहा है ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म का ही विवर्तित स्वरूप है ऐसी भावना जिसके अन्तःकरण में है वही पुरुष मुक्ति का पूर्ण अधिकारी होता है। जो यह विभिन्न पदार्थों के रूप में भेद की दृष्टि होती है यही अविद्या है। उस अविद्या का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए ॥ ४० ॥ स्वरूप के साक्षात्कार के बिना हे श्रीराम ! इस अविद्या रूपिणी नदी का पार नहीं प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् अविद्या की निवृत्ति नहीं सिद्ध होती है। इस अविद्या का पार ही अक्षय पद कैवल्य कहा जाया करता है ॥ ४१ ॥ हे श्रीराम ! यह अविद्या कैसे समुत्पन्न हुई—इसकी विचारणा आपको नहीं होनी चाहिए क्योंकि इस विचार से किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुआ करती है। इस अविद्या को जो कि इस समय सम्प्राप्त है उसे मैं किस प्रकार से नष्ट करदूँ जिससे कि यह पुनः जन्म दुःखों में आपको न डाल देवे इसलिए सप्रयोजन होने से इसका हनन करने की ही विचारणा आपको इस समय में होनी चाहिए ॥ ४२ ॥

अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि राघव ।
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम् ॥४३
तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ।
यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति ॥४४
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरति मारुतः ।
तथात्मा स्वात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ॥४५
स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छश्चिदर्णवः ।
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भावितां दृशम् ॥४६
किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे ।
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे ॥४७
क्षणं स्फुरन्ती सा देवी सर्वशक्तितया तथा ।
देशकालक्रियाशक्तीर्वंयस्याः संप्रकर्षति ॥४८
स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ।
रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता ॥४९

हे श्री राघवेन्द्र ! अस्त को प्राप्त हुई इसके क्षीण हो जाने पर आप स्वयं समझ जायेंगे कि यह अविद्या जहाँ से समुत्पन्न हुई है और इसका जो यथाभूत स्वरूप है तथा जिस तरह से यह नष्ट हुई है—यह सम्पूर्ण बातें आपको इसके विनष्ट हो जाने पर समझ में आ जायेंगी ।४३। इस कारण से रोग आदि को आस्पद भूता इस अविद्या की चिकित्सा करने में प्रबल प्रयत्न करना चाहिए जिससे यह जन्म के दुःखों में पुनः आपको नियोजित न कर सके ॥ ४४ ॥ जिस प्रकार से नभो मण्डल में वायु अन्य आश्रय के बिना आत्मा में ही आत्मा से ही, अन्य हेतु से नहीं, सरण किया करता है उसी प्रकार से आत्मा भी अपनी आत्मा की शक्ति से ही अपने से अभिन्न चित् शक्ति के द्वारा ही अपनी आत्मा में ही चञ्चलता इस जगत् के रूप को प्राप्त हो जाती है । आत्मा ही जगत् का अधिकरण और उपादान तथा निमित्त कारण होता है ॥४५॥

यह चिदर्णव अर्थात् ज्ञान का सागर स्वरूप विक्षेपों के द्वारा आत्मा में ही स्फुरण किया करता है इस कारण से वह वस्तु एकात्मक और अखण्ड है—इसको अन्तःकरण में दृढ़ता के साथ विचार करो ॥ ४६ ॥ चिन्म-हार्णव में (ज्ञान के महासागर में) वह अविद्या रूपिणी चिच्छक्ति कुछ क्षोभ से युक्त रूप वाली होती हुई समुद्र में ऊर्मि के समान चिद्रूपा ही वहीं पर स्वच्छ स्फुरण किया करती है ॥ ४७ ॥ वह चिद्रूपा देवी सर्व-शक्ति वाली होने से अनन्त शक्ति युक्त होने के कारण उस प्रकार से स्फुरण करती हुई सखी की भाँति सहचरण करने वाली देश काल क्रिया की शक्तियों को सृष्टि के लिये प्रेरणा दिया करती है ॥ ४८ ॥ यह चिद्देवी अपने स्वरूप को जानकर उन्नत कैवल्य पद पर स्थित होती हुई भी प्रमत्ता विचार रहिता होती हुई स्वरूप को परिच्छिन्न आत्मा से भावित किया करती है ॥४६॥

यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ।
तदवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः ॥५०
विकल्पकल्पिताकारं देशकालक्रियास्पदम् ।
चितो रूपं महाबाहो क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ॥५१
वासनाः कलयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ।
अहंकारो विनिर्णीता कलङ्की बुद्धिरुच्यते ॥५२
बुद्धिः संकल्पकलिता प्रयाति मननास्पदम् ।
मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः ।
पाणिपादादिमद्देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥५३
एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः ।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम् ॥५४
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम् ।
कोशकारकृमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥५५
स्वसंकल्पिततन्मात्रं जालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥५६

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दधदन्तः फलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥६०
चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलहतं विस्मृतात्मपितामहम् ।
समुद्धर मनो राम मातङ्गमिव कर्दमात् ॥६१

ज्वलज्जरामरणविषादमूर्च्छिते
शुभाशुभप्रसरपराहताकृतौ ।
दयेह न स्वमनसि यस्य जायते
नराकृतिर्जगति स राम राक्षसः ॥६२

एवं जीवाश्चितो भावा भवभावनयेहिताः ।
ब्रह्मणः कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ॥६३

यही कहीं पर मन—कहीं बुद्धि—कहीं ज्ञान—कहीं पर क्रिया—कहीं पर अहङ्कार इस तरह से नाना शक्तियों में बताया हुआ यही चैतन्य मन बुद्धि आदि के स्वरूप से अनेक रूपता को प्राप्त हो जाता है ॥५७॥ कहीं पर यही प्रकृति बताया गया है—कहीं पर माया नाम से परिकल्पित किया गया है—कहीं पर मल नाम से कहा गया है और कहीं पर कर्म्म इस नाम से यह संस्थित है ॥ ५८ ॥ कहीं पर बन्ध कहा गया है और कहीं पर स्फुट रूप से चित्त होता है। कहीं पर इसी को अविद्या और कहीं पर इच्छा इस नाम से सम्मत किया गया है ॥ ५९ ॥ वट का बीज वट के वृक्ष की भाँति अर्थात् बहुत छोटे से वट के बीज में पूर्ण विशाल वट का वृक्ष अन्दर विद्यमान रहा करता है उसी तरह से आशाओं के पाश का बनाने वाला फलों से हीन अर्थात् नश्वर फल वाले इस सम्पूर्ण संसार को अन्दर धारण करने वाला है। चिन्ताओं की अग्नि की ज्वाला से दग्ध—कोपरूपी अजगर के द्वारा चर्वित—सागर की तरङ्गों के समान कामों से आहत जिसने अपने स्वरूप आत्मा को और पितामह को भुला दिया है इस प्रकार के मातङ्ग मस्त हाथी के समान मन को

इस संसार रूपी कीच से समुद्धृत करो ॥ ६१ ॥ हे राम ! जलते हुए जरा-मरण के विपादों से मूच्छित—पाप पुण्यों के प्रसार से पराहत आकृति वाले अपने मन में जिस पुरुष को उद्धार करने की इच्छा से पूर्ण दया उत्पन्न नहीं होती है वह मनुष्य के आकार में रहने वाला साक्षात् राक्षस ही हुआ करता है ॥ ६२ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस प्रकार से निर्झर के प्रवाह से जल के समुदायों के समान माया के सहित ब्रह्म से संसार की वासनाओं के सहित कल्पित आकार वाले जीव स्वरूप वाले चित् के विलास लाखों और करोड़ों की संख्या में विद्यमान हैं ॥ ६३ ॥

संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ।
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये जलौघा इव निर्झरात् ॥६४
केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ।
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः ॥६५
केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ।
केचिदर्केन्दुवरुणत्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः ।६६
केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ।
केचित्पुण्योषधीपत्रफलमूलपतङ्गकाः ॥६७
केचित्कदम्बजम्बीरशालतालतमालकाः ।
केचिन्महेन्द्रमलयाः सह्यमन्दरमेरवः । ६८
केचित्क्षारदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ।
केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः ॥६९
विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ।
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाविरतं हताः ।७०
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ।
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्याप्यविवेकिताम् ॥७१

अतीत संख्या वाले अर्थात् असंख्य पहिले समुत्पन्न हुए हैं और इस समय में भी सभी ओर से उत्पन्न होते हैं तथा भविष्य में भी

निर्झर से जल के समुदायों के तुल्य उत्पन्न होंगे । और वे सब जन्मकाल के आगे-पीछे होने से एवं पुण्य-पापों के तारतम्य से—ज्ञान की विचित्रता से प्रथम—चरम भाव से तथा सुर नर और तिर्यग् योनियों के भाव से तथा जड़ सृष्टि के भाव से बहुत भेद वाले हैं ।। ६४ ।। इन जीवों में कुछ तो प्रथम ही जन्म धारण करने वाले हैं—कुछ ऐसे हैं जिनके सैकड़ों ही जन्म व्यतीत हो चुके हैं—कुछ असंख्य जन्मों वाले हैं—कुछ भिन्न २, गन्धर्व, विद्याधर और महोरग के जीवन वाले हैं कुछ सूर्य—चन्द्र—वरुण—यक्ष—अधोक्षज और पद्मज रूपधारी हैं ।। ६५–६६ ।। कुछ ब्राह्मण-भूपाल (क्षत्रिय)—वैश्य और शूद्र चारों वर्णों में स्थित हैं । कुछ पवित्र औषधियाँ—पत्र—फल—मूल और पतङ्ग के रूपों में जीव रहते हैं । कुछ कदम्ब—जम्बीर—शाल ताल और तमाल आदि वृक्षों के स्वरूप में हैं । कुछ महेन्द्र—मलय—सह्य—मन्दराचल और सुमेरु पर्वतों के स्वरूप में जीवित हैं ।। ६७–६८ ।। कुछ क्षार समुद्र—दधि—क्षीर—घृत और इक्षु आदि जल राशियों अर्थात् सागरों के रूप में जीवन धारण करने वाले हैं । कुछ महान् वेग वाली महानदियों के रूप में स्थित हैं । इनमें कुछ तो ऊँचे स्थलों में विहार करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकों में रहते हैं । कुछ निपतित होते हैं और कुछ ऊपर की ओर जाते हैं । ये सभी मृत्यु के हाथ से एक गेंद के समान ही निरन्तर समाहत होते रहते हैं । सहस्रों जन्मों के भोगों को भोग कर पुनः इस संसार के महान् घोर सङ्कट में गिरा करते हैं । ऐसे कुछ अबुध (अज्ञानी) जीव हैं जो अविवेक को प्राप्त कर ऐसा कष्ट पाया करते हैं ।।६९–७१।।

अविरतमियमातता स्थितौवै-
भवति विनश्यति वर्धते मुधैव ।
त्रिभुवनरचनाविमोहमाया
परमपदे लहरीव वारिराशौ ।।७२

जीवो मनःपदं प्राप्य वैरञ्चं पदमागतः ।
यथा ब्रह्मस्तथा सर्वं विस्तरेण वदाशु मे ।।७३

निर्झर से जल के समुदायों के तुल्य उत्पन्न होंगे। और वे सब जन्मकाल के आगे-पीछे होने से एवं पुण्य-पापों के तारतम्य से—ज्ञान की विचित्रता से प्रथम—चरम भाव से तथा सुर नर और तिर्यग् योनियों के भाव से तथा जड़ सृष्टि के भाव से बहुत्रा भेद वाले हैं।। ६४।। इन जीवों में कुछ तो प्रथम ही जन्म धारण करने वाले हैं—कुछ ऐसे हैं जिनके सैकड़ों ही जन्म व्यतीत हो चुके हैं—कुछ असंख्य जन्मों वाले हैं—कुछ भिन्न २, गन्धर्व, विद्याधर और महोरग के जीवन वाले हैं कुछ सूर्य—चन्द्र—वरुण—यक्ष—अधोक्षज और पद्मज रूपधारी हैं।। ६५-६६।। कुछ ब्राह्मण-भूपाल (क्षत्रिय)—वैश्य और शूद्र चारों वर्णों में स्थित हैं। कुछ पवित्र औषधियाँ—पत्र—फल—मूल और पतङ्ग के रूपों में जीव रहते हैं। कुछ कदम्ब—जम्बीर—शाल ताल और तमाल आदि वृक्षों के स्वरूप में हैं। कुछ महेन्द्र—मलय—सह्य—मन्दराचल और सुमेरु पर्वतों के स्वरूप में जीवित हैं।। ६७-६८।। कुछ क्षार समुद्र—दधि—क्षीर—घृत और इक्षु आदि जल राशियों अर्थात् सागरों के रूप में जीवन धारण करने वाले हैं। कुछ महान् वेग वाली महानदियों के रूप में स्थित हैं। इनमें कुछ तो ऊँचे स्थलों में विहार करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकों में रहते हैं। कुछ निपतित होते हैं और कुछ ऊपर की ओर जाते हैं। ये सभी मृत्यु के हाथ से एक गेंद के समान ही निरन्तर समाहत होते रहते हैं। सहस्रों जन्मों के भोगों को भोग कर पुनः इस संसार के महान् घोर सङ्कट में गिरा करते हैं। ऐसे कुछ अबुध (अज्ञानी) जीव हैं जो अविवेक को प्राप्त कर ऐसा कष्ट पाया करते हैं।।६९-७१।।

अविरतमियमाततता स्थितौवै-
भवति विनश्यति वर्धते मुधैव।
त्रिभुवनरचनाविमोहमाया
परमपदे लहरीव वारिराशौ ।।७२

जीवो मनःपदं प्राप्य वैरञ्चं पदमागतः।
यथा ब्रह्मस्तथा सर्वं विस्तरेण वदाशु मे ।।७३

ब्राह्मं शृणु महाबाहो शरीरग्रहणक्रमम् ।
निदर्शनेन तेनैव ज्ञास्यसे जागतीं स्थितिम् ॥७४
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ।
लीलयैव यददात्त दिक्कालकलितं वपुः ॥७५
तदेतज्जीवपर्यायं वासनावशतः परम् ।
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् ॥७६
कलयन्ती मनः शक्तिरादौ भावयति क्षणात् ।
आकाशभावनामच्छां शब्दबीरजसोन्मुखीम् ॥७७

निरन्तर स्थितियों के समुदाय से यह माया विस्तृत हो रही है। समुद्र में तरङ्ग की भाँति ही परम पद ब्रह्म में त्रिभुवनों की रचना के स्वरूप वाली यह माया विमोहित करती हुई व्यर्थ ही होती है—बढती है और विनाश को प्राप्त हो जाया करती है ॥ ७२ ॥ श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार से यह जीवात्मा मन के पद को प्राप्त करके ब्रह्मा के पद को प्राप्त करता है उस सबको मेरे समक्ष में विस्तार पूर्वक शीघ्र वर्णन कीजिये। श्री महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—हे महान् बाहुओं वाले ब्रह्मा के शरीर के ग्रहण करने का क्रम भी आप श्रवण कीजिए। उसी निदर्शन (नमूना) से आप इस सम्पूर्ण जाति की स्थिति को जान जायेंगे ॥ ७३—७४ ॥ दिशा और काल आदि से अवच्छिन्न यह आत्म-तत्त्व लीला ही से अपनी शक्ति के हेतु से दिक् और काल से कलित शरीर को धारण किया करता है ॥ ७५ ॥ जीव शब्द पर्याय का वाचक है वह इस रूप को वासनाओं के वश से ही परम चञ्चल मन के स्वरूप को प्राप्त किया करता है जो कि कल्पनाओं के करने में तत्पर रहता है ॥ ७६ ॥ यह मन रूपिणी शक्ति आदि में विचार करती हुई परम स्वच्छ शब्द तन्मात्रा के रस की उन्मुखी होती है अर्थात् आकाश की भावना किया करती है। पहिले शब्द तन्मात्रा की भावना करके पीछे आकाश की भावना किया करती है क्योंकि शब्दतन्मात्रा ही आकाश का निदान है ॥ ७७ ॥

ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः ।
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् ॥७८

ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशाद्यतः ।
शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जायतेऽनलः ॥७९

मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् ।
क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥८०

ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् ।
गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत् ॥८१

अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत् ।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥८२

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥८३

तस्मिंस्तत्तीव्रसंवेगाद्भावयन्भासुरं वपुः ।
स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥८४

इसके अनन्तर वही मन घनता को प्राप्त कर घन स्पन्दन के क्रम से स्पर्श की तन्मात्रा के सहित वायु के चलन की भावना किया करता है ॥ ७८ ॥ इन दोनों आकाश और वायु से जिनका शब्द और स्पर्श ही स्वरूप है । इन दोनों के साथ दृढ़ अभ्यास के कारण जो सङ्घर्ष होता है उसी संघर्ष से अनल समुत्पन्न होता है । इस हेतु से यह मन ही अनल उत्पन्न किया करता है अर्थात् अग्नि की भावना करके यही यही तद्रूप हो जाया करता है ॥ ७९ ॥ इस प्रकार के शब्द-स्पर्श और रूप गुणों से युक्त मन रस तन्मात्रा की संवेदना की भावना करता हुआ क्रम से जल की शीतलता की भावना किया करता है और उसी से जल के संविद वाला हो जाता है ॥ ८० ॥ अब इस मन में शब्द—स्पर्श—रूप और रस इन गुणों का समावेश हो गया तब वह गन्ध की तन्मात्रा की भावना किया करता है और इससे वह भूमि संवित् युक्त हो जाता है ॥ ८१ ॥ इसके अनन्तर इस प्रकार से पाँच तन्मात्राओं से वेष्टित यह मन तनुता

का त्याग करता हुआ वह्नि के एक कण के आकार वाले वपु को व्योम में स्फुरित होता हुआ है—ऐसी भावना किया करता है। महाभूतों की सृष्टि के अनन्तर ही इन भूतों और उनकी तन्मात्राओं से घिरा हुआ हो जाता है ॥ ८२॥ फिर यह अहङ्कार की कला से युक्त होता है अर्थात् अहङ्कार के अंश स्वरूप एकादश इन्द्रियों से युक्त बुद्धि और तन्मात्राओं के बीज से समन्वित वह व्योम में वपु स्फुरित होता हुआ भूतों के हृदय कमल मे वर्तमान पुर्यष्टक कहा गया है। जिस तरह भौंरा कमल में अन्दर स्थित रहा करता है उसी तरह से मनरूपी भ्रमर हृदय कमल में स्थित रहता है ॥ ८३ ॥ इसके अनन्तर यह पुर्यष्टक में स्थित मन तीव्र वासनाओं के योग से एक भासुर वपु की भावना किया करता है और पाक के वश से वह एक बिल्व के फल के समान स्थूलता को ग्रहण किया

आभा के समान आभा वाला यह स्फुरित हुआ करता है वह पुर्यष्टक रूप वाला तेज अपने स्वभाव से ही एक शरीर का सन्निवेश ग्रहण कर लिया करता है ॥ ८५ ॥ ऊपर के भाग में शिर पिण्डमय है और नीचे पाद-मय है। दोनों पार्श्वों में हाथों का सन्धान तथा मध्य में उदर के धर्म वाला इसके वपु का सन्निवेश है जिसको यह ग्रहण करता है ॥ ८६ ॥ कुछ काल के व्यतीत होने पर वही शरीर का सन्निवेश स्फुटता को प्राप्त कर निर्मल विग्रह वाला हो जाता है और बुद्धि आदि से सुसंयुक्त होता है और वही समस्त लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा हो जाया करता है जिसमें बल,बुद्धि,उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्य सभी गुण गण विद्यमान रहा करते हैं। वही सर्वलोक पितामह ब्रह्मा अपने अत्युत्तम एवं परम सुन्दर वपु का अवलोकन करते हैं तात्कालिक कार्य और अकार्य की हेतु स्वरूपा मनीषी को बुद्धि कहते हैं सत्व व्यवसाय को कहते हैं। शरीर की शक्ति का नाम ही बल है। लोकोत्तर कार्यों में अपनी इच्छा से जो यत्न हैं वही उत्साह होता है। विज्ञान एक विशिष्ट ईश्वर के साक्षात्कार रूप ज्ञान को कहते हैं। अणिमा महिमा आदि जो सिद्धियाँ हैं वही ऐश्वर्य नाम से कहा जाता है। ब्रह्मा इन समस्त गुणों में प्रतिष्ठित थे। त्रिकाल में अमल दर्शन वाले भगवान् ब्रह्मा को चिन्ता हुई की कि इस चिन्मय एकात्म रूप वाले परमाकाश में जिसका पार अदृष्ट है कि अन्त कहाँ पर है। इसमें पहिले क्या था—इस प्रकार की अमल आत्म दृष्टि वाले तुरन्त ही समुत्पन्न हुए ब्रह्माजी ने चिन्ता की थी ॥ ८८-९० ॥ ब्रह्माजी ने सब वृत्तों को जो अनेक हैं और व्यतीत हो चुके हैं देखा था। इसके पश्चात् उनने समस्त सभी धर्म और गुणों के क्रम का स्मरण किया था ॥ ९१ ॥

लीलया कल्पयत्येष चित्राः संदल्पजाः प्रजाः।
नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥९२
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥९३

सृष्टिरेवमियं राग सर्गेऽस्मिन्स्थितिमागता ।
विरञ्चिरूपान्मनसः पुष्पलक्ष्मीर्मधोरिव ॥६४
स्वसंकल्पकृताः सर्वे देवासुरनरामराः ।
स्वसंकल्पोपशमने शाम्यन्त्यस्नेहदीपवत् ॥६५
आकाशसदृशं सर्वं कल्पनामात्रजृम्भितम् ।
जगत्पश्य महाबुद्धे सुदीर्घस्वप्नमुत्थितम् ॥६६
न जायते न म्रियते इति किंचित्कदाचन ।
परमार्थेन सुमते मिथ्या सर्वं तु विद्यते ॥६७
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज ।
असदेतदिति ज्ञात्वा माऽत्र भावं निवेशय । ६८

इन ब्रह्माजी ने लीला ही से सङ्कल्पों के द्वारा समुत्पन्न विचित्र प्रजाओं की रचना का विचार किया था । जैसे गन्धर्वों का नगर हो उसी भाँति अनेक प्रकार के आचारों के समारम्भ वाली प्रजाओं का सृजन किया था ॥ ६२ ॥ इन सब प्रजाओं के स्वर्ग और अपवर्ग आदि की प्राप्ति के लिये तथा धर्म—काम और अर्थ की सिद्धि के लिये उन्हीं ब्रह्माजी ने परम विचित्र तथा अनन्त शास्त्रों की कल्पना (रचना) की थी। हे श्रीराम ! इस सर्ग में स्थिति को प्राप्त हुई यही सृष्टि है । बसन्तकाल से जैसे विविध पुष्पों की शोभा सम्पन्न हुआ करती है उसी भाँति इस विरञ्चि (ब्रह्मा) रूपी मन से यह सृष्टि हुई थी ॥ ६३–६४ ॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठ जी ने कहा ये सभी देवगण—असुर वृन्द—नर और अमर अपने सङ्कल्पों से ही रचित हुए हैं । अपने सङ्कल्पों के उपशमित होने पर बिना स्नेह (तैल) वाले दीपक के ही समान ये सभी शान्त होजाया करते है । यह सारा खेल सङ्कल्पों का ही है ॥ ६५ ॥ हे महान् बुद्धिमान् ! यह सभी कुछ दृश्य जगत्—नाना भाँति के पदार्थ और अनेक चराचर जीव आकाश के ही समान हैं जो एक कल्पना मात्र का ही स्फुरण है इस जगत् को बड़े लम्बे उठे हुए स्वप्न के ही तुल्य देखना चाहिए जैसे स्वप्न वस्तुतः कुछ भी नहीं होता है और उसमें अपने आपको

विभिन्न स्वरूपों में महान् वैभवशाली देखा करता है किन्तु जागने पर सभी निस्सार है वैसे ही यह संसार भी एक लम्बा स्वप्न ही है वास्तविकता इसमें कुछ भी नहीं है ॥ ९६ ॥ यह भली प्रकार समझ लो कि हमारा यह जीवात्मा न तो समुत्पन्न होता है और न कभी नाश को प्राप्त होता है। हे सुमति वाले ! पारमार्थिक कर्म ही इस संसार में सत्य हैं, शेष भी कुछ मिथ्या है ॥ ९७ ॥ आशा रूपी इस भुजङ्गों के कोश और संसार के आडम्बर (ढकोसला) को त्याग दो। यह सब असत् अर्थात् काल्पनिक एवं मिथ्याभूत है—ऐसा समझ कर इस जगत् में अपने भाव को निवेशित मत करो अर्थात् इसको सर्वथा मिथ्या जानकर इसमें अपने मन को मत रमओ क्योंकि यही बन्धन का कारण होता है ॥ ९८ ॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषिते दूषितेऽथ वा ।
अविद्यांशसुताद्यैर्वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥९९
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न चेष्टतः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समायासवानिह ॥१००
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः ।
तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥१०१
अतो राघव तत्त्वज्ञो व्यवहारेषु संस्थितं ।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥१०२
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥१०३
यस्य स्यादिदमित्यास्था निवृत्ता सर्ववस्तुषु ।
क्रोडीकरोति सर्वज्ञं नाविद्या तमवास्तवी ॥१०४
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्यावलम्ब्य च ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥१०५

गन्धर्व नगर के परम भूषित अथवा दोषयुक्त में न सुख है और

न कोई दुःख ही है उसी भाँति अविद्या से कल्पित पुत्र कलत्र आदि में भी कोई सुख-दुःख का क्रम नहीं है। वास्तविक रूप से सुख-दुःख का अभाव है जो भी सुख-दुःख की सुतादि में उत्पत्ति होती है वह सभी अविद्या के कारण कल्पित ही है ॥ ९९ ॥ धन और दारा आदि के वर्धित होने पर चेष्टा करने वाले का दुःख युक्त नहीं है। इस जगत् में मोह की माया के समृद्ध हो जाने पर कौन समायास वाला होता है ? अर्थात् कोई भी नहीं हो सकता है ॥ १०० ॥ मूढ़ पुरुष को अधिकता प्राप्त हो जाने वाले जिनके द्वारा राग उत्पन्न होता है उन्हीं भोगों से प्राज्ञ पुरुष को विराग हुआ करता है ॥ १०१ ॥ इसलिये हे राघवेन्द्र ! सांसारिक व्यवहारों में अपनी संस्थिति करते हुए भी तत्त्व के ज्ञाता रहो अर्थात् इस जगत् के मिथ्याभूत कल्पित जाल में न फँस कर सर्वदा तत्त्व ज्ञानी रहना चाहिए और अपने सत्य स्वरूप को कभी भूलना नहीं चाहिए। जो भी नष्ट-विनष्ट अर्थात् मिथ्याभूत असत् है उसकी अपेक्षा कर दो और जो प्राप्त है अर्थात् सामने विद्यमान है उसका उपाहरण करो।१०२। जो भोग अनागत हैं अर्थात् अप्राप्त हैं उनकी वाञ्छा न करना अकृत्रिम है। जिसकी सब वस्तुओं में यह होवे—ऐसी आस्था निवृत्त हो गई है उस सर्व ज्ञाता पुरुष को यह आवस्तविक अविद्या नहीं घेरा करती है जो भोग समागत हैं अर्थात् स्वतः प्राप्त हुए हैं उनका सम्भोग करना एक विवेकवान् पण्डित का लक्षण होता है। तात्पर्य यह है कि अप्राप्त भोगों की कभी आशा नहीं करनी चाहिए कि ये मुझे मिल जावें और जो अपने आप ही भोग प्राप्त हो जावें उनका भोग करना चाहिए। इस प्रकार से भोगों का उपभोग कोई भी बाधा नहीं किया करता है। समस्त वस्तुओं में उनके पाने की आशा की निवृत्ति होनी चाहिए। ऐसे सर्व-ज्ञाता पुरुष पर इस अवास्तविक अविद्या का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ करता है ॥ १० -१०४ ॥ शुद्ध अर्थात् निष्कलङ्क सत् और असत् कार्य-कारण स्वरूप चित् और चेत्य के मध्य भाग को जो कार्य कारणात्मक चिन्मात्र रूप है उसी वस्तु का बुद्धि से अवलम्बन करके बाह्य और

आभ्यन्तर इस दृश्य का ग्रहण मत करो और इसकी उपेक्षा भी मत करो ॥ १०५ ॥

यस्य नेच्छा न वानिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः ।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः ॥१०६
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्वदते हृदि राघव ।
तदसि ज्ञातविज्ञानः समुत्तीर्णो भवार्णवात् । १०७
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात् ।
पुष्पाद्गन्धमिवोदारं चेतो राम पृथक्कुरु ॥१०८
संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते ।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णा दुःखिताः परे ॥१०९
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्भवम् ।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥११०
ते शून्येऽपि न खिद्यन्ते ते देवोद्यानसङ्गिनः ।
नियतिं च न मुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥१११

जिस विवेकशील विज्ञ पुरुष को कार्य में स्थित रहते हुए न कोई इच्छा अर्थात् अप्राप्त पदार्थ के पाने की अभिलाषा है और न कोई स्वतः प्राप्त वस्तु की उपभोग करने की अनिच्छा है उसकी प्रज्ञा जल से पद्म-पत्र की भांति लिप्त नहीं हुआ करती है । जो अवश्य कर्त्तव्य कर्म है उसमें प्रवृत्तमान ज्ञाननिष्ठ पुरुष की विषयों में इच्छा प्रवृत्त ही नहीं होती है क्योंकि इष्ट का साधन है और अनिष्ट साधन की बुद्धि के अभाव होने से अनिच्छा भी नहीं होती है । अतएव उसकी प्रज्ञा हर्ष-विषाद आदि से लिप्त नहीं हुआ करती है ॥ १०६ ॥ हे राघव ! यदि आपके हृदय में इन्द्रियों की शोभा स्वादन नहीं किया करती हैं अर्थात् विषयों में रसास्वादन प्राप्त नहीं करती है तो आप विज्ञान के ज्ञाता हैं और इस संसार सागर से पार ही हो गये हैं । सांसारिक विषयों में आनन्द प्राप्त करने की भावना ही बन्धन का कारण है ॥ ७ ॥ समुच्च-

पद कैवल्य की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा से ह्रास वासनाओं के जाल से हे राम ! पुष्प से उदार गन्ध के ही समान अपने चित्त को पृथक् करदो ।८। वासनाओं के जल से परिप्लुत इस संसार रूपी सागर में जो विवेकशील पुरुष प्रज्ञा की नौका पर समारूढ़ हैं वे इस संसार रूपी सागर से पार हो गये हैं और जो प्रज्ञा में अनारूढ़ हैं वे सभी दुःखित होते हैं ।। ९ ।। जो संसार के पार और अवार को जानते हैं अर्थात् संसार से पार होने का हेतु विद्या है और संसार के अवार का कारण अविद्या है अर्थात् संसार के बन्धन का कारण अविद्या है—इसके ज्ञाताजन संसार में होने वाले व्यवहार को न चाहते हैं और न त्याग ही किया करते हैं वे सबका अनुवर्तन किया करते हैं ।। ११० ।। वे लोग देवोद्यान सङ्ग वाले शून्य में भी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं। ऐसे महान् पुरुष भास्करों की भाँति नियति का त्याग नहीं किया करते हैं ।१११।।

इत्थंगिरा विमलया विमलाशयस्य
रामो मुनेः सपरिपुष्ट इवाबभासे ।
ज्ञानामृतेन मधुरेण विचारितातः
पूर्णं शशाङ्क इव शीतलतां जगाम ।।११२

सृष्टिरेकविधा किं स्यात्किं वा बहुविधा वद ।
तद्विज्ञानेन मायाया रूपं स्फुटतरं भवेत् ।।११३
कदाचित्सृष्टयः शार्व्यः कदाचित्पद्मजोद्भवाः ।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मुनिनिर्मिताः ।।११४
कदाचिदब्जजो ब्रह्मा कदाचित्सलिलोद्भवः ।
अण्डोद्भवः कदाचित्तु कदाचिज्जायतेऽम्बरात् ।।११५
कदाचिद्भूरभूत्सृष्टौ नीरन्ध्रतरुसंकटा ।
कस्यांचिन्नरनीरन्ध्रा कस्यांचिद्भूधरावृता ।।११६
कदाचिन्मृन्मयी भूमिः कदाप्यासीद्दृषन्मयी ।
कदाचित्काञ्चनमयी कदाचिन्मांसमय्यभूत् ।।११७
कदाचित्प्रथमं व्योम प्रतिष्ठामधिगच्छति ।

कदाचित्प्रथमं पृथ्वी कदाचित्प्रथमं पयः ।
कदाचित्प्रथमं तेजः कदाचित्प्रथमं मरुत् ।।११८
निदर्शनार्थं सृष्टेस्तु मयैकस्य प्रजापतेः ।
भवेत कथितोत्पत्तिर्न स्वयं नियमः क्वचित् ।।११९

महामुनि बाल्मीकि जी ने कहा—इस प्रकार से विमल आशय वाले मुनि वसिष्ठ की परम विमल वाणी के द्वारा श्रीराम पूर्ण चन्द्र के समान शीतलता को प्राप्त हो गये थे ।। ११२ ।। श्रीराम ने कहा—यह सम्पूर्ण सृष्टि एक प्रकार की ही है अथवा यह बहुत प्रकार की है—यह कृपा करके मुझे आप बतलाइये । इसके विज्ञान हो जाने से इस माया का स्वरूप विशेष स्फुट हो जाया करता है ।। ११३ ।। महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—यह सृष्टियाँ किसी समय में तो शिव के द्वारा रचित हुआ करती हैं—किसी समय पद्मज ब्रह्मा के द्वारा सृजित हुआ करती हैं—किसी समय में विष्णु के द्वारा रचित होती हैं तथा किसी समय में मुनिगण के द्वारा इसका सृजन हुआ करता है । तात्पर्य यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति का कोई एक ही क्रम नहीं है ।। ११४ ।। इसके प्रादुर्भाव का स्थान भी नियत नहीं है । किसी समय में ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से होती है—किसी समय में इसका उद्भव जल से ही हुआ करता है—किसी समय में ब्रह्मा एक अण्डे से उत्पन्न हुआ करते हैं और किसी समय में यही ब्रह्मा अम्बर से समुत्पन्न हुआ करते हैं ।। ११५ ।। इस पृथ्वी का स्वरूप भी नियत नहीं है । किसी समय में यह भूमि नीरन्ध्र तरु सङ्कुटी वाली सृष्टि में हुई थी । किसी में यह नर नीरन्ध्र की और किसी में यह पर्वतों से समावृत थी ।। ११६ ।। किसी समय मृत्तिका से परिपूर्ण भूमि हुई थी और किसी समय में यही भूमि पाषाणों से परिपूर्ण हुई थी । किसी समय में सुवर्ण से भरी-पूरी थी तो किसी समय में मांस से परिपूर्ण थी ।११७। आकाश आदि का भी पौर्वापर्य (आगे पीछे होना) अनियत है । किसी समय में तो सर्व प्रथम व्योम का सृजन होता है और यह प्रतिष्ठा को प्राप्त किया करता है । किसी समय में पहिले पृथ्वी उत्पन्न होती

है तो किसी समय में जल की सृष्टि सर्व प्रथम हुआ करती है तो किसी समय में प्रथम तेज सृष्ट होता है तो कभी-कभी वायु का सृजन सर्व प्रथम हुआ करता है ॥ ११८ ॥ केवल निदर्शन के ही लिये मैंने एक प्रजापति की उत्पत्ति कही है किन्तु यह नियम कहीं कहीं नहीं होता है ॥ ११९ ॥

पुनः कृतं पुनस्त्रेता पुनश्च द्वापरः कलिः ।
पुनःपुनरिदं सर्वं तत्रास्ति न पुनस्तु यत् ॥१२०
जगन्मायास्वरूपस्य वर्णनाव्यपदेशतः ।
दाशूराख्यायिकां राम वर्ण्यमानां मया शृणु ॥१२१
अस्त्यस्मिन्वसुधापीठे विचित्रकुसुमद्रुमः ।
मागधो नाम विख्यातः श्रीमाञ्जनपदो महान् ॥१२२
कदम्बवनविस्तारितालावलितजङ्गलः ।
विचित्रविहगव्यूहसर्वाश्चर्यमनोहरः ॥१२३
तत्रैकस्मिन्गिरितटे कर्णिकारसमाकुले ।
कदलीखण्डनीरन्ध्रनीपगुल्मविराजिते ॥१२४
कश्चित्परमधर्मात्मा मुनिरासीन्महातपाः ।
दाशूरनामा महता तपोयोगेन संयुतः ॥१२५
शरलोमेति विख्यातः पिता तस्य बभूव ह ।
रामापर इव ब्रह्मा तस्मिन्नेवावसद्गिरौ ॥१२६

चारों युग सत्ययुग—त्रेता—द्वापर और कलियुग पुनः पुनः आवर्तित हुआ करते हैं । इसी प्रकार से यह सभी बारम्बार आवृत्ति किया करते हैं । जो फिर होती है और कालान्तर में भी उसी प्रकार की अवस्थित होती है उस प्रकार की कूटस्थ कोई भी नित्य वस्तु नहीं है ।१२०। हे राम ! जगत् माया के स्वरूप की वर्णन के व्यपदेश से मेरे द्वारा वर्णित की जाने वाली दाशूर की एक आख्यायिका का आप श्रवण करिए।१२१। इस वसुधा के तल पर विचित्र कुसुमों से युक्त द्रुमों वाला श्री सम्पन्न

एक मगध नाम वाला महान् जनपद था ।। १२२ ।। यह देश कदम्बों के वन का विस्तार वाला और ताल वृक्षों से आवलित वन वाला था जिसमें अद्भुत पक्षियों का समुदाय था और सब प्रकार के आश्चर्यों से सुन्दर था ।। २३ ।। उस देश में किसी कर्णिकार के पौधों से समाकुल पर्वत के तट पर जो कि कदली के खण्डों से एकदम नीरन्ध्र (सघन) था और नीप (कदम्ब) की झाड़ियों से परम शोभायमान था । वहाँ पर कोई परम धर्मात्मा महान् तपस्वी मुनि था जिसका नाम दाशूर था और महान् तपस्या के योग से समन्वित था ।। २४ ।। २५ ।। हे श्रीराम ! उसका पिता शरलोमा इस नाम से विख्यात हुआ था जो कि एक दूसरा ब्रह्मा ही था और उसी गिरि में निवास किया करता था । ।। १२६ ।।

तस्यासावेकपुत्रोऽभूत्कचो देवगुरोरिव ।
तेन सार्धं स पुत्रेण नीतवाञ्जीवितं वने ।।१२७
अथासौ शरलोमात्र भुक्त्वा युगगणान्ययौ ।
त्यक्त्वा देहं सुरागारं त्यक्तनीडः खगो यथा ।।१२८
एक एव वने तस्मिन्दाशूरः प्ररुरोदह ।
दशापनीतपितृकः करुणं कुररो यथा ।
मातापितृवियोगेन शोकसंतापिताशयः ।।१२९
म्लानिमभ्याययौ नूनं हेमन्त इव पङ्कजम् ।
बालोऽसावथ दीनात्मा वनदेवतया वने ।।१३०
इत्थमाश्वासितो राम तदादृश्यशरीरया ।
ऋषिपुत्र महाप्राज्ञ किमज्ञ इव रोदिषि ।।१३१
संसारस्य न कस्मात्त्वं स्वरूपं वेत्सि चञ्चलम् ।
सर्वदैवेदृशी साधो संसारस्य स्थितिश्चला ।।१३२
जायते जीव्यते पश्चादवश्यं च विनश्यति ।
तदर्थं मा कृथा व्यर्थं विषादं मरणे पितुः ।।१३३

उसके यही एक पुत्र देवगुरु के कच के ही समान था। उस वन में उस अपने पुत्र के साथ उसने अपना सारा जीवन व्यतीत किया था ॥ २७ ॥ इसके अनन्तर यह शरलोमा यहाँ पर युग गणों का भोग करके देह का त्याग करके सुरों के निवास स्थान (स्वर्ग) में चला गया था जिस तरह कोई अपने घोंसले को त्याग देने वाला पक्षी हो ॥ २८ ॥ उस वन में अकेला ही दाशूर रुदन किया करता था क्योंकि जीवित काल की अन्तिम अवस्था के द्वारा उसका पिता छीन लिया गया था। जैसे कुरर उत्क्रोश नामधारी एक विशेष जाति का पक्षी क्रन्दन किया करता है उसी भाँति यह दाशूर भी पिता के वियोग जन्य दुःख में रोया करता था। माता–पिता की जुदाई से शोक के द्वारा इसका आशय सन्तापित हो गया था ॥ २६ ॥ हेमन्त ऋतु में कमल के ही समान वह दाशूर मुनि परमार्थिक म्लानता को प्राप्त हो गया था। यह बालक था अतः एव अत्यन्त हीन आत्मा वाला हो गया था। वन में वन देवता के द्वारा जिसका कि शरीर दिखलाई नहीं देता था उस समय में हे श्रीराम ! इस प्रकार से उसे आश्वासन दिया था कि हे ऋषि पुत्र ! आप तो महान् प्राज्ञ हैं ऐसे एक विवेकहीन महामूढ़ की भाँति क्यों रुदन कर रहे हैं ? ॥ ३०–३१ ॥ तुम इस संसार के स्वरूप को क्यों नहीं समझते हो ? यह तो बहुत ही चञ्चल है। हे साधो ! इस संसार की सर्वदा इसी प्रकार की चल स्थिति हुआ करती है ॥ ३२ ॥ जो जन्म ग्रहण करता है वह कुछ समय तक जीवित रहा है और पीछे वह अवश्य ही विनष्ट हो जाता है। इसके लिये अपने पिता के मरने पर अपने हृदय में व्यर्थ ही विषाद मत करो ॥ १३३ ॥

अवश्यभाव्योऽस्तमयो जातस्याहर्पतेरिव ।
अशरीरामिति श्रुत्वा गिरमारक्तलोचनः ॥१३४
धैर्यमासादयामास शिखण्डी स्तनितादिव ।
उत्थायावश्यकं कृत्वा पाश्चात्यं पितुराहतः ।
चकार तासे बुद्धि दृढामुत्तमसिद्धये ॥१३५

ब्राह्मेण कर्मणा तस्य विपिने चरतस्तपः ।
अनन्तसंकल्पमयं श्रोत्रियत्वं बभूव ह ॥१३६
अज्ञातज्ञेयबुद्धेस्तु सुश्रोत्रियतया तया ।
न विशश्राम चेतोऽस्य पवित्रेऽपि धरातले ॥१३७
केवलं सर्वमेवेदं सुविशुद्धं धरातलम् ।
अशुद्धमेव पश्यन्स नारमत्क्वचिदेव हि ॥१३८
अथ संकल्पनेनैव संकल्पमनसैव सः ।
वृक्षाग्रमेव संशुद्धं स्थितिरत्रोचिता मम ॥१३९
अथेदानीं तपस्तप्यं तपसोग्रेण शाखिषु ।
खगवत्स्थितिमाप्नोति शाखासु च दलेषु च ॥१४०

जो उत्पन्न हुआ है उसका अन्त अर्थात विनाश अवश्यभाव्य है जैसे प्रातः सूर्य उदित होता है और सायंकाल में वह भी अस्त हो जाया करता है। थोड़े-थोड़े रक्त लोचन वाले मुनि ने इस शरीर से रहित वाणी का श्रवण कर मेघ के गर्जन से मयूर की भांति ही धैर्य को प्राप्त किया था। उसने फिर उठकर बड़े आदर युक्त हो पिता की पीछे होने वाली अन्त्येष्टि आदि सब क्रियाऐं की थी और फिर उत्तम सिद्धि के लिये तपश्चर्या के निमित्त सुदृढ़ बुद्धि की थीं ॥ १३४–१३५ ॥ उस वन में ब्राह्म कर्म के द्वारा तप का समाचरण करते हुए उसको अनन्त सङ्कल्पमय श्रोत्रियत्व हो गया था ॥ १३६ ॥ इस पवित्र धरातल में भी उस सुन्दर श्रोत्रियता के कारण अज्ञात और जानने के योग्य की बुद्धि वाले उस मुनि का चित्त विश्राम को प्राप्त नहीं हुआ था ॥ १३७ ॥ केवल परम विशुद्ध इस सम्पूर्ण धरातल को अशुद्ध ही देखता हुआ वह कहीं पर भी रमण नहीं करता था अर्थात् उसके चित्त को कहीं पर भी आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई थी ॥ ३८ ॥ इसके अनन्तर सङ्कल्प से ही और सङ्कल्प वाले मन से ही उसने विचार किया था कि वृक्ष का अग्रभाग ही भली भांति शुद्ध है और यहीं पर मेरी स्थिति समुचित होगी ॥ १३९ ॥ इसके उपरान्त शाखियों पर अब परम उग्र तपश्चर्या से तप का तपन

करना चाहिए। उसने एक पक्षी के समान ही शाखाओं पर और दलों पर अपनी स्थिति को प्राप्त किया था ॥ १४० ॥

इति संचिन्त्य संज्वाल्प हुताशमतिभास्वरम् ।
जुहाव तस्मिन्प्रोत्कृत्य मांसं स्वस्कन्धभित्तितः ॥१४१
अथ गीर्वाणवृन्दस्य समग्रा गलभित्तयः ।
मन्मुखस्थेन मा यान्तु विप्रमांसेन भस्मताम् ॥१४२
इति संचिन्त्य भगवान्सप्तार्चिस्तस्य देवता ।
पुरो बभूव दीप्तांशुर्दीप्तांशुर्वाक्पतेरिव ॥१४३
उवाच वचनं विप्रकुमाराऽभिमतं वरम् ।
गृहाण स्थापितं साधो कोशस्थं सन्मणि यथा ॥१४४
इत्युक्तवन्तं तं देवमर्घपुष्पोपशोभितम् ।
संपूज्य स्तुतिवादेन प्राह विप्रकुमारकः ॥१४५
भगवन्भूतपूर्णाया भुवः पावनमण्डलम् ।
नाप्नोमि तेन वृक्षाणामुपरि स्थितिरस्तु मे ॥१४६
इत्युक्ते मुनिपुत्रेण सर्वदेवमुखं शिखी ।
एवमस्तु तवेत्युक्त्वा जगामान्तर्धिमीश्वरः ॥१४७

ऐसा सोचकर अत्यन्त भास्वर अग्नि को जलाकर अपनी स्कन्धों की भित्ति से मांस को काटकर उसमें हवन कर दिया था ॥ १४१ ॥ इसके अनन्तर गीर्वाण वृन्द की अर्थात् देव समूह की समग्र गल भित्तियाँ मेरे मुख में स्थित विप्र मांस के द्वारा भस्मता को प्राप्त न होवें ॥१४२॥ इस प्रकार से भली भाँति चिन्तन करके उसका देवता भगवान् सप्तार्चि (अग्नि) वाक् पति के दीप्त अंशु के समान दीप्त अंशु वाला उसके आगे उपस्थित हो गया था ॥ ४३ ॥ उसने यह वचन कहा—हे विप्रकुमार ! अपना अभिमत जो भी कुछ वरदान हो उसे ग्रहण करलो। हे साधो ! आपने कोश में स्थित सन्मणि की भाँति ही स्थापित कर दिया है। १४४। इस प्रकार से कथन करने वाले उस देव को अर्घ पुष्प से उपशोभित

करते हुए भली भाँति उसकी पूजा करके स्तुति वाद के साथ वह विप्र कुमार बोला—। १४५ ।। हे भगवन् ! भूतपूर्ण भू मण्डल का पावन मण्डल मैं नहीं प्राप्त कर रहा हूँ। इससे वृक्षों के ऊपर मेरी स्थिति होवे ।। १४६ ।। मुनि पुत्र के द्वारा इस प्रकार से कहने पर समस्त देवों का मुख स्वरूप वह अग्निदेव वहाँ 'ऐसा ही होगा' यह कहकर ईश्वर अन्तर्धान को प्राप्त होगये थे ।।१४७।।

तस्मिन्नन्तर्हिते देवे क्षणात्सान्ध्य इवाम्बुदे ।
अथ काननमध्यस्थं चुम्बिताम्बुदमण्डलम् ।।१४८
कदम्बं रोदसीस्तम्भमारुरोह द्विजोत्तमः ।
तत्रासौ व्योमलग्नायाः शाखायाः प्रान्तपल्लवे ।।१४९
विवेश विगताशङ्कमेकाग्रतपसि स्थितः ।
अथोपविश्य मृदुनि तत्र पल्लवविष्टरे ।।१५०
क्षणमालोकितास्तेन दिशः कौतुकलीलया ।
सरिदेकावलीरम्याः शैलेन्द्रस्तनकुड्मलाः ।।१५१
निर्मलाकाशकबरा लोलनीलाम्बुदालकाः ।
तस्मिंल्लतागृहे स्थित्वा विलोक्य ककुभः क्षणम् ।।१५२
दृढं पद्मासनं बद्ध्वा दिग्भ्यः प्रत्याहृतात्मना ।
अज्ञातपरमार्थेन क्रियामात्रे च तिष्ठता ।।१५३
फलकार्पण्ययुक्तेन चेतसा सोऽकरोन्मखम् ।
तत्रासौ दश वर्षाणि मनसैवायजत्सुरान् ।।१५४

उस देव के अन्तर्हित होने पर एक ही क्षण में संध्या काल के अम्बुद की तरह उस समय की छटा थी। इसके अनन्तर वह द्विजोत्तम वन के मध्य भाग में स्थित जिसने अपनी ऊँचाई से अम्बुदों के मण्डल को चुम्बित कर दिया था ऐसे रोदसी के स्तम्भ के समान कदम्ब पर समारोहण किया था। वहाँ पर इसने आकाश को छूने वाली शाखा के प्रान्त पल्लव पर प्रवेश किया था। समस्त शङ्काओं का त्याग करते हुए एकाग्र तपश्चर्या में स्थित हो गया था। इसके उपरान्त में वहाँ पर

कोमल पल्लवों के आसन पर उपवेशन किया था ॥ १४२-१५० ॥ वहाँ पर बैठकर इस विप्र ने क्षण भर को कौतुक की लीला से दिशाओं को देखा था। परम सुन्दर एक सरिता थी जो शैलेन्द्र के स्तनों के कुड्मल के तुल्य थी। निर्मल आकाश उसका कवर था और चञ्चल नीले अम्बुद ही अलाघेक। उस लतागृह में स्थित होकर क्षण भर को दिशाओं में देखा था ॥ १५१-५२ ॥ उस मुनि ने सुदृढ़ पद्मासन को बाँधकर दिशाओं से आत्मा को प्रत्याहृत करने वाले—न जाने हुए परमार्थ से युक्त—केवल क्रियाओं के करने में स्थित—फल की कृपणता से युक्त चित्त के द्वारा वहाँ पर मख किया था। वहाँ पर दश वर्ष पर्य्यन्त इसने केवल मन से ही सुरों का यजन किया था ॥ १५३, १५४ ॥

गवाश्वनरमेधाद्यैर्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ।
कालेनामलतां याते वितते तस्य चेतसि ॥१५५
बलादवततारान्तर्ज्ञानमात्मप्रसादजम् ।
ततो विशीर्णावरणो विगलद्वासनामलः ।
संददर्शैकदा तस्यां लतायामग्रतः स्थिताम् ॥१५६
वनदेवीं विशालाक्षीमालोलकुसुमाम्बराम् ।
तामुवाचनवद्याङ्गीं स मुनिर्विनताननाम् ॥१५७
का त्वमुत्पलपत्राक्षि कान्तिविक्षोभितस्मरे ।
इत्युक्ते मृगशावाक्षी गौरी पीनपयोधरा ॥१५८
मुनिमाह मनोहारि मुग्धाक्षरमिदं वचः ।
यानि यानि दुरापाणि वाञ्छितानि महीतले ॥१५९
प्राप्यन्ते तानि तान्याशु महतामेव याञ्चया ।
अहमत्र द्रुमाकीर्णे त्वत्कदम्बाभ्यलंकृते ॥१६०
लतालीलालये ब्रह्मन्विपिने वनदेवता ।
यश्चैत्रसितपक्षस्य त्रयोदश्यां स्मरोत्सवे ॥१६१
बभूव वनदेवीनां समाजो नन्दने वने ।
तत्राहमगमं नाथ त्रैलोक्यललनासदः ॥१६२

विपुल दक्षिणा वाले गो मेध—अश्वमेध और नरमेध आदि यज्ञों के द्वारा कुछ काल में निर्मलता को प्राप्त होने पर उसके वितत् चित्त में बल पूर्वक अन्तःकरण में आत्मा को प्रसन्नता प्रदान करने वाला ज्ञान अवतरित हुआ था। इसके अनन्तर वह विशीर्ण आवरण वाला और जिसकी वासनाओं का मल गलित हो गया है ऐसे उसने एक बार उस लता में आगे स्थित वन देवी का दर्शन किया था ॥ ५५—५६ ॥ वह वन देवी विशाल नेत्रों वाली थी—स्वल्प चञ्चल कुसुमों के अम्बर धारण करने वाली थी—निर्दोष अङ्गों से युक्त और विनत मुख वाली उस वन देवी से वह मुनि बोला था ॥ १५७ ॥ हे कमल के समान लोचनों वाली ! आप तो अपनी परम सुन्दर कान्ति से स्मर (काम वासना) को विक्षोभित करने वाली हैं ऐसी आप कौन हैं ? ऐसा उस मुनि के द्वारा कहने पर मृग के बालक के तुल्य नेत्रों वाली—पीन स्तनों वाली उस गौरी ने उस मुनि से परम सुन्दर मुग्ध अक्षरों वाला यह वचन कहा था कि जो-जो भी दुष्प्राप्य पदार्थ हैं और इस मही मण्डल में अभीष्ट हैं वे सभी बहुत ही शीघ्र बड़ों के सामने याचना के द्वारा प्राप्त किये जाया करते हैं। मैं यहाँ पर द्रुमों से समाकीर्ण और तेरे द्वारा अभ्यलङ्कृत कदम्ब वाले लताओं के लीला लय में हे ब्रह्मन् ! इस विपिन (वन) में वन देवता हूँ। जो एक चैत्र मास की सित पक्ष की त्रयोदशी तिथि में स्मरोत्सव में नन्दन वन में वन देवियों का समाज हुआ था। हे नाथ ! मैं वहाँ पर त्रैलोक्य की ललनाओं की सभा में गई थी अर्थात् मैंने वहाँ पर गमन किया था ॥१५८—१६२॥

तत्र दृष्टा मया सर्वा वयस्या मदनोत्सवे ।
अपुत्रया पुत्रयुतास्तेनाहं दुःखिता भृशम् ॥१६३
त्वयि सर्वार्थिसार्थस्य बृहत्कल्पतरौ स्थिते ।
अनाथेव कथं नाथ किल शोचाम्यपुत्रिका ॥१६४
देहि मे भगवन्पुत्रं नो चेद्देहमिहाग्नये ।
प्रकरोम्याहुतिं पुत्रदुःखदाहोपशान्तये ।१६५

तामित्युक्तवतीं तन्वीं विहस्य मुनिपुङ्गवः।
प्रादाद्धस्तगतं पुष्पं तस्यै प्रेम्णा दयान्वितः ॥१६६
गच्छ तन्वङ्गि मासेन पूजार्हमलिलोचने।
प्रसोष्यसे सुतं कान्तं प्रसूनमिव सल्लता ॥१६७
किन्त्वसौ मरणावेशोपायिन्या यस्त्वया सुतः।
याचितः कृच्छ्रसंप्राप्तज्ञानस्ते न भविष्यति ॥१६८

उस वन देवी ने कहा—उस मदनोत्सव में मैंने सभी अपनी सखियों सहेलियों को देखा था। वे सब पुत्रों वाली थीं और मैं पुत्रहीन थी। इससे मैं अत्यन्त दुःखित हो गई हूँ ॥ १६३ ॥ समस्त अर्थियों के सहायक वृहत् कल्पवृक्ष के समान आपके स्थित होने पर हे नाथ! मैं एक बिना नाथ वाली की तरह पुत्र से रहित कैसे चिन्ता से युक्त हो रही हूँ ॥ १६४ ॥ हे भगवन्! आप मुझे पुत्र प्रदान कीजिए नहीं तो यहीं पर मैं पुत्र के न होने के दुःख-दाह की उप शान्ति के लिये इस अपने देह को अग्नि में आहुति किये देती हूँ ॥ १६५ ॥ इस प्रकार से कथन करने वाली उस तन्वी से वह श्रेष्ठ मुनि हँस कर बोला तथा दया से समन्वित होकर उसने प्रेम से अपने हाथ में स्थित पुष्प को उसे दे दिया था। ॥ १६६ ॥ उसने कहा—हे तन्वाङ्गि! अलि के समान लोचनों वाली! अब आप चली जाओ। एक मास में ही जैसे सुन्दर लता पुष्प का प्रसव किया करती है उसी भाँति आप पूजा के योग्य परम सुन्दर सुत को प्रसूत करेंगी ॥ १६७ ॥ किन्तु मरणावेशोप शायिनी तूने यह पुत्र याचित किया है सो तुझे कृच्छ्र सम्प्राप्त ज्ञान वाला नहीं होगा ॥१६८॥

इत्युक्त्वा स मुनिस्तन्वीं प्रसन्नमुखमण्डलाम्।
परिचर्यां करोमीति प्रार्थनोक्तां व्यसर्जयत् ॥१६९
सा जगामाश्रमसदनं मुनिः स्वार्थपरोऽभवत्।
अवहत्क्रमशः कालं ऋतुसंवत्सराङ्कितम् ॥१७०

अथ दीर्घेण कालेन सैवोत्पलविलोचना ।
द्वादशाब्दमुपादाय सुतं मुनिमुपाययौ ॥१७१
सा प्रणम्योपविश्याग्रे मुनिमिन्दुसमानना ।
उवाच कलया वाचा चूतद्रुमिवालिनी । १७२
अयं स भगवन्भव्यः कुमारः पुत्र आवयोः ।
कृतो मया समग्राणां कलानां किल कोविदः ॥१७३
प्रभो केवलमेतेन ज्ञानं नाधिगतं शुभम् ।
तेन संसारयन्त्रेऽस्मिन्नवशः परिपीड्यते ॥१७४
ज्ञानं त्वमेवास्य विभो कृपयोपदिशाधुना ।
एवं वदन्तीं स मुनिर्मच्चिष्यमबले सुतम् ॥१७५
इहैव स्थापयैनं त्वमित्युक्त्वा तां व्यसर्जयत् ।
तस्यां गतायां स पितुरन्तेवासिवयात्तया ॥१७६

यह कहकर उस मुनि ने प्रसन्न मुख मण्डल वाली उस तन्वी को जिसने परिचर्या करूँ ऐसी प्रार्थना की थी वहाँ से विदा कर दिया था ॥ १६९ ॥ वह फिर अपने निवास स्थान को चली गयी थी और वह मुनि स्वार्थ में परायण हो गये थे। उसने क्रम से ऋतु सम्वत्सर से अच्छिन्न काल को व्यतीत किया था ॥ १७० ॥ इसके अनन्तर बहुत लम्बे समय के पश्चात् वही कमल के समान लोचनों वाली बारह वर्ष का पुत्र लेकर मुनि के समीप में उपस्थित हुई थी ॥ १७१ ॥ उसने जिसका मुख चन्द्र के समान सुन्दर था मुनि को प्रणाम किया था और उस मुनि के आगे बैठकर आम्र के वृक्ष से एक भ्रमरी के ही समान वह परम मधुर वाणी से बोली थी ॥१७२॥ हे भगवन्! यह वह परम सुन्दर हम दोनों का पुत्र कुमार है। मैंने इसको समस्त कलाओं का महान् पण्डित बना दिया है ॥ १७३ ॥ हे प्रभो! इसने केवल शुभ ज्ञान की प्राप्ति नहीं की है इसी कारण से यह इस संसार रूपी यन्त्र में अवश होकर परिपीड़ित हो रहा है ॥ १७४ ॥ हे विभो! आप ही कृपा करके इस समय में इसको ज्ञान का उपदेश दीजिये। इस प्रकार से प्रार्थना करने वाली

उससे उस मुनि ने कहा था—हे अबले ! इस मेरे शिष्य सुत को तुम यहीं पर मेरे निकट में छोड़ दो—इतना कहकर उस मुनि ने उस नारी को विदा कर दिया था। उसके चले जाने पर वह पिता के उस अन्तेवासिता से अर्थात् छात्र भाव से वहाँ पर स्थित हो गया था। ॥ १७५-१७६ ॥

अतिष्ठत्संयतो धीमानर्कस्येवारुणः पुरः ।
तदर्थंप्राप्यविज्ञानं ततश्चित्राभिरुक्तिभिः ॥१७७
चिरकालमसौ तत्र मुनिः पुत्रमबोधयत् ।
आख्यायिकाख्यानशतैर्दृष्टान्तैर्दृष्टिकल्पितैः ॥१७८
तथेतिहासवृत्तान्तैर्वेदवेदान्तनिश्चयैः ।
मनुद्वेगतया नित्यं विस्तरेण यथाक्रमम् ॥१७९
कदाचिदार्यमार्गेण तेन कैलासवाहिनीम् ।
अहं स्नातुमदृश्यात्मा व्योमवीथीं गतः पुरा ॥१८०
निर्गत्य नभसस्तत्र मुनिमण्डलकोदरात् ।
रात्रौ प्राप्तोऽस्मि सुमते दाशूरतरुमुन्नतम् ॥१८१
यावच्छृणोमि विटपकुहरात्कानने वचः ।
कुड्मलाम्भोजसद्मस्थषट्पदस्येव निस्वनम् ॥१८२

वह परम बुद्धिमान् सूर्य के आगे अरुण के समान परम संयमशील होकर स्थित हो गया था। इसके उपरान्त विचित्र उक्तियों के द्वारा उसके लिये प्राप्त करने के योग्य विज्ञान को इस मुनि ने चिरकाल पर्यन्त उस पुत्र को प्रबोध प्रदान किया था। सैकड़ों आख्यायिकाएँ और आख्यानों के द्वारा तथा अपने ज्ञान से कल्पित दृष्टान्तों के द्वारा उसे प्रबुद्ध किया था। जो प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध अर्थों वाली होती हैं वे आख्यायिका कही जाती हैं और परोक्ष वृत्तान्तों को आख्यान कहा जाता है। इतिहास के वृत्तान्तों के द्वारा और वेदों एवं वेदान्त के निश्चयों के द्वारा अनुद्वेगता के साथ नित्य ही क्रम के अनुसार विस्तार से उसे प्रबोध

प्रदान किया था ॥ १७—१६ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—किसी समय में पहिले उस आर्य मार्ग से अदृश्य आत्मा वाला मैं कैलास वाहिनी व्योम वीथी में स्नान करने के लिये गया हुआ था ॥ १८० ॥ वहाँ पर मुनि मण्डल कोदर से नभ से निकल कर हे सुमते ! मैं रात्रि में उस दाशूर के उन्नत वृक्ष पर प्राप्त हो गया था ॥ १८१ ॥ उस कानन (वन) में विटप के कुहर से मैंने वचन का श्रवण किया था जिस तरह कमल की कली के गृह में स्थिति किसी भ्रमर (भौंरा) की ध्वनि हो ॥ १८२ ॥

शृणु पुत्र महाबुद्धे वस्तुनोऽस्य समामिमाम् ।
वर्णयामि महाश्चर्यमिकामाख्यायिकां तव ॥१८३
अस्ति राजा महावीर्यो विख्यातो भुवनत्रये ।
नाम्ना स्वोत्थ इति श्रीमाञ्जगदाक्रमणे क्षमः ॥१८४
यस्यानुशासनं सर्वे भुवनेष्वपि नायकाः ।
शिरोभिर्धारयन्त्युच्चैश्चूडामणिमिवोत्तमम् ॥१८५
यः साहसैकरसिको नानाश्चर्यविहारवान् ।
केनचित्त्रिषु लोकेषु न महात्मा वशीकृतः ॥१८६
यस्यारम्भसहस्राणि सुखदुःखप्रदान्यलम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जलधेरिव ॥१८७
यस्य वीर्यं सुवीर्यस्य न शस्त्रैर्न च पावकैः ।
केनचिद्भवने क्रान्तमाकाशमिव मुष्टिना ॥१८८
यदीयां विततारम्भलीलां निर्माणभासुराम् ।
न मनागनुकुर्वन्ति शक्रोपेन्द्रहरा अपि ॥१८९

दाशूर ने कहा—हे महान् बुद्धिमान् पुत्र ! इस वस्तु के ही समान महान् आश्चर्य से भरी हुई एक आख्यायिका का तेरे सामने वर्णन करता हूँ। तुम इसका श्रवण करो ॥ १८३ ॥ एक महान् पराक्रम वाला राजा था जो कि तीनों भुवनों में परम विख्यात था। उसका नाम स्वोत्थ था और वही श्री सम्पन्न इस सम्पूर्ण जगत् के ऊपर आक्रमण करने में परम

समर्थ था ॥ १८४ ॥ इन तीनों भुवनों में भी जो बड़े-बड़े नायक थे वे सभी उसके अनुशासन को एक उत्तम समुच्च चूड़ामणि के समान ही शिर के बाल धारण किया करते थे ॥ १८५ ॥ वह साहस के एक रस वला था और अनेक आश्चर्यों के विहार से युक्त था । वह किसी के द्वारा भी लोकों में महान् आत्मा वाला वशीकृत नहीं हुआ था ॥ १८६॥ जिसके सहस्रों ही समारम्भ थे जो सुख-दुःखों के प्रदान करने में पर्याप्त थे । उन उसके ऐसे आरम्भों की गिनती जलधि की तरङ्गों के ही समान किसके द्वारा की जा सकती है ? अर्थात् उनकी गणना की ही नहीं जा सकती थी ॥ १८७ ॥ बहुत अच्छे पराक्रम वाले जिसके वीर्य्य को शास्त्रों के द्वारा तथा पावकों के द्वारा मुष्टि के द्वारा आकाश के समान भवन में किसी ने आक्रान्त नहीं किया था ॥ १८८ ॥ इन्द्र—उपेन्द्र और शिव भी उसकी निर्माण से भासुर विस्तृत आरम्भों की लीला का थोड़ा-सा भी अनुकरण नहीं कर पाते थे ॥ १८९ ॥

त्रयस्तस्य महाबाहोर्देहदिग्भरणक्षमाः ।
जगदाक्रम्य तिष्ठन्ति उत्तमाधममध्यमाः ॥१९०
व्योमन्येवातिवितते जातोऽसौ त्रिशरीरकः ।
तत्रैव च स्थितिं यातः शब्दपातश्च पक्षिवत् ॥१९१
तत्रैवापारपर्यन्ते नगरं तेन निर्मितम् ।
चतुर्दशमहारथ्यं विभागत्रयभूपितम् ॥१९२
वनोपवनमालाढ्यं क्रीडाशिखरिसुस्थितम् ।
मुक्तालताधवलितं वापीसप्तकभूपितम् ।
शीतलोष्णात्मकाक्षीणदीपद्वयविराजितम् ॥१९३
तस्मिन्नेवातिविपुले पत्तने तेन भूभृता ।
संचारिणा विरचिता मुग्धापवरका गणाः ॥१९४
ऊर्ध्वं केचिदधः केचिन्मध्ये केचिन्नियोजिताः ।
असिताच्छादनाच्छन्ना नवद्वारविभूपिताः ॥१९५

अनारतवहद्वातबहुवातायनान्विताः।
दीपपञ्चकसालोकास्त्रिस्थूणाः शुक्लदारवः ॥१९६

महाबाहुओं वाले उस स्वोत्थ के दिशाओं के पूरण करने में परम समर्थ तीन देह सत्वादि गुणों के अनुरूप उत्तम—मध्यम और अधम सम्पूर्ण जगत् को समाक्रान्त करके स्थित थे ॥ १९० ॥ यह सत्वादि के स्वरूपों वाले तीन शरीरों से युक्त स्वोत्थ इस चिदाकाश में जो अत्यन्त विस्तृत है उत्पन्न हुआ था और वहीं पर स्थिति को प्राप्त होगया था। जैसे कोई पक्षी व्योम में ही प्रकट होता है—वहीं पर वह स्थित रहा करता है और वहीं पर लीन हो जाया करता है वैसा ही इसकी भी दशा थी ॥१९१॥ वहीं पर अपार पर्य्यन्त में इसने एक नगर का निर्माण किया था। चौदह भुवन ही उस नगर की महान् रथ्याऐं थीं और वह नगर ऊर्ध्वभाग—अधोभाग और मध्यलोक के भेद से तीन भागों में विभक्त था ॥ १९२ ॥ वह नगर अनेक वन और उपवनों की माला से युक्त था तथा क्रीड़ा करने के शिखरों वाले जो मेरु और मन्दराचल थे उनसे भी वह सुन्दर स्थिति वाला था। मुक्तालता सरिताओं से धवल वर्ण वाले—सात वावड़ियों से सुशोभित अर्थात् सात सागरों से भूषित शीतल और उष्ण चन्द्र तथा सूर्य—इन दो दीपकों से शोभायमान वह नगर था ॥ १९३ ॥ अत्यन्त विशाल उस नगर में सञ्चरण करने वाले उस राजा ने परम सुन्दर देह स्वरूप वाले अभ्यन्तर गृहों की भी रचना की थी ॥ १९४ ॥ कुछ ऊपर—कुछ मध्य भाग में और कुछ नीचे के भाग में नियोजित किये गये थे। असित आच्छादन केशरूपी तृण से समाच्छन्न नौ द्वारों श्रोत्रादिक से भूषित थे ॥ १९५ ॥ निरन्तर बहुत वायु के वहन करने वाले नासिका के विवर आदि वातायनों से समन्वित थे। पाँच दीपकों से आलोक वाले तीन वात, पित्त, कफ वाले स्थूण (स्तम्भ) थे। देह धारण करने वाले होने से शुक्ल वर्ण वाले दारु अस्थियाँ थीं ॥ १९६ ॥

मसृणालेपमृदवः प्रतोलीकुलसंकुलाः ।
मायया रचितास्तेन राज्ञा तेषु महात्मना ॥१९७
रक्षितारो महापक्षा नित्यमालोकभीरवः ॥१९८
अथापवरको घेषु चलत्सु स महीपतिः ।
करोति विविधां क्रीडां नीडेष्विव विहंगमः ॥१९९
त्रिशरीरः स तेष्वन्तस्तैर्यक्षैः सह पुत्रक ।
लीलालसमुषित्वाशु पुनर्निष्क्रम्य गच्छति ॥२००
तस्येच्छा जायते वत्स कदाचिच्चलचेतसः ।
पुरं भविष्यन्निर्माणां किंचिद्यामीति निश्चला ॥२०१
भूताविष्ट इवावेगात्तत उत्थाय धावति ।
पुरं तदप्यवाप्नोति गन्धर्वैरिव निर्मितम् ॥२७२
तस्येच्छा जायते वत्स कदाचिच्चलचेतसः ।
विनाशं संप्रयामीति तेनाशु स विनश्यति ॥२०३

उस महात्मा राजा ने उनमें माया से मसृण आलेप बाहिरी त्वचा और मृत (मांस) वाले थे तथा भुजा अङ्ग आदि की वीथियाँ थीं यह सब रचना की थीं ॥ १९७ ॥ महापक्ष अहङ्कार उसके रक्षक थे जो नित्य ही आलोक से भीरु थे अर्थात तत्त्व ज्ञान के द्वारा निवृत्त होने के भय से युक्त थे ॥ १९८ ॥ इसके अनन्तर चलते हुए अप वरक ओघों में वह राजा नीड़ों में (घौंसलों में) पक्षी के समान ही विविध भाँति की क्रीड़ाऐं किया करता था । तीन शरीर वाला वह हे पुत्र ! उनमें उन यक्षों के साथ अन्दर लीलालस में शीघ्र उठकर पुनः निकल कर चला जाता है ॥ १९९–२०० ॥ हे वत्स ! चञ्चल चित्त वाले उसकी किसी समय में इच्छा उत्पन्न होती है कि भावि दूसरे देह के अन्दर कुछ चला जाऊँ ऐसी निश्चल इच्छा हुआ करती है ॥ २०१ ॥ भूतावेश से युक्त की भाँति बड़े वेग से उससे उठकर वह दौड़ता है गन्धर्वों के द्वारा निर्मित उस पुर को भी वह प्राप्त कर लेता है ॥ २०२ ॥ हे वत्स ! चञ्चल चित्त वाले उसकी किसी समय में इच्छा होती है कि मैं विनाश

को प्राप्त हो जाऊँ और इससे वह शीघ्र विनष्ट हो जाया करता है ॥ २०३ ॥

पुनरुत्पद्यते तूर्णं खान्महोर्मिरिवाम्भसः ।
व्यवहारं तनोत्युच्चैः पुनरारम्भमन्थरम् ।
स्वयैव व्यवहृत्यासौ कदाचित्परिदूयते ॥२०४
किं करोम्यहमज्ञोऽस्मि दुःखितोऽस्मीति शोचति ।
मुदमेत्य कदाचिच्च स्वयमायाति पीनताम् ॥२०५
पिबति गच्छति वल्गति जृम्भते
स्फुरति भाति च भासुररूपधृक् ।
सुत महामहिमा स महीपतिः
पतिरपामिव वातरयाकुलः ॥२०६
अथापृच्छत्सुतस्तत्र जम्बूद्वीपे महानिशि ।
कदम्बद्रुमपर्णस्थं पितरं पावनाशयः ॥२०७
कोऽसौ स्वोत्थेति विख्यातो भूपस्तातोत्तमाकृतिः ।
कथितं च किमेतन्मे त्वयेति ब्रूहि तत्त्वतः ॥२०८
शृणु पुत्र यथाभूतमेतत्ते कथयाम्यहम् ।
येन संसारचक्रस्य तत्त्वमस्यावबुध्यसे ॥२०९
असदभ्युत्थितारम्भवस्तुमयमाततम् ।
संसारसंस्थानमिदमेवमाकथितं मया ॥२१०

फिर जल की महान् तरङ्ग की भांति आकाश से पुनः शीघ्र ही उत्पन्न हो जाया करता है। यह पुनः आरम्भ में मन्थर ऊंचा व्यवहार का विस्तार किया करता है और किसी समय में अपने ही व्यवहार से यह अत्यन्त दुःखित हुआ करता है ॥ २०४ ॥ मैं क्या करूं ? मैं बहुत ही अज्ञान हूं और मैं अत्यन्त दुःखित भी हूँ—ऐसी चिन्ता किया करता है। किसी समय में बहुत आनन्द की प्राप्ति कर स्वयं ही परिपुष्टता को प्राप्त कर लिया करता है ॥ २०५ ॥ पीता है—गमन करता है—वल्गन किया करता है—जृम्भित होता है—स्फुरण करता है—दीप्तिमान् होता

है और भासुर रूप का धारण करने वाला है। हे पुत्र ! वह राजा महान महिमा से युक्त है और जल के पति के ही समान वात के वेग से समाकुल हो जाता है ॥ २०६ ॥ श्री महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—इसके पश्चात् वहाँ पर जम्बूद्वीप में महा निशीथ काल में पावन आशय वाले पुत्र ने कदम्ब के वृक्ष के पत्र पर स्थित पिताजी से पूछा ॥ २०७ ॥ हे तात ! उत्तम आकृति वाला स्वोत्थ विख्यात राजा यह कौन है। आपने यह मुझे बता दिया है। इसलिये अब तात्त्विक रूप से ठीक ठीक बतलाइये ॥ २०८ ॥ दाशूर ने कहा—हे पुत्र ! यह जिस प्रकार का है उसे ठीक-ठीक मैं तुमको बतलाता हूँ आप सुनो ! इसका परिणाम यह होगा इस संसार चक्र का तत्त्व समझ जाओगे ॥ २०९ ॥ मैंने तुमको बतला ही दिया है कि यह संसार का संस्थान इसी प्रकार का है। असत् अभ्युत्थित (समुत्पन्न) आरम्भों वाला है—यह सर्वथा अवस्तु से परिपूर्ण है अर्थात् वास्तविकता से रहित है और चारों ओर फैला हुआ है ॥२१०॥

परमात्मनभसो जातः संकल्पः स्वोत्थ उच्यते ।
जायते स्वयमेवासौ स्वयमेव विलीयते ॥२११
तत्स्वरूपमिदं सर्वं जगदाभोगि विद्यते ।
जायते तत्र जाते तु तस्मिन्नष्टे विनश्यति ॥२१२
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्रादींस्तस्यैवावयवान्विदुः ।
शून्ये व्योमनि तेनेदं निर्मितं त्रिजगत्पुरम् ॥२१३
प्रतिभासानुसन्धानमात्रेणैति विरञ्चिताम् ।
यत्र ते वितता लोकालोककोशाश्चतुर्दश ॥२१४
पातालस्थश्च भूस्थश्च स्वर्गस्थश्चापि तत्त्व ।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति संकल्पोपशमादृते ॥२१५
अनाबाधेऽविकारे च सुखे परमपावने ।
संकल्पोपरमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु ॥२१६

संकल्पतन्तावखिला भावाः प्रोताः किलानघ ।
छिन्ने तन्तौ न जाने ते क्व यान्ति विशरारवः ॥२१७

जो परम नभ से उत्पन्न हुआ है ऐसा जो सङ्कल्प है वही स्वोत्य कहा जाता है। यह स्वयं जन्म ग्रहण करता है और यह अपने आप विलय को प्राप्त हो जाता करता है ॥ २११ ॥ उसका स्वरूप यह सब आभोगी जगत् ही है। उसके जात होने पर यह उत्पन्न हो जाता है और उसके नष्ट होने पर यह विनाश को प्राप्त हो जाया करता है।२१२। ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—रुद्र आदि सब उसी के अवयव समझ लो। इस शून्य व्योम में उसने ही यह त्रिजगत्पुर का निर्माण किया है ॥ २१३ ॥ प्रतिभास के अनुसन्धान मात्र से ही विरञ्चिता अर्थात् ब्रह्मा के पद को प्राप्त हो जाया करता है जहाँ पर चौदह लोकालोक के कोश फैले हुए हैं ॥ २१४ ॥ सङ्कल्पों के उपशन होने के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है चाहे आप पाताल में रहें—भूलोक में रहें और भले ही आप स्वर्ग में भी स्थित होवें सङ्कल्पों का नाश ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ २१५ ॥ बाधा रहित विकारों से शून्य—सुखपूर्ण और परम पावन सङ्कल्पों के उपरम में पुरुषार्थ पूर्वक परम प्रबल प्रयत्न करो ॥ २१६ ॥ हे अनघ ! सङ्कल्पों के तन्तुओं में ही सम्पूर्ण भाव प्रोत हो रहे हैं। तन्तुओं के छिन्न हो जाने पर बिना शरीर वाले न मालुम कहाँ चले जाया करते हैं ॥ २१७ ॥

निःसंकल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव ।
चिदचित्योन्मुखत्वं हि याति संकल्पसंक्षये ॥२१८
कीदृशस्तात संकल्पः कथमुत्पद्यते प्रभो ।
कथं वा वृद्धिमायाति कथं चैष विनश्यति ॥२१९
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः ।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः ॥२२०
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः ।
याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत् ॥२२१

भावयन्ती चितिश्चेत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः ।
संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव ।।२२२

संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते ।
वर्धते स्वत एवाशु दुःखाय न सुखाय तु ।।२२३

मा संकल्पय संकल्पं भावं भावय मा स्थितौ ।
एतावतैव भावेन भव्यो भवसि भूतये ।।२२४

जो भी स्वतः प्राप्त हो उसी व्यवहार में तत्पर रहो और सङ्कल्पों से रहित हो जाओ । सङ्कल्पों के संक्षय हो जाने पर चित् और अचित्य के उन्मुखता को प्राप्त हो जाया करता है ।। २१८ ।। पुत्र ने कहा—हे तात ! सङ्कल्प कैसा है ? हे प्रभो ! यह कैसे उत्पन्न होता है और रीति से बढाव को पहुँचता है तथा यह कैसे नष्ट हुआ करता है ? ।। २१९ ।। दाशूर ने कहा—सत्ता के सामान्य स्वरूप वाले अनन्त आत्म तत्त्व का जो चित् चेत्योन्मुखता (बहिर्मुखत्व) है वही सङ्कल्प का सूक्ष्म स्वरूप है ।। २२० ।। सूक्ष्मांश से स्वरूप प्राप्त करने वाला वही चिच्चेतोन्मुखी भावरूप सङ्कल्पांकुर ही धीरे से चित्तत्व को दृढ़ता से आपूरित करके जड़ात्मक प्रपञ्च भाव से परिणति के लिये मेघ के समान घनीभाव को प्राप्त हो जाया करता है ।। २२१ ।। चिति आत्मा का चैतन्य और चेत्य दृश्य जगत् आत्मा के व्यतिरिक्त के समान भावित करती हुई सङ्कल्प के स्वरूप को प्राप्त हो जाया करती है जैसे बीज ही अंकुर का स्वरूप ग्रहण किया करता है । चित् का अपने से व्यतिरिक्तता से जो चेत्य की भावना है वही सङ्कल्प होता है ।। २२२ ।। असत् वस्तु की कल्पना ही सङ्कल्प होता है उसका अन्य कोई निमित्त अपेक्षित नहीं होता है । अतः वह तो स्वयं ही उत्पन्न हुआ करता है और अपने आप ही शीघ्र बढ़ जाया करता है । यह केवल दुःख के ही लिये हुआ करता है सुख के लिये नहीं होता अतएव हेय ही होता है ।। २२३ ।। अतएव सङ्कल्पन मत करो और जगत् की स्थिति में कभी भी तात्पर्य को

मत करो। जगत् की स्थिति में निरादर से ही मुक्ति के लिये योग्य होओगे ॥ २२४ ॥

संकल्पनाशने यत्नो न भूयाननुगच्छति।
भावनाभावमात्रेण संकल्पो जीयते ह्ययम् ॥२२५
सुमनःकुसुमामर्दे किंचिद्व्यतिकरो भवेत्।
सुसाध्याऽभावमात्रेण न तु संकल्पनाशने ॥२२६
संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥२२७
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि।
असन्मयविकल्पोत्थे उभे एते तते यतः ॥२२८
तन्दुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा।
नश्यति क्रियया पुत्र पुरुषस्य तथा मलः ॥२२९
जीवस्य तन्दुलस्येव मलं सहजमप्यलम्।
नाशयत्येव न संदेहस्तस्मादुद्यमवान्भव ॥२३०
मम गुरुविभवोऽज्ज्वला विलासा
इति तव मास्तु वृथैव विभ्रमोऽन्तः।
त्वमपि च विततास्च ते विलासा
विलसति सर्वमिदं चिदात्मतत्त्वम् ॥२३१

इस सङ्कल्प के न करने में विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता है और यह भावना ही से जीवित रहा करता है। मालती के पुष्प के मर्दन में भी कुछ यत्न करना ही पड़ता है किन्तु इस सङ्कल्प के नाश के लिये तो कुछ भी प्रयत्न नहीं किया जाता है। यह तो सुख से साध्य कार्य है क्योंकि भावना का ही तो अभाव मात्र है किन्तु इतना भी नहीं होता है तो सङ्कल्पों का नाश कैसे होवे ॥ २२६ ॥ अन्तर्मुख सङ्कल्प से ही बहिर्मुख सङ्कल्प का छेदन हुआ करता है। शास्त्र के सङ्गम से अतप्त मन के द्वारा ही चिन्ता से संतप्त मन का छेदन होता है—यही विवेक का सार है। ऐसे मन का त्याग करके स्वात्मा में स्थित रहो—इतने

थी। मैंने दाशूर को छोड़कर अमर नदी पर गमन किया था। हे रघु-नन्दन ! यह दाशूर की आख्यायिका तुमको बतलादी है। इस दाशूर की आख्यायिका के ही समान यह सम्पूर्ण जगत् है—ऐसी ही भावना करो। ॥ २१२-२३६ ॥

अपर्यन्तस्य कालस्य कियानंश शरच्छतम् ।
तावन्मात्रमहायुर्यः किमास्थां सोऽनुधावति ॥२३७
अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीभावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिल्लीलया विहरानघ ॥२३८
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथाऽऽलोकः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवे तु तथैवायं जगद्गण ॥२३९
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥२४०
ते द्वे आत्मनि विद्येते कर्तृताकर्तृतेऽनघ ।
यत्रैव ते चमत्कारस्तामाश्रित्य स्थिरो भव ॥२४१
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया ।
प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥२४२
याति नीरसतां जन्तुरप्रवृत्तेः स्वचेतसः ।
तस्मान्नित्यकर्ताहमिति भावनयेद्धया ।
परमामृतनाम्नी सा समतेवावशिष्यते ॥२४३

महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस अपर्यन्त काल का सौ वर्ष की आयु कितना स्वल्प अंश है किन्तु यह भी महान् आयु का समय है। इसमें भी किस आस्था का ग्रहण कर इसे समाप्त करते हो ? ॥ २३७ ॥ भावना से परिपूर्ण सङ्कल्पमयी आस्था का अन्तःकरण में त्याग करके निर्मनस्कता से जो आपका रूप है वही वास्तविक स्वरूप है। हे अनघ ! आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हुए इस जगत् में विहार करो तो कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा ॥ २३८ ॥ रत्न में कुछ भी इच्छा नहीं होती है तो

भी उसका आलोक प्रवृत्त हुआ ही करता है इसी प्रकार से इच्छा शून्य भी परमात्मा के स्थित होने पर उसकी सत्ता–सन्निधि से ही यह जगत् का गण प्रवृत्त हुआ करता है ॥ २३९ ॥ इसलिये इस आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही भाव संस्थित रहते हैं। बिना इच्छा वाला होने से यह अकर्त्ता है और संन्निधि मात्र से ही यह कर्त्ता होजाता है ॥२४०॥ दोनों ही कर्तृता और अकर्तृता इस आत्मा में विद्यमान रहते हैं। जिसमें ही आप की अभिरति हो उसी का समाश्रय ग्रहण कर स्थिरता प्राप्त करो ॥ २४१ ॥ सर्वत्र मैं कर्त्ता नहीं हूं ऐसी सुदृढ़ भावना से प्रवाह में पतित कर्म को करते हुए भी उससे कभी लिप्त नहीं होओगे ॥ २४२ ॥ यदि यह जीव अपने चित्त की अप्रवृत्ति से नीरसता को प्राप्त कर लेता है तो इससे मैं नित्य ही अकर्त्ता हूं—इस बढ़ी हुई भावना से परम अमृत नाम वाली फिर वह समता ही अवशिष्ट रह जाया करती है। विषयों में उत्सुकता ही रस है उससे यह रहित हो जाया करता है ॥ २४३ ॥



❀ उपशम प्रकरण ❀



प्रथम सर्ग

दीर्घसंसारमायेयं राम राजसतामसैः ।
धार्यते मानवैर्विस्यं सुस्तम्भैरिव मण्डपः ॥१
सत्त्वस्थजातिभिर्धीरैस्त्वादृशैर्गुणबृंहितैः ।
हेलया त्यज्यते पक्वा मायेयं त्वगिवोरगैः ॥२
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम् ।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ॥३
तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पनाः ।
विच्छित्तयः पयोराशौ यथा राम न सन्मयाः ॥४
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जन्मास्ति न जन्मवान् ।
यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव राघव ॥५
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
अद्वितीयो विशोकात्मा विज्वरो भव राघव ॥६
समः स्वस्थः स्थिरमतिः शान्तः शान्तमना मुनिः ।
मौनी वरमणिस्वच्छो विज्वरो भव राघव ॥७

महर्षि श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीराम ! यह संसार की माया बड़ी विशाल है। जैसे सुदृढ़ स्तम्भों के द्वारा मण्डप धारण किया जाया करता है उसी भाँति राजस-तामस मानवों के द्वारा इस सांसारिक माया को धारण किया जाता है ॥ १ ॥ जिनका जन्म सत्त्वगुण की प्रधानता से होता है और मैत्री आदि गुणों से जो वर्धित हैं ऐसे आप जैसे धीर पुरुषों के द्वारा यह परिपक्व भी माया लीला ही से त्याग दी जाया करती

है, जैसे सर्प अपनी कञ्चुली को त्याग दिया करते हैं और उन्हें इसके त्यागने में कुछ भी अभ्यास नहीं होता है ॥ २ ॥ हे अनघ ! यह सम्पूर्ण जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है यह ब्रह्म ही है। यह विभिन्न रूपों में फैला हुआ आत्म तत्त्व ही है। मैं अन्य हूँ और यह दृश्य जगत् कुछ अन्य ही है—यह केवल भ्रान्ति मात्र है इसका त्याग करदो ॥ ३ ॥ इस घनीभूत नित्य ब्रह्म में ही सागर में तरङ्गादि के भेदों की रचना के ही समान कल्पनाऐं हैं किन्तु हे श्रीराम ! ये ही विक्षेप हैं ॥ ४ ॥ यहाँ न तो शोक है—मोह है—न कोई जन्म ही है और न जन्मधारी है। यहाँ पर जो भी परमार्थ रूप से चिन्मात्र है वही सब कुछ है और वही सत्ता के रूप में प्रतीत हुआ करता है। अतएव हे राघवेन्द्र ! आप असंतप्त हो जाइए ॥ ५ ॥ आपका स्वरूप तो शीतोष्णादि द्वन्द्वों से रहित है—नित्य सत्त्वगुण में निष्ठा वाला है—इष्ट साधन और अनिष्ट निवारण रूप योग तथा क्षेम से भी रहित है—आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त चित्त वाला भेद की भावना से शून्य अद्वितीय विशोक आत्मा वाला है। अतएव आप विज्वर हो जाइये ॥ ६ ॥ प्रवृत्तिमार्ग से उपरत मन वाले परम शान्त—मनन निष्ठ—सम—स्वस्थ बुद्धि वाला मौनी आपका वास्तविक स्वरूप है अतएव आप एक श्रेष्ठ मणि के ही तुल्य परम स्वरूप हैं। हे राघव! आप सन्ताप रहित हो जाइये ॥ ७ ॥

यथाप्राप्तानुभवनात्सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ।
त्यागादानपरित्यागाद्विज्वरो भव राघव ॥८
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तस्य चैव महामते ।
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥९
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तता ज्ञता ।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः ॥१०
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः ।
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव ॥११

एष तावत्क्रमः प्रोक्तः सामान्यः सर्वजन्तुषु ।
इममन्यं विशेषं त्वं शृणु राजीवलोचन ॥१२
अस्मिन्संसारसंरम्भे जातानां देहधारिणाम् ।
अपवर्गक्षमौ राम द्वाविमावुत्तमौ क्रमौ ॥१३
एकस्तावद्गुरुप्रोक्तादनुष्ठाच्छनैःशनैः ।
जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः ॥१४

प्रारब्ध फल के अनुसार जो भी जैसा कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तोष और अप्राप्त होने पर सर्वत्र वाञ्छा के अभाव होने से त्याग और धन का परित्याग करने वाले होकर अर्थात् जो स्वतः प्राप्त है उसका त्याग और जो अप्राप्त है उसके आदान की इच्छा से रहित होते हुए आप विगत ज्वर (सन्ताप) वाले हो जाइये ॥ ८ ॥ जिसका यह जन्म है वही अन्तिम जन्म उसका होता है क्योंकि इससे आगे अन्य जन्म प्राप्त करने का अभाव ही है फिर तो उसमें ज्ञान की हेतु भूत विमल विद्याऐं प्रवेश कर जाया करती हैं। जैसे उत्तम वेणु में विमल मुक्ताओं का प्रवेश हुआ करता है ॥ ९ ॥ उस पुरुष में सदाचार परम्परा—सर्व सम्मतता—सब प्राणि मात्र में अनुकम्पा—अन्तःकरण में शीतलता—निःसङ्गता और ज्ञान निष्ठता ये सद्गुण नित्य ही समाश्रय ग्रहण किया करते हैं जैसे उत्तम महिलाऐं अन्तःपुर में ही रहा करती हैं ॥ १० ॥ सभी मनुष्य कोमल आचार से मधुर उस पुरुष को ही चाहा करते हैं जिस तरह से वन में वन मृग मधुर ध्वनि करने वाले वेणु की ही इच्छा रखते हैं ॥ ११ ॥ यह कर्म सभी जीवों में साधारण होता है जिसको अभी बतलाया गया है। हे राजीव लोचन ! इस अन्य विशेष क्रम का अब आप श्रवण करिए ॥ १२ ॥ हे श्रीराम ! इस संसार के संरम्भ में समुत्पन्न देहधारियों का अपवर्ग के लिये समर्थ दो ही उत्तम क्रम होते हैं ॥ १३ ॥ उनमें एक तो गुरु के द्वारा बतलाये हुए अनुष्ठान में धीरे-धीरे देहधारियों के एक जन्म से अथवा कई जन्मों में सिद्धि प्रदान करने वाला होता है- ऐसा कहा गया है ॥१४॥

द्वितीयः स्वात्मनैवाशु किंचिद्व्युत्पन्नचेतसः ।
भवति ज्ञानसंप्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥१५
नभःफलनिपाताभे ज्ञानसंप्रतिपत्तये ।
अत्रेमं शृणु वृत्तान्तं प्राक्तनं कथयामि ते ॥१६
अस्त्यस्तमितसर्वापदुद्यत्संपदुदारधीः ।
विदेहानां महीपालो जनको नाम वीर्यवान् ॥१७
कल्पवृक्षोऽर्थिसार्थानां मित्राब्जानां दिवाकरः ।
स कदाचिन्मधौ मत्तकोकिलोल्लासशालिनि ।
ययावुपवनं कान्तं नन्दनं वासवो यथा ॥१८
तस्मिन्नुपवने रम्ये केसरामोदमोदिते ।
दूरस्थानुचरः सोऽथ कुञ्जेषु विचचार ह ॥१९
अथ शुश्राव कस्मिंश्चित्तमालवनगुल्मके ।
सिद्धानामप्रहश्यानां स्वप्रसङ्गादुदाहृताः ॥२०
विविक्तवासिनां नित्यं शैलकन्दरचारिणाम् ।
इमाः कमलपत्राक्ष गीता गीतात्मभावनाः ॥२१

दूसरा क्रम यह है कि वह अपनी ही आत्मा से परम शीघ्र कुछ व्युत्पन्न चित्त वाले को आकाश से फल के पात के ही समान ज्ञान की सम्प्राप्ति हो जाया करती है ॥ १५ ॥ आकाश से फल के समान ही ज्ञान की सम्प्राप्ति के लिये मैं एक बहुत पुराना वृतान्त बतलाता हूँ उसका आप श्रवण करिए ॥ १६ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—एक समस्त आपत्तियों के त्याग करने वाला परम उदार सम्पत्ति स्वरूप बुद्धि से समन्वित महान् पराक्रमी जनक नाम वाला एक विदेहों का राजा हुआ था ॥ १७ ॥ याचकों के समुदाय के लिये वह समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष के समान था और मित्ररूपी कमलों के विकास के लिये सूर्य के तुल्य था । वह राजा किसी समय वसन्त ऋतु में जिसमें मदमत्त कोयलों के उल्लास की परिपूर्ण शोभा थी एक परम सुन्दर उपवन में गया था जैसे इन्द्रदेव अपने नन्दन वन में बिहार करने को जाया

करते हैं ॥ १८ ॥ केसरों के आमोद से प्रमोद युक्त उस परम रम्य उपवन में दूर देश में अनुचरण करने वाला वह नृपति कुञ्जों में विचरण कर रहा था ॥१६॥ इसके अनन्तर उसने किसी एक तमालों के वन की झाड़ियों में अपने प्रसङ्ग से उदाहृत की हुई अदृश्य सिद्धों की मुख से निःसृत आत्म-भावना का श्रवण किया था ॥ २० ॥ हे कमल पत्र के समान लोचनों वाले ! एकान्त में निवास करने वाले और नित्य ही पर्वतों की कन्द-राओं में सञ्चरण करने वालों की ये आत्म भावना गान की हुई थी ॥ २१ ॥

द्रष्टृदृश्यसमायोवात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः ।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निःस्पन्दं समुपास्महे ॥२२
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे । २३
द्वयोर्मध्यगतं नियमस्तिनास्तीति पक्षयोः ।
प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥२४
सशिरस्कं हकारादिमशेषाकारसंस्थितम् ।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वमात्मानं समुपास्महे ॥२५
संत्यज्य हृद्गृहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्त्वा हस्तस्थकौस्तुभम् ॥२६
सर्वाशाः किल संत्यज्य फलमेतदवाप्यते ।
येनाशाविषवल्लीनां मूलमाला विलूयते ॥२७
बुद्ध्वाप्याद्यन्तवैरस्यं यः पदार्थेषु दुर्मतिः ।
बध्नाति भावनां भूयो नरो नरो नासौ स गर्दभः ॥२८

एक सिद्ध ने कहा—द्रष्टा पुरुष का दृश्य दृष्टिप्रिय वस्तु के साथ संश्लेष होने के हेतु से जो बुद्धि में आनन्द का आभास होता है इसी प्रकार में आत्म तत्त्व से समुत्थित महाभाव से उसी प्रकार के आनन्द-स्वरूप अपनी आत्मा से ही निश्चल देव की ही उपासना करते हैं।

वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति में चरितार्थ होने से चित्त के उपरत होने पर आत्मा में समुदित आनन्द ही ब्रह्मानन्द होता है ।। २२ ।। दूसरे सिद्ध ने कहा—दृष्टा अहंकर्त्ता आत्मा-चक्षु आदि के व्यापार से उपहित वृत्ति का ज्ञान दृश्य और उन इन्द्रियों के विषय इन तीनों को उसकी वासना के साथ ही त्याग करके वृत्ति के ज्ञान से प्रथम ही आभासित आत्मा की उपासना करते हैं । अर्थात् अपनी ही कान्ति से आभासित आत्मा की उपासना सर्वोपरि है ।। २३ ।। तीसरे अदृश्य सिद्ध ने कहा—है और नहीं है—इन दोनों पक्षों के मध्य में सद्रूप होने से है और निराकार होने से नहीं है। इन दोनों पक्षों में साधारण जड़ प्रकाशों की अर्थात् सौर चन्द्र वैद्युत प्रकाशों की प्रतीति का हेतु स्वरूप आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए ।। २४ ।। चौथे सिद्ध ने कहा—सुर नर और तिर्यग् इन सभी के शरीरों में अन्तर्यामी के स्वरूप से स्थित शब्द सहित हंस मन्त्र का निरन्तर उच्चारण करने वाले अपनी आत्मा की उपासना करते हैं।२५। हृदय रूपी गृह के स्वामी देव का परित्याग करके जो अन्य देव की उपासना किया करते हैं वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभ मणि का त्याग कर अन्य रत्न के प्राप्त करने की व्यर्थ ही इच्छा किया करते हैं ।। २६ ।। मुक्ति प्राप्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष के द्वारा इस लोक की और परलोक की सभी मनोरथों की भावना का त्याग करके ही इस आत्मा स्वरूप फल को प्राप्त किया जाया करता है। आत्मा के उपासक के लिये आशा ही विष की बेल है क्योंकि इनसे सन्ताप होता है इनकी मूलभूत जो अज्ञान की वृद्धि है वह छिन्न हो जाया करती है ।। २७ ।। जो अल्प बुद्धि वाला पुरुष पदार्थों में प्रागभाव और विध्वंसाभाव की विरसता अर्थात् नीसारता को जान बूझकर भी पुनरपि भावों की वासना को बांधता रहा करता है वह मनुष्य नहीं है अपितु साक्षात् गर्दभ ही है ।। २८ ।।

उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीम् ।।२९

हस्त हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गै समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥३०
उपशमसुखमाहरेत्पवित्रं शमवशतः शममेति साधु चेतः ।
प्रशमितमनसः स्वके स्वरूपे भवति सुखे स्थितिरुत्तमाचिराय॥३१
इति सिद्धगणोद्गीर्णां गीतां श्रुत्वा महीपतिः ।
विषादमाजगामाशु भीरू रणरवादिव ॥३२
परिवारमशेषेण विसृज्य स्वं स्वमालयम् ।
एक एवाविशद्राजा मृगेन्द्र इव भूधरम् । ३३
तत्र प्रोड्डयनालोलीखगपक्षतिचञ्चलाः ।
आलोकयंल्लोकगतीर्विललापेदमातुरः ॥३४
हा कष्टमिति कष्टासु लोललोकदृशा स्वयम् ।
पाषाणेष्विव पाषाणमालुठामि भ्रमादहम् ॥३५

उठे हुए और नहीं उठे हुए इन इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का बारम्बार विवेक रूपी दण्ड से हनन करना चाहिए जैसे इन्द्र वज्र के द्वारा पर्वतों के वृक्षों का हनन किया करता है ॥ २९ ॥ हाथ से हाथ को सम्पीड़ित करके और दाँतों से दाँतों को विचूर्णित करके तथा अपने शरीरवयवों को समाक्रान्त करके अर्थात् हठ योग की क्रियाओं के द्वारा सर्व प्रथम अपने मन पर विजय प्राप्त करना चाहिए ॥ ३० ॥ मुमुक्षु को पहिले निर्दोष उपशम के सुख का सम्पादन करना चाहिए । उपशम के सुख की सामर्थ्य से विषयों के सुख में चित्त भली भाँति उपशम को प्राप्त हो जाया करता है । प्रशमित मन वाले पुरुष के स्वकीय स्वरूप में उत्तमा स्थिति चिरकाल तक हुआ करती है ॥ ३१ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस प्रकार से सिद्धगणों के द्वारा उद्गीर्ण (कथित) गीता का श्रवण करके राजा बहुत ही अधिक विषाद को शीघ्र प्राप्त होगया था जैसे कोई डरपोक मनुष्य रण घोष से विषण्ण हो जाया करता है ॥ ३२ ॥ समस्त परिवार को छोड़कर जो कि अपने-अपने आलयों में थे राजा एक अकेला ही एक सिंह के समान पर्वत की कन्दरा

में प्रवेश कर गया था ॥ ३३ ॥ वहां पर उड़ने में अतीव चञ्चल पक्षियों की पङ्खों से चञ्चल लोक गति को देखते हुए राजा अत्यन्त आतुर होकर इस तरह विलाप करने लगा था ॥ ३४ ॥ हाय बड़े ही दुःख की बात है इस चञ्चल लोक की दृष्टि से स्वयं कष्ट पूर्ण दशाओं में मैं भ्रम से पाषाणों में पाषाण की तरह ही समालुण्ठित हो रहा हूं ॥ ३५ ॥

अपर्यन्तस्य कालस्य कोऽप्यंशो जीव्यते मया ।
तस्मिन्भावं निबध्नामि धिङ्मामधमचेतसम् ॥३६
कियन्मात्रमिदं नाम राज्यमाजीवितं मम ।
किमेतेन वृथा ह्यस्मिंस्तिष्ठामि हतधीर्यथा ॥३७
यद्वस्तु यच्च वा रम्यं यदुदारमकृत्रिमम् ।
किंचित्तदिह नास्त्येव किंनिष्ठेयं धृतिर्मम ॥३८
अथ ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः ।
हन्त चित्त महत्तायां कैषा विश्वस्तता बत ॥३९
ते महाविभवाभोगास्ते सन्तः स्निग्धबान्धवाः ।
सर्वं स्मृतिपथं प्राप्तं वर्तमानेऽत्र का धृतिः ॥४०
क्व धनानि महीपानां ब्रह्मणः क्व जगन्ति वा ।
प्राक्तानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता मम ॥४१
कोटयो ब्रह्मणां याता गताः स्वर्गपरम्पराः ।
प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥४२

इस अपर्यन्त काल का कुछ भी थोड़ा सा अंश तक मेरा जीवन है उसमें भाव की निबन्धना करूँ। अधम चित्त वाले मुझको धिक्कार है ॥ ३६ ॥ यह राज्य और मेरा जीवन कितना भर है ? एक हतबुद्धि के समान ही इसमें इसके साथ व्यर्थ ही मेरी स्थिति रखना भी क्या है ? ॥ ३७ ॥ जो वस्तु तात्विक है रम्य—उदार—निर्दोष और अकाचित है वह इस जगत् में कुछ भी नहीं है। मेरी यह प्रीति क्या आलम्बन करने वाली है ? ॥ ३८ ॥ हे चित्त ! बड़े दुःख की बात है जो महान् पुरुषों के

मस्तक पर थे वे दिनों के द्वारा अधोभाग में निपतित हो रहे हैं। इस महत्ता में यह क्या विश्वस्तता है ?॥ ३९॥ वे महान् वैभव वाले भोग, वे परम स्नेह करने वाले बान्धव सभी स्मृति के मार्ग को प्राप्त हो गये हैं। यहाँ वर्तमान समय में क्या तेरी वीरता है ? ॥ ४०॥ महीपालों के वे धन-ऐश्वर्य कहाँ गये और ब्रह्मा के ये जगत् भी कहाँ चले गये हैं। ये सभी प्राकृत जो थे प्रयाण कर गये हैं। मेरी यह विश्वस्तता क्या है ? ॥ ४१॥ करोड़ों ब्रह्मा चले गये हैं और यह स्वर्ग की परम्पराऐं भी सब समाप्त हो गईं हैं। बड़े-बड़े भूपाल एक धूलि के कण के ही समान प्रयाण कर गये हैं। अब इस मेरे ही जीवन का क्या विश्वास है ? ॥ ४२॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे।
आस्थां चेदनुबध्नाति तन्ममास्तु धिगस्थितिम् ॥४३
अजस्रमुपयातास्ते यान्ति चाद्यापि वासराः।
अविनष्टैकसद्वस्तुदृष्टो नाद्यापि वासरः ॥४४
यन्मध्ये यच्च पर्यन्ते यच्चापाते मनोरमम्।
सर्वमेवापवित्रं तद्विनाशामेध्यदूषितम् ॥४५
श्वः श्वः पापीयसीमेव श्वः श्वः क्रूरतरामपि।
श्वः श्वः खेदकरीमेति दशामिह जडो जनः ॥४६
अज्ञानैकहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः।
शेषे कलत्रचिन्तार्थः किं करोतु कदा जडः ॥४७
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येऽप्यरम्यता।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥४८
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतां प्रलयोदयौ।
तादृशाः पुरुषाः सन्ति मादृशां गणनैव का ॥४९

यह संसार तमोमय होने से एक रात्रि के ही समान है वहाँ पर दुःस्वप्न के समान ही दुःखमय देहरूपी भ्रम है। इसमें यदि आस्था को बद्ध करता है तो मेरी इस स्थिति को धिक्कार है ॥ ४३॥ वे दिन निर॰

सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसावृक्षस्य मनो मूलमिति स्थितम् ।।५३
संकल्पमेव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तु ।
शोषयामि यथा शोषमेति संसारपादपः ।।५४
प्रवुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चौरो मयात्मनः ।
मनोनामेह हन्म्येनं मनसास्मि चिरं हतः ।।५५
एतावन्तमिमं कालं मनोमुक्ताफलं मम ।
अविद्धमासीदधुना विद्धं तु गुणमर्हति ।।५६

ये परम विचित्र सम्पदाऐं भी पुत्र के वियोग आदि दुःख से दुखी के चित्त से यदि सम्मत हैं तो महारम्भ वाली होती हैं। वे सम्पदाऐं भी महान् आपत्तियाँ ही हैं—मैं ऐसा ही मानता हूँ क्योंकि जब मन ही दुःखित होता है तो सभी कुछ असह्य ही हो जाता है ऐसा न्याय है ।। ५० ।। अत्यधिक विचित्र आपत्तियाँ भी यदि वे मन के सम्मत हैं अर्थात् महान् अभ्युदय के आरम्भ वाली हैं तो वे आफतें भी सम्पूर्ण सम्पदाओं के समान ही है—मैं ऐसा मानता हूं। यह संसार ही सभी दुःखों की सीमा का अन्त है ऐसा कहा जाया करता है। उसी संसार के मध्य में पड़े हुए देह में सुख किस तरह से प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से सुख मिल ही नहीं सकता है ।। ५०–५२ ।। जिस संसार में सहस्रों ही राग, द्वेष आदिक अंकुर हैं—पुत्र कलत्र आदि जिसकी अनेक शाखाऐं हैं। देह ही उसका तना है—सुख—दुःख जिसमें फल के समान हैं और इनके हेतु ही पल्लव हैं। ऐसे इस संसार रूपी वृक्ष के मूल में मन ही स्थित होता है। मनरूपी मूल पर ही यह संसार वृक्ष स्थित है ।। ५३ ।। उस मन का सङ्कल्प ही मुख्य है—ऐसा मैं मानता हूँ। उन सङ्कल्पों के उपशम के द्वारा ही मैं मन का शोषण करूँ तो यह संसार का विशाल वृक्ष स्वतः ही शोष को प्राप्त हो जायगा ।।५४।। मुझे पूर्ण प्रबोध हो गया है और अब मैं विवेकशील बन गया हूँ मैंने इस आत्म तत्व का चोर देख लिया अर्थात् भली भाँति समझ लिया है।

इस चोर का नाम मन है। मैं अब मन के द्वारा चिरकाल से आहत हो गया हूँ और इसी का मैं हनन करूँगा ॥ ५५ ॥ इतने लम्बे समय तक मेरा मनरूपी मुक्ताफल (मोती) अविद्ध था अर्थात् शिक्षा से रहित था। अब यह विद्ध होगया है अर्थात् सुशिक्षित बन गया है तो शम आदिक गुणों के पाने के योग्य हो जाता है ॥५६॥

विबुधैः साधुभिः सिद्धैरहं साधु प्रबोधितः ।
आत्मानमनुगच्छामि परमानन्दसाधनम् ॥५७
अयमहमिदमाततं ममेति स्फुरितमपास्य बलादसत्यमन्तः ।
रिपुमतिबलिनं मनो निहन्मि प्रशममुपैमि नमोऽस्तु ते विवेक ॥५८
इति संचिन्त्य जनकस्तूष्णीमेव बभूव ह ।
शान्तचापलचेतस्त्वालिलिपिकर्मापितोपमः ॥५९
तूष्णीमथ चिरं स्थित्वा जनको जनजीवनः ।
व्युत्थितश्चिन्तयामास मनसा शमशालिना ॥६०
किमुपादेयमस्तीह यत्नात्संसाधयामि किम् ।
यतः स्थिरस्य शुद्धस्य चितः का मेऽस्ति कल्पना ॥६१
नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं संप्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।
स्वच्छ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्तु तदस्तु मे ॥६२
इति संचिन्त्य जनको यथाप्राप्तक्रियामसौ ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा ॥६३

परम विद्वान् और महान् साधु सिद्धों के द्वारा मुझे भली भाँति प्रबोधित कर दिया गया है। अब मैं परमानन्द का साधन स्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसी का अनुगमन करता हूँ ॥ ५७ ॥ यह मैं हूँ और यह विस्तीर्ण वैभव मेरा है। स्फुरण का त्याग कर बलपूर्वक अन्तःकरण में असत्य अर्थात् अवास्तविक वस्तु में स्थिति करली है। ऐसे अत्यन्त बलवान् इस घोर शत्रु मन का ही मैं निहनन करता हूं मैं तभी उपशम को प्राप्त करूँगा। हे विवेक ! आपको मेरा नमस्कार है क्योंकि आपने ही मैं

मुझे प्रबुद्ध किया है ॥ ५८ ॥ महर्षि प्रवर वसिष्ठजी ने कहा—राजा जनक ने इस प्रकार से मन में चिन्तन करके फिर वह चुप ही हो गया था। शान्त चापल चित्त होने से लिपि कर्म के अर्पित के समान अर्थात् चित्रवत् स्थित हो गया था ॥ ५६ ॥ चिरकाल तक चुपचाप रहकर जनों का जीवन जनक विशेष रूप से उत्थित होकर शमशाली मन से उसने सोचा था ॥ ६० ॥ जनक ने कहा—यहाँ पर उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) क्या है जिसको मैं यत्नपूर्वक साधन करूँ। स्वतः ही शुद्ध और स्थिर सद्रूप मेरी क्या कल्पना है ? अर्थात् कुछ भी कल्पना करने के योग्य नहीं है ॥ ६१ ॥ जो प्राप्त नहीं है उसकी मैं वाञ्छा नहीं करता हूँ और जो स्वतः ही सम्प्राप्त है उसका त्याग नहीं करता हूँ। मैं अब स्वच्छ आत्म तत्त्व में स्थित रहूँगा जो भी मेरा है वह मेरा रहे ॥ ६२ ॥ महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार से जनक ने चिन्तन करके यह यथा प्राप्त क्रिया को करने के लिये आसक्ति से रहित होकर उठ खड़ा हो गया था जैसे दिनपति दिन को किया करता है ॥ ६३ ॥

भविष्यं नानुसंधत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवानुवर्तते ॥६४

स्वविचारवशेनैव तेन तामरसेक्षण ।
प्राप्तं प्राप्यमशेषेण राम नेतरयेहया ॥६५

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयैव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रिययान्यया ॥६६

य एव यत्नः क्रियते बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्तव्यः पूर्वं प्रज्ञाविवृद्धये ॥६७

सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥६८

चिन्तामणिरियं प्रज्ञा हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
फलं कल्पलतेवैषा चिन्तितं संप्रयच्छति ॥६६

विवेकिनमसंमूढं प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
दोषा न परिबाधन्ते संनद्धमिव सायकाः ॥७०
पिधानं परमार्कस्य जडात्मा विततोऽसितः ।
अहंकाराम्बुदो मत्तः प्रज्ञावातेन पात्यते ॥७१
पदमतुलमुपैतुमिच्छतोच्चैः प्रथममियं मतिरेव लालनीय ।
फलमभिलषता कृषीवलेन प्रथमतरं ननु कृष्यते धरैव ॥७२

यह भविष्य का अनुसन्धान नहीं किया करता है और जो व्यतीत हो चुका है उसकी भी कोई चिन्ता नहीं करता है। जो भी सामने वर्त्तमान है उसी क्षण का परम प्रसन्न होते हुए अनुवर्त्तन किया करता है। हे तामरस के समान नेत्रों वाले ! राम ! अपने ही विचारों के वश से उसने जो भी प्राप्त करने के योग्य है उसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया था। किसी अन्य क्रिया से प्राप्त नहीं किया था ॥ ६५ ॥ हे श्रीराम ! परम सुन्दर विवेकपूर्ण अपनी बुद्धि ही से और सहचारिणी प्रज्ञा से समुच्च पद प्राप्त कर लिया जाया करता है कोई अन्य क्रिया की आवश्यकता नहीं है ॥ ६६ ॥ मनुष्यों के द्वारा वाहिरी अर्थों के उपार्जन में जो प्रयत्न किया जाता है वैसा ही प्रयत्न सर्व प्रथम अपनी प्रज्ञा की वृद्धि के लिये करना चाहिए ॥ ६७ ॥ सभी प्रकार के दुःखों की सीमा और अनेक आपदाओं का उत्तम कोश तथा संसार रूपी वृक्ष का बीज प्रज्ञा की मन्दता ही है इसका विनाश करना चाहिए ॥ ६८ ॥ विवेकशील पुरुष के हृदय रूपी कोश में स्थित प्रज्ञा एक चिन्तामणि के ही समान है। कल्पलता के ही तुल्य इसका फल होता है जो भी चिन्तन किया गया है उसी को प्रदान किया करती है ॥ ६९ ॥ जो विवेकशील है और मूढ़ता से रहित है तथा प्राज्ञ है उसको आशाओं के समुदाय से समुत्थित दोष कुछ भी बाधा नहीं दिया करते हैं जिस तरह से सन्नद्ध पुरुष को सायक कुछ भी हानि नहीं कर सकते हैं ॥ ७० ॥ परम सूर्य का विधान यह जड़ात्मा असित फैला हुआ है। अहङ्कार का बादल बड़ा मत्त है किन्तु प्रज्ञा के वायु से इसका पातन कर दिया जाता है ॥७१॥ समुच्च पद पर

पहुँचने की इच्छा वाले पुरुष को सर्वप्रथम इसी प्रज्ञा का लालन करना चाहिये। फल की प्राप्ति की अभिलाषा वाले किसान के द्वारा सबसे पूर्व इस भूमि का कर्षण (जुताई) ही किया जाया करता है ॥ ७२ ॥

द्वितीय सर्ग

मुष्टयो मोहबीजानां दृष्टयो विविधापदाम् ।
कुदृष्टयः क्षयं यान्ति दृष्टे तस्मिन्परावरे ॥१
नित्यमन्तर्विचारस्य पश्यतश्चञ्चलं जगत् ।
जनकस्येव कालेन स्वयमात्मा प्रसीदति ॥२
न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः ।
शरणं भवभीतानां स्वप्रयत्नादृते नृणाम् ॥३
अयमेवाहमित्यस्मिन्संकोचे विलयं गते ।
समस्तभुवनव्यापी विस्तार उपजायते ॥४
अयमेवाहमित्यस्या निशाया उदिते क्षये ।
स्वयं सर्वगतः स्फारः स्वालोकः संप्रवर्तते ॥५
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम् ।
यदेतन्मनसो राम तं बन्धं विद्धि नेतरत् ॥६
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव ।
हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥७

महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—अब तक मैंने आकाश के फल के पात के ही समान अचानक सिद्धों की गीता के श्रवण करने से राजा जनक के चित्त की उपशान्ति बतलाई थी अब बीते हुए अनेक अनुस्मरण से आत्मा का अव बोध होने से भी चित्त का उपशम होता है यह पुण्य पावन आख्यान के द्वारा बतलाया जाता है। उस परावर के दर्शन होने पर बीज के अपाय के हेतु स्वरूप मुष्टियाँ अर्थात् कुञ्चित अंगुलियों वाले

कर–दर्शन के कारण स्वरूप दृष्टियाँ और कुदृष्टियाँ अर्थात् अनेक भ्रान्तियाँ सभी क्षय को प्राप्त होजाया करती हैं ।। १ ।। निश्चय ही अन्तःकरण के विचार से इस चञ्चल जगत् को देखने वाले पुरुष का कुछ काल में जनक की ही भाँति स्वयं ही आत्मा प्रसाद को प्राप्त होजाया करता है ।। २ ।। जो भव (संसार) से भीत पुरुष हैं उनकी रक्षा करने वाला न है नहीं होता है न कर्मों से ही रक्षण होता है तथा न धनैश्वर्य और बान्धव गण ही सुरक्षा करने में समर्थ होते हैं । उनकी रक्षा करने वाला उनका स्वयं किया हुआ प्रयत्न ही हुआ करता है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है जो भवभीति का निराकरण कर सके ।। ३ ।। यही मैं हूँ–इस प्रकार के संकुचित भाव के विलीन होजाने पर सम्पूर्ण विश्व का व्यापक विस्तार उत्पन्न होजाया करता है ।४। मैं इस देह की परिमिति वाला ही हूं इस तरह जो अहङ्कार की भावना है वही तमोमय होने से निशा है उस क्षय समुदित होने पर सबमें रहने वाला आत्म तत्त्व का ज्ञान अपने प्रकाश के स्वरूप वाला संप्रवृत्त होजाया करता है ।। ५ ।। यहाँ पर जो ग्रहण करने के योग्य है उस उपादेय का अनुपतन और जो हेय है त्यागने के योग्य है उसका विशेष रूप से त्याग हे श्रीराम ! यही मन की बन्ध है उसको भली भाँति समझ लो अन्य कुछ भी जानना आवश्यक नहीं है ।। ६ ।। जो हेय हैं उनमें कुछ भी खिन्नता का अनुभव मत करो और जो उपादेय हैं उनमें ही परम परायण मत होओ । हेयोपादेय की दृष्टि का त्याग करके समदृष्टि वाला होकर सुस्थिर रहो ।। ७ ।।

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ।।८
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता: ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ।।९
गृहीततृष्णाशफरवासनाजालमाविलम् ।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ।।१०

अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया।
वात्ययाम्बुदजालं च छित्त्वा तिष्ठ पदे तते ॥११

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम्।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥१२

तिष्ठन्गच्छन्स्वपञ्जाग्रन्निश्वसन्नुत्पतन्पतन्।
असदेवेदमित्यन्तर्निश्चित्यास्थां परित्यज ॥१३

मनः प्रकृत्यैव जडं चित्तत्वमनुधावति।
मांसगर्धेन मार्जारो वने मृगपतिं यथा ॥१४

जो समान दृष्टि वाले होते हैं उनके लिङ्ग भूत गुणों को बतलाते हुए कहते हैं कि निराशता यह मेरा होजावे ऐसी होने वाली विषय सम्बन्धी तृष्णा की निवृत्ति—निर्भयता समस्त प्राणियों को अभय देने से अपने भय की निवृत्ति—नित्यता देह के अतिरिक्त नित्य ही आत्म-तत्त्व की भावना—समता सबमें समानता के भाव की परिपूर्ण दृष्टि—ज्ञता अर्थात् ज्ञान की निष्ठा—निरीहता उपादेय वस्तु में भी अप्रवृत्ति—निष्क्रियता अर्थात् अनिष्ट वस्तु की भी अचिकित्सा—सौम्यता अर्थात् आह्लाद करना—निर्विकल्पता अर्थात् चित्त का एकाग्र होना—धृति चञ्चलता का अभाव—मैत्री सबके साथ मित्रता का भाव—मनस्तुष्टि यथा लाभ से ही परितोष का होना—मृदुता चित्त की अनिष्ठुरता—मृदुभाषिता प्रिय वचन बोलना—हेयोपादेय की निर्मुक्ति ये गुण ज्ञाता पुरुष में वासना रहित होकर स्थित रहा करते हैं ॥ ८।९ ॥ इस संसार नाम वाले जल में फंसा हुआ—चिन्ता रूपी तन्तुओं से यह बहुत विशाल है—तृष्णा रूपिणी ही मछलियां इसमें विद्यमान हैं यह संसार वासनाओं का एक जाल के ही समान है। जिससे यह बहुत ही अस्वच्छ है ॥ १० ॥ हे तात! परम तीक्ष्ण बुद्धि रूपिणी शलाका से इसका छेदन कर डालो वायु के द्वारा इस अम्बुदों के जाल को काटकर फिर विस्तृत पद पर स्थित होजाओ ॥ ११ ॥ मन के द्वारा ही इस मन का छेदन करो जैसे कुठार से किसी वृक्ष को काटा जाया करता है फिर परम पवित्र पद को

प्राप्त करके स्थिर होजाओ ॥१२॥ स्थित रहते हुए—गमन करते हुए—सोते हुए—जागते हुए—श्वास लेते हुए—ऊपर जाते हुए—नीचे गमन करते हुए ऐसा ही ध्यान रखना चाहिये कि यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् असत् ही है ऐसा निश्चय करके आस्था का पूर्णतया त्याग करदो ॥ १३ ॥ यह मन प्रकृति से जड़ है और चित्तत्व अर्थात् चित्स्वरूप का अनुधावन किया करता है जिस तरह मांसगंध से वन में मृगपति का मार्जार अनुधावन किया करता है ॥१४॥

सिंहवीर्यवशाल्लब्धं मांसं भुङ्क्तेऽनुगो हरेः ।
संविद्वीर्यवशात्प्राप्तं दृश्यमाश्रयते मनः ॥१५
दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सचित्तोऽसि बन्धवान् ।
दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥१६
नाहं ज्ञेयमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलः सदा ।
अनन्ताकाशसंकाशहृदयो हृदयेश्वरे ॥१७
आत्मनो जतगश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे ।
दर्शनाख्ये स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव ॥१८
स्वाद्यस्वादसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ।
स्वादनान्तःस्थितं ध्यायन्नित्यमात्ममयो भव ॥१९
रागानुभवनीयस्य सदानुभवितुः स्वयम् ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्यं मध्ये स्थिरो भव ॥२०
एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वानहंभावशलाकयैव ।
स्वभावनां भाव्य भवान्तभूमौ भवाभिभूताखिलभूतभीतः॥२१

सिंह के पराक्रम के वश से प्राप्त मांस को सिंह का अनुगामी खाया करता है चित् की छाया की संक्रान्ति से विषयों के ग्रहण करने में यह मन समर्थ होजाता है। इस दृश्य प्रपञ्च का आश्रय ही सचित्तत्व और बन्धन का हेतु होता है। यदि इस दृश्य का त्याग कर देते हो वही अचित्तत्व होता है और मोक्ष का कारण भी बनता है ॥ १६ ॥ मैं ज्ञेय नहीं हूं—ऐसा ध्यान करते हुए अर्थात् आत्मा की अपरिच्छिन्नता तथा इस

जगत् का सत्त्व का ध्यान करते हुए एक पर्वत के ही समान स्थिर होकर अनन्त आकाश तुल्य निर्मल हृदय वाला हृदयवर में अर्थात् आत्म तत्त्व में स्थित रहो ॥१७॥ आत्मा और जगत् के मध्य में जो दर्शन है वह द्रष्टा और दृश्य की दशा के अन्तर में वर्तमान है। इन दोनों द्रष्टृ दशा तथा दृश्यदशा को प्राप्त कर चिन्मात्र स्वरूप से रहता है उस प्रकार का दर्शन स्वरूप अपनी आत्मा की सर्वदा भावना करते हुए स्थित रहो ॥१८॥ खाद्य रसनीय पान आदि और खादक रस ग्रहण करने वाला इन दोनों के मध्य में रहने वाले कर्तृ कर्मों से संत्यक्त केवल अनुपहित जो स्वादन है अर्थात् रसानुभव रूप वस्तु उसी का ध्यान करते हुए परमात्ममय हो जाओ ॥१९॥ अनुभव करने के योग्य कान्तादि के उपभोग का अनुभव करने वाले को कर्तृ कर्म भाव से असंसृष्ट मध्य अनुभव रूप का अवलम्बन कर मध्य में ही स्थिर हो जाओ ॥ २० ॥ अहंभावना से परिपूर्ण अपवित्र अपनी भावना का 'अहं नहीं हूँ'—ऐसी जो अहम्भावमयी शलाका है उससे छेदन करके प्रशान्त समस्त भूतों की भूति वाला होते हुए इस संसार से पार होजाओ ॥२१॥

अतिगम्भीरमेवैतद्भगवन्वचनं तव ।
यदहंकारतृष्णां त्वं मा गृहाणेति वक्षि माम् ।.२२
यद्यहंकारसंत्यागं करोमि तदिमं प्रभो ।
त्यजामि देहनामानं संनिवेशमशेषतः ॥२३
अहंकारक्षये देहः किलावश्यं विनश्यति ।
मूले क्रकचसंलूने सुमहानिव पादपः ॥२४
सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन ।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ध्येयो ज्ञेयश्च नामतः ॥२५
अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल ॥२६
इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥२७

अन्तःशीतलया बुद्धया कुर्वतो लीलया क्रिया। ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः ॥२८

श्री राघवेन्द्र जी ने कहा—हे भगवन् ! आपका यह वचन तो अत्यन्त गम्भीर है कि अहङ्कार की तृष्णा को तू मत ग्रहण कर—इसको मुझे स्पष्ट बतलाइये ॥२२॥ हे प्रभो ! इस सम्पूर्ण सन्निवेश देह नाम वाले का त्याग मैं करूँ तभी तो ऐसा हो सकता है ॥२३॥ अहङ्कार के क्षय हो जाने पर यह देह तो अवश्य ही विनष्ट हो जायगा जिस तरह से क्रकच (करौत) के द्वारा मूल के काट डालने पर वृक्ष गिर जाया करता है ॥२४॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—हे राजीव लोचन श्रीराम ! इसके ज्ञाताओं के द्वारा दो प्रकार का ध्येय और ज्ञेय नाम से कहा गया है ॥२५॥ आत्मा का देह आदि के साथ परस्पर सम्बन्ध अभिमान स्वरूप वाले अहङ्कार को विचार पूर्वक मन के साथ ही त्याग करके देहादि पदार्थ का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसी भावना हो जाने पर अर्थात् इनके बिना मैं कुछ भी नहीं हूँ और मेरे बिना ये भी कुछ नहीं हैं ॥२६।२७॥ अन्तःकरण में परम शीतल बुद्धि से लीला ही से क्रियाओं को करते हुए जो वासनाओं का त्याग है, हे श्रीराम ! वही ध्येय कहा जाया करता है ॥२८॥

सर्वं समस्तया बुद्धया यं कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥२९
अहंकारसखीं त्यक्त्वा वासनां लीलयेव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३०
निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः समं गतः ।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन ॥३१
द्वावेतौ राघव त्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ ॥३२
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥३३

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वस्तुदृष्टिषु ।
सुषुप्तवद्यश्चलति स मुक्त इति कथ्यते ॥३४
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते । ३५

सम्पूर्ण बुद्धि से जिस वासना के क्षय के करके ममता रहित होकर इस देह का त्याग करता है वासना के क्षय को ज्ञेय कहा गया है ॥२९॥ जो लीला ही से अहङ्कार रूपी सखी वासना का त्याग करके ध्येय संन्यासी स्थित रहता है वह जीवन्मुक्त कहा जाया करता है ॥३०॥ हे रघुनन्दन ! निर्मूल कलन्त वासना का त्याग कर जो साथ ही चला गया है उसको ज्ञेय त्याग से परिपूर्ण मुक्त ही जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ ये दो प्रकार के त्याग हे राघव ! समान रूप से मुक्ति पद में स्थित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मता को प्राप्त हुए हैं और ये दोनों ही विगत ज्वर वाले हैं ॥३२॥ समयानुसार ऊपर आ पड़ने वाले निरन्तर सुख दुःखों में जो न तो परम प्रसन्न होता है और जो न कभी ग्लानि ही किया करता है वह पुरुष मुक्त कहा जाया करता है ॥३३॥ इष्ट और अनिष्ट के दर्शनों में जिसका अन्तःकरण ईप्सित और अनीप्सित में नहीं है जो एक सोये हुए के ही समान चला करता है वह पुरुष मुक्त कहा जाता है ।३४। हर्ष—अमर्ष अर्थात् अक्षान्ति रूपिणी ईर्ष्या—क्रोध दूसरों के द्वारा तिरस्कार आदि से मन का जलना—अभिलाष और हीनता की दृष्टियों से जो अन्तःकरण परामृष्ट नहीं किया जाता है अर्थात् जिस मन पर इन उक्त गुणों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है वही पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाया करता है ॥३५॥

सुषुप्तवत्प्रशमितभाववृत्तिना स्थितं सदा जाग्रति तेन चेतसा ।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा मुदा निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृतः।
बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति राघव ।
सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति कथ्यते ॥३७

इदमस्तु ममेत्यन्तर्येषा राघव भावना ।
तां तृष्णा शृङ्खलां विद्धि कलनां च महामते ।।३८
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारपदमेति महामनाः ।।३९
बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ।
त्यक्त्वा सदसदास्थां च तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ।।४०
अन्यश्च राम मनसि पुरुषस्य विचारिणः ।
जायते निश्चयः साधो स्फाराकारश्चतुर्विधः ।।४१
आपादमस्तकमहं मातृपितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ।।४२

सोये हुए के समान प्रशान्त भावों की वृत्ति वाले उस चित्त के द्वारा स्थित होता हुआ सदा ही जाग्रत रहता है । कला सम्पन्न चन्द्रमा के तुल्य जो सदा प्रसन्नता से निषेवित हुआ करता है वही पुरुष मुक्त कहा गया है ।। ३६ ।। महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—हे राघव ! बाह्य पदार्थों में उद्भूत वासना से समुत्पन्न जो तृष्णा है वही बद्धा कही जाती है और सभी पदार्थों की वासना से उन्मुक्त तृष्णा मुक्ता कही जाया करती है ।। ३७ ।। हे महामते ! हे राघवेन्द्र ! यह मेरा है ऐसी जो अन्तःकरण में भावना विद्यमान रहा करती है उस तृष्णा को ही एक बाँधने वाली जञ्जीर के ही समान समझना चाहिए । अर्थात् वही तृष्णा संसार में बन्धन का हेतु हुआ करती है ।। ३८ ।। सम्पूर्ण भावों में जो सत् हों या असत् हों सर्वदा इस प्रकार की तृष्णा का त्याग करके महान् मन वाले पुरुष परम उदार पद को प्राप्त किया करते हैं ।। ३९ ।। क्षोभ से रहित महा सागर के ही समान बन्ध की आस्था—मोक्ष की आस्था और सत् एवं असत् में स्थित सुख-दुःख की दशा का भी त्याग करके स्थिति करो ।। ४० ।। हे श्रीराम ! हे साधो ! विवेकशील पुरुष के मन में एक अन्य भी निश्चय समुत्पन्न हुआ करता है जो बहुत ही स्फार आकार वाला

और चार प्रकार का हुआ करता है ॥ ४१ ॥ हे श्रीराम ! मैं पादों से लेकर मस्तक तक माता-पिता के द्वारा विनिर्मित किया गया हूँ यह भी एक प्रकार का निश्चय होता है जो असत् अवलोकन के कारण से बन्ध के ही लिए हुआ करता है ॥४२॥

अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥४३
जगज्जालपदार्थात्मा सर्वमेवाहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयोऽप्येवं मोक्षायैव रघूत्तम ॥४४
जगच्चासदिदं शून्यं शून्यव्योमसमं सदा ।
एवमेव चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धये ॥४५
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्तविलासिनः ॥४६
सर्वमात्माहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो याति ते मतिः ॥४७
शून्यं प्रकृतिमायेति ब्रह्मविज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥४८
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥४९

सम्पूर्ण भावों से परे रहने वाला परम सूक्ष्म बालों के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ—यह दूसरी प्रकार का निश्चय है जो कि सत्पुरुषों को हुआ करता है और मोक्ष के ही लिये होता है ॥ ४३ ॥ इस जगत् के जाल के पदार्थों का स्वरूप वाला सभी कुछ मैं अक्षय हूँ हे रघूत्तम ! यह तीसरा निश्चय हुआ करता है जो कि मोक्ष के ही लिये होता है ॥ ४४ ॥ यह सम्पूर्ण जगत् का प्रपञ्च असत् है और सदा शून्य व्योम के ही समान है । इस प्रकार से यह चौथा निश्चय भी मोक्ष की सिद्धि के लिये ही हुआ करता है ॥ ४५ ॥ इन चारों प्रकार के निश्चयों

सबसे प्रथम बताया गया है वह बन्ध के योग्य तृष्णा से युक्त होता है। अन्य पीछे वाले तीनों निश्चय शुद्ध तृष्णा वाले हैं स्वच्छ हैं और जीवन्मुक्त पुरुषों के विलास वाले होते हैं। ४६ ॥ हे महामते ! यह सभी कुछ जो दृष्टिगोचर होता है वह सभी मैं आत्मा ही हूं अर्थात् सब आत्मस्वरूप वाला ही है जो यह निश्चय है उसी को ग्रहण करो यह फिर तुमको कभी विषाद करने वाला नहीं होगा। ऐसी मेरी मति है ॥ ४७ ॥ आत्मा निराकार होने से शून्य है—परोक्ष होने से और जगत् का उपादान कारण होने से प्रकृति है—अनेक विक्षेपों का हेतु होने से यह माया है—बृंहण होने से अर्थात् परम विस्तृत और व्यापक होने से ही यह ब्रह्म है—विशुद्ध ज्ञान के रूप वाला होने से विज्ञान है—कल्याण रूप होने से शिव है—पूरक होने से पुरुष है—ईशता होने से ईशान है—इस प्रकार से यह आत्मा ही नित्य कहा जाया करता है ॥ ४८ ॥ द्वैत और अद्वैत इन दोनों के मेलन से इस जगत् के निर्माण की लीला है उससे इस प्रकार की परमात्ममयी चिच्छक्ति सर्वत्र अद्वैत ही है। सच्चिदानन्द आत्मा के स्वरूप का अविच्छेद होने से वह अभिन्न ही प्रकाशित हुआ करती है। विविध तरङ्गों की अद्भुतता होने पर भी समुद्र एक ही होता है। वहाँ पर कार्य-कारणों में कहीं पर द्वैत ही यह प्रतीत होता है जैसे गोमय (गोबर) से बिच्छू की उत्पत्ति होती है। कहीं पर सुवर्ण से कड़ा-कुण्डल मुकुट आदि के निर्माण से द्वैतभाव प्रकट होता है। कहीं पर क्षीर से दधि आदि के समान द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकट होते हैं ॥ ४९ ॥

आत्मीये परकीये वा सर्वस्मिन्नेव सर्वदा।
नष्टे चोपचिते कार्ये सुखदुःखे गृहाण मा ॥५०

सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥५१

समः शत्रौ च मित्रे च दयादाक्षिण्यसंयुतः।
प्राप्तकर्मकरो नित्यं संसारे नावसीदति ॥५२

नाभिनन्दति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
ईहितानीहितैर्मुक्त संसारे नावसीदति ॥५३
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥५४
पूर्णां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर राघव ॥५५
अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥५६
वहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता वहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥५७

अपने और पराये सभी में सर्वदा कार्य के विनष्ट हो जाने पर या उपचित होने पर कभी भी सुख–दुःख को ग्रहण मत करो ॥ ५० ॥ सबसे उच्च प्रतीत पद का अवलम्बन करने वाला—पूर्ण चन्द्र के समान शीतल आशय वाला उद्वेग से रहित और तुष्टता से शून्य पुरुष संसार में कभी दुःखित नहीं हुआ करता है ॥ ५१ ॥ जिसकी भावना शत्रु और मित्र में समान है और जो दया एवं दाक्षिण्य से समन्वित है जो समक्ष में प्राप्त कर्म है उसे ही करने वाला है ऐसा पुरुष इस संसार में अवसाद को प्राप्त नहीं हुआ करता है ॥ ५२ ॥ जो किसी भी पदार्थ का कभी अभिनन्दन नहीं किया करता है और न किसी भी वस्तु से द्वेप ही करता है । न किसी की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है और न किसी के लिये भी शोक या चिन्ता किया करता है । जो अभीप्सित और अनभीष्ट पदार्थों से छुटकारा पाया हुआ है वह इस संसार में रहते हुए भी कभी दुःखित नहीं हुआ करता है ॥ ५३ ॥ क्या ईहित है—इस प्रकार से जब प्रेरित हो तो सभी के अभिमत अर्थ का वचन वाला तथा परम कोमल वचनों के बोलने वाला तथा समस्त प्राणियों के आशय के ज्ञान रखने वाला पुरुष इस संसार में रहता हुआ भी कभी अवसन्न नहीं हुआ करता है ॥ ५४ ॥ हे राघव ! अहङ्कार रूपिणी वासना के त्याग से अर्थात् इस

ध्येय को छोड़ देने से परिस्फुरण करने वाली पूर्ण ब्रह्म दृष्टि को अवलम्ब करके जीवन्मुक्तता की अवस्था से परम स्वस्थ होकर संसार में विहार करो ॥ ५५ ॥ बाहिर में जो यह बनावटी कल्पित राग द्वेष आदि के विकार को त्याग कर अन्तःकरण में सभी आशाओं का परित्याग करके— वीतराग वाला और वासनाओं से रहित सबके साथ समान आचरण करने वाले होकर लोक में विहार करो। हृदय में सभी सरम्भों का त्याग कर निर्विकार होते हुए बाहिर से कर्त्ता होते हुए भी अन्तः-करण में अपने आपको अकर्त्ता समझते हुए ही संसार में विहर करो ॥ ५६—५७ ॥

त्यक्ताहंकृतिरासुममतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर राघव ॥५८
उदारपेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तः सर्वपरित्यागी लोके विहर राघव ॥५९
अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
बहिस्तप्तोन्तरा शीतो लोके विहर राघव ॥६०
अयं बन्धुः परश्चायमयं चाहमयं भवान् ।
इति मिथ्यादृशो राम विगलन्तु तवाधुना ॥६१
अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥६२

विविधजन्मशताहितसंभ्रमे जगति बन्धुरबन्धुरितीक्षणम् ।
भ्रमदशैव विभाति न वस्तुतस्त्रिभुवनं चिरबन्धुरबन्धवपि ।६३

हे राघव ! मन के दोषों को ग्रहण न कर और व्यावृत्ति के हेतु लाञ्छनों को छोड़कर अहङ्कार की भावना का परित्याग कर सोये हुए के समान मति वाले होकर आकाश के तुल्य शोभा वाले होते हुए इस संसार में विहार करो। ऐसा रहने पर कोई भी बाधा नहीं होगी भले ही इस संसार में रहो ॥ ५८ ॥ परम कोमल व्यवहार वाला सबके उत्तम

आचार का अनुवर्त्तन करते हुए अन्तःकरण में सभी का त्याग करने वाले होते हुए इस संसार में बिहार करो ॥ ५९ ॥ हे राघवेन्द्र ! अन्तःकरण में पूर्ण निराशा ग्रहण करके बाहिर से आशा के अनुकूल चेष्टाओं से सम्पन्न होकर बाहिर में तापयुक्त होते हुए भी अन्दर में परम शीतल रहकर इस संसार में भले ही खूब विहार करो कोई भी हानि नहीं होगी ॥ ६० ॥ हे श्रीराम ! इस समय में आपके हृदय से यह बन्धु है यह पराया है—यह मैं हूं और यह आप हैं ये सब मिथ्या विचार विनष्ट हो जाने चाहिए ॥ ६१ ॥ यह मेरा बन्धु है और यह मेरा भाई नहीं है—ऐसी गणना अर्थात् विचार छोटे हृदय वालों की ही हुआ करती है जो उदार चरित वाले पुरुष होते हैं उनके हृदय में तो सभी वसुधा पर रहने वाले कुटुम्बियों के ही समान हुआ करते हैं ॥ ६२ ॥ सुरः नर और तिर्यग् योनियों के सैकड़ों ही जन्मों के द्वारा सम्भ्रम से युक्त इस जगत् में मेरा बन्धु है और यह मेरा बन्धु नहीं है—ऐसा अवलोकन करना एक भ्रान्ति की दशा का ही स्फुरण हुआ करता है । वास्तव में विचार करने से अनेक जन्मों के भेद से बन्धु भी है और अबन्धु भी होता है क्योंकि जन्म के भेदों की अपेक्षा से बन्धुता आदि सम्बन्धों का कोई भी नियम नहीं है । वस्तुतः यह तीनों ही भुवन चिर बन्धु भी हैं और अबन्धु भी हैं ॥ ६३ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रात्रोस्त्रिपथगातीरे संवादं मुनिपुत्रयोः ॥६४
अस्त्यस्य जम्बूद्वीपस्य कस्मिंश्चिद्दिङ्निकुञ्जके ।
वनव्यूहमहोत्तंसो महेन्द्रो नाम पर्वतः ॥६५
तस्यैकदेशे वितते रत्नसानौ मनोरमे ।
आसीदभ्युदितज्ञानस्तपोराशिरुदारधीः ॥६६
मुनिर्दीर्घतपा नाम तपोमूर्तिरिवास्थितः ।
मुनेर्बभूवतुस्तस्य पुत्रौ द्वाविन्दुसुन्दरौ ॥६७

पुण्यपावननामानौ द्वौ कचाविव वाक्पतेः ।
स ताभ्यां सह पुत्राभ्यां चिरकालमुवास ह ॥६८

अथ काले तयोस्तस्य पुत्रयोर्ज्ञानवानभूत् ।
पुण्यनामा तयोर्ज्येष्ठो गुणज्येष्ठश्च राघव ॥६६

पावनोऽर्धप्रबुद्धोऽभूत्पूर्वसंध्याम्बुजं यथा ।
मौर्ख्यादतिगतोऽनाप्तपदो दोलामिवास्थितः ॥७०

इसी विषय में एक परम प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। दो मुनि के पुत्र भाइयों का त्रिपथगा भागीरथी गङ्गा के तट पर सम्वाद है ॥ ६४ ॥ इस जम्बूद्वीप के किसी भी दिशा के निकुञ्ज में वनों के समुदाय से महान् उत्तुंग एक महेन्द्र नाम वाला पर्वत है ॥ ६५॥ उस पर्वत के एक विस्तृत भाग में और परम सुन्दर रत्नों के शिखर पर एक अभ्युदित ज्ञान वाला—तपस्या की राशि—उदार बुद्धि वाला तप की मूर्त्ति के ही तुल्य अवस्थित दीर्घतपा नाम वाला मुनि था। उस मुनि के समान परम सुन्दर दो पुत्र हुए थे ॥ ६६—६७ ॥ पुण्य और पावन नाम वाले वे दोनों वाक्पति कच के समान ही स्थित थे। वह मुनि उन दोनों पुत्रों के साथ वहाँ पर चिरकाल तक निवास करता था ॥ ६८ ॥ हे राघवेन्द्र ! इसके अनन्तर समय के व्यतीत होने पर उसके उन दोनों पुत्रों में जो पुण्य नाम वाला ज्येष्ठ था वह गुणों में भी ज्येष्ठ था और ज्ञान वाला हुआ था ॥ ६६ ॥ पावन नाम वाला छोटा प्रभात सन्ध्या के समय में अम्बुज के ही समान आधा प्रबुद्ध था। मूढ़ता से अतिक्रान्त और ब्रह्मपद को नहीं प्राप्त करने वाला था और दोला के ही तुल्य समास्थित था ॥ ७० ॥

ततो वहत्यकलिते काले कलितकारणे ।
रतिमुत्सृज्य संसाराज्जराजर्जरजीवितः ॥७१

कलनापक्षिणीनीडं देहं दीर्घतपा मुनिः ।
जहौ गिरिगुहागेहे भारं वैवधिको यथा ॥७२

प्रशान्तकलनारम्भं चेत्यमुक्तचिदास्पदम् ।
पदं जगाम नीरागं पुष्पगन्ध इवाम्बरम् ॥७३

पितर्युपरते तस्मिन्नौर्ध्वदैहिककर्मणि ।
पुण्य एव स्थितोऽव्यग्रः पावनो दुःखमाययौ ॥७४

शोकोपहतचित्तोऽसौ भ्रमन्काननवीथिषु ।
ज्यायांसमनवेक्ष्यैव पावनो विललाप ह ॥७५

अथोर्ध्वदैहिकं कृत्वा पितुः परमधार्मिकः ।
आययौ विपिने पुण्यः पावनं शोकलालसम् ॥७६

किं पुत्र दृढतां शोकं नयस्यान्ध्यैककारणम् ।
पिता तव महाप्राज्ञ गतः प्रज्ञावतां वरः ॥७७

जन्म आदि के कारणों की प्रेरणा करने वाले काल के अकलित रूप से वहन करने पर संसार से रति का त्याग कर जरा से जर्जरित जीवन वाला हो गया था ॥ ७१ ॥ अहंकृति ही एक पक्षिणी है उसके नीड़ स्थानीय इस देह को दीर्घतपा मुनि ने गिरि की एक गुहा के भाग में भारों के वहन करने वाला जिस तरह अपने भार को छोड़ देता है उसी भाँति त्याग कर दिया था। जिसकी कलनाओं का आरम्भ अर्थात् बन्ध के हेतु स्वरूप सङ्कल्प आदि के आरम्भ प्रशान्त हो गये थे चेत्य से मुक्त चित् के आस्पद प्रतिष्ठ स्वरूप रागादि से रहित कैवल्य को प्राप्त हो गया था जैसे मुकुल बन्ध से निकला हुआ गन्ध अम्बर में व्याप्त हो जाया करता है ॥ ७३ ॥ पिता के उपरत हो जाने पर उसके और्ध्व दैहिक कर्म में अर्थात् देह के समाप्त हो जाने पर किये जाने वाले शास्त्रोक्त कर्म के विधान में वह पुण्य नाम वाला ही अव्यग्र होकर स्थित हुआ था और जो छोटा पावन था वह बहुत ही दुःखित हो गया था ॥ ७४ ॥ शोक से उपहत चित्त वाला यह वन की वीथियों में भ्रमण करता हुआ अपने बड़े भाई का अवेक्षण न करता हुआ ही वह पावन विलाप किया करता था ॥ ७५ ॥ इसके अनन्तर पिता की और्ध्व दैहिक क्रिया को समाप्त करके परम धार्मिक वह पुण्य नामधारी विपिन में शोक से

विपन्न पावन के समीप में आया था ॥ ७६ ॥ पुण्य ने कहा—हे पुत्र ! अन्धता का कारण स्वरूप इस शोक को इतना सुदृढ़ क्यों बना रहे हो आपके पिताजी तो महान् मनीषी थे जो प्रज्ञावानों में परम श्रेष्ठ माने गये थे ॥ ७७ ॥

स्वामेव परमामात्मपदवीं मोक्षनामिकाम् ।
स्वभावमभिसंपन्ने किं पितर्यनुशोचसि ॥७८
मातापितृसहस्राणि समतीतानि ते सुत ।
पुत्रबान्धववृन्दानि जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥७६
शोचनीया यदि स्नेहान्मातापितृसुताः सुत ।
तदतीता न शोच्यन्ते मिमजस्रं सहस्रशः ॥८०
अज्ञानविस्तीर्णमरौ विलोलं शुभाशुभस्पन्दमयैस्तरङ्गैः।
स्ववासनातापमरीचिवारि परिस्फुरत्येतदनन्तरूपम् ॥८१
बन्धुमित्रसुतस्नेहद्वेषमोहदशामयः ।
स्वसंज्ञामत्रकेणैव प्रपञ्चोऽयं वितन्यते ॥८२
बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः ।
विषामृतदशेवेह स्थितिर्भावनिबन्धिनी ॥८३
एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलात्मनः ।
अयं बन्धुः परश्चायमित्येषा कलना कुतः ॥८४

अपनी ही मोक्ष नाम वाली परमात्म पदवी को प्राप्त करो। स्वभाव को अभिसम्पन्न हुए पिताजी के मरने पर क्यों अनुताप कर रहे हो ? ॥७८॥ हे सुत ! तेरे सहस्रों माता-पिता हो चुके हैं। इस जीव के जन्म-जन्म में अनेक पुत्र और बान्धवों के गण हुआ करते हैं ॥७९॥ हे सुत ! यदि स्नेह के वशीभूत होकर माता-पिता और पुत्रों की चिन्ता की जावे तो जो व्यतीत हो चुके हैं उन सहस्रों की कहां तक निरन्तर चिन्ता की जाती है ॥ ८० ॥ यह अज्ञान ही एक विस्तीर्ण मरुस्थल है उसमें स्वकीय वासना की सन्ताप ही मरीचि जल है अर्थात् अपनी वासना के ही

आतप से कल्पना किया हुआ मरीचि का जल है। यह शुभ और अशुभ स्पन्दमय तरङ्गों से अनन्त स्वरूप वाला होता हुआ स्फुरित हुआ करता है ॥८१॥ बन्धु मित्र और पुत्र का स्नेह तथा द्वेष और मोह की दशा से परिपूर्ण स्वसंज्ञा मात्र से ही यह प्रपञ्च विस्तृत हुआ करता है ॥८२॥ बन्धु की भावना से युक्त होता हुआ बन्धु होजाता है और जो पराया होने की भावना से युक्त होता है तो वही पर होजाया करते हैं। विष और अमृत की दशा की तरह ही यहाँ पर संसार में भाव के निबन्धन वाली स्थिति है ॥८३॥ एकत्व में विद्यमान अर्थात् एक रूप में स्थित—सबमें व्याप्त आत्मा के यह बन्धु है और यह पराया है—ऐसी कल्पना क्यों की जाया करती है ॥८४॥

रक्तमांसादिसंघाताद्देहादेवास्थिपञ्जरात्।
कोऽहं स्यामिति चित्तेन स्वयं पुत्र विचारय ॥८५
दृष्ट्या तु पारमार्थिक्या न कश्चित्त्वं न चाप्यहम्।
मिथ्याज्ञानमिदं पुण्यः पावनश्चेति वल्गति ॥८६
बभूवुस्ते सुपुण्यासु स्थलीषु मृगयोनिषु।
बहवो बन्धवो भागास्तान्कथं नानुशोचसि ॥८७
बभूवुस्ते महाभ्रेषु शिखरेषु महीभृताम्।
बहवो बान्धवाः सिंहाः किं तानपि न शोचसि ॥८८
बभूवाथ दशार्णेषु कपिलो वनवानरः।
राजपुत्रस्तुपारेषु पुण्ड्रेषु वनवायसः ॥८९
हैहयेषु च मातङ्गस्त्रिगर्तेष्वथ गर्दभः।
शाल्वेषु सरमापुत्रः पतत्री सरलद्रुमे ॥९०
एतास्वन्यासु चान्यासु बह्वीषु जनयोनिषु।
जातोऽसि जम्बूद्वीपेऽस्मिन्पुरा शतसहस्रशः ॥९१
अनन्ताः पितरो यान्ति यान्त्यनन्ताश्च मातरः।
इह संसारिणां पुंसां वने पादपपर्णवत् ॥९२

रुधिर और मांस आदि का संघात स्वरूप अस्थियों के पञ्जर

याले देह से ही मैं कौन हूँ हे पुत्र ! यह बात अपने चित्त से स्वयं विचार करो ॥८५॥ इस जगत् में परमार्थिकी दृष्टि का अवलम्बन करो । पर्यालोचना में पुत्र या पारमार्थिकी दृष्टि से परामर्श करने पर तू भी कोई नहीं है और मैं भी कुछ नहीं है । पुण्य और पावन इस प्रकार का स्फुरण सब मिथ्याभूत ज्ञान ही है । तू पावन है और मैं पुण्य हूँ यह मिथ्या ज्ञान से ही कल्पित है अतएव भ्रान्ति ही है । ॥८६॥ वे सब सुपुण्यमयी स्थितियों में मृगयोनियों में होगये थे । बहुत से बन्धु तो मृगों के सम्बन्धी हैं तुम उनका अनुशोच क्यों नहीं करते हो ? ॥ ८७ ॥ महान् अभ्रों वाले पर्वतों के शिखरों में बहुत से तुम्हारे ही बन्धुगण सिंह हुए थे उनकी भी चिन्ता क्यों नहीं करते हो ? ॥ ८८ ॥ एक राजपुत्र तुषार पुण्ड्रों में वन का कौआ हुआ था—हैहयों में मातङ्ग हुआ और त्रिगर्त्तों में गधा हुआ था । शाल्वों में सरमा का पुत्र हुआ था और सालद्रुम में पक्षी हुआ था । ॥८९।९०॥ इन बहुत-सी अन्य जन योनियों में इस जम्बूद्वीप में पहिले सैकड़ों और सहस्रों बार समुत्पन्न हुआ था । उसके अनन्त पिता हुए और अगणित माताऐं हुईं थीं । इस संसार में समुत्पन्न होने वाले पुरुषों की वन में वृक्ष के पत्तों की तरह ही उत्पत्ति हुआ करती है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

भावाभावविनिर्मुक्त जरामरणवर्जितम् ।
संस्मरात्मानमव्यग्रो मा विमूढमतिर्भव ॥९३

सर्वेषणामयकलङ्कविवर्जितेन
स्वच्छात्मभावकलितेन हृदब्जमध्ये ।
पुत्रात्मनात्मनि महामतिनामुनैव
संत्यज्य सभ्रममलं परितोषमेहि ॥९४

एवं प्रबोधितस्तेन तदा पुण्येन पावनः ।
प्रबोधमाप प्राकाश्यं प्रभाते इव भूतलम् ॥९५
उभावपि ततः सिद्धौ ज्ञानविज्ञानपारगौ ।
विचेरतुर्वने तस्मिन्यथावदित्यमनिन्दितौ ॥९६

एवं प्राग्भुक्तदेहानामनन्ता जनबन्धुजाः ।
किमाशा गृह्यते ताभ्यः किं वा किं वा संत्यज्यतेऽनघ ॥९७
चिन्तनेनैधते चिन्ता त्विन्धनेनेव पावकः ।
नश्चयत्यचिन्तनेनैव विनेन्धनमिवानलः ॥९८

भाव और अभाव से विनिर्मुक्त—जरा तथा मरण से रहित इस संसारात्मा में विमूढ़ मति अव्यग्र होकर मत होओ ॥९३॥ सब प्रकार की पुत्र कलत्र आदि के विषयों की एषणा (इच्छा) रूप जो कलङ्क उससे वर्जित हृदय कमल में हे पुत्र ! इस अपनी आत्मा से जो महामति से युक्त है आत्मा में सम्पूर्ण सम्भ्रम का त्याग करके पूर्णतया परितोष को प्राप्त करो ॥ ९४ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस समय में इस प्रकार से उस पुण्य नाम वाले बड़े भाई के द्वारा पावन छोटा भाई प्रबोधित किया गया था और उसने प्रातःकाल में भूमण्डल की भाँति ही प्रकाश को प्राप्त कर लिया था ॥९५॥ इसके अनन्तर वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञान में पारगामी सिद्ध होगये थे । जब तक यह देह धारण किया था वे दोनों परम आनन्दित होते हुए उस वन में विचरण किया करते थे ॥९६॥ इस तरह से पूर्व जन्मों में अनुभूत इस देह के सम्बन्ध रखने वाले बन्धुजन अनन्त हुए हैं बुद्धि प्रदान करने के लिए वह पुण्य छोटे भाई पावन से पूछता है कि क्या उनसे कुछ आशाऐं ग्रहण करना या उनका त्याग करना युक्त है ? अर्थात् हे अनघ ! इन सबका त्याग ही करना उचित है ॥ ९७ ॥ इन इष्ट अर्थों का बारम्बार अनुस्मरण करना ही चिन्ता है—कैसे मेरे इष्टों की सिद्धि हो—ऐसा विचार ही चिन्ता का स्वरूप होता है—ऐसी चिन्ता करने ही से यह और भी अधिक बढ़ जाया करती है जैसे ईंधन से अग्नि प्रज्वलित होती है । और चिन्तन का एक दम त्याग कर देने से बिना ईंधन के अग्नि की ही भाँति यह चिन्ता विनष्ट हो जाया करती है ॥९८॥

ध्येयत्यागरयारूढः करुणोदारया दृशा ।
लोकमालोकयन्दीनमातिष्ठोत्तिष्ठ राघव ॥९९

एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वस्था निःकामा विगतामया ।
एनां प्राप्य महाबाहो विमूढोऽपि न मुह्यति ॥१००
एकं विवेक सुहृदमेकां प्रौढसखीं धियम् ।
आदाय विहरन्नेवं संकल्पेषु न मुह्यति ॥१०१
विनिवारितसर्वार्थादपहस्तितबान्धवात् ।
न स्वधैर्यादृते किंचिदभ्युद्धरति संकटात् ॥१०२
वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वमेवोन्नमयेन्मनः ॥१०३
न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोशाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद्यन्महत्त्वोपबृंहितात् ॥१०४
पूर्णे मनसि संपूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥१०५

हे राघव ! ध्येय के त्याग रूपी रथ पर समारूढ़ होकर करुण और अत्युदार दृष्टि से इस तीन लोक को देखते हुए जीवन्मुक्ति के लिये उद्यम करो ॥ ९९ ॥ यही परम स्वस्थ-निष्काम और विगत आमय वाली ब्राह्मी स्थिति है । हे महाबाहुओं वाले ! इसी को प्राप्ति करके इस जगत् में महान् विमूढ़ भी मोह को प्राप्त नहीं होता है ॥ १०० ॥ इस प्रकार से विवेक रूपी सुहृत् और एक प्रौढ़ सखी बुद्धि को लेकर संसार में विहार करता हुआ भी सङ्कल्पों में मोह को प्राप्त नहीं हुआ करता है ॥१०१॥ सम्पूर्ण अर्थों को अर्थात् सब सांसारिक प्रयोजनों को विशेष रूप से निवारण कर देने वाले तथा सब बान्धवों को अपसारित कर देने वाले धैर्य के बिना अर्थात् विवेकमय वैराग्य के बिना इस संसार के सङ्कट से उद्धार को प्राप्त नहीं हुआ करता है ॥ १०२ ॥ इस संसार की निवृत्ति के लिए वैराग्य आदि साधनों के द्वारा तथा शास्त्रों की उपासना से प्रयत्नपूर्वक स्वयं ही अपने मन को उन्नत अर्थात् संकल्पों से रहित करो ॥१०३॥ महत्त्व आदि गुणों से उन्नत किये हुए चित्त से जो कैवल्य स्वरूप फल प्राप्त किया जा सकता है वह तीनों भुवनों के ऐश्वर्य

तथा रत्नों से भरे-पूरे कोश से भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।१०४। मन के पूर्णतया सन्तुष्ट होने पर यह सम्पूर्ण जगत् अमृत रस से परिपूर्ण होता हुआ सुख के लिए हो जाता है जिस तरह जूतों से गूढ़ पैरों वाले के लिए यह समस्त भूमण्डल ही चर्म से आवृत दिखलाई दिया करता है ।।१०५।।

वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशावशानुगम् ।
आशया रिक्ततामेति शरदीव सरोजलम् ।।१०६
हृदयं शून्यतामेति प्रकटीकृतकोटरम् ।
अगस्त्यपीतार्णववदाशाविवशचेतसाम् ।।१०७
न तथा भाति पूर्णेन्दुन पूर्णः क्षीरसागरः ।
न लक्ष्मीवदनं कान्तं स्पृहाहीनं यथा मनः ।।१०८
यथाभ्रलेखा शशिनं सुधालेपं मषी यथा ।
दूषयत्येवमेवान्तर्नरमाशापिशाचिका ।।१०९
प्रशमितसकलैषणो महात्मा भव भवबन्ध मपास्य मुक्तचित्तः ।
मनसि निगडरज्जवः कदाशाः परिगलितासु च तासु को न मुक्तः ।।११०

सांसारिक समस्त विषयों में वैराग्य से ही यह मन पूर्णता को प्राप्त होता है और आशाओं के वश में पड़कर उन्हीं के पीछे चलने वाला मन कभी भी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ करता है। आशाओं के करने से तो यह रिक्त हो जाया करता है जैसे शरत्काल में सरोवरों का जल खाली हो जाया करता है ।।१०६।। जिस हृदय ने तृष्णा के अतिशय का प्रकाशन किया है वह शून्यता को प्राप्त हो जाता है। जो आशाओं के जाल में विविश चित्त वाले पुरुष हैं उनका मन अगस्त्य के द्वारा पीये हुए समुद्र की ही भाँति होता है ।। १०७ ।। पूर्ण चन्द्र आदि की क्षय और वृद्धि होने के कारण से शोभा अनित्य ही हुआ करती है न तो पूर्ण चन्द्र और पूर्ण क्षीर सागर ही शोभा प्राप्त करता है तथा परम कान्त लक्ष्मी का मुख भी वैसा शोभित नहीं होता है जैसा स्पृहाओं से रहित मन हुआ करता है ।। १०८ ।। जिस तरह से मेघों की रेखा चन्द्रमा को

और चूर्णादि के लेप को स्याही दूषित कर देती है उसी भाँति यह आशा पिशाचिनी मनुष्य के अन्तःकरण को दोषयुक्त कर दिया करती है।१०९। समस्त एषणाओं को प्रशान्त कर देने वाले महात्मा इस सांसारिक वन्धन को हटाकर मुक्त चित्त वाले हो जाओ। मन में वर्तमान पुत्र कलत्र आदि के स्वरूप वाली कुत्सित आशाऐं ही रस्सी के समान वन्धन का हेतु हुआ करती हैं। इसलिए उन बुरी अनेक सांसारिक आशाओं के गलित हो जाने पर कौन नहीं मुक्ति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सभी मुक्त होजाया करते हैं॥११०॥

~~~

तृतीय सर्ग

अयवा रघुवंशाख्यनभःपूर्णनिशाकर।
वलिवद्बुद्धिभेदेन ज्ञानमासादयामलम् ॥१
वलिवज्ज्ञानसंप्राप्ति पुनर्मंद्बोधवृद्धये।
विभो कथय खिद्यन्ते सन्तो नावनतं प्रति ॥२
अस्त्यस्मिञ्जगतः कोशे कस्मिंश्चिद्दिङ्निकुञ्जके।
पातालमिति विख्यातो लोको भूमेरधः स्थितः ॥३
तस्मिन्नसरदोःस्तम्भधार्यमाणमहाम्बरे।
बभूव दानवो राजा विरोचनसुतो बलिः ॥४
लीलानिर्जितनिःशेषभुवना भोगभूषणः।
दशकोटीः स वर्षाणां दैत्यराज्यं चकार ह ॥५
अथ गच्छत्स्वनल्पेषु युगेष्वावर्तवृत्तिषु।
सुरासुरमहौघेषु प्रोत्पतत्सु पतत्सु च ॥६
अजस्रमुपभुक्तेषु त्रैलोक्योदरवर्तिषु।
भोगेष्वभजदुद्वेगं बलिर्दानवनायकः ॥७

महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—हे रघुवंश रूपी नभोमण्डल के पूर्ण चन्द्र ! अथवा राजा वलि के ही समान बुद्धि के भेद के द्वारा इस अमल
~~~

ज्ञान की प्राप्ति करो। पहिले अतीत अनेक जन्मों के अनुस्मरण से अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके ही इस चित्त की उपशान्ति हुआ करती है यह बतलाया गया था अब पुण्यों के प्रकर्ष से यह विषयों का सुख भी चित्त की उपशान्ति करने वाला हो जाया करता है यही बात राजा बलि के उपाख्यान द्वारा समझायी जाती है ॥१॥ श्रीराम ने कहा—हे विभो! मेरे ज्ञान की वृद्धि के लिए पुनः बलि के समान ज्ञान की सम्प्राप्ति बतलाइए। सन्त पुरुष अवनत को ज्ञान प्रदान करने में कभी भी खिन्नता का अनुभव नहीं किया करते हैं ॥ २ ॥ श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस जगत् के किसी दिशा के निकुञ्जकोश में भूमि से नीचे स्थित पाताल लोक परम विख्यात है ॥ ३ ॥ उस लोक में असुरों की भुजारूपी स्तम्भों के द्वारा महान् भार को धारण करने वाले में विरोचन का पुत्र राजा बलि दानव हुआ था ॥ ४ ॥ वह राजा ऐसा था जिसने अपनी लीला से सभी भुवनों के लोगों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उस दानव ने दश करोड़ वर्ष तक दैत्यराज्य किया था ॥ ५ ॥ भौंरे के समान वृत्ति वाले बहुत से युगों के व्यतीत हो जाने पर और सुर तथा असुरों के महान् समुदायों के उत्थान और पतन होने पर निरन्तर त्रैलोक्य में होने वाले भोगों के उपभुक्त कर लेने पर उस दानवों के नायक बलि ने उन भोगों में अरुचि प्राप्त करली थी अर्थात् बहुत-से विषयों को भोगते हुए ही उन भोगों में उसकी अभिरुचि एकदम समाप्त हो गई थी ॥ ६—७ ॥

एकदा चिन्तयामास प्रासादशिखरस्थितः।
महता मम राज्येन त्रैलोक्याद्भुतकारिणा ॥८
किं वा भावति भुक्तेन भूरिभोगातिभारिणा।
आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिच्युतम्।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥९
पुनरालिङ्ग्यते कान्ता पुनरेव च भुज्यते।
सेयं शिशुजनक्रीडा लज्जायै महतामिह ॥१०

तमेव भुक्तरविसं व्यापारौघं पुनःपुनः ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते । ११
पुनर्दिनं पुना रात्रिः पुनः कार्यपरम्परा ।
पुनःपुनरहं मन्ये प्राज्ञस्येयं विडम्बना ।।१२
कृतयाप्यनया नित्यं क्रियया कृतकार्यया ।
कोऽर्थः स्यात्तादृशो येन पुनः कर्म न विद्यते ।।१३
भोगादृते किमन्यत्तत्स्याद्द्रव्यमविनाशि यत् ।
एतत्संचिन्तयाम्याशु दध्यौ मत्वेत्यसौ बलिः ।।१४

एक बार अपने महत्व के शिखर के ऊपर स्थित होते हुए उसने विचार किया था कि त्रैलोक्य में अतीव अद्भुत इस परम विशाल राज्य तथा इसके सुखों के उपभोगों से जो अत्यधिक भोगों के अत्यन्त भार वाले हैं मुझे क्या होगा अर्थात् मेरा क्या कल्याण हो सकता है । यह सभी भोगोपभोग आरम्भ में अति मधुर प्रतीत हुआ करता है । इसका अन्त में परिक्षय निश्चित ही है । क्या इन भोगों का उपभोग करना ही केवल मुझे कुछ सुख प्रदान करने वाला है ।। ८, ६ ।। पुनः पुनः अपनी कान्ता का आलिङ्गन किया जाता है और बारम्बार उसका उपभोग भी किया जाता है । यह एक छोटे बच्चों की क्रीड़ा जैसी ही बात है किन्तु जो महान् विवेकशील पुरुष हैं उनके लिये यह परम लज्जा की ही बात है ।। १० ।। उन्हीं भोगे हुए व्यापारों के समुदाय को जिसमें भोगते-भोगते विरसता भी आ जाती है फिर भी दिन प्रति दिन भोगने की प्रवृत्ति रखने वाला विद्वान् पुरुष लज्जित क्यों नहीं होता है । पुनः पुनः उन्हीं भोगे हुए भोगों में प्रवृत्ति का होना प्राज्ञ पुरुष की एक विडम्बना ही मात्र है—ऐसा मैं मानता हूं ।। ११ ।। ये दिन और रातें बारम्बार आती हैं और यह सांसारिक कार्यों की परम्परायें भी उसी भांति मानव-जीवन में चलती रहा करती हैं । एक प्राज्ञ पुरुष के लिये यह बड़ी भारी विडम्बना ही है—ऐसा मैं मानता हूं ।। १२ ।। प्रयोजन सिद्धि के लिये

की हुई भी इस क्रिया से उस प्रकार का कौन सा अर्थ होता है जिसके करने से पुनः यह कर्म न होवे। इस कृत कृत्यता का हेतु कोई भी क्रिया नहीं है ॥ १३ ॥ भोगरूप विषय सुख को छोड़कर जो अन्य अविनाशी द्रव्य क्या है मैं इसी बात की चिन्ता कर रहा हूं ऐसा मानकर वलि ने ध्यान किया था ॥ १४ ॥

अथाभ्युवाचासुरराट् आः संस्मृतमिति क्षणात्।
स्वात्मन्येव मनस्यर्थं सभ्रूभङ्गं निवेशयन् ॥१५
पुरा किलेह भगवान्पृष्टोऽभूत्स विरोचनः।
पिता मयात्मतत्त्वज्ञो दृष्टलोकपरावरः ॥१६
पितः सकलदुःखानां सुखानां च महामते।
यत्र सर्वे भ्रमाः शान्ताः कोऽसौ सीमान्त उच्यताम्॥१७
क्वोपशान्तो मनोमोहः क्वातीताः सकलैषणाः।
विरागरहितं कुत्र तात विश्रमणं चिरम् ॥१८
यत्रातिविततानन्दसुन्दरं किंचिदेव मे।
तादवकथय तत्रस्थश्चिरं विश्रान्तिमेम्यहम् ॥१९
अस्ति पुत्रातिविततो देशो विपुलकोटरः।
त्रैलोक्यानां सहस्राणि यत्र मान्ति वहून्यपि ॥२०

इसके अनन्तर एक क्षण में वलि सुरों का राजा बोला—आः संस्मरण कर लिया है कि मैंने जो अर्थ विचारा है वह भ्रूभङ्ग के सहित अपनी बुद्धि में ही विशिष्ट है ॥ १५ ॥ पहिले मैंने भगवान् से पूछा था—हे पिताजी आप तो आत्म तत्त्व के ज्ञाता हैं और अपने लोक के पर-अवर को देख लिया है। हे पिताजी ! आप महामति वाले हैं—यह वताइये इन सुखों का और दुःखों का जिनमें सभी भ्रम विद्यमान हैं वह कौन सा उपाय है जिससे यह शान्त हो जावें। उस सीमा के अन्त को वताइये ॥ १६, १७ ॥ मन का मोह कहाँ उपशान्त होता है और ये सब एषणाऐं कहाँ पर समाप्त होती हैं ? हे तात ! विराग से रहित चिर मथाम इस जीवात्मा को मिलता है ? ॥ १८ ॥ जहाँ पर अत्यन्त विस्तृत

आनन्द से सुन्दर हो ऐसा ही स्थल मुझे कोई बतलाइये। वहाँ पर रह कर मैं चिरकाल तक विश्रान्ति प्राप्त करूँगा ॥ १६ ॥ मेरे पिताजी ने कहा—हे पुत्र ! एक विस्तृत कोटर वाला अत्यन्त विशाल देश है वहाँ पर इस त्रिलोकी से सहस्रों ही बहुत से समाविष्ट हो जाया करते हैं ॥ २० ॥

यत्र पृथ्वी न आकाशं सागरा न च नाद्रयः।
न वनानि न तीर्थानि न नद्यो न सरांसि च ॥२१
एक एवास्ति सुमहांस्तत्र राजा महाद्युतिः।
सर्वकृत्सर्वगः सर्वः स च तूष्णीं व्यवस्थितः ॥२२
तेन संकल्पितो मन्त्री सर्वतो मन्त्रणोन्मुखम् ।
अघटं घटयत्याशु घटं विघटयत्यलम् ॥२३
भोक्तुं न किंचिच्छक्नोति न च जानाति किंचन।
राज्यार्थं केवलं सर्वं करोत्यविरतोदयम् ॥२४
स एव सर्वकार्यैककर्ता तस्य महीपतेः।
राजा केवलमेकान्ते स्वस्थ एवावतिष्ठति ॥२५
आधिव्याधिविनिर्मुक्तः कः देशो महामते।
कथमासाद्यते वापि केन वाधिगतः प्रभो ॥२६
कः स तादृग्विधो मन्त्री राजा वापि महाबलः।
हेलालूनजगज्जालैर्योऽस्माभिरपि नो जितः ॥२७
स तत्र मन्त्री बलवान्देवासुरगणैः सुत ।
समेतैर्लक्षगुणितैरपि नाक्रम्यते मनाक् ॥२८

न वह पृथ्वी है—न आकाश है—न सागर ही हैं—न पहाड़ हैं—न वन है—न तीर्थ हैं—न नदियाँ हैं—न सरोवर ही हैं। वहाँ पर एक ही महान् महाद्युति सम्पन्न राजा है। वह सभी कुछ करने वाला है—सर्वत्र व्यापक और सर्वेश्वर है। और वह वहाँ पर चुपचाप समवस्थित है ॥२१,२२॥ उसके द्वारा सभी ओर को मन्त्रणाओं को देने वाला एक मन्त्र सङ्कल्पित किया था जो न घटित होने वाली घटनाओं को कर

देवे और शीघ्र ही घटित होने वाली क्रिया को अघटित बना देवे और पूर्ण समर्थ हो ॥ २३ ॥ वह कुछ खा नहीं सकता है और कुछ भी नहीं जानता है यह सभी कुछ निरन्तर केवल राज्य के ही लिये करता है ॥ २४ ॥ वही मन्त्री उस राजा के सभी कार्यों का एक ही करने वाला था। राजा तो केवल एकान्त में स्वस्थ होकर अवस्थित रहा करता था ॥ २५ ॥ राजा बलि ने अपने पिताजी से कहा—हे महामते ! हे प्रभो ! आधि और व्याधि से रहित वह कौन सा देश है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है अब तक किसने प्राप्त किया है ? ॥ २६ ॥ वह उस प्रकार का कौन है और महान् बलवान् यह राजा भी कौन है। हेला ही से जगत् के जालों के छेदन करने वाले हम लोगों से भी नहीं जीता गया है ॥ २७ ॥ विरोचन ने कहा—हे पुत्र ! वह मन्त्री वहाँ पर देवों और असुरों से भी अधिक बलशाली है। इनके द्वारा एक साथ लाखों की संख्या वाले गुणित होकर उसको थोड़ा भी आक्रान्त नहीं किया जाता है ॥२८॥

तत्रासिमुसलप्रासवज्रचक्रगदादयः ।
हेतयः कुण्ठतां यान्ति दृपदीवोत्पलाहतिः ॥२९
स मन्त्री केवलं तत्र तेनैव प्रभुणा यदि ।
जीयते तत्सुजेयोऽसावन्यथा त्वचलाचलः ॥३०
पुत्र युक्त्या गृहीतोऽसौ क्षणादायाति वश्यताम् ।
युक्तिं विना दहत्येप आशीविष इवोद्धतः ॥३१
शृणु यः पुत्र देशोऽसौ पूर्वं प्रकटयामि ते ।
देशनाम्ना मयोक्तस्ते मोक्षः सकलदुःखहा ॥३२
राजा तु तत्र भगवानात्मा सर्वपदातिगः ।
तेन मन्त्री कृतः प्राज्ञो मनो नाम महामते ॥३३
विपयान्प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ह्येपा सा युक्तिर्मनसो जये ॥३४
एपैव परमा युक्तिरनयैव महामदः ।

स्वमनोमत्तमातङ्गो द्रागित्येव विदम्यते ॥३५

वहाँ पर असि—मुसल—प्रास—वज्र—चक्र और गदा आदि हथियार पाषाण पर कमलों की चोट ही के समान कुण्ठता को प्राप्त हो जाया करते हैं। वहाँ वही केवल मन्त्री है और उसी के द्वारा उसका स्वामी जीवित रखा जा सकता है। उसी के द्वारा यह सुजेय है नहीं तो व इन चलने वाला अचल (पर्वत) ही है ॥ २९ ॥ ३० ॥ हे पुत्र ! युक्ति से ग्रहण किया हुआ यह क्षण भर में प्राप्त हो जाता है और युक्ति के बिना यह—उद्धत सर्प के समान दहन किया करता है ॥ ३१ ॥ हे पुत्र ! सुनो मैं तुमको वह देश बतला देता हूँ। देश के नाम से जिसको मैंने बतलाया है वह समस्त दुःखों का हरण करने वाला मोक्ष है ॥ ३२ ॥ राजा वहाँ पर सब पदों के अतिक्रमण किये हुए पद पर स्थित हैं ऐसे भगवान् आत्मा हैं। हे महामते ! उस राजा ने मन नाम वाले को अपना महामन्त्री नियुक्त किया है यह बड़ा प्राज्ञ था ॥ ३३ ॥ हे पुत्र ! समस्त विषयों के प्रति सर्वथा परम अनास्था करनी चाहिए। यही युक्ति मन के जीतने में होती है ॥३४॥ यही एक सबसे श्रेष्ठ युक्ति (उपाय) है और इसी युक्ति से महान् मद वाला यह मन रूपी मत्त गज बहुत ही शीघ्र विशेष रूप से दमित होजाया करता है ॥३५॥

चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया भागमव्युत्पन्नस्य सत्क्रमे ॥३६
किंचिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत् ।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया ॥३७
व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम् ।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया ॥३८
प्रज्ञाविचारवशतः शममेव सदा सुत ।
आत्मावलोकनं तृष्णासंत्यागं च समाहरेत् ॥३९
विचारो भोगगर्हातो विचाराद्भोगगर्हणम् ।
अन्योन्यमेते पूर्येते समुद्रजलदाविव ॥४०

देशक्रमेण धनमल्पविगर्हणेन
तेनाङ्ग साधुजनमर्जय मानपूर्वम् ।
तत्संगमोत्थविषयाद्यवहेलनेन
सम्यग्विचारविभवेन तवात्मलाभः ॥४१

एतन्मे कथितं पूर्वं पित्रा चारुविचारिणा ।
इदानीं संस्मृतं दिष्टया संप्रबोधमहं गतः ॥४२

इस चित्त के जय का क्रम अधिकारी के भेद से बताते हुए कहते हैं भोगों के द्वारा चित्त के दो भाग होते हैं। एक भाग को शास्त्र के द्वारा पूर्ति करनी चाहिए। जो व्युत्पत्ति ज्ञान से रहित है उसके उत्क्रम के लिये गुरु की शुश्रूषा से दूसरे भाग की पूर्ति करनी चाहिए ॥ ३६ ॥ ज्ञान के अभ्यास में जो व्युत्पन्न नहीं है वह विषयों के भोगों के द्वारा ही दोनों भागों की पूर्ति करे। गुरु की सेवा से भागों (दोनों को) और शास्त्रों के अर्थ के चिन्तन से पूर्ति करे ॥ ३७ ॥ जो व्युत्पत्ति से कुछ भी युक्त है उसको एक काल को विषयों के भोगों से और गुरु की शुश्रूषा से दोनों कालों को और शास्त्रार्थ की चिन्ता से चतुर्थ काल को प्राप्त करे। भलीभाँति जो व्युत्पन्न चित्त वाले को दो व्यवहार के कालों को अध्यात्मशास्त्र के विचारों से और विषयों के हेय के विचारों से और दो कालों को ध्यान के सहित गुरु की पूजा से पूर्ण करे ॥ ३८ ॥ हे सुत ! इस प्रकार से प्रज्ञा के वश से और विचारों के वश से तृष्णा के त्याग से और आत्म तत्त्व के अवलोकन से सम्पन्न करना चाहिए ॥३९॥ विषयों से समुत्पन्न सुखों में दोषों के देखने से पुरुषार्थ विचार की पूर्ति करे। पुरुषार्थ के विचार से भोगों की बुराई और अपुरुषार्थ होने से कुत्सितार्थ की पूर्ति की जाती है। इस प्रकार से विचार और भोगों की बुराई अन्योन्य की पूर्ति किया करते हैं जैसे समुद्र जलद से वृष्टि के द्वारा पूर्ण हो जाता है और समुद्र के जल से जलद होते हैं उसी भाँति इनकी भी पारस्परिक पूर्ति हुआ करती है ॥ ४० ॥ पहले स्वल्प दोष से देश क्रम के द्वारा धन का अर्जन करो और उस धन से सत्कार

पूर्वक साधुजन का अर्जन करो। उन साधुओं के सङ्गम से विषयों की अवहेला से अर्थात् विषय सुखों में वैराग्य से और भलीभांति विवेक के वैभव से तुझे आत्मतत्त्व का लाभ हो जायगा ॥४१॥ बलि ने कहा—पहिले मेरे पिताजी ने जो बहुत ही सुन्दर विचारों वाले थे यही मुझे उपदेश दिया था। सौभाग्य से अब मुझे भली भांति स्मृत होगया है और मुझे अच्छा प्रबोध प्राप्त होगया है ॥४२॥

अद्येयं मम संजाता भोगान्प्रत्यरतिः स्फुटम् ।
दिष्टया शमसुखं स्वस्थं विशाम्यमृतशीतलम् ॥४३
अहो नु खलु रम्येयं शमभूः शीतलान्तरा ।
सर्वा एव समं यान्ति सुखदुःखदृशः शमे ॥४४
कोऽहं तावदयं किं स्यःदात्मेत्यात्मावलोकिनम् ।
पृच्छाम्युशनसं नाथं नूनमज्ञानशान्तये ॥४५
इति संचिन्त्य बलवान्बलिरामीलितेक्षणः ।
दध्यौ कमलपत्राक्षः शुक्रमाकाशमन्दिरम् ॥४६
अथ सर्वगतानन्तचिदात्मा भार्गवः प्रभुः ।
आनिनाय सदेहं स्वं रत्नवातायनं बलेः ॥४७
अथ रत्नार्घदानेन मन्दारकुसुमोत्करैः ।
पादाभिवन्दनेनैनं पूजयामास भार्गवम् ॥४८
भार्गव त्वत्प्रसादोत्था प्रतिभेयं पुरस्तव ।
नियोजयति मां वक्तुं कार्यं कर्तुमिवार्कभाः ॥४९

आज मुझे यह विषयों के भोगों के प्रति अरति स्पष्टतया होगई है। बहुत ही हर्ष का विषय है कि अमृत के समान शीतल परम स्वस्थ शम के सुख में मैं प्रवेश करता हूं ॥ ४३ ॥ शीतल अन्तर वाली यह शम की भूमि कितनी सुन्दर है। इस शम में सुख-दुःख दृष्टि वाले सभी शम को प्राप्त हो जाया करते हैं ॥४४॥ यह मैं कौन हूं और आत्मा क्या है इसको आत्मतत्त्व के अवलोकन करने वाले उशना नाथ को अपने अज्ञान की शान्ति के लिये पूछता हूं ॥ ४५ ॥ महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इस

तरह से सोच करके बलशाली बलि ने अपने नेत्रों को मूँदकर कमल के समान नेत्रों वाले ने आकाश में मन्दिर वाले शुक्र का ध्यान किया था। ॥४६॥ इसके अनन्तर सब में व्याप्त अनन्त चिदात्मा भार्गव प्रभु ने अपने देह को बलि के अवस्थान स्वरूप रत्नों के वातायन में प्राप्त कर लिया था ॥४७॥ इसके उपरान्त राजा बलि ने रत्नों के अर्घ्यदान से और मन्दार वृक्ष के कुसुमों के समुदाय से तथा चरणों में वन्दन के द्वारा भार्गव की पूजा की थी ॥ ४८ ॥ बलि ने कहा—हे भार्गव देव! आपके ही प्रसाद से मुझे आपके ही सामने यह प्रतिभा समुत्पन्न हुई है। अब सूर्य की दीप्ति के ही तुल्य मुझे कार्य करने के लिये नियोजित करती है ॥४९॥

किमिहास्ति कियन्मात्रमिदं किमयमेव वा।
कोऽहं कस्त्वं किमेते वा लोका इति वदाशु मे ॥५०
बहुनात्र किमुक्तेन खं गन्तुं यत्नवानहम्।
सर्वदानवराजेन्द्र सारं संक्षेपतः शृणु ॥५१
चिदिहास्ति हि चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः ॥५२
भव्योऽसि चेत्तदेतस्मात्सर्वमाप्नोपि निश्चयात्।
नोचेत्तद्बह्वपि प्रोक्तं त्वयि भस्मनि हूयते ॥५३
चिच्चेत्यकलिता बन्धस्तन्मुक्ता मुक्तिरुच्यते।
चिदचेत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। ५४
एवं निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया।
स्वयमेवात्मनात्मानमनन्तपदमाप्स्यसि ॥५५
खं व्रजाम्यहमत्रैते मुनयः सप्त संगताः।
केनापि सुरकार्येण वस्तव्यं तत्र वै मया ॥५६
इत्युक्त्वा भगवाञ्छुक्र आरुरोह नभस्तलम्।
बलिस्तु चिन्तयामास चिदात्मकमिदं जगत् ॥५७

यहाँ लोक में यह क्या है यह कितना है या यह ही क्या है।

मैं कौन हूँ आप कौन हैं और ये लोक क्या हैं—यही अब आप मुझे शीघ्र ही बतलाइये ।। ५० ।। श्री शुक्राचार्य ने कहा—मैं आकाश में जाने के यत्न वाला हूँ अतएव अधिक कथन से क्या प्रयोजन है । हे सब दानवों के राजन् ! आप परम संक्षेप में सार वस्तु का श्रवण करिये ।।५१।। यहाँ पर केवल चित् ही है । यह सब दृश्य जगत् चिन्मात्र ही है और चित् से ही परिपूर्ण है । तू भी चित् है और मैं भी चित् ही हूँ और ये सभी लोक भी चित् ही है—यही संग्रह है ।। ५२ ।। तू बहुत ही उत्तम है यदि इस निश्चय से ही तू सभी कुछ प्राप्त कर लेता है । अन्यथा बहुत कुछ भी कहा हुआ भस्म के समान ही तुझ में हवन करना है ।। ५३ ।। यह अकलित चित् ही बन्धन है—ऐसा कहा जाता है । चेत्य से संस्पर्शन करने वाली यह चित् ही आत्मा है यही सबके सिद्धान्तों का संग्रह होता है ।। ५४ ।। इस प्रकार का निश्चय ग्रहण करके समृद्ध बुद्धि से अवलोकन करो । अपनी ही आत्मा से उस आत्म-तत्त्व को स्वयं देखो तो निश्चय ही अनन्त पद को प्राप्त कर लोगे ।।५५।। मैं तो अब आकाश में जाता हूँ ये सात मुनिगण संगत होगये हैं । किसी देवों के कार्य से मुझे वहीं पर निवास करना है । महर्षि वसिष्ठ जी ने कहा—इतना भर कहकर भगवान् शुक्र नभोमण्डल में समारूढ़ होगये थे और फिर राजा बलि ने इस सम्पूर्ण जगत् को चिदा-त्मक होने का चिन्तन किया था ।।५६।५७।।

युक्तमुक्तं भगवता चिदेवेदं जगत्त्रयम् ।
चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदियं क्रिया ।।५८
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान् ।
नित्योदितो निराभासो द्रष्टास्मि परमेश्वरः ।।५६
चेत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं विश्वग्विश्वावपूरकम् ।
संशान्तसर्वसंवेद्य संविन्मात्रमहं महत् ।।६०
इति संचिन्तयन्नेव बलिः परमकोविदः ।
ॐकारादर्धमात्रार्थं भावयन्ध्यानमास्थितः ।।६१

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तकलनागणः ।
निःशङ्कमतिदूरास्तचेत्यचिन्तकचिन्तनः ॥६२
ध्यातृध्येयध्यानहीनो निर्मनाः शान्तवासनः ।
बभूवावातदीपाभो बलिः प्राप्तमहापदः ॥६३

बलि ने कहा—भगवान् शुक्र ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि यह तीनों जगत् चित् का ही एक प्रपञ्च स्वरूप है और केवल चित् ही है। मैं भी चित्स्वरूप वाला ही हूं—ये लोक भी चित् ही हैं। यह आशा और क्रिया भी चित् ही है ॥ ५८ ॥ इस दृश्य के दर्शन से निर्मुक्त हुआ केवल अमल आत्म तत्त्व के स्वरूप वाला—नित्य उदित और बिना आभास वाला द्रष्टा मैं परमेश्वर ही हूं ॥ ५९ ॥ चेत्य से निर्मुक्त विशुद्ध चिदात्मक सभी के अन्दर और बहिर सभी ओर विश्व का अव पूरक-सभी संवेदन के योग्य की शान्ति वाला अर्थात् सर्व विषयों की वासनाओं से उपराम प्राप्त करने वाला महत् से परिपूर्ण मैं संवित मात्र ही हूं। इस प्रकार से सम्यक् चिन्तन करता हुआ है। वह बलि परम ज्ञाता होगया था। प्रणव से निकल कर अर्धमात्र के अर्थ परम ब्रह्म के स्वरूप की भावना करता हुआ ध्यान में समास्थित होगया था ॥ ६१ ॥ शङ्का से रहित होकर अत्यन्त दूर प्रक्षिप्त कर दिया है चेत्य-चिन्तक और चिन्तन जिसने ऐसा बहिर्मुख विक्षेप से रहित होकर शान्त वासनाओं वाला वह ध्याता-ध्येय और ध्यान से हीन होकर बिना मन वाला अर्थात् सङ्कल्प विरहित मन वाला होगया था। महान् पद प्राप्त करने वाला बलि बिना वायु के दीपक की आभा के तुल्य आभा से युक्त होगया था ॥ ६२-६३ ॥

प्रशमितैषणया परिपूर्णया मननदोषदशोज्झितयैतया ।
बलिरराजत निर्मलसत्तया विघनमच्छतयेव शरन्नभः ॥६४
अथ ते दानवास्तत्र बलेरनुचरास्तदा ।
तद्गृहं स्फाटिकं सौधमुच्चरोहन्मुहूर्तात् ॥६५
निर्विकल्पसमाधाने स्थितं चिरमुदारधीः ;

व्यबुध्यत वलिस्तत्र पुरस्तेषां महामते ॥६६
अथ वैरोचनिस्तत्र ध्येयत्यागमयात्मना ।
मनसा सकलान्येव राजकार्याणि संव्यधात् ॥६७
आपदं संपदं दृष्ट्वा समयैव स पश्यति ।
नास्तमेति न वोदेति तत्प्रज्ञा सुखदुःखयोः ॥६८
ऊहापोहसहस्राणि भावाभावशतानि च ।
वलिना परिदृष्टानि क्व समाश्वासमेत्यसौ ॥६९
धावमानमिहामुत्र लुठितं लोकवृत्तिषु ।
संस्थापय निरुध्येतन्मनो हृदयकोटरे ॥७०
येषु येषु प्रदेशेषु मनो मज्जति बालवत् ।
तेभ्यस्तेभ्यः समुद्धृत्य तद्धि तत्त्वे नियोजयेत् ॥७१
एवमभ्यसताभ्यासं मनोमत्तमतङ्गजम् ।
निवध्य सर्वभावेन परं श्रेयोऽधिगम्यते ॥७२

जिसमें सभी एषणाऐं प्रशान्त हो गयी हैं मनन द्वारा दोषों की दशा को त्याग देने वाली परिपूर्ण निर्मल सत्ता से वह राजा काले बिना मेघों वाली स्वच्छता से शरत्काल के नभ के समान शोभित होगया ।६४। महर्षि वसिष्ठजी ने कहा—इसके अनन्तर उस समय में राजा वलि के अनुगामी सब दानव क्षणभर में ही स्फटिक मणियों से निर्मित उसके सौध पर ऊपर चढ़ गये थे ॥ ६५ ॥ निर्विकल्पक समाधि में स्थित होकर उस उदार बुद्धि वाले ने चिरकाल में हे महामते ! बलि ने उनके ही आगे विशेष ज्ञान प्राप्त किया था। इसके पश्चात् वहाँ पर विरोचन के पुत्र ने ध्येय के त्याग से परिपूर्ण आत्मा से मन से समस्त राज के कार्यों को किया था ।' ६६–६७ ॥ आपत्ति और सम्पत्ति को वह समान ही दृष्टि से देखता है। सुख और दुःख में उसकी प्रज्ञा न अस्त होती थी और न समुदित ही हुआ करती थी ॥ ६८ । इष्टों के साधनों को देखना कहा है और अनिष्टों के निरसन का उत्प्रेक्षण अपोह होता है। इन ऊहापोहों के सहस्रों को और सैकड़ों ही भाव–अभावों को इस वलि ने देखा था तो

भी इसको इसको कहीं पर विश्वास प्राप्त होता है अर्थात् कहीं भी नहीं होता है। वह आसक्ति से रहित होकर ही राज्य का शासन किया करता था। इस लोक में और परलोक में दौड़ने वाले तथा विषयों के सुख की इच्छा से वेग के साथ जाने वाले एवं लौकिक व्यापारों में समासक्त इस चित्त को निरोधित करके अर्थात् विवेक और वैराग्य आदि से रोक कर हृदय कमल में ही स्थापित करना चाहिए ॥ ६६–७० ॥ जिन-जिन भागों में बालक के समान यह मन मग्न होता है उन्हीं—उन से इसको हटाकर उसे तत्त्व चिन्तन में नियोजित करना चाहिए ॥७१॥ इसी प्रकार से अभ्यास के करते रहने से यह मनरूपी मस्त गज सभी भावों से निबद्ध होकर परम श्रेय को प्राप्त किया करता है ॥ ७२ ॥



चतुर्थ सर्ग

एतानि तानि प्रोक्तानि त्वया बीजानि मानद ।
कतमस्य प्रयोगेण शीघ्रमासाद्यते पदम् ॥१
एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रमासाद्यते पदम् ॥२
सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्संत्यज्य वासनाः ॥३
स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तरसाशुपदमासादयस्यलम् ॥४
सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमङ्ग चेत् ।
तत्किंचिदधिकेनेह यत्नेनाप्नोषि तत्पदम् ॥५
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो यदि तिष्ठसि राघव ।
तद्यत्नेनाधिकेनोच्चैरासादयसि तत्पदम् ॥६
संवेद्ये केवले ध्यानं न कार्यं रघुनन्दन ।
संवेद्ये वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥७

श्रीराम ने कहा—हे मानद ! आपने इन उन बीजों का कथन किया है । अब आप मुझे यह बतलाइये कि इनमें से कौन से के प्रयोग से यह उत्तम पद अति शीघ्र प्राप्त किया जाता है ? ॥ १ ॥ महर्षि वसि जी ने कहा—इन दुःखों के बीजों को जो मैंने बतलाया है उनमें जो-जो भी उत्तर से उत्तर में बतलाया है उस उसी के प्रयोग से वह पद अति शीघ्र प्राप्त किया जाया करता है ॥ २ ॥ सत्ता सामान्य कोटि में स्थित परम पद में यदि एक क्षण भर के लिये भी अपनी समाधि को बाँध लेते हो तो उसी क्षण में अति शीघ्र उस पद को प्राप्त कर लोगे । पुरुषार्थ के द्वारा और बलपूर्वक प्रयत्न से वासनाओं को त्याग करके ही ऐसा करना चाहिए ॥ ३ ॥ हे तत्त्व के ज्ञाता ! एक क्षण को भी उस अक्षयात्मिक स्थिति को बाँध लेते हो तो उसी क्षण में उस परम साधु पद को पूर्णतया प्राप्त कर लोगे ॥ ४ ॥ हे अङ्ग ! यदि सत्ता के सामान्य रूप में अपनी स्थिति करते हो तो कुछ अधिक प्रयत्न से ही यहाँ पर उस पद को प्राप्त करोगे ॥ ५ ॥ हे राघव ! यदि संवित् तत्त्व में ध्यान करने वाले होकर स्थित रहते हो तो उससे भी अत्यधिक यत्न के द्वारा ही उस उच्च पद को प्राप्त करोगे ॥ ६ ॥ हे रघुनन्दन ! केवल संवेद्य का ही ध्यान नहीं करना चाहिए उस संवेद्य में सुमेरु के उन्मूलन से भी वासनाओं का त्याग करना चाहिए ॥ ७ ॥

यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना ध्यानं न संभवति राघव ।।८
सर्वत्र संभवादस्याः संवित्तेरेव सर्वदा ।
वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोषि वा ।।९
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ।।१०
पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि संस्मृतः ।
दुःखाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ।।११
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावत्तावच्चित्तं न शाम्यति ।।१२

यावन्न तत्त्वविज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥१३
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥१४

हे राघवेन्द्र ! जब तक यह मन विलीन नहीं होता है तब तक वासनाओं का भी क्षय नहीं होता है और वासनाएँ ही क्षीण नहीं होती हैं तो ध्यान कभी भी सम्भव नहीं होता है ॥ ८ ॥ इस संवित्ति की सर्वत्र सम्भावना है यदि वासनाओं के परित्याग में यत्न करते हो ॥ ९ ॥ इससे तेरे समस्त आधि और व्याधियाँ क्षण भर में ही शिथिल हो जायेंगे। पूर्व में कहे हुए प्रयत्नों से यह प्रयत्न अति विषम है ऐसा कहा गया है। सुमेरु पर्वत के जड़ उखाड़ देने से भी कहीं अधिक वासनाओं का त्याग बहुत ही दुःख साध्य होता है ॥ १०—११ ॥ जब तक इस मन की विलीनता नहीं होती है तब तक वासनाओं का क्षय भी नहीं होता है। जब तक वासनाओं की क्षीणता नहीं होती तब तक चित्त प्रशान्त नहीं हुआ करता है ॥ १२ ॥ वासनाओं के त्याग का विषय ही प्रयत्न है। वासना का क्षय—मन का विनाश और तत्त्व ज्ञान ये तीनों एक दूसरे की अपेक्षा वाले हैं। इनमें एक-एक की साधना करना अशक्य ही है। अतएव इन तीनों का ही एक ही साथ अभ्यास करना चाहिए। जब तक तत्त्व का विज्ञान नहीं होता है तब तक चित का संक्षय भी नहीं हुआ करता है और जब तक चित्त का उपशम नहीं होता है तब तक आत्म तत्त्व का ज्ञान नहीं होता है ॥ १३ ॥ जिस समय तक वासनाओं का नाश नहीं होता है तब तक आत्म तत्त्व का ज्ञान कैसे हो सकता है और जब तक तत्त्व की सम्प्राप्ति नहीं है तब तक वासनाओं का क्षय भी नहीं हुआ करता है ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥१५
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकतः ।

भोगेच्छां दूरतः कृत्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत् ॥१६

त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥१७

वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
समकालं समभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुनेः ॥१८

एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीलिता इव ॥१९

त्रिभिरेभिश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥२०

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥२१

वासनासंपरित्यागसमं प्राणनिरोधनम् ।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदप्येवं समाहरेत् ॥२२

तत्त्व का ज्ञान—मन का विनाश और वासनाओं का क्षय ये तीनों परस्पर में एक दूसरे के कारण होते हैं और अतएव बहुत ही दुःसाध्य होकर स्थित रहते हैं ॥ १५ ॥ इस कारण से हे राघव ! पुरुषार्थ और विवेक के बल से भोगों की इच्छा को दूर हटाकर इन तीनों का ही एक साथ समाश्रयण करो ॥ १६ ॥ जब तक इन तीनों का बारम्बार सुन्दर अभ्यास नहीं किया जाता है तब तक सैकड़ों वर्षों में भी तत्त्व की सम्प्राप्ति नहीं होती है ॥ १७ ॥ हे महान् मति वाले ! वासनाओं का क्षय तत्त्व का विज्ञान और मन का विनाश तीनों ही एक ही साथ में अच्छी तरह से अभ्यस्त किये हुए हों तो मननशील पुरुष को फल देने वाले हुआ करते हैं ॥ १८ ॥ इनमें एक एक का ही निषेवण चिरकाल तक भी किया जाता है तो भी ये सिद्धि को नहीं दिया करते हैं जैसे सङ्कीलित मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं हुआ करते हैं ॥ १९ ॥ चिरकाल तक इन तीनों को अभ्यस्त करने पर सुदृढ़ हृदय की ग्रन्थियाँ भी बिना ही किसी शङ्का के टूट जाया करती है। जैसे बिस के छेदन से गुण त्रुटित

हो जाते हैं ॥ २१ ॥ हे राम! सैकड़ों ही पहिले जन्मों में अभ्यास में लाई हुई यह संसार की स्थिति है। वह चिरकाल तक अभ्यास के बिना कैसे भी कहीं क्षीण नहीं हुआ करती है। वासना और प्राणों का स्पन्दन इन दोनों का मिलकर ही चित्त का बीज होता है इसलिये वासना के त्याग के साथ ही तत्त्व के वेत्ता लोग प्राणों के निरोधन को भी बताते हैं। इस कारण से उसको भी इसी प्रकार से करना ही चाहिए ॥२१-२२॥

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥२३
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥२४
निःसङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥२५
वासनाभिभवे नष्टे न चित्तं संप्रवर्तते ।
संशान्तपवनस्पन्दे यथा पांसुर्नभःस्थले ॥२६
यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि ।
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ॥२७
उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥२८

वासनाओं के भलीभाँति त्याग कर देने ही से यह चित्त अचित्तता को प्राप्त हो जाया करता है फिर प्राणों के परिस्पन्दन के विरोध से जो भी चाहते हो वैसा ही करो ॥ २३ ॥ प्राणायामों के सुदृढ़ अभ्यास से और गुरु के द्वारा प्रदान की हुई युक्ति से आसन और अशन के योग से यह प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाया करता है। वासनाओं के क्षय का उपाय बताते हुए कहते हैं कि आसक्ति से रहित व्यवहार करने वाला

नष्ट हो जाने पर यह चित्त फिर संप्रवृत्त नहीं हुआ करता है। पवन स्पन्दन के शान्त हो जाने पर नभ स्थल में धूलि जैसे नहीं छाया करती है ॥ २६ ॥ जो प्राण वायु का स्पन्दन है वहीं चित्त का स्पन्दन होता है। बुद्धिमान् पुरुष को प्राणों के स्पन्दन का जप कर लेने पर उच्च प्रयत्न करना चाहिए ॥ २७ ॥ चित्त की एकाग्रता से बारम्बार उपविष्ट होकर अनिन्दित युक्ति के बिना यह मन जीता नहीं जा सकता है ॥ २८ ॥

अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ॥२९
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च ।
वासनासपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥३०
एतास्तु युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।
आभिस्तज्जीयते क्षिप्रं धाराभिरिव भूरजः । ३१
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥३२
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥३३
मतिरालूनशीर्णाङ्गी यदीया पेलवाङ्गिका ।
न क्वचिद्याति विश्वासं मृगी ग्रामगता यथा ॥३४
कालं यज्ञतपोदानतीर्थदेवार्चनभ्रमैः ।
चिरमाधिशतोपेताः क्षपयन्ति मृगा इव ॥३५

विना अंकुश के जिस तरह से दुष्ट प्रकृति वाला गज वश में नहीं होता है ॥२९॥ अध्यात्म विद्या का ज्ञान—सत्पुरुषों का सङ्ग—वासनाओं का परित्याग और प्राणों के स्पन्दन का निरोध इस चित्त के विजय करने के कार्य में ये ही युक्तियाँ परम पुष्ट हैं। धाराओं से भूमि के रज के समान ही इन युक्तियों से शीघ्र ही यह चित्त जीत लिया जाया करता है ॥ ३०—३१ ॥ इन परम सफल एवं सुन्दर युक्तियों के रहने पर भी हठ से इसका नियम न किया करते हैं वे चित्तरूपी दीपक का त्याग करके

अज्जनों से ही तम का विहनन करना चाहते हैं ॥ ३२ ॥ जो मूर्ख हठ से चित्त पर विजय पाने के लिये उद्यत हुआ करते हैं वे विष तन्तुओं जैसे कोमल साधनों ही से एक उन्मत्त गज को बांधना चाहा करते हैं जो कि नितान्त असम्भव है ॥ ३३ ॥ ग्राम में प्राप्त हुई मृगी के समान ही जिनकी आलून और शीर्ण अङ्गों वाली हठ योग से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि है वह कहीं पर भी विश्वास को प्राप्त नहीं हुआ करती है ॥ ३४ ॥ यज्ञ—तप—दान—तीर्थाटन और देवार्चन के भ्रमों से सैकड़ों मानसिक व्यथाओं से युक्त चिरकाल पर्यन्त मृगों की तरह ही काल को व्यतीत किया करते हैं ॥ ३५ ॥

सर्वसंशयनीहारशरन्मारुत हे मुने ।
सङ्गः किमुच्यते ब्रूहि समासेन मम प्रभो ॥३६
भावाभावपदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥३७
जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥३८
अजीवन्मुक्तरूपाणां दीनानां मूढचेतसाम् ।
कथ्यते सङ्गशब्देन वासना भवकारिणी ॥३९
हर्षामर्षविषादानां यदि गच्छसि वश्यताम् ।
ततो हर्षविषादाभ्यां बन्धनी वासना भवेत् ॥४०

श्रीराम ने कहा—हे मुने ! आप तो समस्त संशय के निवारण करने के लिये शरत्काल के वायु के समान हैं। हे प्रभो ! आप अति संक्षेप से यह बतलाइये कि वह सङ्ग क्या कहा जाता है। महर्षि श्री वसिष्ठ जी ने कहा—भाव और अभाव पदार्थों को हर्ष और अमर्ष के विकारों को उत्पन्न करने वाली जो परम मलिन वासना है वही सङ्ग नाम से कही जाती है ॥ ३६-३७ ॥ जीवन्मुक्त शरीरधारियों की जो पुनर्जन्म न करने वाली हर्ष और विषादों से विमुक्त शुद्ध वासना हुआ करती है ॥ ३८ ॥ जो जीवन्मुक्त रूप वाले नहीं है, दीन तथा मूढ़ चित्त वाले हैं

उनकी वासना संसार के करने वाली जो होती है वही सङ्ग नाम से कहं जाती है ।। ३६ ।। हर्ष और विषादों के वश्यता को यदि प्राप्त होते हो तो इन्हीं हर्ष और विषादों से बन्धन में डालने वाली वासना हुआ करत है ।। ६३ ।।

मुक्तो हर्षविषादाभ्यां यदि गच्छसि नान्यताम् ।
वीतरागभयक्रोधस्तदसङ्गोऽसि राघव ।।४१
दुःखैर्न ग्लानिमायासि यदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य तदसङ्गोऽसि राघव ।।४२
संपद्विपदि चैवात्मा यदि ते लक्ष्यते समः ।
यथाप्रामानुवर्ती च तदसङ्गोऽसि राघव ।।४३
सदा समस्तेऽपि हि वस्तु समाशयो ह्यन्तरदीनसत्त्वः ।
यदेव किंचित्प्रकृतं तदेव कुर्वन्नसङ्गः सुखमास्व राम ।।४४

हे राघवेन्द्र ! हर्ष विषादों से मुक्त होकर यदि अन्य स्वरूप कं प्राप्त नहीं होते हो और राग-भय तथा क्रोध से दूर हो तो आप सङ्ग रे रहित हो ।। ४१ ।। दुःखों से ग्लानि नहीं होती है और सुखों से हर्ष नहं होता है तो हे राघव ! आशाओं की विवशता का त्याग कर आप सङ्ग रहित हैं ।। ४२ ।। यह आत्मा सम्पत्ति और विपत्ति में समान ही लक्षि होता है जो भी स्वतः प्राप्त हो उसी का अनुवर्त्तन करने वाले हैं तं आप निःसङ्ग हैं ।।४३।। सदा सभी वस्तुओं में समान आशय वाले होअ और अन्तःकरण में अदीन सत्त्व वाले रहो । हे राम ! जो भी कुछ प्राकृत हो वही करते हुए निःसङ्ग होकर सुखपूर्वक रहो ।। ४४ ।।

।। उपशम प्रकरण समाप्त ।।

~~

।। योगवासिष्ठ (प्रथम खण्ड) समाप्त ।।

उनकी वासना संसार के करने वाली जो होती है वही सङ्ग नाम से कही जाती है ॥ ३९ ॥ हर्ष और विषादों के वश्यता को यदि प्राप्त होते हो तो इन्हीं हर्ष और विषादों से बन्धन में डालने वाली वासना हुआ करती है ॥ ६३ ॥

मुक्तो हर्षविषादाभ्यां यदि गच्छसि नान्यताम् ।
वीतरागभयक्रोधस्तदसङ्गोऽसि राघव ॥४१
दुःखैर्न ग्लानिमायासि यदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य तदसङ्गोऽसि राघव ॥४२
संपद्विपदि चैवात्मा यदि ते लक्ष्यते समः ।
यथाप्राप्तानुवर्ती च तदसङ्गोऽसि राघव ॥४३
सदा समस्तेऽपि हि वस्तु समाशयो ह्यन्तरदीनसत्त्वः ।
यदेव किंचित्प्रकृतं तदेव कुर्वन्नसङ्गः सुखमास्व राम ॥४४

हे राघवेन्द्र ! हर्ष विषादों से मुक्त होकर यदि अन्य स्वरूप को प्राप्त नहीं होते हो और राग-भय तथा क्रोध से दूर हो तो आप सङ्ग से रहित हो ॥ ४१ ॥ दुःखों से ग्लानि नहीं होती है और सुखों से हर्ष नहीं होता है तो हे राघव ! आशाओं की विवशता का त्याग कर आप सङ्ग रहित हैं ॥ ४२ ॥ यह आत्मा सम्पत्ति और विपत्ति में समान ही लक्षित होता है जो भी स्वतः प्राप्त हो उसी का अनुवर्त्तन करने वाले हैं तो आप निःसङ्ग हैं ॥४३॥ सदा सभी वस्तुओं में समान आशय वाले होओ और अन्तःकरण में अदीन सत्त्व वाले रहो । हे राम ! जो भी कुछ प्राकृत हो वही करते हुए निःसङ्ग होकर सुखपूर्वक रहो ॥ ४४ ॥

॥ उपशम प्रकरण समाप्त ॥

~~

॥ योगवासिष्ठ (प्रथम खण्ड) समाप्त ॥